भारतीय सरकार एवं राजनीति

एक नया अध्ययन

खण्ड-१

लेखक

इकबालनारायण

अनुवादक-मण्डल

नंदिनी उप्रेती

रेणुका पामेचा

अनाम जैतली



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रथम-संस्करण : १९७४
Bharatiya Sarakar Evam Rajaniti

संस्करण (विद्यार्थी) १४.००
पुस्तकालय संस्करण २०.००

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर-४

मुद्रक :
आलेख प्रिन्टर्स,
एम० आई० रोड, जयपुर

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं होने से यह माध्यम-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए "वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग" की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत पीछे १९६९ में पाँच हिन्दी-भाषी प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गई।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थों का निर्माण करवा रही है। विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों और छात्रों को इन विषयों की उच्चतर शिक्षा की सभी प्रकार की सहायक और सदर्भ सामग्री हिन्दी में प्राप्त हो सके इस उद्देश्य को सामने रखते हुए स्तरीय ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद के अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर अधिकृत विद्वानों द्वारा लिखे गये निबन्धों, शोधलेखों आदि का हिन्दी अनुवाद, सकलन तथा सारसंक्षेप प्रकाशित करने की योजना भी अकादमी द्वारा क्रियान्वित की जा रही है। अकादमी, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक १५० से भी अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम में तैयार करवाई गई है।

इसमें भारत की राजनैतिक व्यवस्था तथा शासनतंत्र का, इतिहास, सविधान तथा परंपराओं के परिप्रेक्ष्य में, यथार्थमूलक अध्ययन प्रस्तुत करने की दृष्टि से तत्संबंधी विभिन्न पक्षों पर अधिकारी विद्वानों के निवन्धों के हिन्दी अनुवाद सकलित हैं। पुस्तक दो खंडों में विभक्त है। इस प्रथम खंड में सरकारी संस्थाओं के संदर्भ में भारत की राजनैतिक व्यवस्था का अध्ययन है। आशा है इस सामग्री से राजनीति के अध्येताओं को उच्चतर अध्ययन एवं मनन को प्रभूत सामग्री एवं प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी तथा यह पाठ्यपुस्तक एवं सदर्भ पुस्तक—दोनों के रूप में उपयोगी सिद्ध होगी। इस पुस्तक का संपादन राजस्थान विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा० इकबालनारायण ने किया है जो अपने विषय के भारत प्रसिद्ध विद्वान् एवं विचारक हैं। उनके इस सकलन और संपादन का देश में इस विषय के एक उत्कृष्ट योगदान के रूप में स्वागत होगा, इसमें हमें सन्देह नहीं है।

खेतसिंह राठौड़
अध्यक्ष

यशदेव शल्य
कार्यवाहक निदेशक

भूमिका

मुझे अपनी सम्पादित पुस्तक 'भारतीय सरकार एवं राजनीति : एक संकलन' पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक हर्ष हो रहा है। यह पुस्तक दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में सरकारी संस्थाओं के संदर्भ में राजनैतिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में राजनैतिक व्यवस्था का राजनीति की गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने की योजना है। इस प्रकार यह आशा की जाती है कि इन दोनों भागों के माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय राजनैतिक व्यवस्था को निकट से देखा-परखा जा सकेगा।

इस संकलन की आधारभूत मान्यता यह है कि यद्यपि संवैधानिक ढाँचा वह रूपरेखा प्रस्तुत करता है जिसके अन्तर्गत सामान्यतः राजनैतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है परन्तु आनुभविक दृष्टिकोण यह सिद्ध करता है कि अन्त में राजनैतिक यथार्थ संवैधानिक यथार्थ के वास्तविक स्वरूप को निर्धारित करता है। इसलिए इस संकलन में सवैधानिक रूपरेखा के साथ-साथ संस्थाओं के वास्तविक स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि राजनैतिक यथार्थ किस प्रकार, किस दिशा में संविधान-निर्माताओं की आधारभूत मान्यताओं, मन्तव्यों और आकाक्षाओं को परिणत कर रहा है। इस प्रकार विश्लेषण का जो दृष्टिकोण इस सकलन में अपनाया गया है उसका उद्देश्य संविधान के व्यावहारिक स्वरूप को राजनैतिक यथार्थ के संदर्भ में समझना और इन दोनों की अन्तर्निर्भरता पर प्रकाश डालना है। मेरी दृष्टि में भारतीय सरकार एवं राजनीति का इसी उद्देश्य से अध्ययन होना चाहिए। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए जो दृष्टिकोण अपनाया गया है वह एक मिश्रित दृष्टिकोण है जिसमे ऐतिहासिक, कानूनी-संस्थागत और आनुभविक दृष्टिकोण के समन्वित प्रयोग के माध्यम से राजनैतिक व्यवस्था के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों के अध्ययन का प्रयास किया गया है। यह मिश्रित दृष्टिकोण जानबूझ कर अपनाया गया है क्योंकि मेरी यह निश्चित धारणा है कि राजनैतिक यथार्थ को समझने के लिए कोई भी एक दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है और इसलिए उपलब्ध दृष्टिकोणों को आवश्यकतानुसार समन्वित करके ही राजनैतिक यथार्थ का अर्थपूर्ण अध्ययन किया जा सकता है।

प्रस्तुत संकलन के प्रमुख उद्देश्यों की चर्चा करना भी यहां अनुपयुक्त न होगा। प्रथम, जैसाकि स्पष्ट किया जा चुका है, इसके माध्यम से संवैधानिक रूपरेखा और राजनैतिक यथार्थ की अन्तःप्रक्रिया के संदर्भ में राजनैतिक व्यवस्था के सैद्धांतिक और व्यावहारिक स्वरूप को समझने का प्रयास किया गया है। राजनैतिक व्यवस्था के विचार के प्रयोग में इसके राजनैतिक सम्बन्धों के ताने-बाने सम्बन्धी आधारभूत अर्थ को ध्यान में रख कर इसे

एक व्यापक ऐतिहासिक, संस्थागत और आनुभविक परिवेश में देखा गया है। द्वितीय, इस संकलन मे बहुधा जिन लेखकों की रचनाएं चुनी गई हैं वह ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने उन विषयों के सम्बन्ध मे अच्छा शोध-कार्य किया है और अपने कृतित्व से विश्लेषण सम्बन्धी नई दृष्टियां प्रदान की हैं। इस प्रकार, इस संकलन का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह भी है कि पाठको को भारतीय राजनैतिक व्यवस्था के विभिन्न तथ्यों से सम्बन्धित शोधकर्ताओं और उच्चकोटि के लेखको से परिचित कराया जाए। तृतीय, जैसाकि सामान्यतः विदित है, भारतीय राजनैतिक व्यवस्था स्वय अभी निर्माण की प्रक्रिया मे है और कभी-कभी राजनैतिक यथार्थ स्वय मे अधिक गतिशील स्थिति का प्रतीक दिखाई देता है और इसलिए यह आश्चर्य की बात नही है कि भारतीय राजनैतिक व्यवस्था के विविध पक्षों के सम्बन्ध में मान्यताएं व दृष्टिकोण बनते और बदलते रहे हैं। इस संकलन में बहुधा वह लेख चुने गए हैं जो अपेक्षाकृत स्थिर मान्यताओं व दृष्टिकोणों के प्रतीक हैं। यह सम्भव है कि पुस्तक के दूसरे संस्करण तक इसमे से कुछ मान्यताएं व दृष्टिकोण बदल जाएं और इसलिए यह भी सम्भव है कि इस परिवर्तित संदर्भ को स्पष्ट करने के लिए हम अपने आगामी चयन मे कुछ नए लेख जोड ले या पुराने लेखों को निकाल कर उनके स्थान पर नए लेखों का चयन करें।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ऐसे संकलन का पाठ्य पुस्तकों के सम्बन्ध मे क्या महत्त्व है? स्नातकोत्तर विद्यार्थियो के लिए कोई भी पाठ्य पुस्तक अपने मे पूर्ण नही हो सकती। वह दिशा-निर्धारण अवश्य कर सकती है परन्तु उसके अतिरिक्त विद्यार्थियों को विभिन्न विषयों से सम्बन्धित पुस्तको और प्रतिष्ठित शोध-पत्रिकाओं मे प्रकाशित लेखों का अध्ययन तो करना ही होगा। इस सकलन में विभिन्न विषयों पर आधिकारिक रूप से लिखी गई पुस्तको के अंशो एवं लेखो का चयन किया गया है और इस प्रकार यह सकलन अच्छी पाठ्य पुस्तक का पूरक कहा जा सकता है। क्योंकि भारतीय सरकार एवं राजनीति के विषय मे अभी तक हिन्दी में कोई अच्छी पाठ्य पुस्तक उपलब्ध नही है, इसलिए यह स्वय पाठ्य पुस्तक और उसके पूरक, दोनो के रूप मे प्रयोग में लाया जा सकता है।

इस संकलन मे सम्मिलित प्रत्येक लेख से पूर्व मैंने एक सक्षिप्त परिचयात्मक टिप्पणी देने का साहस किया है जिसमे उस दृष्टिकोण के अतिरिक्त जो अन्य दृष्टिकोण हैं तथा उसके सम्बन्ध मे जो मेरी धारणा है, उसकी ओर इंगित किया गया है। प्रत्येक लेख के अन्त मे अतिरिक्त अध्ययन के लिए कुछ अन्य कृतियों की ओर भी सकेत किया गया है क्योकि कोई भी पाठ्य पुस्तक अथवा संकलन उस समय तक उपयोगी नहीं हो सकता जब तक कि वह पाठक वर्ग मे यह चेतना न उत्पन्न करे कि ज्ञान का सागर अथाह है और जितना हम अधिक पढ़ते हैं उतनी ही हमें यह अनुभूति होती कि हम कितना कम जानते हैं। इससे यह प्रेरणा भी जुडी होती है कि हम और पढें। सम्भवतः इस 'और पढने' की आकांक्षा का संतुष्टीकरण अतिरिक्त अध्ययन मे दिए गए सकेतों से हो सकेगा।

प्रकाश्य संकलन के लिए मैं भारतीय सरकार एव राजनीति से सम्बंधित उन सभी लेखकों का आभारी हूं जो मेरे निकट के मित्र हैं और जिन्होने मेरी प्रार्थना पर रचनाओ को

इस संकलन में सम्मिलित किए जाने की स्वीकृति देकर मेरे प्रति अपने स्नेह का परिचय दिया है। इन रचनाओं के प्रकाशकों के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहूँगा जिनके सहयोग के बिना सम्भवतः यह संकलन सम्भव नही हो पाता।

मेरे आभार का विवरण यहां समाप्त नहीं होता। मुख्यतः मैं अपने सहयोगी अनुवादक मंडल के सदस्यों का आभारी हूँ जिनका अथक प्रयास इस पुस्तक के रूप मे प्रस्तुत है। इन सभी ने इस प्रयास को मात्र अनुवादक का कार्य ही नहीं समझा बल्कि इस संकलन में उन्होंने उतनी ही रुचि प्रकट की जितनी कि किसी मौलिक ग्रन्थ निर्माण के प्रयास हेतु आवश्यक होती है। यदि यह संकलन उपयोगी सिद्ध होता है तो इसका एकमात्र कारण मेरे सहयोगी अनुवादक मडल के सदस्यो का निष्ठापूर्ण प्रयास ही होगा।

साथ ही मैं डॉ० शान्तिप्रसाद वर्मा, भूतपूर्व अध्यक्ष एवं प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने इस संकलन की प्रेरणा दी और जिसकी सामयिक समाप्ति के लिए उनका सतत् परामर्श मुझे मिलता रहा। राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के निदेशक डॉ० जी० एम० माथेन्द्र तथा उप निदेशक श्री यशदेव शल्य के स्नेहपूर्ण अनुस्मारकों की भी इस संकलन के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है और इसके लिए मैं उन दोनों का ऋणी हूँ। इसके अतिरिक्त, श्री सुबोध भूषण गुप्ता, जिनकी प्रेस 'आलेख प्रिन्टर्स' में पुस्तक छपी और श्री अनाम जैतली, जिन्होने सम्पादन में सहायता व अनुवाद के अतिरिक्त पाण्डुलिपि के प्रूफ भी देखे, हार्दिक आभार के पात्र हैं। सम्पूर्ण पाण्डुलिपि को टंकित करने के लिए मैं श्री बाबूलाल पाटनी का भी कृतज्ञ हूँ।

इस संकलन की कमियां और सीमाएं मेरी अपनी हैं जिनके लिए मैं व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हूँ फिर भी यदि यह सकलन पाठकों में विषय से सम्बन्धित अतिरिक्त सामग्री के प्रति आवश्यकजिज्ञासा उत्पन्न करता है तो मैं अपने और अपने साथियों के इस प्रयास को सफल मानूँगा।

अन्त में, मैं इस पुस्तक को अपने उन सभी विद्यार्थियों को समर्पित करना चाहूँगा जिन्होंने पिछले दशक में राजस्थान विश्वविद्यालय के प्रागण मे मुझे भारतीय सरकार एवं राजनीति सम्बन्धी सामग्री के हिन्दी में अभाव के प्रति सतत् स्मरण दिलाया और उसकी आवश्यकता पर बल दिया। यह संकलन तत्सम्बन्धी अभाव की पूर्ति की दिशा मे संभवतः एक छोटा-सा प्रयास है।

इकबालनारायण

कृतज्ञता-ज्ञापन

सम्पादक निम्नलिखित लेखों व पुस्तक-अंशों के पुनः प्रस्तुतिकरण के लिए सम्बन्धित लेखकों, सम्पादकों और/अथवा प्रकाशकों का कृतज्ञ है :

१ ए० अप्पादोराई : द्वैध शासन (डायआर्कि इन प्रेक्टिस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १६३७, पृ० ३४७–३८२)।

२. के० टी० शाह : प्रान्तीय स्वायत्तता तथा संघीय राजव्यवस्था का आश्वासन (प्रोविन्शल ऑटोनोमी, वोरा एण्ड क० पब्लिशर्स, बम्बई, १६३७, पृ० ४१–४६)

३. ग्रेनविल ऑस्टिन : 'सफल संविधान पर एक टिप्पणी' (दि इण्डियन कांस्टीट्यूशन: कार्नरस्टोन ऑफ़ ए नेशन का अन्तिम अध्याय, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १६६६, पृ० ३०८–३३०)

४. डोनाल्ड स्मिथ : भारत में धर्मनिरपेक्षता (इंडिया एज़ ए सेक्युलर स्टेट पर प्रधान आधारित, प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, १६६३, पृ० ४६४–५०१)

५. पी० बी० गजेन्द्रगडकर : धर्मनिरपेक्षता तथा भारतीय संविधान (राजस्थान विश्वविद्यालय में अठारहवें दीक्षान्त समारोह १६६५, के अवसर पर दिया गया दीक्षान्त भाषण, विश्वविद्यालय के सौजन्य से)

६. मार्कुस फ्राण्डा : राज्य स्वतन्त्रता के स्रोत (वेस्ट बंगाल एण्ड फेडरलाइजिंग प्रोसेस इन इण्डिया, प्रिन्सटन, १६६८, पृ० २००-२२४)

७. अशोक चंदा : योजना आयोग तथा केन्द्र व राज्य (फ़ेडरेलिज़्म इन इंडिया, लंदन, ऐलन एण्ड अनविन, १६६५, पृ० २८०–२६०)

८. आइवर जेनिंग्स : अनमनीयता (सम करेक्टेरिस्टिक्स ऑफ़ दि इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन, लदन, आक्सफ़ोर्ड, १६५३)

६. ए० एच० हेनसन व जेनेट डगलस : संसदीय सरकार (इण्डियाज़ डेमोक्रेसी, देहली, विकास, १६७२, पृ० ६४–१११)

१०. पी० बी० मुखर्जी : मूल अधिकार और संवैधानिक संशोधन (इसी शीर्षक से लोकतंत्र समीक्षा, नई दिल्ली में प्रकाशित लेख; वर्ष ४, अंक ४, अक्टूबर-दिसम्बर १६७२, पृ० १०–२३)

११. एच० एम० सीरवई : राज्यनीति के निदेशक सिद्धान्त (डायरेक्टिव प्रिंसिपल्स ऑफ़ स्टेट पॉलिसी, यूी जजमेंट्स, थ्री अमेंडमेंट्स, थ्री सुपरसेशन्स सुप्रीम कोर्ट डिसिज़न्स इन ए करेक्ट परसपेक्टिव से साभार, सोसाइटी फ़ॉर डेमोक्रेसी, १६७३, पृ० ११–२८)

१२ के० आर० बॉम्बवाल : भारत का राष्ट्रपति : विवेक की सीमाएँ (दि प्रसिडेंट ऑफ इण्डिया : लिमिट्स ऑफ डिस्क्रिशन, इण्डियन जरनल ऑफ़ पोलिटिकल साइंस खण्ड ३७, न० ३ व ४, जुलाई-दिसम्बर अंक, १९६६, पृ० २३–३६)

१३ एच० एम० जैन : राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति (एक्चुअल पोजीशन ऑफ़ दि प्रेसिडेन्ट, दि इण्डियन एक्जेक्यूटिव, इलाहाबाद, चैतन्य पब्लिशिंग हाउस,)

१४. हरीश खरे : प्रधानमन्त्री का पद · शक्ति के संस्थाकरण का आग्रह (दि इण्डियन प्राइम मिनिस्टर : ए प्ली फॉर इंस्टीट्यूशनलाइजेशन ऑफ़ पावर, जरनल ऑफ कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड पार्लियामेंटरी स्टडीज, जनवरी-मार्च, १९७१, पृ० २२–५०)

१५. एस० मोहन कुमारमंगलम : भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन (जूडिशल अपोइंटमेंट्स : एन एनालिसिस ऑफ दि रीसेन्ट कन्ट्रोवर्सी ओवर दि अपोइंटमेंट ऑफ दि चीफ जस्टिस ऑफ़ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड एण्ड आइ० बी० एच० पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, १९७३, पृ० १५–३५)

१६. अरविन्द के० शर्मा : भारत में योजना आयोग-पुनर्गठन का प्रश्न (दि प्लानिंग कमीशन इन इण्डिया : ए केस फार रीऑर्गेनाइजेशन (जरनल ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, जनवरी, १९७० खण्ड IX, नं० १

१७ एम० मुतालिब : केन्द्रीय लोकसेवा आयोग (यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, लदन खण्ड ४२, १९६४, पृ० ३७३–३९०)

१८. अपने व्यक्तिगत लेख राज्यपाल का पद : भूमिका निर्धारण की समस्या के प्रकाशन के लिए सम्पादक, जरनल ऑफ अफ्रीकन एण्ड एशियन स्टडीज का कृतज्ञ है। उक्त जरनल में यह लेख 'ऑफिस ऑफ गवर्नर : दि प्रॉब्लम ऑफ़ रोल आइडेन्टिफ़िकेशन के शीर्षक से प्रकाशित हुआ था, स्प्रिंग १९६८, १ (२), पृ० १७१–१८२.

हमारे सहयोगी लेखक

१. अप्पादोराई, डॉ० ए०

'दि सब्स्टांस ऑफ पॉलिटिक्स' के सुविख्यात लेखक; इण्डियन कांउसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स के महासचिव (१९४४–५५); भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रोफेसर (१९५५–६४); केन्द्रीय लोकसेवा आयोग के सदस्य (१९६४–६७); संयुक्त राष्ट्र साधारण सभा के पेरिस अधिवेशन मे भारतीय प्रतिनिधिमंडल के सलाहकार (१९४८) तथा भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन संस्थान के भूतपूर्व निदेशक।

प्रमुख प्रकाशन—डायआर्कि इन प्रेक्टिस; रिवीज़न ऑफ डेमोक्रेसी, कलेक्टिव सिक्युरिटी; दि यूज़ ऑफ फोर्स इन इंटरनेशनल रिलेशन्स, एसेज़ इन पॉलिटिक्स एण्ड इंटरनेशनल रिलेशन्स तथा सर मॉरिस ग्वायर के साथ सम्पादित स्पीचेज़ एण्ड डॉक्यूमेंट्स ऑन दि इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन।

२. शाह, प्रो० के० टी०

बम्बई विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर तथा भारतीय संविधान-सभा के एक प्रमुख सदस्य। अर्थशास्त्र मे विशेष प्रतिभा और उसके सन्दर्भ मे भारत की उदीयमान राजनैतिक व्यवस्था का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन।

प्रमुख प्रकाशन—कॉन्स्टीट्यूशन, फन्क्शन्स एण्ड फाइनेंस ऑफ इण्डियन म्यूनिसिपेलिटीज़ सिक्स्टी ईयर्स ऑफ इण्डियन फाइनेंस; फेडरल फ़ाइनेंस इन इंडिया; फौरेन ऑब्लिगेशन ऑफ इंडिया; प्रोविन्शियल ऑटोनोमी तथा व्हाई पाकिस्तान-एण्ड व्हाई नॉट ?

३. ऑस्टिन, प्रो० ग्रेनविल

— प्रमुख ब्रिटिश राजनीतिशास्त्री; भारतीय राजनीति अध्ययन का विशेष विषय, १९६६ में प्रकाशित कृति इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन: कॉर्नरस्टोन ऑफ ए नेशन संविधान सभा की रचना, क्रिया-कलापों, आधारभूत मान्यताओं, तथा तदनन्तर प्रभावों का प्रामाणिक विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

४. स्मिथ, प्रो० डोनाल्ड

अमेरिका के पेन्सिल्वानिया विश्वविद्यालय मे राजनीतिशास्त्र विभाग से सम्बद्ध। भारत का अध्ययन विशेष रुचि का विषय रहा है और भारतीय धर्मनिरपेक्षता अध्ययन का विशिष्ट क्षेत्र। नेहरू के राजनैतिक विचारों पर शोध और तदनन्तर प्रकाशित शोध कार्य—नेहरू एण्ड डेमोक्रेसी : पोलिटिकल थॉट ऑफ़ एन एशियन डेमोक्रेट। इसके अतिरिक्त रिलिजन एण्ड पोलिटिकल डेवलपमेंट तथा इण्डिया एज़ ए सेक्युलर स्टेट उनकी अन्य महत्त्व-पूर्ण कृतियां हैं।

५. गजेन्द्रगडकर, डॉ० पी० बी०

एम० ए, एल० एल० बी, एल० एल० डी०, पद्म विभूषण (१९७२); न्यायाधीश बम्बई उच्चन्यायालय (१९४५–५७), उच्चतम न्यायालय (१९५७–६४), उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश (१९६४–६६); बम्बई विश्वविद्यालय के उपकुलपति (१९६६–७१) तथा वर्तमान अवैतनिक निदेशक, कानून सुधार आयोग।

प्रमुख प्रकाशन—लॉ, लिबर्टी एण्ड सोशल जस्टिस; काश्मीर-रिट्रोस्पेक्ट एण्ड प्रॉस्पेक्ट; जवाहरलाल नेहरू—ए विमप्स ऑफ दि मेन एण्ड हिज टीचिंग्स; सेक्युलरिज्म एण्ड दि इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन तथा दि कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया-इट्स फिलॉसफी एण्ड बेसिक पॉस्टुट्युलेट्स।

६. फ्राण्डा, प्रो० मार्कुस एफ०

कोलगेट विश्वविद्यालय में राजनीतिशास्त्र के सहायक प्रोफेसर तथा सेंटर फॉर इन्टरनेशनल स्टडीज, एम० आई० टी० में रिसर्च एसोसिएट। भारतीय राजनीति विशेषतः पश्चिम बंगाल की राजनीति, विशेष रुचि का विषय रही है और उसके सन्दर्भ में भारतीय संघवाद के लक्षणों की ओर इंगित करना, उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

प्रमुख प्रकाशन—वेस्ट बंगाल एण्ड दि फेडरलाइजिंग प्रोसेस इन इण्डिया तथा रेडिकल पॉलिटिक्स इन वेस्ट बंगाल।

७ चन्दा, श्री अशोक के०

भारत के भूतपूर्व कॉम्पट्रोलर तथा ऑडिटर जनरल; भारतीय संघवाद, अर्थतन्त्र एवं योजना के क्षेत्र में विशेषीकृत योगदान। (पुस्तक-प्रकाशन के दौरान मृत्यु)

प्रमुख प्रकाशन . फेडरलिज्म इन इंडिया : ए स्टडी ऑफ यूनियन-स्टेट रिलेशन्स आस्पेक्ट्स ऑफ ऑडिट कंट्रोल, इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन।

८. जेनिंग्स, सर आइवर

के० बी० ई०, क्यू० सी०, डी० लिट्, एल० एल० डी०, एफ० बी० ए०, मास्टर ऑफ ट्रिनिटी हॉल, केम्ब्रिज, तथा वे इनके बेंचलर।

राजनीतिविज्ञान, विशेषत. संवैधानिक विधि के विश्वविख्यात लेखक।

प्रमुख प्रकाशन : सम करेक्टरिस्टिक्स ऑफ दि इण्डियन कांस्टीट्यूशन; दि ब्रिटिश कॉमनवेल्थ ऑफ नेशन्स; दि ब्रिटिश कांस्टीट्यूशन; एप्रोच टु सेल्फ गवर्नमेंट; केबिनेट गवर्नमेंट; कांस्टीट्यूशनल लॉज ऑफ कॉमनवेल्थ; पार्लियामेंट; पार्टी पॉलिटिक्स तथा डोमीनियन ऑफ सीलोन : दि डेवलपमेंट ऑफ इट्स लॉज एण्ड कांस्टीट्यूशन।

९. हेनसन प्रो० ए० एच० तथा डगलस, जेनेट

स्व० प्रो० हेनसन लीड्स विश्वविद्यालय में राजनीति के प्रोफेसर थे। उन्होंने भारतीय राजनीति के विविध प्रसंगों पर विद्वत्तापूर्ण कार्य किया, विशेषत. भारतीय अर्थतन्त्र, योजना

व मंघवाद पर उन्होंने आधिकारिक रूप से लिखा। उनकी प्रमुख कृतियो में दि प्रोसेज़ ऑफ प्लानिंग; ए स्टडी ऑफ इण्डियाज़ फाइव इयर प्लान्स; पब्लिक इंटरप्राइस एण्ड इकॉनोमिक डेवलपमेंट; पार्लियामेंट एण्ड पब्लिक ओनरशिप तथा इंडियाज़ डेमोक्रेसी विशेष उल्लेखनीय हैं।

जेनेट डगलस लीड्स पोलिटेक्नीक में समसामयिक अध्ययन विभाग में वरिष्ठ प्राध्यापक हैं।

इण्डियाज डेमोक्रेसी प्रो० हेनसन की अन्तिम कृति थी जो उन्होंने जेनेट डगलस के साथ मिलकर लिखी थी।

१०. मुखर्जी, जस्टिस पी० बी०

बेरिस्टर एट लॉ, कलकत्ता उच्चन्यायालय के वर्तमान मुख्य न्यायाधीश। कुछ विशेषीकृत-न्यायिक लेखों के अतिरिक्त 'थ्री एलिमेंटल प्रॉब्लम्स ऑफ दि इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन' (भूलाभाई स्मृति व्याख्यान) प्रकाशित।

११. सीरवई, श्री एच० एम०

प्रमुख न्यायशास्त्री; एडवोकेट जनरल, महाराष्ट्र तथा एडवोकेट, उच्चतम-न्यायालय, नई दिल्ली। केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (१९७३) के मुकद्दमें में सफल तर्कों के लिए विख्यात।

प्रमुख प्रकाशन—कॉन्स्टीट्यूशनल लॉ ऑफ़ इंडिया; दि पोजीशन ऑफ दि जुडिश्यरी अण्डर दि कॉन्स्टीट्यूटशन ऑफ इण्डिया; श्री आर० के० गर्ग श्री तथा एस० मोहन कुमार-मंगलम के साथ 'थ्री जजमेंट्स, थ्री अमेंडमेंट्स, थ्री कंट्रोवर्सीज'; तथा बम्बई लॉ रिपोर्टर में प्रकाशित लेख 'दि फंडामेंटल राइट्स केस एट दि क्रॉसरोड्स'।

१२. थॉम्बवाल, डॉ० के० आर०

प्रिंसिपल, राजकीय डिग्री कॉलेज, पिथौरागढ़ (उ.प्र.); राजनीतिविज्ञान विशेषतः संवैधानिक विधि के प्रख्यात लेखक; वियतनाम में इण्टरनेशनल कमीशन फॉर सुपरविज़न एण्ड कंट्रोल में भारतीय प्रतिनिधिमंडल के राजनैतिक सलाहकार तथा उससे पूर्व कॉन्फ्रेंस सचिव रहे।

प्रमुख प्रकाशन—इण्डियन गवर्नमेंट एण्ड पॉलिटिक्स; मेजर कन्टेम्पोरेरी कॉन्स्टीट्यूशनल सिस्टम्स तथा फाउण्डेशन्स ऑफ़ इण्डियन फेडरेलिजम। इसके अतिरिक्त एस० पी० अय्यर व उषा मेहता द्वारा सम्पादित एसेज़ इन इण्डियन फेडरेलिजम तथा एस० ए० एच० हाक़ी द्वारा सम्पादित 'यूनियन-स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया' में प्रकाशित शोध-लेख उल्लेखनीय।

१३. जैन, डॉ. एच. एम.

रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

प्रमुख प्रकाशन

यूनियन एक्ज़्क्यूटिव.; राइट टु प्रॉपर्टी अंडर दि इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन तथा अनेक महत्त्वपूर्ण शोध-लेखों के लेखक।

१४ खरे, श्री हरीश

प्राध्यापक, राजनीतिविज्ञान विभाग, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली

प्रमुख प्रकाशन - जरनल ऑफ कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड पार्लियामेंटरी स्टडीज, नई दिल्ली में प्रकाशित लेख व टिप्पणियां, विशेषतः दि इंडियन प्राइम मिनिस्टर : ए प्ली फॉर इंस्टीट्यूशनलाइजेशन ऑफ पावर। (जनवरी-मार्च १९७१ अंक)

१५. रेड्डी, डॉ. बी. गोपाल

डी. लिट्; भूतपूर्व राज्यपाल, उत्तरप्रदेश; चेयरमैन, चिल्ड्रन्स फिल्म सोसायटी; मन्त्री, सूचना व प्रसारण मन्त्रालय (१९६२-६३)—कामराज योजना के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र; कांग्रेस दल के उपनेता (१९६५-६७) प्रमुख प्रकाशन : चित्रगुड समेत आठ मौलिक कृतिया तथा बगाली की अनेक प्रतिष्ठित कृतियो का तेलगु में अनुवाद।

१६. कुमारमगलम, श्री एस. मोहन

बैरिस्टर एट लॉ; मद्रास के एडवोकेट जनरल (१९६६); चेयरमैन, इंडियन एयर-लाइन्स (१९६९ से १९७१); इस्पात व खानमंत्री, भारत सरकार (१९७१-७३); मई, १९७३ मे दिल्ली में हुई बोइंग विमान दुर्घटना मे अचानक मृत्यु।

श्री कुमारमंगलम को न्यायपालिका मे सुधार से सम्बन्धित उनके विचारों के कारण विशेष ख्याति मिली। वह न्यायाधीशों में सामाजिक दर्शन के प्रति सजगता चाहते थे। प्रमुख प्रकाशन—'जूडिशल अपोइंटमेंट्स : एन एनालिसिस ऑफ दि रीसेन्ट कंट्रोवर्सी ओवर दि अपोइंटमेंट ऑफ दि चीफ जस्टिस ऑफ इंडिया' तथा प्री जजमेंट्स, प्री अमेंड-मेंट्स, प्री सुपरसेशन्स (आर. के. गर्ग व एच. एम. सीरवई के साथ)।

१७. शर्मा, श्री अरविन्द के

प्राध्यापक, लोक प्रशासन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर; फ़िलहाल अति-रिक्त अध्ययन के उद्देश्य से लदन मे प्रवास; अनेक महत्त्वपूर्ण शोध-लेखों की रचना व राजस्थान विश्वविद्यालय के अनेक रिसर्च प्रोजेक्ट्स से समय-समय पर सम्बद्ध।

१८. मुतालिब, डॉ. एम. ए.

अध्यक्ष, लोकप्रशासन विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद (आंध्रप्रदेश), इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन द्वारा "ब्रिटिश सिविल सर्विस मे" व्हाइटली काउंसिल्स" विषय पर रिसर्च फ़ेलोशिप प्रदान की गई; अनुसंधान पूरा होने पर लंदन-स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स एण्ड पोलिटिकल साइन्स द्वारा उन्हे पी-एच. डी. की डिग्री प्रदान की गई; जून-जुलाई १९६६ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा संचालित पंचायती राज पर एक समर स्कूल का निदेशन व तत्पश्चात् भारत सरकार के योजना आयोग द्वारा संचालित एक रिसर्च प्रोजेक्ट का निदेशन।

विषय से सम्बन्धित विविध पक्षों पर अनेक शोध लेखों की रचना तथा 'यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन' पुस्तक का लेखन

विषय-सूची

१

१६०६ के मोर्ले-मिन्टो सुधार

भारत में संसदीय परम्परा के विकास में १६०६ के मोर्ले-मिंटो सुधार महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, यद्यपि इससे पूर्व भी इस दिशा में प्रयास किए जा चुके थे। अतः इन सुधारों पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यहाँ पर भारतीय संवैधानिक सुधारों के विषय में, १६१८ में भारत सरकार द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट के कुछ अंश प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यह रिपोर्ट मॅटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। संवैधानिक सुधारों के संदर्भ में प्रस्तुत वक्तव्य को सर्वाधिक संतुलित माना जाता है। सम्पादक

लार्ड मिंटो के शासन के सम्मुख सबसे प्रमुख समस्या ब्रिटिश शक्ति के उदय के समय उनके द्वारा अनुभूत दो तत्वों को एक ही शासन में समाहित करने की थी। उन्होंने मुगल सम्राटों तथा हिन्दू राजाओं से प्राप्त निरंकुश शासन तथा ब्रिटिश राजसत्ता व संसद् से प्राप्त संविधानवाद, इन दोनों सिद्धान्तों का समन्वय करने का प्रयास किया। उनका उद्देश्य इस प्रकार के संवैधानिक निरंकुशतंत्र की रचना करना था जो एशियाई निरंकुश-तन्त्रों से पूर्णतः भिन्न हो, विधि के शासन से प्रतिबद्ध हो, जिसकी परिषदों में ऐसे प्रतिनिधि हों जो विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने के योग्य हों तथा जिसमें शासन संकीर्ण बहुमत के आधार पर स्वयं को एक प्रबल व निरंकुश शक्ति के रूप में प्रभावशाली बनाए रख सके। उनका उद्देश्य एक ऐसे संविधान की रचना करना था जिसके प्रति अनुदार मत एक निश्चित रुख अपनाले और भावी परिवर्तनों का पर्याप्त विरोध करता रहे। उन्होंने कल्पना की कि समाज का कुलीन वर्ग तथा उदार लोग, जिनका तत्कालीन भारतीय राजनीति में कोई स्थान नहीं था, शासन के पक्ष का समर्थन करेंगे तथा प्राप्त स्थिति के संतुलन में, *किसी संभावित परिवर्तन व भारतीय संस्थाओं के लोकतन्त्रीकरण के किसी भी* प्रयास का वे विरोध करेंगे।

समाधान के प्रति असंतोष :

ये आशावादी अपेक्षाएँ अस्थायी थीं। नौ वर्षों में मोर्ले-मिंटो सुधारों की उपयोगिता समाप्त हो गई है। भारतीय मत को अब वे अपेक्षाएँ बिल्कुल स्वीकार्य नहीं हैं और पिछले अनुभव के प्रकाश में सरकारी मत भी अब उन्हें आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है। हमारे विचार से ऐसा स्वयं सुधारों के द्वारा परिवर्ती अनुपात में लाए गए राजनैतिक विकास, युद्ध के कारण उत्पन्न हुई लोकतंत्रीय भावनाओं, कुछ अंशों में स्वयं सुधारों में निहित कुछ विशेषताओं तथा लार्ड मोर्ले के इस कथन के कारण सम्भव हुआ कि इन सुधारों का उद्देश्य संसदीय शासन की व्यवस्था करना नहीं है। वस्तुतः लार्ड मोर्ले ने सम्पूर्ण विश्वास के साथ लार्ड मिंटो के शासन के इस दृष्टिकोण का समर्थन किया और इस पर बल दिया कि ये सुधार उत्तरदायी शासन की दिशा में प्रयास नहीं थे। उन्होंने लिखा :

"आपके द्वारा इस बात का विरोध कि आपकी सरकार किसी भी अंश में पश्चिमी अर्थ में भारत के लिए उत्तरदायी शासन की समर्थक है, आशा के अनुरूप है। यूरोप में प्रतिनिधित्व प्रणाली के कुछ अत्यधिक सशक्त समर्थकों ने भारत में इसकी सरलता को अपने अनुभव से पहचाना है कि यह प्रणाली स्वयं आपके शब्दों में भारतीय साम्राज्य के अन्तर्गत कई जातियों से निर्मित जनसंख्या की प्रवृत्तियों के लिए कभी उचित नहीं होगी।" अनेक कारणों में से एक कारण आपके पत्र में स्थानीय शासन से सम्बन्धित वक्तव्य द्वारा सुझाया गया है कि "भारतीय संभ्रान्त व्यक्ति साधारणतः अधिकांश मतदाताओं के सम्मुख स्वयं एक उम्मीदवार के रूप में उपस्थित होना पसन्द नहीं करते हैं, अंशतः इसलिए क्योंकि उन्हें चुनाव प्रचार नापसन्द होता है तथा अंशतः इसलिए भी क्योंकि वे चुनाव में एक निम्न सामाजिक स्थिति वाले विरोधी उम्मीदवार से पराजित होने के अपमान को सहन करने के लिए तैयार नहीं होते। भारत में यूरोपीय प्रकार के किसी प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन की स्थापना करने के अभिप्राय अथवा इच्छा का खंडन करते हुए, आपकी सरकार ने अपना उद्देश्य, मात्र वर्तमान सरकारी तन्त्र में सुधार करना अथवा ऐसी नवीन व्यवस्था का निर्माण बताया है जो इस देश के शिक्षित लोगों की अपने देश के शासन में भाग लेने की स्वाभाविक आकांक्षा को पूरा करती हो। मुझे यह व्यक्त करने की आवश्यकता नहीं कि योजना के प्रति आपको सम्राट् की सरकार की पूर्ण स्वीकृति प्राप्त है।"

"उन सभी लोगों के लिए, जिनका भारतीय नीति को व्हाइट हॉल अथवा कलकत्ता से निर्देशित करने में हाथ है, सफलता का एक मुख्य मापदण्ड अथवा कसौटी यही होगी कि हमारा सर्वोच्च शक्ति की क्षमता तथा तत्परता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। भारतीय शासन में उस समय तक कोई उदारता न तो प्रशंसनीय है तथा न ही किसी महत्वाकांक्षा को संतुष्ट करने में कोई विशेष लाभ ही है जब तक कि उसके साथ-साथ आपके प्रयास सत्ता के उस आधार को सशक्त नहीं बनाते जिन पर भारत में शांति, व्यवस्था तथा भारतीय जनता की सम्पूर्ण भलाई निर्भर करती है। आपके द्वारा भेजे गये संदेश की सम्पूर्ण भावना से मुझे यह आभास हुआ कि इसमें

निहित प्रत्येक प्रस्ताव जहाँ एक ओर जनसामान्य के मत को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है, वहीं दूसरी ओर सरकार को उस मत के सम्पर्क में लाने तथा उसकी सभी प्रवृत्तियों व भावनाओं से परिचित कराने का भी प्रयास किया गया है ताकि सरकार को नया विश्वास और अभिज्ञान, विचारों व सहानुभूति का एक व्यापक आधार मिल सके।"

१६०६ के सुधारों की प्रमुख विशेषताएँ

प्रतिनिधित्व की व्यवस्था :

यहाँ पर हमारे लिये उस पत्र-व्यवहार पर प्रकाश डालना आवश्यक नहीं है जिसके माध्यम से ये मूल प्रस्ताव विकसित हुए। हमारा उद्देश्य इन सुधारों की प्रमुख विशेषताओं पर विचार करना तथा उन स्थितियों को स्पष्ट करना है जिन्होंने इन सुधारों का स्वरूप निर्धारित किया। इसके प्रस्तावक इस बात पर सहमत थे कि हितों तथा मतों की असीम भिन्नता के कारण भारत में वर्गों तथा हितों के आधार पर प्रतिनिधित्व देना ही परिषदों के संगठन में निर्वाचन के सिद्धान्त को निर्धारित करने का व्यावहारिक आधार बन सकता था। कुछ सीमित हितों, जैसे—निगम, विश्वविद्यालय, चैम्बर्स ऑफ कामर्स तथा चाय बागान समुदायों के लिए सीमित निर्वाचक निर्धारित करना सरल कार्य था। इस दिशा में कठिनाइयाँ तब उत्पन्न हुईं जब विस्तृत हितों अथवा समुदायों, जैसे—व्यावसायिक वर्गों व भू-स्वामित्व-सम्बन्धी हितों अथवा महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यकों, जैसे कई प्रान्तों में मुसलमानों तथा पंजाब में सिक्खों की सुरक्षा का प्रश्न उठा। मुसलमानों ने वस्तुतः इस बात के लिए दबाव डाला तथा लार्ड मिंटो से यह आश्वासन प्राप्त किया कि वे अपने पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों से अपने प्रतिनिधि चुनेंगे। सम्भवतः उस समय इस निर्णय के दूरगामी परिणामों तथा बाद में उत्पन्न होने वाली जटिलताओं का अनुमान नहीं लगाया जा सका। इन सब पर विचार करने का अवसर हमें बाद में उपलब्ध होगा। इसी प्रकार विस्तृत भू-स्वामित्व सम्बन्धी हितों के लिए उच्च मताधिकार के आधार पर एक विशिष्ट निर्वाचक मंडल की व्यवस्था की गई। प्रान्तीय परिषदों के अवशिष्ट (residuary) निर्वाचन क्षेत्र जो शेष जनता के प्रतिनिधित्व का एकमात्र माध्यम थे, नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों के मतदान समूहों से मिलकर बनते थे।

प्रान्तीय परिषदों में सरकारी बहुमत का परित्याग :

प्रारंभ में लार्ड मिंटो की सरकार प्रान्तीय परिषदों में नाममात्र का सरकारी बहुमत रखने के पक्ष में थी। उसका उद्देश्य केवल इतनी ही संख्या में सरकारी सदस्य बुलाना था जितने सरकारी कार्य-सम्पादन के लिए आवश्यक हों। किन्तु बम्बई में बिना सरकारी बहुमत के कार्य-सम्पादन संभव हो सका था। १६०६ में वहां की स्थानीय परिषद् में १० सरकारी सदस्य तथा १४ गैर-सरकारी सदस्य थे यद्यपि ३ गैर सरकारी सदस्यों के स्थान पर कभी भी सरकारी सदस्यों को नियुक्त किया जा सकता था। अतः प्रान्तीय परिषदों में सरकारी

बहुमत के परित्याग से उत्पन्न संकट का सामना करने का निर्णय लिया गया। इसके अतिरिक्त कार्य-सम्पादन की दृष्टि से कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण निर्णय भी लिये गए जैसे, इस दिशा में अंशतः निषेधाधिकार का आश्रय, प्रान्तीय व्यवस्थापन से संबंधित आंशिक वैधानिक प्रतिबन्ध, अवांछनीय कानूनों के क्रियान्वयन पर रोक तथा प्रान्तीय परिषद् द्वारा असहयोग की स्थिति मे गवर्नर जनरल की विधान परिषद् द्वारा प्राप्त विधि-निर्माण संबंधी निहित शक्ति के प्रयोग मे विश्वास। प्रान्तीय परिषदों की अधिकतम् सख्या को बड़े प्रान्तों में ५० तथा छोटे प्रान्तो मे ३० तक बढा दिया गया। सामान्यत. संगठन इस प्रकार किया जाना था कि सरकारी तथा मनोनीत गैर-सरकारी सदस्यो को निर्वाचित सदस्यों की तुलना में बहुमत प्राप्त हो। बंगाल इसका अपवाद था जहां निर्वाचित सदस्यो को स्पष्ट बहुमत प्राप्त था।

भारतीय विधान परिषद् के सम्बन्ध में भी विस्तार किया गया। वर्तमान व्यवस्था के अनुसार अतिरिक्त सदस्यों की संख्या साधारणतः ६० है। इनमें अधिकतम गैर-सरकारी संख्या (संभवतः २८) है। गवर्नर जनरल को तीन विशिष्ट समुदायों का प्रतिनिधित्व करने वाले गैर-सरकारी सदस्यो तथा दो अन्य स्थानों को अपनी इच्छा से मनोनीत करने का अधिकार है। इस संदर्भ में भी क्षेत्र की अपेक्षा हितों के प्रतिनिधित्व पर निर्भर करना आवश्यक माना गया है। २७ निर्वाचित स्थान अंशतः कुछ विशिष्ट निर्वाचन क्षेत्रों जैसे सात प्रान्तों मे भूस्वामियो, पाँच प्रान्तों मे मुसलमानों, एक प्रान्त में मुस्लिम भूस्वामी एकान्तर (alternate) चुनाव मे तथा दो चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स के मध्य बँटे हुए हैं। शेष खुले स्थान नौ प्रान्तीय विधान-परिषदों के गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा निर्वाचन से भरे जाते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ये आँकड़े बंगाल के पुनर्विभाजन की व्यवस्थाओं के लिए आवश्यक वैधानिक परिवर्तनो तथा उसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय प्रान्तों के लिए निर्मित विधान परिषद् की संरचना पर आधारित हैं। गवर्नर जनरल की विधान परिषद् में इस प्रकार सीमित सरकारी बहुमत बनाए रखा गया। लार्ड मोर्ले ने यह व्यवस्था की कि गवर्नर जनरल की परिषद् अपने व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के स्वरूप में इस प्रकार गठित हो कि यह उन सवैधानिक दायित्वों का निर्वाह करने के लिए सतत् निर्विरोध शक्ति अर्जित करती रहे जिनके लिए यह राजसत्ता व संसद् के प्रति उत्तर-दायी है।

निर्वाचन के सिद्धान्त को कानूनी मान्यता :

ये व्यवस्थाएँ जिन नियमो मे निहित थी उनकी विशेषता इस बात में थी कि उनमें प्रकट रूप से निर्वाचन के नियमो को स्वीकारा गया था। यह उल्लेखनीय है कि १८६३ के नियमों मे उनका व्यावहारिक रूप मे आकलन करते हुए भी कानूनी रूप से उन्हें स्वीकार नहीं किया गया था। १९०९ तक परामर्शदात्री संस्थाओ द्वारा प्रस्तुत किये गए नामांकनों को वैधानिक रूप मे मानना अनिवार्य नही था, यद्यपि व्यवहार मे इस प्रकार के नामांकन अस्वीकार नही किये गए थे। इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि नामांकन को अस्वीकार कर

सकने की शक्ति के कारण कुछ स्थितियों में अवांछनीय उम्मीदवारों के नामों को वापिस कर लिया गया। १६०६ में निर्वाचन के सिद्धान्त की कानूनी मान्यता मे निर्वाचन की कानूनी कमियों को अनिवार्यतः क्रियान्वित करने की व्यवस्था निहित थी। इसके साथ ही सम्राट् (emperor) के प्रति निष्ठा व स्वामिभक्ति की शपथ भी आरोपित की गई थी।

प्रस्ताव रखने का अधिकार :

परिषदों के संगठन मे परिवर्तन के समान ही उनकी कार्य-प्रणाली में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गए। मह पूर्णतः सत्य है कि जहा तक विधि निर्माण सबधी व्यवस्थाओं का प्रश्न है अब तक १८६१ के पुराने अधिनियम के अनुसार ही विधान परिषद् की शक्तियाँ निर्धारित है किन्तु कार्य-प्रणाली का क्षेत्र प्रभावशाली ढंग से विस्तृत कर दिया गया। जैसाकि स्पष्ट है १८६१–१८६२ के करीब तीस वर्षों मे परिषदों का कार्य विधि-निर्माण के अतिरिक्त कुछ नही था। १८६२ के अधिनियम ने सदस्यो को बजट पर विचार करने का अधिकार तो दिया था किन्तु सदस्यों को उसके बारे मे अथवा उस विषय पर परिषद् मे मतदान से संबंधित प्रस्ताव रखने का अधिकार नही था। व्यवहार मे सरकार द्वारा पूर्व-निर्धारित बजट पर विचार करने के लिए वर्ष मे एक या दो दिन रख दिए जाते थे। लार्ड मोर्ले के सुधारों ने न केवल बजट को अंतिम रूप से निर्धारित करने से पूर्व उस पर विचार करने का अधिकार ही दिया बल्कि उसके बारे मे प्रस्ताव रखने तथा उस पर मतदान करने का अधिकार भी प्रदान किया। प्रस्ताव रखने का अधिकार मात्र बजट तक ही सीमित नही था अपितु अन्न सार्वजनिक हित के सभी प्रश्नों पर प्रस्ताव रखे जा सकते थे और उन पर मतदान किया जा सकता था। मे प्रस्ताव भावनाओं को अभिव्यक्त करने के माध्यम थे तथा इनका महत्त्व कार्यपालिका के संदर्भ में परामर्श देना था। कुछ प्रश्नों पर जैसे देशी रियासतों के विषय में, कोई भी प्रस्ताव नही रखा जा सकता था। कोई भी प्रस्ताव सरकार के अध्यक्ष द्वारा, जोकि परिषद् का अध्यक्ष भी होता था, मात्र इस आधार पर अस्वीकार किया जा सकता था कि उसके मत मे उक्त प्रस्ताव सार्वजनिक हित में नही है। इसके साथ ही सदस्यों के प्रश्न पूछने के अधिकार को व्यापकता प्रदान करते हुए इस सम्बन्ध में पूरक प्रश्न करने का अधिकार भी दिया गया।

प्रगति का स्वरूप

आगे चल कर हमें इन सुधारो के व्यावहारिक पक्ष को जानने का अवसर मिलेगा। यहाँ पर संक्षेप में यह विचार करना समीचीन होगा कि किस प्रकार मोर्ले-मिंटो सुधारों ने संवैधानिक विकास को आगे बढाया। उन्होने संवर्धित प्रतिनिधित्व पर बल दिया यद्यपि उन्होने उसे प्रत्यक्ष अथवा साधारण मताधिकार पर आधारित करना असंभव ठहराया। उन्होंने सरकारी विधानों के लिए गैर-सरकारी स्वीकृति प्राप्त करने की वांछनीयता को भी स्वीकार किया यद्यपि संकटपूर्ण स्थिति मे वे मनोनीत सदस्यों के समर्थन को ही पर्याप्त

समझते थे। इसके अतिरिक्त वे निर्वाचित सदस्यों के विभिन्न वर्गों के अलग-अलग हितों तथा अंततः भारतीय विधान परिषद् द्वारा पारित विधेयक के लागू किये जाने पर निर्भर थे, जिसमें सरकारी बहुमत को बनाए रखा गया था। स्पष्टतः परिषदों के सम्बन्ध में मात्र विधान समिति होने की पुरानी धारणा को छोड़ कर उन्हें सरकार की गतिविधियों की जाँच-पड़ताल करने वाली संस्था बनाने का प्रयास किया गया। इसके लिए उन्हें प्रशासनिक विषयों पर चर्चा करने तथा सरकार से उसके द्वारा दिये गए प्रश्नों के उत्तर में तर्क-वितर्क करने के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये गए थे। लार्ड मोर्ले की यह असहमति "यदि यह कहा जाता है कि सुधारों के इस अध्याय ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारत में संसदीय शासन प्रणाली की दिशा में प्रगति की तो, मैं इस से कोई सरोकार नहीं रखूंगा"—निस्सदेह तब स्पष्ट हो जाती है जब हम उसके द्वारा ब्रिटिश संसद् की सर्वोच्चता को दिये गए महत्त्व पर ध्यान देते हैं। यह असहमति तब और भी स्पष्ट हो जाती है जब वह लार्ड मिंटो की सरकार के इस परामर्श को स्वीकृति देता है, जिसका प्रत्येक विशिष्ट भारतीय प्रशासक ने अनुभव के आधार पर समर्थन किया और कहा कि भारत में अत्यधिक सीमित निर्वाचन क्षेत्रों तथा अप्रत्यक्ष मताधिकार से अधिक कुछ भी अपेक्षा करना सर्वथा कल्पनातीत है। उसने इस संवैधानिक दृष्टिकोण को स्वीकार किया कि उस समय तक ब्रिटिश निर्वाचकों के नियंत्रण में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता था जब तक कि भारतीय निर्वाचक गण, जो अभी तक कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे, इस भार को उठाने की क्षमता प्राप्त नहीं कर लेते। तथापि यह कहा जा सकता है कि अभी हमने जिन विशेषताओं की चर्चा की है वे निस्संदेह उस दिशा में स्पष्ट प्रगति की सूचक थी, जहाँ से वह स्थिति अधिक दूर नहीं थी जब उत्तरदायी सरकार का प्रश्न उपस्थित होने की सम्भावना हो सकती थी।

एक विधायिनी अभिसमय :

भारत में विधायिनी समितियों के विकास की समीक्षा में एक अन्य बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उपर्युक्त अनुच्छेद में हमने यह स्पष्ट किया कि केन्द्रीय विधायिनी परिषद् ने संपूर्ण भारत के लिए विधि-निर्माण का कार्य अपने में केन्द्रित रखा था। किन्तु बाद के वर्षों में धीरे-धीरे एक विश्वास का वातावरण बना, जिसके अनुसार साधारणतः भारत सरकार प्रान्तों के लिए उन विषयों पर कानून नहीं बनाती थी जो स्वयं प्रान्तीय विधायिनी परिषदों (*Legislative council*) के अधिकार में थे। छोटे प्रान्तों में इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना इस दृढ़ प्रवृत्ति का समर्थन करती है कि भारतीय विधान मंडल (Indian legislature) किसी भी ऐसे विषय पर विधि-निर्माण करने से पूर्व, जिस पर विधि-निर्माण का अधिकार वस्तुतः प्रान्तीय विधान मंडल को था, आवश्यक विशिष्ट कारण स्पष्टीकरण के रूप में अवश्य दे देती थी।

निष्कर्ष

इस सब के बावजूद १९०९ के सुधार न तो भारत की राजनैतिक समस्या का कोई समाधान

कर सकते थे और न उन्होंने ऐसा किया ही। सीमित मताधिकार तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन सदस्यों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास करने में असमर्थ रहे। यद्यपि विशिष्ट निर्वाचन क्षेत्र इसके अपवाद थे जहाँ मतों का प्रयोग किसी विशिष्ट दृष्टिकोण तथा प्रभाव से किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त प्रशासन के लिए उत्तरदायित्व अविभाजित रहा, परिणामस्वरूप जहाँ सरकार को पर्याप्त प्रश्नों व आलोचना का शिकार बनना पड़ा, वहीं ये प्रश्न व आलोचना उत्तरदायित्व की उस वास्तविक भावना से अछूते थे, जो स्वयं सत्ता *प्राप्त करने की सम्भावना के परिणामस्वरूप आती है। एक ऐसी कार्यपालिका की अव*-धारणा को, जो पूर्ण अथवा आंशिक रूप से निर्वाचित परिषदों से प्रभावित होती हो, स्वीकार नहीं किया गया था। संपूर्ण सत्ता सरकार में केन्द्रित रही तथा परिषदों का कार्य मात्र उसकी आलोचना करना रहा। सरकार सत्ता में ढील देने के लिए किसी प्रकार तैयार नहीं थी परिणामतः प्रान्तीय सरकारें भारत सरकार द्वारा तथा भारत सरकार, भारत सचिव व ब्रिटिश संसद् के द्वारा नियन्त्रित थी। इस प्रकार की स्थिति बाह्य कारणों के अभाव में भी कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकती थीं। यह योजना प्रस्तुत दिशा में प्रगति के मार्ग को अधिक प्रशस्त नहीं करती थी। केवल यही उपाय शेष रह गया था कि स्थायी बनी रहने वाली कार्यपालिका के प्रत्येक प्रशासनिक तथा विधि सम्बन्धी कार्यों को ये निर्वाचित परिषदें स्वीकार करती रहें। इस स्थिति ने उन संघर्षों तथा गतिरोध को उत्पन्न कर दिया जिनकी चर्चा अन्यत्र की जाएगी। हमारे विचार में मोर्ले-मिंटो सुधार उस अवधारणा की चरम परिणति थे जिसने भारत सरकार को कल्याणकारी निरंकुश तन्त्र (benevolent despotism) बना दिया (जिस पर कभी-कभी सतर्क प्रजातंत्रीय प्रहार होते थे, जो बहुधा अपनी जनता के परामर्श एवं सुझावों पर विचार करती थी) सर बार्टल फ्रेरे के शब्दों में—"सरकार अब भी दरबार में एक राजा के समान है, किन्तु अब उसके दरबारी असन्तुष्ट हैं *तथा उस राजा के वैयक्तिक शासन से पूर्णतः संतुष्ट नहीं है, जिसके परिणाम*-स्वरूप शासन कायर तथा अक्षमवान हो गया है। परिषदों में संसदीय परम्पराएँ उस सीमा तक स्वीकार कर ली गई है जहाँ वे मतभेद को जन्म दे सकती हैं। किन्तु क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है अतः वास्तविक मान्यता के कारण वे कल्याणकारी साबित हुई हैं। वर्तमान स्थिति में भारत में न तो उस पुरानी व्यवस्था का श्रेष्ठ अंश बचा है और न ही हम नई व्यवस्था का श्रेष्ठ अंश ले पाए हैं। लोकप्रिय सरकार का आधार उत्तरदायित्व होता है जो परिषदों को पूर्णतः अप्राप्य है। इस बारे में पूर्णतः सहमति है कि इस प्रथम उद्देश्य की पूर्ति होनी चाहिए। इन्हें वास्तविक कार्य सौंपे जाने चाहिए। साथ ही उसका प्रत्यक्ष रूप से जनता से सम्बन्ध होना चाहिए जो उनसे किये गए कार्यों के बारे में पूछ-ताछ करे।"

(II)

हमने लार्ड मिंटो के समय में विधान परिषदों में किए गए परिवर्तनों की चर्चा पर्याप्त विस्तार से की है। अब हमारा उद्देश्य सुधार के बाद इन परिषदों के कार्यों की जाँच

करना तथा यह पता लगाना है कि किस सीमा तक वे इन आकांक्षाओं को पूरा कर सकीं। उनके बारे में यह दावा किया गया था कि ये जनता का वास्तविक तथा प्रभावशाली ढंग से सहयोग प्राप्त करेंगी। ऐसा न केवल समय-समय पर होने वाले विधि-निर्माण के कार्य में अपितु प्रतिदिन के प्रशासन के संदर्भ में किया जाएगा। हमें यह देखना है कि ऐसा कहाँ तक किया गया। सर्वप्रथम हमें यह ज्ञात करना है कि किस सीमा तक ये परिषदें सही अर्थों में जनता की प्रतिनिधि थीं, तथा दूसरे स्तर पर हमें यह जानना होगा कि कहाँ तक जनता के प्रतिनिधि परिषदों में विधि-निर्माण तथा प्रशासन को प्रभावित कर पाए।

वर्तमान निर्वाचन व्यवस्था के दोष : मताधिकार का सीमित स्वरूप :

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान निर्वाचन व्यवस्था प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के दृष्टिकोण से अत्यधिक त्रुटिपूर्ण है। इसमें मुख्य दोष वर्तमान मताधिकार का अत्यधिक सीमित क्षेत्र है। उन निर्वाचन क्षेत्रों के अतिरिक्त, जो किसी विशिष्ट वर्ग अथवा समुदाय के लिए हैं, अन्य निर्वाचन क्षेत्रों में मतदाताओं तथा परिषदों में उनका प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों के बीच कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। भारतीय विधान परिषद् में १८ सदस्य ऐसे हैं जो विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुने गये हैं तथा मात्र ६ ऐसे हैं जिन्हें समग्र जनता के प्रतिनिधित्व हेतु निर्वाचित कहा जा सकता है। ध्यातव्य है कि सबसे विशाल निर्वाचन क्षेत्र, जो भारतीय विधान परिषद को एक सदस्य चुन कर भेजता है उसमें ६५० व्यक्तियों से अधिक मतदाता नहीं हैं तथा परिषद् के अधिकांश निर्वाचन क्षेत्र, उससे छोटे हैं। वे निर्वाचन क्षेत्र जो जनता की ओर से ६ प्रतिनिधि चुन कर भेजते हैं, प्रान्तीय विधान परिषदों के गैर-सरकारी सदस्यों से मिल कर बनते हैं, तथा इनमें मतदाताओं की औसत संख्या २२ होती है। एक मामले में तो यह संख्या मात्र नौ है। प्रान्तीय परिषदों के मामले में भी सदस्यों का विभाजन इसी प्रकार विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों तथा सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों के आधार पर होता है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन में नगरपालिकाओं और स्थानीय बोर्ड के सदस्य या तो स्वयं चुनाव करते हैं अथवा मतदाताओं का निर्वाचन करते हैं। किन्तु किसी भी स्थिति में मतदाताओं की संख्या निर्वाचन क्षेत्र में कुछ सौ व्यक्तियों से अधिक नहीं होती। यदि हम सीमित वर्ग के निर्वाचन क्षेत्रों की उपेक्षा करें तो स्थानीय समिति को, जो सीमित अर्थ में जनसामान्य का प्रतिनिधित्व करती है, सर्वाधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त है। प्रत्येक १००० निर्वाचकों पर ३·६ प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। मुसलमान प्रति १००० निर्वाचक गण १·३ सदस्य भेजते हैं। किन्तु जहाँ बाद के दो वर्गों में निर्वाचक गण १·३ सदस्य भेजते हैं वहीं बाद के दो वर्गों में निर्वाचन अप्रत्यक्ष है। अन्य मामलों में वह अप्रत्यक्ष ही नहीं अपितु दोहरे रूप में अप्रत्यक्ष है क्योंकि सदस्यों को जो लोग चुनते हैं वे उन स्थानीय संस्थाओं के सदस्य हैं जिनका चुनाव उनके निर्वाचन क्षेत्रों से पूर्णतः वैयक्तिक अथवा स्थानीय हितों के आधार पर होता है। वह विधान परिषदों के संगठन को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता। ऐसी परि-

स्थिति में हमें यह मानना पड़ता है कि प्रान्तीय परिषदों के गैर-सरकारी सदस्य, भारत की विधान परिषद् तथा प्रान्तीय विधान परिषदों में अपने प्रतिनिधियों के संदर्भ में व्यवहार रूपेण प्राथमिक मतदाता हैं। इस प्रकार वह व्यक्ति जो प्रारम्भिक मतदाता के रूप में मत देता है तथा वह जो उसके प्रतिनिधि के रूप में विधान परिषद् में बैठता है इन दोनों के मध्य पूर्णतः कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यवहार में उस प्राथमिक मतदाता के मत का विधान परिषद् की प्रक्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में उस मतदाता पर, जो अपने मत का प्रयोग करता है न तो कोई उत्तरदायित्व होता है और न ही उसकी राजनैतिक शिक्षा की कोई सम्भावना ही है। एक ऐसे निर्वाचक गण को प्रशिक्षित करने का कार्य, जो एक उत्तरदायी सरकार के भार को वहन कर सके अब तक अधूरा बना रहा है तथा जैसाकि हम आगे चल कर देखेंगे, ये कठिनाइयाँ गहन हैं और इनका समाधान पर्याप्त समय लेगा।

प्रतिनिधियों में वकीलों का अधिक अनुपात :

वर्तमान निर्वाचन-व्यवस्था का एक छोटा किन्तु उल्लेखनीय परिणाम निर्वाचन में सफलता पाने वाले लोगों में कानूनी व्यवसाय के लोगों के अनुपात में वृद्धि है। यदि हम भारत की विधान परिषद् पर १९०९, १९१२ तथा १९१६ के निर्वाचनों के बाद संगठन की दृष्टि से ध्यान दें तो यह ज्ञात होता है कि संपूर्ण गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों में वकीलों का प्रतिशत क्रमशः ३७, २६ तथा ३३ था। यदि हम भूस्वामी तथा व्यापारी वर्ग के विशेष प्रतिनिधित्व को हटा दें तथा मुस्लिम प्रतिनिधियों को भी पृथक् कर दें, जिनकी संख्या के बारे में आँकड़े एकत्र नहीं किये गये हैं, और तब प्रान्तीय परिषदों के मात्र गैर-सरकारी सदस्यों की ओर ही देखें, तो हम पाते हैं कि वकीलों का प्रतिशत १९०९ तथा १९१२ में ४० तथा ४५ प्रतिशत रहा तथा वर्तमान परिषद् में यह अनुपात ५४ प्रतिशत है। यह वृद्धि मुख्यतः भूस्वामियों के स्थान पर हुई है जो व्यावसायिक हितों के मुकाबले में भी महत्त्व खो चुके हैं। प्रान्तीय परिषदों में भी स्थिति इसी प्रकार की है। इनमें से अधिकांश स्थान परिषदों में विशिष्ट स्थान-भूस्वामियों तथा व्यावसायिक लोगों के लिए सुरक्षित रखे गये हैं तथा वे प्रायः इन्हीं वर्गों के लोगों से भरे जाते हैं। यह स्थिति परिषदों के सम्पूर्ण स्वरूप में कानूनी तत्त्वों को थोड़ा कम करती है। इसके बावजूद भी सभी विधान परिषदों में संयुक्त रूप से वकीलों का प्रतिशत, निर्वाचित सदस्यों (बर्मा को छोड़कर) १९०९ में ३८, १९१२ में ४६ तथा १९१६ में ४८ था। किन्तु यदि हम मात्र उन निर्वाचन क्षेत्रों पर ही ध्यान दें जो जनसामान्य का प्रतिनिधित्व करने वाले थे और किसी विशिष्ट हित से पृथक थे, अर्थात् जो स्थानीय व जिला परिषदों के सदस्यों से मिलकर बने थे, तो यह ज्ञात होता है कि १९१६ में ७० में कम से कम ४९ (लगभग ७० प्रतिशत) सदस्य वकील थे। इन आँकड़ों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे निर्वाचन क्षेत्र जिससे सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व होता है उनमें २.१ अनुपात वकीलों के होने की संभावना होती है। राजनीति में वकीलों का बहुमत अन्यत्र भी संसदीय शासन

प्रणाली की विशेषता के रूप में पाया जाता है तथा यह स्वाभाविक भी है क्योंकि संसदीय शासन प्रणाली में विधि-निर्माण का कार्य इतना व्यापक होता है तथा यह अधिकांशतः इतने आग्रहपूर्ण भाषणों द्वारा किया जाता है जिसमें निस्सन्देह वकील ही अधिक लाभप्रद स्थिति में रहते हैं। भारत में इन परिस्थितियों में एक परिस्थिति और सम्मिलित हो गई है। यहाँ शिक्षित वर्गों के लिए व्यवसाय चयन करने का क्षेत्र बड़ा संकीर्ण है। यह स्पष्ट है कि एक ही व्यवसाय के लोगों का इतने अधिक अनुपात में विधान परिषदों में रहना सामान्य जनता के हित में नहीं है। अतः हम यह सुझाव इस सम्मानपूर्ण व्यवसाय का विरोध करने की दृष्टि से अथवा परिषदों में उनकी उपयोगिता को कम मानने की दृष्टि से नहीं, अपितु इस दृष्टि से कर रहे हैं कि हमारे नए निर्वाचन क्षेत्र इस विचार को ध्यान में रख कर निर्धारित किये जाएँ कि अन्य व्यवसाय तथा वर्ग के लोगों को परिषदों में पर्याप्त स्थान मिले। ऐसा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए कुछ निश्चित योग्यताएँ निर्धारित कर किया जा सकता है।

सरकारी गुट उनका कार्य :

दूसरी ओर सरकार के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने व उसे क्रियान्वित करने के तरीके भी आलोचना का विषय हैं। यह पुराना विचार कि विधान परिषदें भी अपने विधायिकी पक्ष में सरकारें ही हैं, अब भी गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट की धारा ६३ तथा ७२ में प्रतिध्वनित होता है। जैसाकि विदित है अभी हाल में उसे मंत्रियों द्वारा क्रियान्वित किया गया है। निस्सन्देह यही कारण है कि परिषदों में सरकारी गुट को विशिष्ट कठोरता के साथ बनाए रखा गया है। गैर-सरकारी सदस्यों को पर्याप्त समय से विधेयक प्रस्तुत करने का अधिकार प्राप्त है। किन्तु यह दृष्टिकोण कि विधि-निर्माण अब भी कार्यपालिका व सरकार का प्राथमिक विशेषाधिकार है, सर्वमान्य है। यदि सरकार ने, जो स्वयं संसद् के प्रति उत्तरदायी है, अपने सरकारी सदस्यों को निजी विधेयकों पर स्वतन्त्र रूप से बोलने या मत देने का अधिकार दिया है तो ऐसा नियमानुसार नहीं अपितु अपवाद स्वरूप हुआ है। सरकारी कार्यवाई पर उनका नियंत्रण और भी कठोर हो रहा है। परिषद् की कार्यवाई पर सरकार का नियन्त्रण रहा है। सामान्यतः सरकारी अधिकारी न तो प्रश्न पूछ सकते हैं और न ही वे प्रस्ताव रख सकते हैं तथापि यह प्रवृत्ति विकसित हुई है कि अधिक मामलों को उन्मुक्त प्रश्न माना जाए। मत-विभाजन की स्थिति में सरकारी गुट सरकार के पक्ष में ही मत देता है।

सरकारी सदस्यों पर इसका प्रभाव :

परिषद् में होने वाली प्रक्रिया पर इसके प्रभाव की सहज कल्पना की जा सकती है। सरकार के नियंत्रण की तुलना कॉमन सभा (House of Commons) में होने वाले कठोर दलीय अनुशासन से की जाती है किन्तु हमारे मत में उसकी उपयोगिता बहुत कम है। दलीय अनुशासन में सदस्य यदि सचेतक के आदेश को मानने के लिए प्रेरित होता है तो उसके पीछे यह भावना होती है कि सदन में सरकार की हार का अर्थ मंत्रिमंडल में परिवर्तन है। अतः यह उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने व्यक्तिगत सीमित मत क उस विशिष्ट प्रश्न

पर, उन व्यापकतर सिद्धान्तों के लिए परित्याग कर दे, जो उसके दल का आधार हैं। इसके अतिरिक्त कभी ऐसा समय भी आता है जब व्यक्तिगत निर्णय प्रभावशाली हो जाता है तथा सरकारी दल के विरोध में दल के समर्थकों द्वारा मतदान करने के कारण सरकार का पतन हो जाता है। इस व्यवस्था का मूल आधार उत्तरदायित्व है, किन्तु भारतीय विधान परिषद् में सरकार के साथ मत देने का उत्तरदायित्व अभी तक विद्यमान है और इस अपरिवर्तनीय सरकार में कुछ परिवर्तन कर इसे पतन से बचाने तथा अधिक स्वीकार्य बनाने का प्रयास नहीं किया गया है जैसाकि ग्लेडस्टन ने बहुत वर्षों पहले कहा था कि अंतर्चेतना व अनुशासन के बीच यह संघर्ष कभी अत्यधिक तीव्र हो सकता है।

भारतीय सदस्यों पर प्रभाव .

विधान परिषदों के भारतीय सदस्यों पर यह प्रभाव स्पष्टतः उन्हें क्षुब्ध करता है। उनका दृष्टिकोण सरकारी सदस्यों के विषय में पूर्वाग्रही हो जाता है जो एक गुट का निर्माण कर लेते हैं। भारतीय सदस्य ऐसे विचार-विमर्श में, जिसमें वक्ताओं का बहुमत उनके विचार में सरकार के विरुद्ध जा रहा हो, भाग ले सकते हैं। चूंकि सरकार अक्सर एक ही दृष्टिकोण रखती है अतः वह ऐसा एक ही वक्ता के माध्यम से करवा कर संतुष्ट हो जाती है किन्तु जब मतदान का अवसर आता है तब संपूर्ण सरकारी गुट सरकारी प्रस्ताव को पारित करवा लेता है अथवा निजी सदस्य के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। इस प्रकार भारतीय सदस्यों के मत को परिषद् के रिकार्ड में रखने का अवसर शायद ही कभी आता हो, क्योंकि परिषद् के निर्णय अधिकांशतः स्वयं सरकार के निर्णय होते हैं। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अधिकांश सरकारें सरकारी गुट का प्रयोग करना नापसन्द करती हैं तथा सरकारी सदस्य भी अपनी इस स्थिति से संतुष्ट नहीं हैं जिसका उन्हें प्रायः सामना करना पड़ता है। यह तथ्य, कि परिषदों में भारतीय सरकारी सदस्य कम हैं, न केवल इस गुट-बंदी को और अधिक जटिल बना देता है अपितु इसे अवांछनीय रूप भी प्रदान करता है। परस्पर विचार-विमर्श में कटुता आने लगती है। इन सबके अतिरिक्त यह सरकारी एकता स्वाभाविक रूप से निर्वाचित सदस्यों के आपसी मतभेदों को समाप्त करती है तथा उन्हें सरकार के विरुद्ध संगठित होने के लिए प्रेरित करती है। परिणामस्वरूप इनमें मनोनीत भारतीय सदस्य भी सम्मिलित होने लगते हैं।

परिषद् की कार्यवाई पर प्रभाव :

उपरोक्त कारणों से परिषद् की संपूर्ण कार्यवाई अवास्तविक स्वरूप ग्रहण कर लेती है। चूंकि निर्वाचित सदस्यों की संख्या सीमित है, तथा विषय का ज्ञान पहले से ही होता है अतः विचार-विमर्श अक्सर तब तक रुचिहीन होता है जब तक विचाराधीन प्रश्न किसी प्रकार की भावनाओं को ठेस न पहुंचाता हो अथवा किन्हीं हितों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित न करता हो। चूंकि सरकार ने पर्याप्त सीमा तक परिषदों की कार्यवाई पर नियंत्रण कर रखा है, अतः परिषदों ने कभी भी किसी ऐसे सुगठित मत को विकसित करने का प्रयास

नहीं किया जो उनके व्यक्तिगत प्रयासों के स्तर को उठाने में सहायक होता। इसके बावजूद दोनों पक्षों के वक्तव्यों के स्तर में सुधार हो रहा है। अब विचार-विमर्श के संदर्भ के अतिरिक्त पहले से तैयार किये गए भाषणों का पाठन, तथा एक बार चर्चित विषयों की पुनरावृत्ति, दोनों में पहले की अपेक्षा कम दोष पाये जाते हैं। इन अवसरों का अनुभव तब होता है जब सरकार विचार–विमर्श से पृथक हो जाती है, तथा मतों के विभिन्न स्वरूपों को स्वतन्त्र रूप से प्रकट होने का अवसर देती है। यह इस बात का प्रमाण है कि यदि सरकार द्वारा भविष्य में सरकारी गुट को समाप्त कर दिया जाए तो परिषदों की कार्यवाई में नई शक्ति का संचार किया जा सकता है

सरकारी सदस्यों की स्थिति :

परिषद् पर सरकारी नियन्त्रण को स्पष्ट करने के लिए १६११ तथा १६१२ की दो घटनाओं की ओर हमारा ध्यान सहज ही आकृष्ट होता है। ये घटनाएँ मोर्ले-मिंटो सुधारों के संकीर्ण स्वरूप को स्पष्ट कर देती हैं। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि भारतीय विधान परिषद् मे सरकारी सदस्यो का प्रवेश सर्व प्रथम उस समय किया गया जब यह संस्था भारत मे एक मात्र व्यवस्थापिका थी, जिससे यह अपेक्षा थी कि इसमें प्रान्तीय हितों को भी प्रतिनिधित्व मिलेगा। सभी प्रान्तो में परिषदों की स्थापना होने के पश्चात् भी यह विचार यथावत् बना रहा। जब लार्ड डफ़रिन द्वारा सुधारों के अनुकूल भारतीय बजट पर विचार किया जाने लगा तब यह प्रवृत्ति दृष्टिगत हुई कि केन्द्रीय विधान परिषद् में प्रान्तीय सदस्य वित्तीय प्रश्न को लेकर सम्बंधित प्रान्त की स्थिति के प्रति असंतोष व्यक्त करते थे। यह प्रथा मोर्ले-मिंटो सुधारों के पश्चात् भी बनी रही किन्तु अब भारत सरकार इन सदस्यों के वित्तीय निर्णयों से संबंधित आलोचना पूर्ववत् सहिष्णुता से नही सुनती थी। कभी–कभी तो यह प्रतिक्रिया इतनी अप्रत्याशित होती थी कि वह प्रान्तीय आधार पर आलोचना करने वालो को चकित कर, असमंजस में डाल देती थी। दो प्रान्तीय सरकारों ने केन्द्रीय सरकार के दृष्टिकोण में उत्पन्न इस आकस्मिक परिवर्तन की आलोचना भी की, किन्तु लार्ड हार्डिंग की सरकार का निर्णय था कि १६०६ के सुधारों ने संपूर्ण परिस्थितियों में परिवर्तन कर दिया था। उन्होंने कहा कि सरकारी बहुमत को निम्नतम् व्यवहारिक सीमा तक घटा दिया गया था। अब विभिन्न प्रान्तों के सदस्य वहाँ मात्र प्रान्तों के पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए ही नही थे अपितु विधि-निर्माण के समान बजट पर विचार करते समय भी भारत सरकार का समर्थन करने के लिए थे। जब तक भारतीय विधान परिषद् में सरकारी तत्त्व पर्याप्त मात्रा मे था, तब तक सरकार द्वारा प्रान्तीय सदस्यों की आलोचना पर कोई आपत्ति नही हुई किन्तु बड़ी संख्या में निर्वाचित सदस्यों के प्रवेश के पश्चात् इस प्रकार के अभ्यास को समाप्त करना आवश्यक हो गया। परिणामतः अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी गई। इस कल्पना को अमान्य ठहरा दिया गया कि भारतीय विधान परिषद् केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के मध्य परस्पर वार्ता का एक मंच थी। अब यहाँ पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना तर्कसंगत होगा कि अपने प्रान्तों के लिए और अधिक अच्छी वित्तीय व्यवस्थाएँ प्राप्त करने के

उद्देश्य से मद्रास तथा बम्बई के सरकारी सदस्य न केवल अपनी प्रान्तीय सरकारों के दृष्टिकोण को प्रकट कर रहे थे अपितु अपने प्रान्तों के निर्वाचित सदस्यों के विचारों को भी वाणी दे रहे थे। मोर्ले-मिंटो सुधारों के अन्तर्गत यह एक जटिल स्थिति है कि लोकप्रिय दृष्टिकोण अपनाने से कभी भी सरकारी दृष्टि एवं सरकारी अनुशासन से संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

प्रान्तीय सरकारों की स्थिति :

इसी प्रकार के सिद्धान्तों से युक्त संघर्ष एक वर्ष बाद प्रान्तों में उत्पन्न हुआ। बम्बई प्रान्त की सरकार भारत सरकार को शैक्षणिक अधिकारियों को प्रभावित करने वाली कुछ मान्यताओं में परिवर्तन करवाने में असफल रही। हम उन प्रस्तावों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर इस समय टिप्पणी नहीं कर रहे हैं, किन्तु ये प्रस्ताव स्थानीय क्षेत्र में लोकप्रिय थे। बम्बई विधान परिषद् में एक निर्वाचित सदस्य द्वारा इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से पारित किया गया था। बम्बई सरकार ने इस सर्वसम्मत प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तथा एक बार उन्होंने यह प्रस्ताव भारत सरकार की स्वीकृति के लिये भी रखा। यह तर्क दिया गया कि इस प्रस्ताव को संपूर्ण परिषद् का समर्थन प्राप्त है। किन्तु भारत सरकार तथा भारत सचिव ने इस कदम पर यह प्रतिक्रिया व्यक्त की कि ऐसे प्रयास व्यवस्था के विरुद्ध है। इस संदर्भ में लार्ड क्रू का कथन विशेष उल्लेखनीय है—

> "भारत सरकार को प्रान्तीय परिषद् में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है अतः ऐसी स्थिति में उसकी नीति तथा आदेशों की प्रान्तीय शासन के संदर्भ में रक्षा करने का दायित्व पूर्णरूप से इन प्रान्तीय विधान परिषदों व सरकारों पर छोड़ दिया गया है। केवल उसी स्थिति में, जब भारत सरकार इम्पीरियल काउंसिल में अपनी एकता को बनाये रखने के लिए बाध्य होती है, एक प्रान्तीय सरकार के लिए विधान परिषद् में कार्रवाई का संचालन इस प्रकार करना आवश्यक हो जाता है जिससे कि किसी भी प्रशासनिक मामले में भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकार के बीच विरोधाभास न दिखायी दे। यह कहना निरर्थक है कि इन दोनों सरकारों के संवैधानिक उत्तरदायित्वों में अंतर है क्योंकि संपूर्ण भारत के लिए एक ही प्रकार की प्रशासन व्यवस्था नहीं हो सकती है। इसी भावना को ध्यान में रखकर भारत की एकता को बनाये रखा जा सकता है। उन विघटनकारी प्रवृत्तियों पर उचित नियंत्रण रखा जाए जो सरकार की सत्ता को विश्रृंखलित करने के लिए खतरा उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार मेरे विचार से स्थानीय सरकारों का उद्देश्य किसी भी प्रस्ताव पर विचार करते समय भारत सरकार के निर्णय व आदेशों को बनाए रखना है।"

इस प्रकार एक और उदाहरण स्पष्ट होता है जबकि सरकारी अधीनता तथा सरकारी एकता के सिद्धान्त को लोकप्रिय आकांक्षाओं के सिद्धान्त के विपरीत महत्व प्रदान किया गया। इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत में गैर-सरकारी आकांक्षाओं के प्रति आदर सदा सरकारी अनुशासन के अनुकूल नहीं होता था। सरकारी अनुशासन

भारत सचिव तथा ब्रिटिश संसद् की सर्वोच्चता बनाए रखने के लिए आवश्यक था। जब तक तक यह स्थिति परिवर्तित नहीं होती, तब तक विधान परिषदों की शक्तियाँ यथार्थपरक नहीं हो सकती। इस बात का अनुभव (ब्रिटिश) संसद्, भारत सचिव तथा भारत सरकार को अवश्य करना चाहिए।

परिषदों का कार्य :

यदि हम भारत में विधान परिषदों द्वारा किये गए वास्तविक कार्य की ओर दृष्टिपात करें तो सर्वप्रथम हमें भारतीय विधान परिषद् को प्रान्तीय विधान परिषदों से पृथक करना चाहिए। भारतीय विधान परिषद् के सम्मुख न केवल अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ ही आई हैं अपितु परिषद् की तुलना में वे कम समरूप भी हैं। इसके सदस्यों को बहुत से विषयों के संबंध में काफी कम ज्ञान होता है तथा विचार-विमर्श प्रायः प्रस्ताव के सभी पक्षों पर केन्द्रित न होकर मात्र सिद्धान्तों के इर्द-गिर्द घूमता है। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय परिषद् के विपरीत भारतीय विधान परिषद् में सरकारी सदस्यों का बहुमत है।

भारतीय विधान परिषद् : विधि-निर्माण पर गैर-सरकारी सदस्यों का प्रभाव :

यदि भारतीय विधान परिषद् की कार्यवाई पर १९१० के बाद से दृष्टिपात किया जाए तो एक सामान्य प्रेक्षक को यह जानकर आश्चर्य होगा कि विधि-निर्माण, जो विधान सभा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होता है, उसमें परिषद् की प्रत्यक्षतः बहुत कम रुचि थी। १९१०–१७ के आठ वर्षों के दौरान परिषद् ने १३१ विविध कानून पारित किए जिनमें से ७७ अथवा ५९.१ प्रतिशत बिना किसी वाद-विवाद के पारित कर दिए गए। परिषद् की कार्यवाई का विवरण यह बताता है कि इनका अधिकांश भाग वित्तीय विधेयकों को अथवा निम्न अधिनियमों को समाविष्ट करता था, जबकि १९१४ में युद्ध के प्रारम्भ से प्रस्तावित विधेयक तकनीकी रूप से जटिल थे और परिषद् स्वयं अपने मत में उन पर विचार करने हेतु सक्षम नहीं थी। महायुद्ध के दौरान भारत सरकार की नीति विवादास्पद विधेयकों को स्थगित करने की रही। कुछ उन विषयों को भी स्थगित किया जाता रहा जो किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न कर सकते हैं। फौजदारी कानून (Criminal Procedure Code) को संशोधित करने के विधेयक को जानबूझकर स्थगित करना इस तथ्य को प्रभावित करता है। हमें यह याद रखना होगा कि केन्द्रीय परिषद् में अधिक पिछड़े तथा उन्नत दोनों क्षेत्रों से ही प्रतिनिधि आते हैं। इस कारण अधिक प्रगतिशील प्रान्तों से गैर-सरकारी सदस्यों की सामान्य योग्यता व अभिव्यक्ति का स्तर ऊँचा पाया जाता है। वस्तुतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रान्तीय सरकारों ने हमेशा केन्द्रीय परिषद् को अपने सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि भेजने का प्रयास किया है। स्वाभाविक रूप से अक्सर वे सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधियों को प्रान्तीय स्तर पर ही रखना अधिक पसंद करते हैं। तथापि इतने अधिक विधेयकों का इतना कम विरोध क्यों हुआ है इसका मूल कारण स्वयं सरकार द्वारा यथासम्भव विरोध को टालने का प्रयास है। इस उद्देश्य

की पूर्ति के लिए किसी विधेयक को प्रस्तुत करने से पहले गैर-सरकारी मत को आश्वस्त करने का हर संभव प्रयास किया जाता है। संभवतः यह सत्य है कि विधेयकों के स्वरूप पर परिषद् का नियंत्रण प्रारंभ में अधिक होता है न कि उस समय जब उन पर विचार-विमर्श किया जाता है। विभागों मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि पहले से ही विधेयक की सभी विवादास्पद विशेषताओं को समाप्त कर दिया जाता है और बाद में विषय से संबंधित सभी संशोधनों का विरोध किया जाता है। इस प्रकार यह संभव है कि परिषद् में प्रस्तुत किये गए संशोधनों को बहुत कम स्वीकार किया जाए जबकि विधेयक को प्रस्तुत करने से पूर्व सुझावों को स्वीकार करने के अवसर अधिक होते हैं। विधि-निर्माण की दिशा मे रचनात्मक कार्य वस्तुतः पत्र-व्यवहार द्वारा होता है जो निस्सन्देह अधिक समय लेता है जबकि परिषद् में सरकार के बहुमत की स्थिति मे इतना समय लगने की संभावना ही नही होती। इसके अतिरिक्त यह मानने का कोई कारण नही है कि गैर-सरकारी सदस्य विधेयक प्रस्तुत करने के उपरान्त उसे प्रभावित करने की क्षमता नही रखते। विपरीततः ऐसा अनुभव किया गया है कि सरकारी बहुमत के बावजूद गैर-सरकारी सदस्य विधि-निर्माण पर अपना प्रभाव डालने में सफल हुए हैं। विधि-निर्माण के क्षेत्र मे अधिकांश ठोस कार्य समस्त प्रचार आदि से दूर समिति-कक्ष मे किया जाता है न कि मुख्य कक्ष मे। परिषद् में सरकारी गुट की उपस्थिति सदस्यों द्वारा की जाने वाली आलोचना को अवास्तविक स्वरूप प्रदान कर सकती है। समिति कक्ष तक इनका प्रभाव नही पहुँच पाता हैं। गैर-सरकारी सदस्य, जो किसी विशिष्ट प्रस्ताव मे रुचि रखता है अथवा किसी विधेयक में परिवर्तन करना चाहता है, उस विधेयक को विशिष्ट समिति में स्थान दिलाने के प्रयत्न मे सफल हो जाता है। अथवा वह सदस्य उस विधेयक से संबंधित सरकारी सदस्य से सपर्क स्थापित कर व्यक्तिगत क्षमता में इस विषय पर उससे बातचीत कर सकता है। इस प्रकार परिषद् की आलिखित कार्रवाई से वस्तुतः गैर-सरकारी सदस्यों के वास्तविक प्रभाव का स्वरूप स्पष्टतः प्रकट नही होता। १९०९ के पश्चात् मात्र आठ विधेयकों को वास्तविक रूप से गंभीर विरोध का सामना करना पड़ा। जैसाकि हम देख चुके हैं ७७ के विषय में कोई वाद-विवाद ही नही हुआ। शेष ५९ में से अधिकांश की ओर सार्वजनिक ध्यान बहुत कम आकर्षित हुआ। किन्तु जब कभी भी भारतीय सदस्य किसी विशेष दृष्टिकोण को अपनाते थे वे मत मे उसे पूरा करने में सफल होते थे। यहाँ हम कुछ आवश्यक उदाहरण देख सकते हैं. भारतीय न्यायालय शुल्क (Indian Court Fees) संशोधन, विधेयक भारतीय फैक्ट्री विधेयक (१९११) दि इंडियन पेटेंट्स एण्ड डिजाइन्स बिल (१९११), अपराधी जनजाति विधेयक (१९११) जीवन बीमा कंपनी विधेयक (१९१२) भारतीय कंपनी विधेयक (१९१९) तथा भारतीय मेडिकल विधेयक (१९१६) इन सभी मे पर्याप्त सीमा मे सुधार किया गया तथा ऐसा सामान्यतः गैर-सरकारी सदस्यो की प्रेरणा से किया गया। 'द व्हाइट फॉस्फोरस मैचेस' बिल एक अत्यधिक साधारण विधेयक था किन्तु इससे संबंधित घटना-चक्र इस बात का साक्षी है कि सरकार जनमत का सम्मान करने के लिए तत्पर रहती थी। इसके प्रथम प्रस्तुतीकरण पर इस विधेयक की कठोर आलोचना इस आधार

पर की गई थी कि निर्धन उपभोक्ताओं पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। सरकार ने इस विषय पर जाँच करने के लिए इस विधेयक को वापिस ले लिया था। आगामी वर्ष जब इस विधेयक को पुनः प्रस्तुत किया गया तब तक विरोध समाप्त हो चुका था। फलस्वरूप विधेयक पारित हो गया। तथापि पटना विश्वविद्यालय विधेयक इस बात का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाण है जिसमें गैर-सरकारी आलोचना के कारण महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। ऐसा प्रतीत होता है कि जब भी सरकार ने भारतीय सदस्यों की ओर से ठोस विरोध का सामना किया है तो देश की शांति व सुरक्षा के मामलों को छोड़कर सामान्यतः उसने उनकी बात को स्वीकार किया है।

गैर-सरकारी सदस्यों का विधेयक :

१९१० से केवल पाँच निजी विधेयक केन्द्रीय विधान परिषद् द्वारा पारित किए गए। इनमें से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण 'मुसलमान वक्फ वेलिडेटिंग बिल' (१९१३) था जिसको पारित करने मे स्वयं सरकार ने सहायता की। इसके अतिरिक्त 'हिन्दू मुसलमान डिसपोजीशन ऑफ प्रॉपर्टी बिल (१९१६) था। चार अन्य विधेयक भी प्रस्तुत किए गए। गोखले का एलीमेंटरी एजूकेशन बिल' बसु का स्पेशल मैरिज बिल तथा मेसर्स मादगी तथा दादाभाई का विधेयक जो वेश्यावृत्ति के सम्बन्ध में था। इनमें से पहले दो अस्वीकार कर दिए गए। पहले को अस्वीकार करने का कारण सरकार द्वारा तकनीकी कठिनाइयाँ बताई गईं तथा दूसरे के सम्बन्ध में सरकार ने अपनी व्यावहारिक कठिनाइयाँ बताई जो उस विधेयक के कानून बन जाने पर उपस्थित हो सकती थीं। किन्तु इस सरकारी दृष्टिकोण का निर्माण करने में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य, सरकार की इस बारे मे जानकारी थी, कि दोनों विधेयकों के विरुद्ध गैर-सरकारी विरोध बिलकुल भी नही था। शेष दो विधेयकों पर बल नहीं दिया गया क्योंकि सरकार उन पर कानून बनाने का स्वयं विचार कर रही थी किन्तु सरकार को अपने वह विधेयक जो अल्पायु वाली लड़कियों की सुरक्षा से संबंधित था, स्थगित कर देना पड़ा क्योंकि उस के विषय में यह निश्चित था कि गैर-सरकारी मत इस प्रस्ताव में निहित विषय से सहमत नहीं होगा। जैसाकि सरकारी बहुमत के सम्मुख अपेक्षा की जा सकती थी, निजी विधि-निर्माण का दबाव बढ नहीं रहा था तथापि इसकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी।

प्रशासन से संबंधित समिति के प्रभाव :

अब हम परिषद् के कार्य के दूसरे पक्ष की ओर ध्यान दें जिसका संबंध इस बात से है कि परिषद् प्रश्न पूछ कर तथा प्रस्ताव लाकर प्रशासन के कार्य को किस प्रकार प्रभावित कर सकती है। यह तथ्य कि १९११ की तुलना में १९१७ में दुगने प्रश्न पूछे गये, इस बात का प्रमाण है कि प्रश्न पूछने के अधिकार को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। वर्तमान में मूल प्रश्न पूछने वाले को ही पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार प्रदान करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके साथ ही यह भी नही कहा जा सकता कि प्रश्न पूछने के अधिकार का दुरुपयोग किया गया है। यद्यपि ऐसी सूचना प्राप्त करने के लिए प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति पाई जाती है

जिनका उल्लेख प्रकाशित रिपोर्ट में किया गया है। विस्तृत सांख्यिकी सूचना मांगी जाती है जिसका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं होता है तथा कभी-कभी ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं जो स्थानीय परिषदों में पूछे जाने चाहिए। सार्वजनिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर तथा वित्तीय मामलों पर प्रस्ताव रखने का अधिकार १९०९ में विधान परिषद् को प्रदान किया गया। तत्सम्बन्धी यह सुविधा कथित परिवर्तनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी। तत्सम्बन्धी अनुभव से यह प्रमाणित हो जाता है। १९१७ के अंत तक कुल मिला कर १६८ प्रस्ताव रखे गए थे। इनमें से २४ सरकार द्वारा स्वीकार कर लिये गए, ६८ वापिस ले लिये गए, तथा ७६ मत विभाजन द्वारा या उसके बिना ही अस्वीकार कर दिये गए। तथापि ये संख्याएँ स्वयं उन प्रस्तावों की सुविधा से उत्पन्न प्रभाव को स्पष्ट नहीं करती हैं। कुछ मामलों में सदस्य प्रस्ताव को इसलिए वापिस नहीं ले सकता है क्योंकि वह सरकारी पक्ष के इस मत से आश्वस्त हो जाता है कि उसका प्रस्ताव अनुपयुक्त है। किन्तु इससे भी बढ़कर संभावना इस बात की होती है कि यद्यपि सरकार किन्हीं तकनीकी व वित्तीय कठिनाइयों के कारण प्रस्ताव को वर्तमान रूप में स्वीकार नहीं कर सकती किन्तु सरकार द्वारा यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि वह प्रस्तुतकर्ता के विचार से सहमत है। इसके अतिरिक्त कई प्रस्ताव पूर्व निर्धारित नीति के कारण अस्वीकृत हो जाते हैं अथवा सरकार बिना जाँच किये उन्हें स्वीकार करना अवांछनीय समझती है। तथापि वह प्रस्ताव उस विषय में निहित प्रश्न पर पुनर्विचार आवश्यक बना देता है। कभी-कभी ये स्वयं सरकारी नीति में परिवर्तन का कारण बनते हैं। जैसाकि वस्तुतः अनिवार्य शिक्षा तथा भारतीय सुरक्षा अधिनियम के संदर्भ में हुआ। ये दोनों विषय ऐसे थे जिन पर सामान्य मत सतर्क व सक्रिय थे। एक सामान्य सर्वेक्षण के आधार पर यह ज्ञात होता है कि ७३ प्रस्ताव साधारण थे। बहुत मामलों में महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं लिए जा सके। वे विषय जिन पर लिये गए निर्णय परिषद् के प्रस्तावों से प्रभावित हुए थे निम्नलिखित थे— कुछ बस्तियों में करारबद्ध श्रम व्यवस्था को समाप्त करना, संयुक्त प्रान्त में एक कार्यकारिणी परिषद् की स्थापना, पंजाब में उच्च न्यायालय की स्थापना, जेल प्रशासन पर एक समिति की स्थापना, उसकी रिपोर्ट, सार्वजनिक सेवाओं तथा औद्योगिक आयोगों की स्थापना। इन महत्त्वपूर्ण विषयों की सूची को अन्य कम महत्त्वपूर्ण विषयों का उल्लेख करके बढ़ाया जा सकता है जिनमें गैर-सरकारी प्रस्तावों ने सरकारी कार्य व नीति को निश्चित रूप से प्रभावित किया है, किन्तु इस प्रश्न पर अब अधिक विस्तृत चर्चा आवश्यक नहीं है। नवीनतम प्रशासनिक गतिविधियों का कोई भी प्रेक्षक इस तथ्य से परिचित है कि किस प्रकार परिषद् में, गैर-सरकारी सदस्यों का दृष्टिकोण सभी सार्वजनिक मामलों के विचार-विमर्श को प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त जब सरकार किसी प्रस्ताव को स्वीकार करने में असमर्थ होती है तब भी उस पर विचार-विमर्श करना उपयोगी सिद्ध होता है ताकि गैर-सरकारी दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति मिले जिसके परिणामस्वरूप सरकार को अपनी नीति स्पष्ट करने का अवसर मिल सके।

गैर-सरकारी सदस्यों का दृष्टिकोण :

जिन प्रवृत्तियों की हम यहां चर्चा कर रहे हैं उनके विषय में इतनी कम अवधि में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। तथापि हम भारतीय विधान परिषद् के सदस्यों द्वारा सरकारी विधि निर्माण के प्रति अपनाए गए उत्तरदायित्व पूर्ण व्यवहार की प्रशंसा करना उचित समझते हैं। कई अत्यधिक विवादास्पद विधेयकों के पारित होने में, जैसे प्रेस एक्ट के दौरान सरकार को अधिकांश समर्थन गैर-सरकारी सदस्यों से मिला। सरकार को इसी प्रकार का समर्थन वास्तविक महत्त्व के अन्य विधेयकों जैसे, डिफेन्स ऑफ इंडिया एक्ट तथा हाल में साम्राज्य कोष में १० करोड़ के अनुदान के प्रश्न पर सदन से मिला। ऐसे ही व्यावहारिक रूप से कार्य करने के उचित उदाहरण फैक्टरीज एक्ट तथा कंपनी एक्ट पर किये गए विचार-विमर्श के रूप से उपलब्ध हैं। जब हम इन प्रस्तावों पर हुए विचार-विमर्श पर ध्यान देते हैं तो हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सरकारी बहुमत निजी सदस्य द्वारा रखे गए किसी भी प्रस्ताव को पारित करना असम्भव बना देता है यदि वह सरकार के विरुद्ध रखा गया हो। इस प्रकार प्रस्तावों का अपेक्षाकृत प्रभावहीन स्वरूप यह स्पष्ट कर देता है कि सदस्य विधि-निर्माण के समान अपने भाषणों व मतदान में उत्तरदायित्व की भावना अभिव्यक्त नहीं करते हैं तथा उनसे संबंधित विचार-विमर्श जातीय भेदभावना से पूर्ण रहा है जिसकी चर्चा हमने अन्यत्र की है। इन कारणों ने गैर-सरकारी, मनोनीत तथा निर्वाचित सदस्यों में संगठित होकर कार्य करने की प्रवृत्ति को विकसित किया है। मिंटो-मोर्ले सुधारों के व्यवहार में आने के पश्चात् यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दृढ़ होती गई है। यद्यपि मनोनीत सदस्यों की नियुक्ति कुछ विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिये होती है, तो भी प्रारंभ में उनसे स्वतंत्र रूप से कार्य करने की अपेक्षा की गई थी। उन्होंने अनेक मामलों में निर्वाचित सदस्यों के साथ कार्य किया है। विशेष रूप से जातीय भेदभाव के प्रश्न पर यह पूर्णतः स्वाभाविक था कि वे सामान्य भारतीय मत से पृथक् मत नहीं प्रकट करते। तथापि हमारा विचार है कि प्रस्तावों के स्थान पर विधि-निर्माण के संदर्भ में हमें परिषद् के वास्तविक कार्य के स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णय करना चाहिए। अतः उपर्युक्त कारणों से यह कहा जा सकता है कि गैर-सरकारी सदस्यों में (यूरोपीय सदस्यों को छोड़कर, जो प्रायः सरकार के पक्ष में मतदान करते हैं) संगठित होकर कार्य करने की प्रवृत्ति का विकास हुआ है।

प्रान्तीय विधान परिषद्

इसी प्रकार का कार्य-विश्लेषण प्रान्तीय परिषदों के बारे में करना भी वांछनीय होता, किन्तु इस समय न तो इतनी तत्संबंधी संपूर्ण जानकारी उपलब्ध है और न ऐसा करने के लिए पर्याप्त अवसर ही है। तथापि भारतीय तथा प्रान्तीय परिषदों के मध्य कुछ अंतर प्रकट रूप से स्पष्ट है। प्रान्तीय परिषदों के निर्वाचित तथा सरकारी दोनों प्रकार के सदस्य विचार-विमर्श के विषय से अधिक परिचित व निकट प्रतीत होते हैं जो उन्हें परिषद् के बाहर भी सरकारी सदस्यों के संपर्क में लाता है। परिणामस्वरूप अधिक निकट का

पपर्क स्थापित होता है। चूँकि सदस्यगण अधिक दूर नहीं रहते हैं अतः इसके सत्र वर्ष भर में समान रूप से विभाजित होते हैं। केन्द्रीय विधान परिषद् की तुलना में इनके अधिवेशन कम अवधि वाले होते हैं। परिणामतः थोड़े-से सरकारी सदस्यों पर कार्य-भार प्रान्तों में उतना अधिक नही पड़ता जितना कि भारत सरकार की विधान परिषद् में होता है। किन्तु इनमे मौलिक भेद संभवतः यह है कि सभी प्रान्तों में गैर-सरकारी सदस्य बहुमत में हैं। बंगाल मे तो निर्वाचित सदस्यों का कुछ स्थानों पर बहुमत है। किन्तु इस तथ्य ने कि गैर-सरकारी सदस्य अधिक अनुपस्थित रहते हैं तथा सरकारी सदस्य नियमित रहते हैं, गैर-सरकारी सदस्यों के बहुमत के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है। इसके बावजूद यह नहीं कहा जा सकता है कि सरकारी विधेयकों के प्रस्तुतीकरण मे सामान्यतः बहुमत के विरोध से बाधा उत्पन्न हुई है। अक्सर ऐसे अवसर आए हैं जब स्थानीय सरकार किसी ऐसे विधेयक को बनाने में असमर्थ रही है जिसे बनाना वह वांछनीय समझती थी। जैसाकि कहा जा चुका है भारत सरकार की सामान्य नीति किसी विधेयक के प्रारूप की विभिन्न धाराओं से संबंधित विरोध को जानने की रही है ताकि प्राप्त जनमत के प्रकाश मे विधेयक के प्रारूप मे आवश्यक परिवर्तन किये जा सकें। इसके अतिरिक्त युद्ध के दौरान विवादास्पद विषयों को स्थगित करने की प्रवृत्ति ने विधि-निर्माण प्रक्रिया को सीमित किया है। अतः इस संबंध मे लिए जाने वाले निर्णय कुछ सीमा तक अमान्य हो जाते हैं। यह एक तथ्य है कि विशिष्ट समितियों ने विधेयकों के प्रारूप को वास्तविक रूप व आकार प्रदान करने मे उपयोगी कार्य किया है। तुलनात्मक रूप से कुछ अन्य मामलों मे तो उन्होंने इससे भी अधिक भूमिका निभायी है। निर्वाचित सदस्यो द्वारा विधि-निर्माण को प्रभावित करने के उल्लेखनीय उदाहरण के रूप में संयुक्त-प्रान्त म्यूनिसिपैलिटीज विधेयक को लिया जा सकता है। इस विधेयक को विशिष्ट समिति द्वारा आमूल रूप से परिवर्तित कर दिया गया, और इसके बाद स्वयं परिषद् मे २७ संशोधन सरकार द्वारा स्वीकार किये गए। एक संशोधन तो सरकार के विरुद्ध भी स्वीकार हुआ। विधेयक की एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धारा, जो नगरपालिका बोर्ड में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व से संबंधित थी, गैर-सरकारी सदस्यों के सम्मेलन के विचार-विमर्श का परिणाम थी तथा इस एक गैर-सरकारी सदस्य द्वारा प्रस्तुत संशोधन को विधेयक मे स्थान दिया गया। किसी भी प्रान्त मे निजी सदस्यों के विधेयक अधिक संख्या मे पारित नही किए गए। बम्बई की परिषद् मे ६ में मात्र एक विधेयक पारित हुआ जबकि यह मानना होगा कि शेष में से अधिकांश महत्त्वपूर्ण समस्याओं के संदर्भ में ही प्रस्तुत किये गए थे। यू० पी० में गैर-सरकारी सदस्य, खाद्यानों में मिलावट तथा अफीम व जुए के बारे में विधेयक पारित करवाने में सफल हुए। किशोरों द्वारा धूम्रपान के बारे में एक निजी सदस्य का विधेयक विशिष्ट समिति के पास है। बिहार तथा उड़ीसा में एक निजी सदस्य का विधेयक अनिवार्य शिक्षा के विषय में चयन समिति को सौंपा गया है। उक्त दोनों विषय बंगाल में दो निजी विधेयकों का आधार हैं।

प्रश्न पूछने के अधिकार की उपयोगिता :

प्रान्तों में प्रश्न पूछने के अधिकार का प्रयोग भारतीय विधान परिषद् की तुलना में अधिक

हुआ है। यू०पी० में प्रश्नों की संख्या १९१० में २१८ से बढ़कर १९१६ में ४५८ तक पहुँच गई। ऐसी ही उल्लेखनीय वृद्धि बंगाल में भी हुई है। मद्रास में यह वृद्धि उससे भी कहीं अधिक है। एक प्रान्तीय सरकार का अनुमान है कि परिषद् मे पूछे गये संपूर्ण प्रश्नों मे से २० प्रतिशत प्रश्न पूर्वप्रकाशित सूचनाओं के विषय में होते हैं। इसके साथ ही अनुपयोगी आंकड़ों को जानने के लिए प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति भी पाई गई है। दूसरी ओर प्रश्नो ने कभी-कभी प्रस्तावों का उद्देश्य भी पूरा किया है जब इनके माध्यम से सरकारी नीति के विषय मे प्रतिवेदन मांगा जाता है। हमारा यह विश्वास है कि सामान्यतः उदारमत यह स्वीकार करता है कि सरकार उचित प्रश्नों का जवाब समुचित उत्तरों से देती है।

प्रस्ताव के अधिकार का उपयोग :

यह सही है कि प्रस्ताव रखने का अधिकार पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुआ तथा जिस भारी संख्या में प्रस्ताव सदस्यों द्वारा वापिस ले लिये गए वह सरकार के उदार दृष्टिकोण का परिचायक है। यद्यपि उन प्रस्तावों को मूल रूप में स्वीकार तो नहीं किया किन्तु यह इस बात का प्रमाण है कि शक्ति का प्रयोग संतुलित रूप में अवश्य किया गया। भिन्न प्रान्तों में प्रस्तावो की संख्या मे पर्याप्त अंतर था। कुछ प्रान्तों में यह गतिविधि एक समूह तक ही सीमित थी। यह स्पष्ट है कि प्रान्तीय सरकारें प्रस्तावों को पर्याप्त महत्त्व प्रदान करती हैं। परिणामस्वरूप उन प्रस्तावों को अस्वीकार करने के लिए पूर्ण प्रभाव डाला जाता है जिन्हें सरकारें अवांछनीय समझती हैं। सरकार के विरुद्ध अधिक प्रस्ताव पारित नहीं हुए है। यदि कोई प्रस्ताव सरकार की इच्छा के विरुद्ध स्वीकार भी होता है और सरकार यह निर्णय लेती है कि उसे व्यावहारिक रूप से क्रियान्वित नहीं किया जा सकता तो सरकार उसे स्वीकार न कर सकने के कारणों को प्रायः प्रकाशित करती है। चर्चित प्रस्तावो का प्रभाव मात्र उस विषय तक ही सीमित नहीं रहता जिसे स्वीकृत अथवा अस्वीकृत किया जाता है, क्योंकि अवसर ऐसा होता है कि किसी विषय पर विचार-विमर्श निश्चय ही रचनात्मक दृष्टिकोण को जन्म देता है। एक प्रान्तीय परिषद् में १९००–१९ की अवधि के बीच मे प्रस्तुत किये गए प्रस्तावों का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से इन उद्देश्यों को प्राप्त किया अथवा प्राप्त करने में सहायता की (१) अफीम व जुआ संबंधी एक्ट (२) एक नवीन पशु फार्म (३) परिषद् का पुस्तकालय (४) अपराधी जनजातियों की बस्ती को हटाना (५) गंभीर अपराधों के लिए दंडित गरीब कैदियों की सुरक्षा (६) बर्मा के मांस व्यापार का नियमन (७) स्कूल छोड़ने की परीक्षा के साथ मैट्रिक परीक्षा को आंशिक समानता देने की छूट (८) पुलिस के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद को क्रमोन्नत करना (९) राजस्व के विभाजन को समाप्त करने का आश्वासन (१०) एक तीर्थ-स्थल तक सड़क-निर्माण के लिए सरकारी सहायता (११) कुछ कॉलेजों के प्रतिवेदनों को प्रकाशित करना तथा (१२) प्रान्तीय शैक्षणिक सेवाओं के एक सदस्य के लिए कार्यवाहक की नियुक्ति आदि।

सभी गैर सरकारी सदस्यों मे संगठित कार्य करने की प्रवृत्ति कुछ प्रान्तो मे अन्य की

अपेक्षा अधिक पाई जाती है। जैसे पंजाब में, जहाँ मनोनीत सदस्यों की संख्या अन्य परिषदों की अपेक्षा अधिक है तथा बम्बई, जहाँ किसी भी आम प्रान्त की तुलना मे कार्य करने की अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। अन्य प्रान्तों मे ग़ैर-सरकारी सदस्य परस्पर सहयोग करते व साथ मत देते दृष्टिगोचर होते हैं।

सुधारों से गोखले की अपेक्षाएँ

१९०८ में भारतीय नेशनल कांग्रेस के सम्मुख बोलते हुए गोखले ने न्यायसंगत रूप से मोर्ले-मिंटो सुधारो को सरकार के नौकरशाही स्वरुप का संशोधित रूप बताया। उन्होंने स्थानीय संस्थाओं को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने वाली प्रारम्भिक संस्था माना तथा यह अपेक्षा की कि अब भारतीयों का स्थानीय मामलों पर पूर्ण नियन्त्रण रहेगा तथा वे स्वेच्छानुसार व्यवस्था कर सकेंगे। किन्तु वह आशा अभी तक पूरी नहीं हुई है। यद्यपि कुछ प्रान्तो में इस दिशा मे प्रयास किये गए हैं। दोनो ओर से अधिक ध्यान प्रान्तीय परिषदों पर दिया गया है तथा स्थानीय संस्थाओं की उपेक्षा की गई है। इस प्रकार गोखले ने, जिन्हें सपूर्ण सरचना का मूल आधार माना था, उन्हें प्राप्त करने का उद्देश्य अब आँखों से ओझल हो चुका है। हमारी दृष्टि में यह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण कारण है कि हम स्थानीय संस्थाओं के विकास का कार्य, जो अभी तक अधूरा है, भारतीय हाथो मे सौंप दें। दूसरी ओर, गोखले ने प्रशासन, विधि-निर्माण तथा वित्तीय व्यवस्था की चर्चा की थी जो समस्या का केन्द्र-स्थल हैं तथा उनका विचार था कि इस संदर्भ मे सुधार स्वयं में एक क्रान्ति के समान थे। अब गुप्त प्रशासनिक निर्णयो के स्थान पर उन्मुक्त विचार-विमर्श होने लगा था। भारत सरकार के वित्तीय नियंत्रण पर भी परिषदो मे विचार-विमर्श तथा आलोचना का प्रावधान था। (यह स्पष्ट करना उचित होगा कि यद्यपि केन्द्रीयकरण आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत नही किया था, किन्तु वित्तीय हस्तांतरण के लिए संपूर्ण प्रयास किए जाने के संबंध में आशाएँ अभी तक नष्ट नही हुई थीं)। इसके अतिरिक्त उनकी अपेक्षा थी कि कार्यकारिणी परिषद् में भारतीयों के प्रवेश से जाति-भेद संबंधी विचार-विमर्श पृष्ठभूमि मे चले जाएंगे और उच्चतम् परिषदों में भारतीय दृष्टिकोण को प्रभावपूर्ण तरीके से प्रस्तुत किया जा सकेगा। जहाँ तक विधि-निर्माण का प्रश्न था, ग़ैर-सरकारी बहुमत, प्रान्तों मे विरोधात्मक भूमिका प्राप्त कर चुका था। यदि केन्द्रीय परिषद् मे स्थिति कुछ भिन्न थी तो इसका कारण उनका यह विचार था कि भारत सरकार प्रान्तीय मामलों मे कम हस्तक्षेप करेगी जिससे निर्वाचित सदस्य प्रान्तीय मामलों को प्रभावित करने के आवश्यक अवसरों का पूर्ण सदुपयोग कर सकेंगे। गोखले के अनुसार ये सुविधाएँ विस्तृत तथा उदार थीं, और दोहरा उत्तरदायित्व प्रदान करती थीं। सरकार की मात्र आलोचना करने के स्थान पर अब उसके साथ सहयोग की आवश्यकता थी तथा अधिनियम के अंतर्गत प्राप्त की गई शक्तियों का संतुलित व नियंत्रित तरीके से संपूर्ण जनता के हित में प्रयोग किया जाना था। संपूर्ण जनता के हित के संदर्भ मे उन्होंने बताया कि जन-शिक्षा, सफ़ाई, कृषि ऋण तथा तकनीकी शिक्षा, ऐसे विस्तृत व महत्त्वपूर्ण प्रश्न थे

जिनकी व्यवस्था सरकार जनता के सहयोग के अभाव में नहीं कर सकती थी। अंततः उन्होंने भारतीय जनता को चेतावनी दी कि वह मात्र स्वप्नद्रष्टा न बने, तथा अन्य उत्तरदायित्वों की मांग करने से पहले यह प्रमाणित करे कि वह इन उत्तरदायित्वों का निर्वहन दक्षता से कर सकती है।

असफलता के कारण

इन अपेक्षाओं के संदर्भ मे यह समझने मे कठिनाई नही रहती कि मोर्ले-मिंटो सुधारों की उपयोगिता, १० वर्षों के थोड़े-से समय मे ही भारतीयों की राजनैतिक आकांक्षाओं को पूरा करने में क्यों असमर्थ हो गई। नई संस्थाओं ने सद्भावनापूर्ण वातावरण में कार्य करना प्रारम किया तथा दोनों पक्षों में सद्भावपूर्ण विधि से कार्य करने की इच्छा थी। किन्तु उसकी सफलता १० लिए कुछ शर्तें आवश्यक थीं जिनका अभाव बना रहा। स्थानीय संस्थाओं मे सामान्य रूप से कोई प्रगति नहीं हुई थी, प्रान्त स्तर पर वित्तीय क्षेत्र में कोई स्वतन्त्रता नही दी गई, तथा कुछ प्रगति के बावजूद प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयो की संख्या अधिक नही थी। चूंकि भारतीय सरकार पर ब्रिटिश संसद् के नियंत्रण में कोई ढील नही दी गई थी अतः स्वयं भारत सरकार स्थानीय सरकारों पर नियंत्रण में किसी प्रकार की ढील नहीं दे सकी। इस प्रकार परिषद् द्वारा सरकार को प्रभावित करने वाला क्षेत्र वित्त तथा प्रशासन दोनों ही दृष्टि से अत्यधिक सीमित हो गया। हर बार स्थानीय सरकार को प्रस्ताव स्वीकार करने के स्थान पर अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ती थी। वह न तो वित्तीय विषयों पर स्वतंत्र निर्णय ले सकती थी और न ही प्रशासनिक मामलों में क्योंकि उनका संबंध भारत सरकार से भी था और ऐसी स्थिति मे एक मात्र विकल्प परिषद् के दृष्टिकोण को भारत सरकार के सम्मुख रखना था। विधि-निर्माण के संदर्भ में भी सरकारी अधीनता के विचार से अधिकांश वास्तविक कार्य गोपनीय ढंग से करने की प्रवृत्ति पर बल दिया गया। यद्यपि परिषदें उससे कहीं अधिक शक्तिशाली थीं जितना उनके सदस्य स्वयं अपने बारे में कल्पना कर पाते थे तथापि वे अपनी सफलताओं को उस नाटकीयता से प्रदर्शित नही कर सकती थीं जो उनको राजनीतिक दृष्टि से प्रभावशाली सिद्ध करता। यही कारण है कि परिषद् मे विधि-निर्माण के स्थान पर प्रस्तावों में सदस्य अधिक रुचि प्रकट करते थे। किसी प्रस्ताव को सरकार के विरुद्ध पारित करवाने मे न केवल सदस्यों को अपना पृथक् मत आलेखित करवाने का अवसर उपलब्ध होता था, जोकि भविष्य में फलदायी सिद्ध हो सकता था, अपितु वह सदस्यों की महान् नैतिक विजय भी होती थी। यह भी प्रमाणित है कि ऐसे विषय जो संपूर्ण भारतीय तत्त्व की अभिव्यक्ति करते हों, सरकार के विरोध का सर्वश्रेष्ठ अवसर प्रदान करते थे। चूंकि शक्ति का केन्द्रीकरण परिषदों के प्रभाव को क्षीण बनाता था, अतः ग़ैर-सरकारी सदस्यों ने अपनी भावनाओं को प्रकट करने के तरीकों को और अधिक अपनाया। इस प्रकार दोनों ओर से आडम्बरपूर्ण आचरण को प्रश्रय मिला तथा अयथार्थपूर्ण भावना और गहन होती गई। इस सम्पूर्ण समय में राष्ट्रीय चेतना तथा राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने की भावना शिक्षित भारतीयों में दृढ़तर होती गई

तथा परिषदें अपने सीमित सुधारों के कारण अपर्याप्त उपचार सिद्ध हुईं। अतः जहाँ परिषदों के अन्दर विरोध की भावना दृढ़ होती गई तथा असफल प्रयासों के कारण असन्तोष उत्पन्न हुआ वहीं परिषदों के बाहर भी यह भावना तीव्र होने लगी। मोर्ले-मिंटो सुधारों के शुरू होने के कुछ समय पश्चात् यह सम्भावना उत्पन्न हो गई थी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग की महत्ता समाप्त हो जाएगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि परिषद् में निर्वाचित सदस्यों द्वारा सरकार के कार्य में सहयोग देना राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मात्र स्वनिर्मित संगठनों से अधिक प्रभावशाली तरीका सिद्ध होगा। किन्तु सुधारपरक परिषदों के विरुद्ध भ्रान्ति के कारण, सार्वजनिक सभाओं की उपयोगिता फिर बढ़ने लगी, जहाँ सदस्य कार्रवाई सम्बन्धी नियमों के नियन्त्रण के अभाव में सरकार की आलोचना उन्मुक्त रूप से तथा किसी उत्तर की आशा के बिना कर सकते थे। अब हमारे लिए यह कहना सम्भव नहीं है कि यदि प्रक्रिया के नियमों को उदार बना कर, सरकारी नियंत्रण ढीला कर स्वतन्त्र विचार-विमर्श को प्रोत्साहित किया जाता और गैर-सरकारी दृष्टिकोण को समझने की कोशिश की गई होती तो इन सुधारों से किस सीमा तक परिवर्तन आया होता। जो भी हो, ये घटनाएँ पर्याप्त प्रभावशाली सिद्ध हुई हैं। आलोचकों की विभिन्न आलोचनाओं के बावजूद परिषदों ने अपना कार्य क्षमतापूर्ण तरीके से किया है। किन्तु वे भारतीय मत को संतुष्ट करने में असफल रही है। अब उनका अस्तित्व भारतीय सदस्यों तथा सरकार के मध्य तनाव को बढ़ाएगा जिसके परिणामस्वरूप उत्तरदायित्व से अनियन्त्रित आलोचना को प्रोत्साहन मिलेगा।

वर्तमान स्थिति

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मोर्ले-मिंटो सुधारों से उत्पन्न स्थिति सर्वश्रेष्ठ रूप से प्रस्तुत कथन में व्यक्त की गई है :

"हमें इस विषय में निर्णय ले लेना चाहिए कि या तो हम स्वयं शासन करें अथवा जनता को शासन करने दें। इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। हमें स्वेच्छा से हस्तान्तरण के लिए तैयार होना चाहिए। वर्तमान में हम कुछ भी नहीं पा रहे हैं। हम लोग रियायत देकर शासन कर रहे हैं तथा प्रत्येक रियायत, ऐसा प्रतीत होता है कि हम से संघर्ष करके ली जा रही है। हम सार्वजनिक कार्य को सौदेबाजी व बातचीत के माध्यम से कर रहे हैं—यह स्वस्थ प्रकार की सौदेबाजी भी नहीं है अपितु विभिन्न प्रकारों के सम्मुख तीव्रता से समर्पण करने के समान है। यह एक ऐसा समर्पण है जो दोनों पक्षों में कटुता को जन्म देता है। यह निस्सदेह व्यक्तियों का दोष नहीं है अपितु स्वयं कार्य-विधि का निश्चित परिणाम है। लार्ड कर्जन के वाइसराय काल तक इस निर्णय के प्रति दृढ़ता पाई जाती थी कि वही किया जाय जो भारतीयों के हित में हो, चाहे स्वयं भारत इसे पसंद करे या न करे। उसके शासन काल में जो परिवर्तन किये गए उन्होंने चुनौती देने व विरोध करने की शक्ति को जन्म दिया। उत्तरदायित्व विहीन प्रभाव तथा शक्ति का सामना करने के स्थान पर हम समर्पण

कर देते हैं। हम उदार निरंकुशतंत्र का परित्याग करते जा रहे हैं तथा लोग–विशेषतः वे लोग जो हमारे शुभचिंतक हैं, यह नहीं समझ पा रहे हैं कि इस नीति के स्थान पर हम कौन-सी नीति का अनुसरण करने जा रहे हैं। इस प्रकार, हम कुछ सीमा तक अपने प्रभाव को छोड़ रहे हैं तथा शक्ति से वंचित हो रहे हैं। यदि हम मात्र निरंकुशवाद का सहारा लें तो कई लोग हमारा समर्थन करेंगे। परिणामतः हम शांतिपूर्ण व्यवस्था प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु क्योंकि यह असंभव लगता है, अतः हमें निश्चित रूप से यह प्रकट करना चाहिए कि हम शासन के पूर्वी आदर्श से पश्चिमी आदर्श की ओर उन्मुख हो रहे हैं। द्वितीय, हमें इस स्थिति में भारत सरकार का पूर्ण नियंत्रण तथा दबाव बनाए रखना चाहिए। ऐसा न करने की स्थिति में हम न तो आन्तरिक शांति अथवा जनता के सहयोग की अपेक्षा कर सकते हैं और न किसी अन्य चीज की ही, सिवाय इसके कि निरन्तर वह दुर्बलता बढ़ती ही जाए जो पूर्वी देशों में प्रायः होती है। इसके बड़े भयानक परिणाम हो सकते हैं।"

इन शब्दों में हमें वारेन हेस्टिंग्ज की अर्थगर्भित उक्ति की प्रतिध्वनि प्राप्त होती है–विश्व के किसी भी भाग में एक–एक बढ़ती रुचि का समर्थन तथा घटती रुचि का दमन इतना स्पष्ट नहीं पाया जाता जितना कि वह भारत में पाया जाता है। 'संक्रमण की स्थिति वस्तुतः एक कठिन तथा संकटपूर्ण प्रक्रिया है जिसकी उपेक्षा करना अदूरदर्शी प्रमाणित होगा। किन्तु प्राचीन संरचना इस विकास को स्वीकार नहीं करती है। इस स्थिति में जो किया जा सकता है वह यही कि परिषद् के गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ा दी जाए। यह एक ऐसा कदम है जो सरकार को उन अधिकारों से वंचित कर देगा जो विधि-निर्माण को पारित करवाने के लिए आवश्यक हैं। अतः एक नई संरचना का निर्माण आवश्यक हो गया है। इसका अर्थ नवीन सामग्री के निर्माण के लिए समय मिलना, उसके स्थायित्व के लिए वास्तविक प्रयास करना, निर्देशन व सर्वेक्षण की वास्तविक शक्ति को बनाए रखना तथा आवश्यकता पड़ने पर उस समय तक हस्तक्षेप भी करना है, जब तक कि यह कार्य पूर्णतः हो नहीं जाता।

Further Readings

1. *Ilbert, Sir Courtenay* : The Government of India. (A brief historical—survey of parliamentary legislation relating to India) Oxford, 1922 pp. 99-122.

2. *Sharan, Parmatma* : The Imperial Legislative Council of India. Delhi, S. chand & Co. 1961 (pp.) 151-211

२

द्वैध शासन

मौर्ले-मिंटो सुधारों तक ब्रिटिश सरकार ने भारत में संसदीय शासन पद्धति को ब्रिटिश नीति के अंतिम उद्देश्य के रूप में स्वीकृति प्रदान नहीं की थी, यद्यपि भारत इस दिशा में एक लम्बे समय से अग्रसर हो रहा था। प्रथम विश्व-युद्ध व होमरूल आंदोलन के बाद ब्रिटिश नीति में इसके पक्ष में प्रत्यक्ष परिवर्तन भी हो रहा था। २० अगस्त, १९१७ को ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि उसका उद्देश्य भारत को धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन प्रदान करना है। इस क्रम की पहली कड़ी १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना के रूप में प्रारंभ हुई। इस योजना को द्वैध शासन भी कहा जाता है।

ए० अप्पादोराई ने अपने शोध प्रबन्ध 'डाइआर्कि इन प्रेक्टिस' (ज्योफ़ी कम्बरलैण्ड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३७) में इस योजना के संबंध में एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। यहाँ पुस्तक के अंतिम दो अध्यायों को पुनर्प्रस्तुत किया जा रहा है। (पृ० ३४७–३८२) —सम्पादक

द्वैध शासन एक अभिनव प्रयोग है। इसके क्रियान्वयन की १६ वर्षीय अवधि के परिणाम-स्वरूप यह अपेक्षित था कि यह राजनैतिक अनुभव में वृद्धि करेगा। क्या हम अपने सर्वेक्षण के प्रकाश में यह कह सकते हैं कि एक राजनैतिक व्यवस्था के रूप में द्वैध शासन के क्या गुण-दोष हैं ? इस संदर्भ में समाधान योग्य एक प्रारंभिक प्रश्न तुरन्त उठाया जा सकता है और वह यह कि क्या द्वैध शासन ने वस्तुतः उसी रूप में कार्य किया जैसा कि उसका लक्ष्य था ? सामान्यतः इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है क्योंकि विभिन्न प्रान्तों में उसके पृथक् प्रतिमान एक सामान्य वक्तव्य कठिन बना देते हैं। इसके बावजूद यह तर्क दिया जा सकता है कि यह विभिन्नता संविधान-निर्माताओं को पूर्व विदित थी और उन्होंने संभवतः इसका स्वागत किया था क्योंकि उनके अनुसार इससे एक महत्वपूर्ण अनुभव अर्जित होगा और आवश्यकता पड़ने पर उसमें सुधार भी किए जा सकेंगे। हमारा सर्वेक्षण यह भी दर्शाता

है कि *यद्यपि द्वैध शासन की एक सामान्य रूपरेखा संविधान में थी लेकिन उसके महत्वपूर्ण* विस्तार के संबंध में संविधान निर्माताओं का इरादा सदैव दृढ़ नही था। उनका मंतव्य यह था कि मंत्री, जिनका चयन एक लोकप्रिय विधान मंडल से होता था, सामान्यतः सरकार के कुछ निश्चित विषयों में कार्य करने के लिए स्वतंत्र होने चाहिएं और स्पष्टतः उन्हें *सामूहिक रूप से अपने कार्यों के लिए विधानमंडल के निर्वाचित बहुमत के प्रति उत्तरदायी* होना चाहिए। लेकिन कई प्रान्तों में मंत्रियों का विधान मंडल के निर्वाचित बहुमत के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व का विचार व्यवहार में असाध्य दृष्टिगत हुआ। दलीय संगठन का सामान्यतः अभाव, सरकारी व नामांकित सदस्यों की उपस्थिति और साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली के साथ-साथ कुछ मंत्रियों की हर स्थिति में पदासीन बने रहने की लालसा—ये सब कारण इसके लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी थे।

अतः इस दिशा में संविधान निर्माताओं के मूल मंतव्य से स्थिति स्पष्टतः भिन्न थी। लेकिन यह अवस्था सब प्रान्तों के लिए सही नही थी। कुछ प्रान्तों में, जैसे मद्रास, केन्द्रीय प्रांत व संयुक्त प्रान्त में, अस्थाई रूप से ही सही लेकिन मन्त्री सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य करने के लिए तैयार थे। जब उन्होंने विधान सभा के निर्वाचित बहुमत का विश्वास खो दिया या जब उन्होंने यह अनुभव किया कि उन पर गवर्नर का नियंत्रण अधिक कठोर हो रहा है, जिसकी व्यवस्थापिका के प्रति उनके उत्तरदायित्व से संगति नही है, तो वे त्याग-पत्र देने को तैयार थे। किसी तरह दलीय व्यवस्था का अस्तित्त्व जो कि पूर्ण रूप से राजनैतिक नही था और मन्त्रिमण्डल की लोकप्रिय भावना व गवर्नर द्वारा दिया गया सहयोग —ये दोनों स्थितियाँ संयुक्त रूप से उसकी सफलता की व्याख्या करती हैं।

संयुक्त प्रवर मंडल समिति ने यह स्पष्ट रूप से लिख दिया था और विधान मंडलों में अध्यक्षों द्वारा, बार-बार यह स्पष्ट कर दिया गया था कि सरकार के दोनों भागों में विचार-विमर्श, जो एकरूपता की सुरक्षा के लिए आवश्यक हो सकता है, 'सामान्य निर्णय' पर पहुंचने के उद्देश्य से नहीं होना चाहिए। विचार-विमर्श में एकता होना आवश्यक था पर निर्णयों में नहीं। अनुभव यह प्रमाणित करता है कि इस स्थिति का व्यवहार में सदैव पालन नही किया गया।

वास्तव में किसी भी प्रान्त में द्वैध शासन ने उस भाँति कार्य नही किया जैसीकि उससे अपेक्षा थी। यह घटक कुछ विशिष्ट महत्त्व का है। किसी भी संविधान में मूलभूत आशय से परिवर्तन होता है किन्तु द्वैध शासन में यह जिस सीमा तक हुआ उससे यह संशय उत्पन्न होता है कि कही द्वैध शासन असंभव स्थितियों की माग तो नहीं करता। तथापि परिस्थितियों की वे विभिन्नताएँ, जिनके अन्तर्गत द्वैध शासन का प्रयोग किया गया विशिष्ट शैक्षणिक महत्त्व की हैं।

II

दोष

यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि प्रायः एक दशक से अधिक समय तक द्वैध शासन के

संबंध में विचार-विमर्श चलता रहा किन्तु इस बीच इसका कोई समर्थक नहीं था। यहां तक कि जब यह योजना विचाराधीन थी तब भी इसे मात्र एक श्रेष्ठतर विकल्प के रूप में ही स्वीकारा गया था। इसके पक्ष में सर्वाधिक प्रबल तर्क यही था कि यह तत्कालीन परिस्थितियों में सब से कम हानिप्रद है। लार्ड कर्जन इसी मत के समर्थक थे। उनका कहना था कि 'मैं द्वैध शासन-व्यवस्था से घृणा करता हूँ' लेकिन वह उसके विरुद्ध नहीं थे, क्योंकि उनका विचार था कि इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं है। एक भारतमंत्री की दृष्टि में[1] यह पंडित्यप्रदर्शन से पूर्ण, एक ऐसा गत्यावरोधी संविधान प्रतीत होता है जिसके प्रति एंग्लो-सेक्सन समुदाय ने कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की। उनका अनुमान था कि यह संविधान उस समुदाय के लिए अनुपयुक्त होगा जिसके राजनैतिक आदर्श अधिकांशतः एंग्लो-सेक्सन मॉडेल पर आधारित हैं। इसके आलोचक इसे सिद्धान्ततः दोषपूर्ण व व्यवहार में असाध्य मानते थे। जब यह अवस्था कुछ समय के लिए 'कार्यरूप में आई तब इसके अधिकाधिक दोष स्पष्ट होने लगे। भारतीय प्रान्त के एक गवर्नर का मत था कि "द्वैध शासन एक बोझिल, जटिल व अव्यवस्थित प्रणाली थी, जिसका कोई तार्किक आधार नहीं था और जो मात्र समझौते पर आधारित थी।" लार्ड लिटन का अनुभव इस संदर्भ में समवतः सामान्य भावना की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।[2] उन्होंने कहा कि मेरा अनुभव यह है कि आधी सुरक्षित सरकार पसन्द नहीं की गई पर उसे आदर मिला, जबकि हस्तान्तारित विषयों की आधी सरकार न केवल नापसन्द ही हुई बल्कि तिरस्कृत भी। कोई आश्चर्य नहीं कि द्वैध शासन के लिए प्रयुक्त आम बोलचाल की भाषा अधिक सम्मान-जनक नहीं थी। उसे 'राजनैतिक द्वि-पत्नीत्व' व 'कट्टर-तंत्र'[3] के नाम से जाना जाता था।

उत्तेजक मान्यताएँ :

द्वैध शासन की व्यवस्था के प्रति निरादर के अनेक कारण हैं लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि इसकी मान्यताएँ उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रियाएं जगाने वाली है। द्वैध शासन स्पष्टतः अविश्वास पर आधारित है। इस अविश्वास को मूलतः इस पूर्वाग्रह से बल मिलता है कि जनता में स्वशासन की क्षमता नहीं है। यही कारण है कि महत्त्वपूर्ण विषयों जैसे शांति व व्यवस्था, भूमि कर आदि, जो प्रत्यक्षतः जनता के जीवन से संबंधित हैं, लोकप्रिय नियंत्रण में नहीं रखे गए। सर जॉन रीस ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा "उन्हें दौड़ने की अनुमति नहीं दी जा सकती क्योंकि यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वे बिना सहारे के चल भी सकेंगे।"[4]

उपरोक्त मान्यता के विरुद्ध यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि इससे पहले

---

१ स्मरण पत्र के अंश, भाग II, १८३.
२ संयुक्त कमेटी २६३२-३३ II-ऐ, २६८.
३ आर. ई. सी आर, परिशिष्ट ६, II २० पी. बी. ऐल. सी. VII,
४ ११६ हाउस ऑफ कॉमन्स बहस ५ एस २६८०

की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं की अपेक्षा यह व्यवस्था कई गुना अच्छी है क्योंकि द्वैध शासन का प्रारम्भ इस विश्वास से होता है कि कुछ विषयों का प्रशासन व्यक्ति स्वयं चला सकते है। दूसरे शब्दो मे द्वैध शासन अविश्वास की अपेक्षा विश्वास पर आधारित है। वस्तुतः द्वैध शासन एक दुधारा हथियार है जिसका दोनों तरफ़ से प्रयोग हो सकता है। लेकिन इस स्थिति मे भी महत्त्वपूर्ण यह है कि देश की स्वाभिमानी जनता, जो आत्मचेतना से अनुप्राणित हो रही है, इसे किस रूप मे ग्रहण करती है । यह सहज मानव प्रवृत्ति है कि वह अपने उद्देश्यो के हित मे बुराइयों को बढ़ा चढ़ा कर देखती है और अच्छाइयों को छोटा करके। सक्षेप में एक ओर जहाँ इस व्यवस्था में हाथ बँटाने वाले व्यक्ति स्वशासन योग्य माने गये है वहीं दूसरी ओर यह भी अंतर्निहित है कि जनता अयोग्य है। यह स्थिति अवांछनीय है और इसीलिए इसका प्रतिरोध किया गया है। इसे जितना शीघ्र समाप्त किया जा सके उतना ही अच्छा है। यह निष्कर्ष विवेक के आधार सही नहीं उतरता परन्तु इस मांग की सम्भावना स्वय इस व्यवस्था मे अन्तर्निहित है और यह पता लगाना कठिन है कि किस तरह इस व्यवस्था मे कोई सम्भावित सुधार इसे अधिक शक्तिपूर्ण बना देगा । प्रस्तावित व्यवस्था के प्रति रोष कई रूपों मे प्रकट किया जाता है लेकिन विशेषतः सुरक्षित विषयों के प्रशासन के प्रति विरोध अधिक है। यह विरोध सुरक्षित प्रशासन के अनुदान की अस्वीकृति, इनके कानूनो की अनुत्तरदायी आलोचना और विधान मंडल द्वारा सुरक्षित विभागों के लिए लगाए जाने वाले नए करों के प्रति असहमति की भावना के रूप में दिखाई देता है। विरोध की तीव्रता इस तथ्य से और अधिक बढ़ जाती है कि विरोध का आधार अवास्तविक है। परिषद् के सदस्य यह जानते हैं कि चाहे वे बिल पास न करें अनुदान स्वीकार न करें तब भी सरकार उसी तरह सामान्य रूप से चलती रहेगी और जनता को नुकसान नहीं उठाना पड़ेगा। वे यह भी जानते हैं कि गवर्नर की प्रमाणीकरण की शक्ति का प्रयोग किया जायेगा। ऐसा विरोध कार्यकारी पार्षदों की अकुशलता से और अधिक बढ़ जाता है। उदाहरणस्वरूप बंगाल की विधान सभा परिषद् का एक दृश्य लिया जा सकता है "सर हैनरी ह्वीलर (एक कार्यकारी पार्षद) ने हमें अनुत्तरदायी कहा" एक सदस्य चिल्लाया।[५] और आज इसी तरह की बात उनके अनुयायियों ने कही और मि० वारदन द्वारा स्थिति चरम सीमा पर पहुँच गई। उन्होंने कहा कि विचाराधीन प्रस्ताव "बिल्कुल निरर्थक था"। एक प्रारंभिक परिषद् का अपनी प्रतिष्ठा के लिए ईर्ष्यालु होना व कार्यकारी पार्षदों की अकुशलतायें दोनों स्थितियाँ संयुक्त रूप से नए विरोधों को ही जन्म देती हैं।

प्रतिरोध का एक सामान्य व्यवहार दूसरे प्रकार से भी व्यक्त होता है। उदाहरण के लिए परिषदों का बहिष्कार करना और अन्दर से संविधान को नष्ट करने का प्रयास करना। यह अपदस्थ करने का प्रयत्न और कार्यवाही को असम्भव बना देने की इच्छा वास्तव में दुर्दमनीय है। जब तक सविधान हस्तातरित विषयों में भी निर्वाचित प्रतिनिधियों के पूर्ण नियंत्रण में बाधा डालता है, उसका प्रतिरोध किया ही जाएगा। ऐसी स्थिति मे संविधान

५ पी० बी० एल० सी., १ सख्या ६, १९४४,

किसी प्रगति का माध्यम नहीं होगा, वह मात्र एक छद्म होगा। यह इसी स्थिति का परिणाम है कि सरकार-विरोधी अधिक लोकप्रिय है जबकि अन्य सभी सरकार परस्त या 'पदलोलुप' कहे जाते है। सविधान को नष्ट करने की बात जातिगत व राष्ट्रीय भावना को प्रभावित करती है। यह अपेक्षाकृत आसान है व अधिक लोकप्रिय है। एक बार तो यह विचित्र सुझाव दिया गया कि सदस्यों को यह शपथ लेनी होगी कि वे सविधान के अनुसार कार्य करेंगे।[६] यह आलोचना सही है कि व्यवधान और औचित्यपूर्ण विरोध के मध्य कोई विभाजक रेखा खीचना कठिन है।

सरकार के परस्पर व्यापी कार्य :

द्वैध शासन का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि शासन के कुछ क्षेत्र मे मन्त्री और विधान मण्डल किसी नीति को क्रियान्वित करने व उस सदर्भ मे पहल करने के लिए स्वतन्त्र है। वे स्वयं नीति निर्माण कर उसे क्रियान्वित कर सकते है। यह तभी सम्भव है जब सुरक्षित प्रशासन का प्रभाव या तो बिल्कुल न हो या बहुत कम हो। व्यवहार मे यह असम्भव है क्योकि कोई भी विधेयक जिसमें दण्ड विषयक धाराएँ उपलब्ध हैं, वे सुरक्षित विषयों से प्रत्यक्षत: जुडे हुए है और उनको बिना न्यायालय अथवा पुलिस की सहायता के लागू नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ सफाई, अनिवार्य टीका, अनिवार्य शिक्षा, नशाबन्दी और ऐसे ही अन्य विषयो से सम्बन्धित विधेयक बिना दण्ड विषयक धाराओ के निरर्थक हैं। वित्त और प्रशासन बहुत घनिष्ट रूप से जुड़े हुए है। प्राय हस्तान्तरित प्रशासन के सभी नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रश्नों को किसी न किसी स्तर पर वित्त विभाग के पास भेजना पड़ता था जो एक सुरक्षित विभाग था। इस दृष्टि से बम्बई सरकार[७] का पूर्वानुमान विशेष रूप से सही सिद्ध हुआ...............

"सरकार के रिकॉर्ड के एक प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि शायद ही सरकार के किसी विभाग मे कोई ऐसा महत्त्व का प्रश्न बहस व निर्णय के लिए आया होगा जिसके लिए प्रान्तीय सरकार को अन्य विभागों के संदर्भ में ध्यान देने की आवश्यकता न पड़ी हो। पूर्ण रूप से सरकार का प्राथमिक कर्तव्य शान्ति व व्यवस्था की स्थापना है, निर्बल की बलवान से रक्षा करना है और यह देखना है कि उसके सम्मुख उपस्थित ऐसे भी प्रश्न जो विभिन्न वर्गों के हितों को प्रभावित करते हैं, पर्याप्त ध्यान पाते है। इससे यह स्पष्ट होता है कि महत्त्व के सभी प्रस्ताव, जो विभाग के मन्त्री द्वारा परिवर्तन लाने के लिए सुझाव के रूप में प्रस्तुत किये गए, उन सब में सुरक्षित विभागों के अध्यक्षों का प्रसंग स्वत: ही आ गया। सरकार का कोई भी कार्य या विषय ऐसा नही था जहाँ विषयों में परस्पर-व्यापन न हो। परिणामस्वरूप यह सिद्धान्त कि हस्तान्तरित विषयो से सम्बन्धित मन्त्री के लिए यह सम्भव हो कि वह सरकार के विभागों का प्रशासन सुरक्षित विषयों के सदर्भ में चला सके, आधारहीन है।" इस यथार्थ का प्रशासन से सम्बद्ध प्रत्येक अनुभवी मन्त्री ने समर्थन किया

६ आर० ई० सी० एपेंडिक्स ६, II, १५२
७ भारत सरकार, प्रथम डिस्पैच, १८०-१.

है। ऐसी परस्पर-व्यापन की स्थिति कभी-कभी विधान परिपदों के अध्यक्षों के सामने भी कठिनाई उत्पन्न कर देती थी। बहस को प्रासंगिक पक्षों पर चलाने के लिए एक तरह के विपयों को दूसरे से पृथक् करना उन्हें नितान्त कठिन दिखाई देता था।[8]

यह कहा जा सकता है कि यह तर्क को बढा चढ़ा कर प्रस्तुत करना है क्योंकि व्यवहार मे सरकार के कार्य अवसर विभाजित होते है या हो सकते हैं जैसेकि केन्द्रीय सरकार या स्थानीय सरकार के मध्य, या बडे पैमाने पर संघीय सरकारों मे। इसके अतिरिक्त तनावों को रोकने के लिए नियमो की व्यवस्था की जाती है, जो वस्तुतः की गई थी तथा संघर्ष की स्थिति मे समाधान किया जा सकता है। लेकिन इन तर्कों का वास्तविक परीक्षण यह स्पष्ट करता है कि इनमे विशेप सार नही है। एकात्मक शासन मे केन्द्र व स्थानीय सरकारों में कार्यों का विभाजन दूसरी तरह का होता है, क्योंकि अन्तिम उत्तरदायित्व एकीकृत होता है। सघात्मक शक्ति के वितरण का उदाहरण अधिक उपयुक्त सादृश्य होगा क्योंकि संघीय और राज्य सरकारों मे कार्यपालिका का उत्तरदायित्व दो भिन्न सत्ताओं के प्रति होता है। लेकिन यह भी पूर्ण सादृश्य नही है। संघीय राज्य मे जहाँ संसदीय कार्यपालिकाएँ हैं, नि·सन्देह कार्यपालिका तात्कालिक रूप से दो भिन्न विधानमडलों के प्रति उत्तरदायी होती है परन्तु अंततः वह दोनो एक ही संगठित जनता के प्रति उत्तरदायी होती हैं जबकि भारत मे द्वैध शासन से सरकार दो भागो मे बँट गई—एक भाग प्रभावशाली विदेशी संसद के प्रति उत्तरदायी था और दूसरा एक सहायक स्थानीय विधान मण्डल के प्रति। इस तरह सन्देह के बीज तो प्रारम्भ से ही विद्यमान थे। विचारो व संस्थाओं का संपूर्ण, स्वरूप, जो सघवाद कहलाता है, विशुद्ध विवाद पर आधारित है। इसके अन्तर्गत पृथक् विधान मण्डल पृथक् बजट व विवादो के समाधान के लिए पृथक् स्वतन्त्र न्यायपालिका होती है। ऐसा द्वैध शासन मे कही नही दिखाई देता। यदि यह तर्क दिया जाय कि सुरक्षित व हस्तांतरित विपयो के मध्य सघर्ष की स्थिति मे गवर्नर एक न्यायिक कार्य करता है तो इसका समुचित उत्तर दिया जा सकता । वास्तव में उसकी राजनैतिक व प्रशासनिक स्थिति ऐसी है कि वह उनके मूल्य पर न्यायिक दृष्टिकोण नही अपना सकता।

निस्सन्देह संघर्षों को रोकने की व्यवस्था की जा सकती है और प्रान्तो मे ऐसी व्यवस्था की गई। इन व्यवस्थाओं का सार यह है कि संयुक्त विचार-विमर्श के लिए विपय को छोड दिया जाए और संघर्ष को रोकने के लिए आपसी सद्भाव व विश्वास और अन्ततः गवर्नर के निर्णय का आश्रय लिया जाए। लेकिन अनुभव यह स्पष्ट करता है कि इस पद्धति से न तो कार्रवाई आगे बढ़ी और न ही प्रशासन में कुशलता आई। इसके साथ ही उत्तरदायित्व की स्पष्ट परिभाषा भी नही हुई। जैसाकि विदित है, संयुक्त विचार-विमर्श व पृथक् निर्णय के बीच की रेखा अस्पष्ट है। संख्या की शक्ति अपना विशिष्ट अर्थ रखती है। इससे आदान-प्रदान की भावना बढ़ती है। लेकिन यह आवश्यक नही है कि यह भावना

---

८ पी० एम० एन० सी०, XV, १२१

उस विषय के गुणों पर आधारित हो । अन्तिम निर्णय लेने के लिए पारस्परिक समर्थन की सामान्य आवश्यकता जैसी अप्रासंगिक मान्यताएँ महत्त्वपूर्ण बनती जा रही है जिससे अयथार्थ समझौते अस्तित्त्व मे आते है । यह बात विशेषतः उस प्रसंग मे सही है जहाँ वित्तीय प्रश्न निहित होते हैं । यह मंत्रियो का अनुभव था कि इससे पूर्व कि वे हस्तांतरित विषयों से सम्बन्धित मांगो के प्रति मन्त्रिमण्डल मे सहमति प्राप्त कर सकें, उनके लिए उनमें निहित नीतियों की प्रभावशाली व्याख्या प्रस्तुत करना आवश्यक था ।

इसका परिणाम यह हुआ कि सुरक्षित व हस्तांतरित विषयो के अन्तः सम्बन्धों के कारण कई बार मन्त्रियो का अपने विभागो के प्रति पूर्ण उत्तरदायित्व अत्यधिक कठिन हो गया ।

कमजोरी, अक्षमता :

द्वैध शासन एक विभाजित सरकार है इसलिए वह कमज़ोर सरकार भी है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार सामान्य उद्देश्य से प्रेरित नही हो सकती जैसाकि वाछनीय है । विधान मण्डल में से नियुक्त मन्त्री स्वभावतः उस संस्था के प्रति वास्तविक दायित्व महसूस करते हैं । यही द्वैध शासन का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है । लेकिन हर कड़ी, जो उन्हें व्यवस्थापिका के कार्यों से जोड़ती है, उन्हे अपने सरकारी सहयोगियो से पृथक् भी कर देती है, जो कि एक भिन्न सत्ता के प्रति उत्तरदायी हैं । परिणामतः द्वैध शासन में निहित-द्विवाद उभर कर सतह पर आने लगता है । वह दोहरापन सरकार के दो भागों मे विभाजित हो गया है और ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनके अन्तर्गत कई बार मन्त्रियों व कार्यकारी पार्षदो ने भाषण व वोट द्वारा परिषद् मे एक दूसरे का विरोध किया । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार सरकार को चलाना सभव नही हैं ।[९] यह दोहरापन मिलजुलकर पारस्परिक सहयोग से समाप्त किया जा सकता था, जैसाकि वास्तव में कुछ प्रान्तों मे किया भी गया लेकिन यह मिला-जुला स्वरूप भी कृत्रिम रहा क्योंकि दलों को अपनी शक्ति दो भिन्न-भिन्न स्रोतों से मिलती है और इनकी प्रति से संभवतः स्वयं द्वैध शासन का उद्देश्य पराजित हो सकता है ।

इसके अतिरिक्त कई अन्य नियन्त्रण व सतुलन भी हैं जो उत्साह व तीव्र गति को अवरुद्ध करते हैं । विशेषतः सरकार से संबंधित सुरक्षित पक्ष, जो व्यवहार में विधान मंडल को साथ रखना चाहता है, उसका प्रतिरोध कम से कम करना चाहेगा । इस सद्भावना के लिए वह ऐसे कदम उठाने मे भी हिचकिचाएगा जो चाहे स्वयं उसकी मान्यता के अनुसार लाभदायक हों । विधान मंडल के प्रतिरोध की स्थिति मे वह अपनी विशेष शक्ति का प्रयोग न कर आपत्तिमूलक उस प्रस्ताव को त्याग देना ही श्रेष्ठकर मानेगा । लेकिन इसके समर्थन की आवश्यकता ने कई नई कठिनाइयाँ पैदा की हैं । एक ऐसे समझौते की दिशा मे प्रयास किए गए हैं जो सरकार के दोनों पक्षों के विचारों को प्रतिनिधित्व दें,[१०] पर व्यवहार में

९ प्रांतीय समितियों की रिपोर्टें, ६४
१० स्मरण पत्र, मद्रास, १६८

इस स्थिति ने किसी भी पक्ष का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं किया है। इसका परिणाम एक कमजोर सरकार के रूप में प्रकट हुआ है। मन्त्रियों के लिए यह आवश्यक था कि वे अपना ध्यान विधान मडल के प्रति उत्तरदायित्व पर केन्द्रित करें तथा अपनी नीतियों द्वारा सुरक्षित पक्ष के लिए उत्पन्न विचित्र स्थितियों की ओर ध्यान न दें जिनके सफल संचालन के लिए उनका कोई उत्तरदायित्व नही है। इसी प्रकार कार्यकारी पार्षद, जो कि एक भिन्न सत्ता के प्रति उत्तरदायी हैं, अपकी नीतियों द्वारा दूसरे पक्ष के लिए उत्पन्न विचित्र स्थितियों पर ध्यान न दे क्योकि उनके सफल संचालन का उन पर कोई दायित्व नही है।

हस्तांतरित प्रशासन विधान सभा से अपने प्रस्तावों के लिए अच्छी सहानुभूति पाने की आशा रख सकता है लेकिन कार्यों की अन्तर्निर्भरता, संगठित दलों और अलग वित्त की मांग के कारण वह संरक्षित सरकार का समर्थन लेने के लिए बाध्य है। यह स्थिति समझौते को जन्म देती है। अत्यधिक समझौते स्थिर व कुशल सरकार के विरुद्ध हैं।

एक गौण कारण का यहाँ विशिष्ट उल्लेख किया जा सकता है जो द्वैध शासन के सदर्भ में किसी वैशिष्ट्यवश नही बल्कि संयोगवश है। मन्त्री अपने कार्य के प्रति अनुभवहीन है और इसमें प्रशासकीय अनुभव व संसदीय सरकार की परम्पराओं का अभाव है। इसलिए लार्ड इरविन ने कहा "कुछ स्थानों व कुछ दिशाओं में कुशलता में एक निश्चित कमी हो रही है।" दुनियां के किसी भी भाग मे कुशल व नौकरशाही संस्था को लोकप्रिय संरक्षण में हस्तांतरित करने का ऐसा ही परिणाम होगा। कुछ प्रान्तों में इस तरह के हस्तातरण मे वस्तुतः यह कठिनाई रही है कि योग्य मन्त्री उपलब्ध नहीं थे। एक भारतीय गवाह ने स्टेटूटरी आयोग के सामने कहा[११] कि कुछ समय ऐसे मन्त्री थे जो अंग्रेजी के दो सही वाक्य एक साथ नही बोल सकते थे तथा प्रायः पूछे जाने वाले प्रश्नों को समझ नहीं पाते थे। इस असमर्थता से बचाव के लिए उन्होंने पूर्व सूचना के बहाने का आश्रय लेना शुरू कर दिया। जब कभी मन्त्री योग्य होते थे तब उनको कुछ अन्य कठिनाइयों का सामना करना पडता था। त्रुटिपूर्ण दलील संगठन के कारण वे अपना समर्थन जुटा नहीं पाते थे। इसका परिणाम यह होता कि वे सुसंगठित उपयोगी नीतियों को नियोजित व लागू नहीं कर सकते थे। इन स्थितियो मे अधिकतम् कुशलता प्राप्त नही की जा सकती है। यही अक्षमता का आधारभूत कारण है, यद्यपि सामान्यतः लोक सेवाओं ने अपने राजनैतिक विभागीय अध्यक्षों (Political heads) से सहयोग किया पर जहाँ मन्त्रियों का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता था, वहाँ परस्पर संघर्ष व तनाव उत्पन्न होता था। यह स्पष्ट है, जहाँ दुर्भाव जन्म लेता है वहाँ क्षमता अनिवार्यतः प्रभावित होती ही है।

सांक्रांतिक प्रकृति :

जब सुधार अधिनियम पर बहस हो रही थी तब यह सोचना स्वाभाविक था कि सरकार के कुछ विषयों का लोकप्रिय नियन्त्रण में हस्तान्तरण करने से स्वतः ही आगामी मांगों की प्रेरणा मिलेगी और इससे असन्तोष को दूर करने के लिए प्रशासन की अन्य शाखाओं मे भी अप-

११ सलेक्शन्स फ्रॉम मेमोरेण्डा, भाग १, ३३३

रिपक्व हस्तातरण की माँग उठेगी । यह पूर्वाभास सही निकला । अनुभव से यह बात सही सिद्ध होती है कि किसी भी देश मे लम्बे समय तक व्यक्तियो को सरकार के संभावित स्वरूप के सम्बन्ध मे दुविधा मे रखने से अधिक कोई और उत्तेजक स्थिति नही हो सकती । संविधान द्वारा (भावी सवैधानिक विकास के लिए) १० वर्षों का समय निर्धारित करना कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है । इस शर्त मे यह भावना अन्तर्निहित है कि निर्धारित समय से पूर्व अधिक उत्तरदायित्व की माँग नही उठाई जायेगी और सभी सविधान के क्रियान्वयन मे संलग्न हो जायेंगे जिसके फलस्वरूप दस वर्ष के पश्चात् कमीशन के सम्मुख एक सभावित स्वरूप के संबंध मे अच्छा ब्यौरा दिया जा सकेगा । यह एक रोचक तथ्य है कि सुधार अधिनियम लागू होने के एक साल के अन्दर[12] सवैधानिक संशोधन के लिए माँगें उठने लगीं । ऐसा कोई वर्ष नही बीता जब इस संदर्भ मे किसी न किसी विधान मण्डल में कोई प्रस्ताव नही रखा गया हो अथवा इससे मिलता-जुलता कोई प्रस्ताव नही प्रस्तुत किया गया हो । ये प्रस्ताव व विचार-विमर्श राजनीतिज्ञो पर हुई प्रतिक्रिया के परिचायक है । इस प्रतिक्रिया का आधार यह ज्ञान था कि तत्कालीन सविधान अस्थायी है । नई व्यवस्थाओं की माँगे की जाती हैं, क्योंकि वे लोकप्रिय हैं । सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि द्वैध शासन की क्षमता को समर्थ बनाने की अपेक्षा उसके उद्देश्य को यथाशीघ्र समाप्त करने पर ध्यान केन्द्रित हो गया है और विघटनकारी युक्तियां विकसित की जा रही हैं । इस प्रकार आज के ब्रिटिश संविधान मे एक संवैधानिक सुरक्षित शक्ति है जिसके प्रयोग से मंत्रियों को संसद के प्रति उत्तरदायी बनाया जा सकता है । इसका अभी तक भारत में कोई प्रयोग नही हुआ था । लेकिन द्वैध शासन के प्रारम्भिक वर्षों मे ही एक से अधिक प्रान्तों में बजट अनुदान देना अस्वीकार कर दिया गया । मन्त्रिमंडल के वेतन में कमी, जिसका अभिप्राय विशिष्ट विषयों पर वादविवाद को उठाना होता है, का प्रयोग भारत मे उसका अंत करने के उद्देश्य से किया गया है । प्रक्रिया के स्वरूपों को उनके मूल उद्देश्यों से हटाया जा रहा है और उसे द्वैध शासन की समाप्ति की ओर मोड़ा जा रहा है । निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति अनुपयोगी होगी जिसके अन्तर्गत कालान्तर में परीक्षण किया जाएगा, तत्संबंधी प्रगति का मूल्याकन होगा तथा भविष्य में प्रगति के औचित्य के सम्बन्ध मे कोई निर्णय लिया जा सकेगा । सफल संविधान विकसित होते हैं, उनका पृथक् अवस्थाओं में निर्माण नही होता ।

(2) अधिकतम् संघर्ष :

किसी भी प्रकार की सरकार मे व्यावहारिक कठिनाइयाँ होती हैं । कोई भी सवैधानिक व्यवस्था कितनी भी कुशल क्यो न हो, वह सब संघर्षो को मिटाने की सामर्थ्य नही रखती । निर्माता का काम यह उपाय खोजना है कि जो उष्मा पैदा की गई वह इतनी तेज न हो कि वह गतिशील पुर्जो को पिघला दे और मशीन को रोक दे ।[13] यह सही कहा गया है कि किसी

१२ सितम्बर, १९२१

१३ जे० एस० सी० १९१९ : माईन्यूट्स ऑफ ऐवीडेन्स, ५१७

भी ऐसे इंजन का आविष्कार नहीं होगा जो उसके चालक को चिंता से सर्वथा मुक्त कर दे। प्रशासन की कई शाखाएँ कई विषयों पर एक दूसरे से जुड़ी होती हैं और उनमे कई बिन्दुओं पर परस्पर-व्यापन प्रकट होता है। इन समस्त स्थलों पर संघर्ष की संभावना भी समान रूप से विद्यमान रहती है परन्तु सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि एक ऐसी सरकार, जो एक ही क्षेत्रीय इकाई मे काम करती हो और जिसमें रक्षा-उपायों की अत्यधिक सामर्थ्य हो वह अधिकतम् संघर्ष का अवसर प्रदान करती है। द्वैध शासन इसका एक अच्छा उदाहरण है। यहाँ संविधान की प्रकृति के अनुसार कई उपाय आवश्यक हैं क्योंकि यहाँ दो असंगतियो को मिलाने का प्रयास किया गया है—दो भिन्न सत्ताओं का नियन्त्रण, जिसमें एक ओर लोकप्रिय व निर्वाचित सत्ता है और दूसरी ओर सरकारी व अलोकप्रिय सत्ता। मन्त्रियो को अनिवार्यतः शक्ति दी जानी चाहिए लेकिन सेवाओं व निहित हितों के अधिकार भी सुरक्षित होने चाहिए। इस स्थिति से मन्त्रियों व सेवाओं—दोनों में ही रोष था। सरकार के दोनो भागो मे संघर्ष को टालने और यह देखने के लिए कि एक भाग का प्रशासन दूसरे पर बुरा प्रभाव न डाले, एक संयुक्त परिषद् (Council) का निर्माण करना चाहिए। लेकिन इससे मन्त्रियो व विधान परिषद् मे संघर्ष पनपता है क्योंकि ऐसी परिषद् व जनता *मन्त्रियों की अधीनता के प्रति संघर्ष के अभाव की प्रतीक है तथा मन्त्रियो पर यह आरोप* लगाया जाता है कि वे पद पर नियुक्त होते ही अपने सिद्धान्तों को ताक पर रख देते हैं। विधान परिषद् को सुरक्षित प्रशासन को प्रभावित करने की शक्ति दी गई है पर नियन्त्रण करने की नही। दोनो पक्षो मे परिणामतः असन्तोष उत्पन्न होता है। विधान परिषद् व मन्त्रियों को हस्तांतरित विषयों में शक्ति दी गई है लेकिन शक्ति के दुरुपयोग को रोकने के लिए गवर्नर-जनरल व भारत सचिव को उच्चतर शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जिससे मंत्री व विधान मंडल दोनों ही क्षुब्ध हैं। शक्ति और उत्तरदायित्व समान होने चाहिएं।

कार्य-सम्पादन में दुरुहता :

अधूरा स्वशासन सरकार का सबसे कठिन स्वरूप है। इसके प्रयास सदैव अपने अभावों की *पूर्ति की दिशा मे संचालित होते हैं। मद्रास के एक मन्त्री ने कहा*[१४] *कि फ़रिश्ते भी द्वैध* शासन को क्रियान्वित नही कर सकेंगे। परिषद् के एक सदस्य ने इस कथन की पूर्ति करते हुए यह कहा कि दैत्य भी इसको नही चला सकेंगे।[१५] यह उक्तियाँ शायद उस समय कही गई होंगी जब द्वैध शासन के प्रति मोह भंग हो रहा था। लेकिन निस्सन्देह इन उक्तियों मे सच्चाई का तत्त्व है। द्वैध शासन सैद्धान्तिक रूप से एक व्यावहारिक व्यवस्था है लेकिन यह तब सम्भव है जब सैद्धान्तिक दृष्टि से विधान परिषद् भी पूर्ण हो और हर सदस्य की इसको कार्यान्वित करने की इच्छा हो। (भारत में इसके व्यावहारिक स्वरूप मे) काफी कमियां हैं जिनसे अनुत्तरदायित्व व विघ्न पनप सकते हैं और ऐसा कई संदर्भों

---

१४ पी. एम. एल. सी. XIX, ८८४

१५ वही

में हुआ भी है। यह व्यवस्था व्यक्तिगत तत्त्व की अनिश्चितता पर अधिक निर्भर करती है तथा गवर्नर, मन्त्री, कार्यपालिका पार्षदों व विधान सभा सदस्यों में बहुत धैर्य और विवेक की अपेक्षा करती है जो हर समय विद्यमान नहीं रह सकता। सरकार की ऐसी योजना, जो अपने अस्तित्व व सफलता के लिए इन गुणों के निरन्तर प्रयोग की अपेक्षा रखती हो, अधिक स्थायित्व नहीं पा सकती। देर या सवेर गम्भीर संघर्ष विकसित होते हैं जो इसे अव्यावहारिक बना देते हैं। अगर द्वैध शासन सफल होता है तो वह अपने मूल मंत्र को त्याग कर ही सफल होगा। इस प्रकार अनिवार्यत. विभाजित नियंत्रण व विभाजित उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को छोड़ना होगा।

III

उत्तरदायित्व का प्रशिक्षण

लेकिन सबसे बड़ी त्रुटि, जिसकी चर्चा हम अब करेंगे वह यह है कि द्वैध-शासन अपने उद्देश्य का स्वयं अन्त कर देता है। इस पक्ष को लॉर्ड गुशन (मद्रास के भू० पू० गवर्नर)[१६] द्वारा कुशलता से प्रतिपादित किया गया है। उन्होंने कहा कि उस व्यवस्था ने जिसका उद्देश्य उत्तरदायित्व सिखाना था, कार्य रूप में अनुत्तरदायित्व सिखाया है।—एक कुशल अधिकारी द्वारा यह अभ्यारोपण, स्वयं में एक गम्भीर मामला है। इस बात का परीक्षण करना उपयुक्त होगा कि क्या यह सच है? यदि ऐसा है तो, वे कौन-से कारण हैं जिन्होंने इस शासन को उसके मौलिक उद्देश्यों से विचलित कर उसे एक विकृतिपूर्ण स्वरूप प्रदान कर दिया है?

उत्तरदायी सरकार का मूल अभिप्राय यह है कि कार्यपालिका विधान मण्डल से बनती है और उसके प्रति उत्तरदायी होती है। अर्न्तनिहित मामला यह है कि जब तक उसे विधान मंडल का समर्थन प्राप्त होता है केवल तभी वह सत्तारूढ़ रह सकती है। उस स्थिति में सरकारी निर्णयों अथवा दलीय विवादों से उत्पन्न संकट को संसद् सम्बन्धी अधिकार के माध्यम से मतदाताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। इसका अनिवार्यत यह अभिप्राय नहीं है कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधीन है। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में मंत्रिमंडल संसद्-भंग के विशेषाधिकार से अपनी अपीलें मतदाताओं तक पहुंचाता है। इस स्थिति में ही संवैधानिक संप्रभु की सहायता से राजनैतिक सप्रभु का आह्वान किया जाता है। सामान्यतः कार्यपालिका, कॉमन सभा के माध्यम से जनता का प्रतिनिधित्व करती है और इस कारण कार्यपालिका से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कार्यों के औचित्य को इस सदन के सम्मुख सिद्ध करे लेकिन व्यवहार में वह मतदाताओं की निर्णायक इच्छा के प्रति सजग रहती है। दूसरी ओर फ्रान्स जैसे देशों में, जहाँ एक अभिसमय से ही संसद् भंग करने के अधिकार का दुरुपयोग हुआ है, संसदीय उत्तरदायित्व पर स्पष्टतः बल दिया गया है। इस स्थिति ने

१६ दि एशियाटिक रिव्यू, XXVI, २५८

विधान मंडल के प्रति कार्यपालिका की अधीनता को जन्म दिया है।

द्वैध-शासन का यह उद्देश्य था कि निर्वाचकों व विधानमंडलों के प्रतिनिधियों को उनके कार्यों के प्रति सही निर्णय करना सीखना चाहिए। मंत्रियों से यह अपेक्षा थी कि वे विधान मंडल मे अपने कार्यों को न्यायोचित ठहराना सीखेंगे और इस प्रकार उन्हें उत्तर-दायित्व का निर्वाह करना आएगा। कुछ अपवादों के अतिरिक्त द्वैध शासन अपने इस उद्देश्य को प्राप्त करने मे असफल रहा।

मंत्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व :

इसको सिद्ध करने के लिए प्रमाण यह है कि मन्त्री सामान्यतः अपने पद पर बने रहने के लिए विधान सभा के चुने हुए सदस्यों के विश्वास पर निर्भर नही करते। प्रान्तीय परिषदों में मतदान आंकड़ों पर दृष्टि डालने से इस बात की पुष्टि हो जाती है। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है।[१७]

वर्ष	डिवीजनों की कुल संख्या	कुल डिवीजनों की संख्या जहाँ सरकारें तटस्थ थी	सरकारी पराजय की संख्या	सरकारी सफलताओं की संख्या	सरकारी गुट को अलग करने पर अतिरिक्त सरकारी पराजय	सरकारी गुट को अलग करने पर सरकार की कुल पराजय
१९२१	३		२	१		२
१९२२	१७		४	१३	४	८
१९२३	४	१	१	२	१	२
१९२४	१९		१०	९	४	१४
१९२५	३०	१		२९	११	११
१९२६	३			३	१	१
१९२७	२६	३	३	२३	७	१०
१९२८	२		१	१		१

उपर्युक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि लगातार पराजय होने पर भी मंत्री अपने पद पर बने रहे। संयुक्त प्रान्त[१८] में १९२० से १९२७ तक के सात साल के कार्यकाल में तीन साल तक बिना सरकारी गुट के समर्थन के मंत्री अपने पद पर बने नहीं रह सकते थे। यह तथ्य मद्रास, बिहार, उड़ीसा व बंगाल के लिए भी प्रासंगिक है।[१९] यहाँ यह तर्क किया जा सकता है कि अनिवार्यतः यह आवश्यक नहीं कि विधान सभा में मन्त्रिमण्डल की हार सर्दव मन्त्रिमंडल के प्रति विधान सभा के अविश्वास की ओर ही इंगित करे। यदि विधान सभा अविश्वास की दिशा में सजग होती तो वह बजट अनुदानों को अस्वीकृत कर मंत्रिमंडल को त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य कर सकती थी। यह तर्क

१७ स्मरण पत्र बम्बई, भाग I, परिशिष्ट डी, २०४.

१८ रिपोर्ट, यू. पी. २०४,

१९ स्मरण पत्र, मद्रास २९३-४, भारत बिहार व उड़ीसा ४७२-४, रिपोर्ट, बंगाल ३११-१४

ऐसा मान कर चलता है जब तक विधान सभा आपूर्ति के लिए मना करने का कदम नहीं उठाती, तब तक मंत्रिमण्डल को यह मान लेना चाहिए कि मंत्रिमण्डल को विधान मंडल का विश्वास प्राप्त है। प्रस्तुत तर्क इस देश की परिस्थियो मे सही नही माना जा सकता। आपूर्ति के लिए मना करना एक अन्तिम कदम है और जब तक गम्भीर कारण उपस्थित न हों विधान मंडल इसका उपयोग नहीं करता। यह अधिकार उन परिषदों मे तो लागू किया जा सकता है जहाँ एक स्थिर दलीय संगठन हो परन्तु भारतीय परिषदों में, जहाँ अत्यधिक अव्यवस्थित दलीय संगठन है, ऐसा करना अनुपयुक्त होगा। जहाँ कही भी ये सुव्यवस्थित संगठन थे वहाँ ऐसा अन्तिम कदम भी उठाया गया। यह उल्लेखनीय है कि जहाँ कही भी निर्वाचित बहुमत ने मन्त्रिमंडलीय विश्वास के लिए[२०] इस कठोर कदम को उठाया वहाँ मन्त्रियों को सरकारी गुट का समर्थन प्राप्त हुआ और इस समर्थन के कारण चुने हुए बहुमत के विरोध के बावजूद मन्त्रिमंडल अपने पद पर बना रहा। निर्वाचित बहुमत के पास मंत्रिमंडल को सत्ता से पृथक् करने की शक्ति नही है। इस तथ्य ने आपूर्ति के लिए मना करने के कठोर कदम को उठाने की दिशा में अवश्य सशक्त निषेध उत्पन्न किया होगा।

परिणामस्वरूप यह मान्यता बन गई कि विधान मंडल में निर्वाचित बहुमत का समर्थन न होने पर भी मंत्री अपने पद पर बने रह सकेंगे। यह राजनैतिक अनुत्तरदायित्व के विकास का स्पष्ट संकेत था। इस तरह के कार्य के कारणों की चर्चा इस निबन्ध मे अंयत्र की गई है। इस संदर्भ में उन्हें यहाँ प्रस्तुत करना अधिक लाभदायक होगा। स्थिर दलों का अभाव, सरकारी व नामांकित सदस्यों का अस्तित्व, एकात्मक ढंग से द्वैध शासन को चलाने का प्रयास, सुखी परिवार का विचार, संयुक्त वित्त, गवर्नर की विशिष्ट शक्तियां, सेवाओं के अधिकार, सचिवों की गवर्नर तक सीधी पहुँच और सरकार के कार्यों की अन्तर्निर्भरता, इन सब कारणों ने संयुक्त रूप से उत्तरदायित्व को पीछे धकेल दिया और इस स्थिति ने उसका विकास नही होने दिया। मंत्रियों ने यह अनुभव नही किया कि वे पूर्णरूप से ऐसी नीतियों का निर्धारण कर सकते हैं जो विधान सभा को स्वीकृत हैं और अपने पद पर बने रहने के लिए, उन्हें ऐसा करना चाहिए। मद्रास के एक मन्त्री[२१] ने विधान परिषद् में यह कहा कि उनका वास्तविक उत्तरदायित्व गवर्नर के प्रति है। यद्यपि यह द्वैध शासन के उद्देश्य से बिल्कुल अलग बात है लेकिन यह बात स्थिति की वास्तविकता के अनुसार अवश्य थी। बंगाल की विधान परिषद्[२२] में एक समय किसी सदस्य ने कहा कि "हम इस वैभवशाली अनुत्तरदायित्व की स्थिति से थक चुके हैं। हम ऐसी सुनहरी जंजीरें नही चाहते जो हमें अनुत्तरदायी सरकार के पहियों से बाँध दें।"

निस्सन्देह कुछ उदाहरण हैं जहाँ मन्त्रियों ने निर्वाचित बहुमत के प्रति मतभेद होने पर त्याग पत्र दे दिया लेकिन इन त्याग-पत्रों के साथ-साथ संविधान को प्रततः निलम्बित

---

२० स्मरण पत्र, मद्रास, १२०-१; ज्ञापन बिहार व उड़ीसा १४३-४, स्मरण पत्र आसाम, २०४, २०७

२१ पी. एम. एल सी, XV, ५७; आर. ई. सी. आर., परिशिष्ट ६, १७

२२ पी. बी. एल. सी., XVII, नं० ४, २०३

भी कर दिया गया। ऐसी व्यवस्था, जहाँ मन्त्री बार-बार हारे हों और तब भी पदासीन हों या जहाँ मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व का मतलब संविधान को निलम्बित करना हो, वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि उत्तरदायी शासन के उद्देश्यों को प्राप्त कर लिया गया।

व्यवस्थापिका

द्वैध शासन व्यवस्था विधान मण्डल में भी उत्तरदायित्व की भावना विकसित करने में सफल नहीं हो सकी। यहाँ वास्तव मे उत्तरदायित्वका स्वरूप ही विकृत कर दिया गया। सुधार के प्रस्तावकों का यह स्पष्ट मन्तव्य था कि सरकार के किसी भी भाग के विषयों के लिए विशिष्ट उत्तरदायित्व विधान मडल व स्वयं निर्वाचको द्वारा मान्यता प्राप्त होगा। द्वैध शासन के सफल संचालन के लिए यह मान्यता महत्त्वपूर्ण है। सुधारवादियों ने यह सुझाव रखा था कि दो विधान मंडलो का निर्माण किया जाए जो सरकार के प्रत्येक भाग के लिए अलग-अलग हो, ताकि उत्तरदायित्व का स्वरूप न बिगड़े। यह सुझाव तत्काल ही अस्वीकार कर दिया गया। निर्वाचन क्षेत्रों व निर्वाचनों का दोहरापन हर स्थिति में उन व्यक्तियों के लिए भ्रामक व बोझिल होता जिन्होंने व्यावहारिक राजनीति में तत्काल प्रवेश किया था इस तरह दोहरी क्षमता की जो व्यवस्थापिका बनाई गई उसका हस्तांतरित विषयों पर तो नियन्त्रण था लेकिन सुरक्षित क्षेत्रों मे वह केवल प्रभाव ही रखती थी।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहना गलत होगा कि विधान मंडल व कार्यकारी पार्षदों के बीच वह उनके सम्बन्धो के अन्तर के विषय में सजग नही थी। परिषद् की यह अभिव्यक्ति कि 'हमारे मंत्री' और उनका 'हमारे प्रति उत्तरदायित्व'[२३] हस्तातरित विषयों के प्रति उनकी अधिक सहानुभूति का परिचायक है, और यह दर्शाता है कि वह इस अन्तर के प्रति सजग थी।

प्रान्तीय सरकारों के इन विभागों पर परिषद् में प्रहार कम ही होता था। वह अनुदान सम्बन्धी माँगों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने को तैयार रहती थी। इसके अतिरिक्त वह इनसे सम्बन्धित नए करो को मानने के लिए भी तैयार रहती थी मन्त्रियों द्वारा पेश किए जाने वाले विधेयक जल्दी अस्वीकार नही होते थे।[२४] परिषद् ने यह जान लिया था[२५] कि हस्तातरित विषयों से सबंधित वित्तीय शक्ति उनके ही हाथों मे है। सुरक्षित विषयों प्रति उत्तरदायित्व से इंकार कर दिया गया।[२६]

लेकिन मन्त्रियों, कार्यकारी पार्षदों, राज्यपालो व विधान मडल के अध्यक्षों के बीच का अन्तर उन्हें इस भेद की याद दिला देता है[२७] जिसे वे अक्सर भूल जाते थे। तथ्य यह है कि मन्त्रियो पर सुरक्षित विषयो के संदर्भ में उनकी नीतियों के प्रश्न पर अविश्वास

---

२३ पी. एम. एल. सी., LX^I, २२७., पी. बी. एल. सी., In. १, ८४, १५१

२४ स्मरण पत्र, मद्रास २५४.

२५ पी. बॉम्बे. एल. सी. XXXIX, १३२-३

२६ पी. बी. एल. सी., II २०.

प्रस्ताव द्वारा प्रहार किया जाता था। तुलनात्मक दृष्टि से व्यवस्थापिका का ध्यान सुरक्षित विषयों पर अधिक केन्द्रित रहता था और इस बात के प्रमाण उपलब्ध है कि अनुदान के लिए मना कर वे इन विभागों पर नियन्त्रण रखते थे। इनसे दूसरी ओर यह भी सिद्ध होता है कि परिषदें इस अधिनियम में हुए सुधारों को री तरह से समझने मे असमर्थ रही। यह एकाधिक बार स्पष्ट किया जा चुका है कि परिषद् के निर्वाचित सदस्य, जो एक संगठन या समुदाय के अंग थे, उन्होंने मंत्रियों को अलग रखने का निर्णय लिया था। यह उस सामान्य प्रकृति का द्योतक है जिसमें मन्त्रियों को पुरानी नौकरशाही सरकारों के समरूप समझा गया। निस्सन्देह इसका परिणाम यह हुआ कि हस्तांतरित विषयो के सम्बन्ध मे परिषदों को जो सर्वोत्तम अवसर मिला उसका वे उचित प्रयोग नही कर सकी। अपने पद पर बने रहने के लिए मन्त्रियों की सरकारों व मनोनीत सदस्यों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति, सुरक्षित सरकार के समान परिषद् में निर्वाचित बहुमत के अभाव में भी मन्त्रियों की पद पर बने रहने की इच्छा के कारण प्रश्नों का उत्तर देने का ढंग या कार्यकारी परिषदों की भाँति ही उत्तरों को टालने की कोशिश, तथा परिषद् के कठोर दृष्टिकोण की स्थिति में मंत्रियों की भी सुरक्षित विषयों के संदर्भ मे भाषण अथवा मतदान द्वारा विरोध प्रकट की अनिच्छा- इन सब कारणों के परिणामस्वरूप परिषद् को यह सोचना पड़ा कि उनका (विधान मंडल का) मंत्रियों के साथ भी वैसा ही सम्बन्ध है जैसाकि कार्यकारी पार्षदो से है। यहाँ तक कि कुछ विधान मंडलो के सदस्य तो इन दोनों को इतना मानते थे कि वे मन्त्री से यह पूछते थे [२७] कि वे परिषद् को बताएं कि कार्यकारी पार्षदों एव मन्त्रियों के उत्तरदायित्वो मे क्या अंतर है क्योकि उन्हें मंत्रियों की आय को स्वीकृति देनी होती है। वह यह भी चाहते थे [२८] कि सुरक्षित व हस्तातरित विषयों को परिषद् के प्रति उत्तरदयी माना जाएं।

निर्वाचक गण

किसी मतदाता को हस्तांतरित व सुरक्षित विषयों के बीच विभाजन को समझने में कितनी कठिनाई होती है, इसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। विचारणीय प्रस्तुत प्रश्न यह है कि हस्तांतरित व सुरक्षित विषयों मे अन्तर क्या है ? विधान सभा सदस्य जब ग्रामीणों की सभाओं में भाषण देते थे तब यह उनसे प्रश्न पूछा जाता था। [२९] द्वैध शासन के सही मूल्यांकन के लिए यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। हमे यह विदित है कि उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था में मंत्री विधान सभा की परिधि से बाहर लोगो को ओर देखते हैं। लेकिन जब महत्त्वपूर्ण विषयों जैसे कानून व व्यवस्था, वित्त, भूमिकर और सिंचाई सुरक्षित विषय हो,

---

२७ पी. बी. एल. सी, I नं. १, २, ३, १९८-९. न. ६, ३५३., पी. एम. एल. सी. VI, २७५४. XIX, ३३४.

२८ पी. एम. एल सी., XIX, ३३४

२९ आर. ई. सी. आर, परिशिष्ट ६, I, १९२

जैसाकि द्वैध शासन में पाया जाता है, तब निर्वाचकों के लिए उत्तरदायित्व का अर्थ समझने या अपनी शक्ति का उत्तरदायी ढंग से प्रयोग करने के लिए कोई अवसर शेष नहीं रह जाता। मतदाता यह जानता है कि वह चाहे कुछ भी कार्रवाई करे, सरकार की व्यवस्था भंग नही होगी। उसका यह अनुभव है कि वह पतली बर्फ पर स्केट कर सकता है जिसके दौरान यदि वह गिर भी जाता है तो उसे कोई खतरा नही अंततः उसे बचा ही लिया जायगा और वह पुन. अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा। परिणामतः वह कभी सावधान होना नही सीखेगा क्योंकि उसके कार्यों के परिणामों के लिए उस पर कोई दण्ड नहीं थोपा जायगा। अतः वह अनुत्तरदायी बना रह सकता है। यह अधिकांश भारतीय निर्वाचकों का अनुभव रहा है। ग्रामीण लोग सरकार को सम्पूर्ण व अविभाज्य समझते थे। तब उन्हें यह बताया गया कि उनके प्रतिनिधि कुछ मामलों में ही उनकी मदद कर सकते हैं सब मे नहीं तो लोगो की परिषदो व प्रतिनिधियों के प्रति रुचि समाप्त हो गई। उन्होने परिषदों के प्रतिनिधित्व के प्रयोजन के सम्बन्ध मे प्रश्न किया। इस प्रकार का अनुत्तरदायित्व वर्तमान शासन व्यवस्था के अंतर्गत मतदाता के मस्तिष्क मे उठेगा। इससे आंतरिक व बाह्य भ्रम उत्पन्न होंगे। यहाँ अपूर्ण ही सही पर राजनैतिक शक्ति के प्रयोग पर वास्तविक नियन्त्रण लग जाता है। मतदाता अल्प समय में ही यह समझ जाता है कि उसका कल्याण निर्वाचित प्रतिनिधि के व्यक्तिगत गुणो पर निर्भर करता है। द्वैध शासन के अन्तर्गत मतदाता सुरक्षा का अनुभव करता है, चाहे वह सार्वजनिक कार्यों मे रुचि ले या नही उसके महत्त्व के विषयों मे उसके प्रतिनिधि द्वारा कुछ न करने की शक्ति हीनता उसमे अनुत्तरदायित्व का बीज बो देती है। यह अनुत्तरदायित्व का स्वभाव अपने आप पनप जाता है और जब पूर्ण उत्तरदायित्व की शुरुआत की जाती है तब उसे उसके प्रमाद से जगाना कठिन हो जाता है। यह विचार द्वैध शासन के अन्तर्गत उसके मस्तिष्क मे मुश्किल से आता है कि उसके मत में स्वयं की सुरक्षा निहित है और वे, जो उसके प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं, यदि उसके हितों की अवहेलना करते है तो वह उन्हे हटा सकता है।

उपलब्धियाँ

द्वैध शासन बड़ी आशाओं से प्रारम्भ किया गया था। यह कहा जा सकता है कि अगर द्वैध शासन आदर्श स्थिति मे चले तो वह अनुपयोगी नही है। शासन के विषयों को दो तरह की सरकारो मे रखना उस परिस्थिति मे पूर्णतः तार्किक हल है जिसमें इसे लागू किया जाना था। वह परिस्थिति जिसमे सत्तारूढ़ सरकार द्वारा पूर्ण उत्तरदायित्व के हस्तांतरण को असम्भव माना गया, एक प्रकार से उत्तरदायित्व व तानाशाही के मध्य एक सम्पर्क सूत्र का काम करती है। इसका लाभ इस संदर्भ मे है कि इसमे व्यक्तियों को यह बताने का अवसर मिलता है कि वे क्या कर सकते हैं क्योंकि यह प्रमाणित परिणामों पर आधारित होता है। इससे यह अपेक्षा की गई थी कि यह सबको उनकी सर्वश्रेष्ठ क्षमता प्रदान करेगा। यह कहा गया कि प्रस्तावित योजना से अधिक ऊँचे प्रतिमानों को प्रोत्साहित करने

के लिए प्रत्येक नए विभाग को अधिक अधिकार देने में इस बात को आधार बनाया जाय कि हस्तांतरित विभागों को कितनी सफलता मिली है। यह एक लचीली व्यवस्था थी क्योंकि यदि हस्तांतरित विषय और उनके नियमों को सुव्यवस्थित किया जाय तो इस व्यवस्था को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में लागू किया जा सकता है।

व्यवहार मे, क्योंकि इस व्यवस्था की शर्तें प्राप्त करना बहुत कठिन था, इस कारण इसकी उपलब्धियां बहुत कम हैं। यह मूल्याकन अनुदारतापूर्ण कहा जायेगा कि जहां द्वैध शासन सफल हुआ वह इसीलिए क्योंकि वहाँ द्वैध शासन के सिद्धान्तों पर ध्यान नहीं किया गया था। यह कहा जा सकता है कि द्वैध शासन के अंतर्गत कई व्यक्ति प्रशासन की समस्याओं व उत्तरदायी शासन के सम्मुख आने वाली कठिनाई के सम्पर्क में आए। परन्तु हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रशासन में न केवल एक विशिष्ट व्यवस्था के गुणों का पक्ष लेना ही आवश्यक है वरन् इससे भी दुरूह कार्य दूसरों का विश्वास अर्जित करना भी है। यह कार्य अधिकाधिक सुपरिचित होता जा रहा है। इसका अर्थ यह है कि मंत्रिमंडल की नीतियो के लिए व्यक्तिगत सदस्यों को विश्वास में लेने की कला अधिक महत्त्व रखती है। यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, विशेषतः तब जबकि उन्ही व्यक्तियों को बाद में पूर्ण उत्तरदायी शासन में भाग लेने का अवसर मिलता हो। एक दूसरा अच्छा परिणाम यह हुआ कि '*हस्तातरित विषय*' व '*लोकप्रिय नियन्त्रण*' के विचार सार्वजनिक हित के केन्द्रबिन्दु बने। इससे जनता का ध्यान सरकार की कुछ महत्त्वपूर्ण कार्रवाईयों, जैसे राष्ट्र निर्माण की क्रियाओ पर केन्द्रित हुआ। यह परिवर्तन कभी न कभी अपरिहार्य था परन्तु निस्सन्देह द्वैध शासन ने नौकरशाही व सार्वजनिक नियंत्रण के मध्य अंतर पर प्रकाश डालकर इस परिणाम को जल्दी ला दिया।

अनुभव :

मद्रास के एक मंत्री ने कहा[३०] कि हम में से कुछ ऐसे है जो यह विश्वास करते है कि उपयुक्त परिस्थितियों मे द्वैध शासन का प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन ऐसी परिस्थितियाँ सामान्यतः उपलब्ध नहीं होती है। यह संभवतः सर्वाधिक ठोस निर्णय है जो इस शासन पर एक राजनैतिक व्यवस्था के रूप में दिया गया। यह कथन कम-से-कम इस बात पर बल देता है कि सामान्यतः द्वैध शासन एक कठिन सरकार का स्वरूप है। उचित राजनीतिमत्ता यह होनी चाहिए कि द्वैध शासन को लागू करने की सलाह देने से पूर्व अन्य सब सम्भावित विकल्पों की खोज की जाए। लेकिन उन परिस्थितियों की कल्पना करना संभव है जहाँ द्वैध शासन को सांक्रांतिक अवस्था की आवश्यक व्यवस्था मान लिया गया था। एक ओर जहां सरकार पूर्ण शक्ति हस्तांतरण के लिए न तो इच्छुक थी और न ऐसा करने की स्थिति में ही थी तो वहीं दूसरी ओर यह भी संभव है कि कुछ समय पश्चात् द्वैध शासन का प्रयोग देशी रियासतों के सदर्भ मे उपयुक्त दिखाई दे। जनता मे इसकी निरन्तर

३० पी. एम. एल. सी, XXXVI, १८१—पनगल के राजा

बढ़ती माँग थी। इस कारण द्वैध शासन को अपनाया गया। कालांतर में यद्यपि प्रान्तों मे द्वैध शासन को समाप्त कर दिया गया पर भारत के नए संविधान मे केन्द्रीय सरकार के अंतर्गत और बर्मा मे एक सुधरे हुए स्वरूप में यह पुनः लागू किया गया। अधिकांश रियासतें अब व्यक्तिगत शासन व्यवस्था के अन्तर्गत है। अगर इतिहास किसी प्रकार पथ-प्रदर्शक हो सकता है तो स्वशासन के लिए आन्दोलन आज नही तो निकट भविष्य में राज्यों की जनता में अवश्य उदित होगा। ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के उदाहरण राज्यों के लिए संघीय व्यवस्था की दिशा मे एक प्रेरणा सिद्ध होंगे। लेकिन यदि ये शासक शक्ति समर्पण के लिए ब्रिटिश भारत के शासकों की ही भांति अनिच्छुक हो, उस दशा में द्वैध शासन अपनाया जा सकता है।

क्या यह अतीत का अनुभव भविष्य के निर्देशन के लिए कोई महत्व रखता है? तुलनात्मक रूप से सच्चरित्र व्यक्ति, प्रान्त अथवा राज्य का छोटा आकार और व्यक्तियों में धैर्य व सूझ-बूझ होना, यह राज्य व्यवस्था के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ हैं। ये संविधान में लिखी नही जा सकती। संवैधानिक दस्तावेजों में यदि व्यवहार के लिए सिद्धान्त हों तो हमें यह सन्देह है कि क्या प्रान्तों मे द्वैध शासन के व्यावहारिक अनुभव से नई योजना के निर्माण में कोई लाभ होगा। सरकार का कोई भी नया प्रयोग उस समय प्रारम्भ होता है जब यह सम्भव नही रहता कि किसी अन्य व्यवस्था के अनुभव से प्राप्त सिद्धान्तों को पूर्ण विश्वास के साथ लागू किया जा सके। सन् १९३३ ई० के भारत सरकार अधिनियम में द्वैध शासन की योजना इसका एक अच्छा उदाहरण है। इस योजना मे सुरक्षित विषय जैसे विदेशी मामले, प्रतिरक्षा व धार्मिक विभाग थे। ये ऐसे विभाग थे जिनका सामान्यतः हस्तान्तरित विषयों के कार्यों से कोई सम्पर्क नहीं था, जबकि इसके मुकाबले १९१९ के अधिनियम में जो सुरक्षित विषय थे और जिनमें सुरक्षित विभागो का बजट मतदान का भाग नही था, हस्तान्तरित विषयों से बहुत आवश्यक रूप से जुड़े हुए थे। इसी तरह १९३५ में हस्तान्तरित विषयों के क्षेत्र मे गवर्नर जनरल को जो विशिष्ट उत्तरदायित्व व विवेक की शक्तियाँ दी गईं वैसी १९१९ के अधिनियम में इसे हस्तान्तरित विषयों के लिए नही दी गई थी।

अतीत का अनुभव सकारात्मक निर्देशन के लिए उपयोगी न होते हुए भी उससे सम्बन्धित एक दो चेतावनियाँ अवश्य देता है। नियोनल कर्टिस द्वारा १९१९ में अपनाया गया दृष्टिकोण आनुभविक दृष्टि से प्रमाणित होता है कि "द्विवाद पर आवरण डालना छोडो"। द्वैध शासन को एकात्मक शासन के रूप में दिखाने की कोशिश नही की जानी चाहिए। संयुक्त लेखकों द्वारा दिया गया यह सुझाव उपयुक्त नही था [31] कि कार्यपालिका मे और बाहर एक एकीकृत मोर्चा प्रदर्शित करना चाहिए। द्वैध शासन का यह स्पष्ट उद्देश्य था कि सरकार के कुछ कार्यों के लिए मन्त्री व्यवस्थापिका व निर्वाचक मण्डल के प्रति उत्तरदायी हों और वे स्वयं के कार्यों को व्यवस्थापिका व निर्वाचक गण के सामने

---

३१ मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट,१९१८, पैरा २२१

प्रमाणित करना सीखें। इस क्षेत्र में कार्यकारी पार्षदों को अधिक स्वतन्त्रता है। इस दृष्टिकोण से अनुमान लगाना कि इसके अन्तर्गत एक संयुक्त बजट व सभी विषयों (सुरक्षित व हस्तान्तरित) के लिए सरकारी वोटों के प्रयोग का प्रावधान है, गलत होगा। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि किन्हीं दृष्टियों से उन्हें कुछ लाभ है लेकिन द्वैध शासन की दृष्टि से निर्णायक विचार यह होना चाहिए कि किस व्यवस्था से उत्तरदायित्व की स्पष्ट व अच्छी परिभाषा की दिशा में बढ़ा जा सकता है। प्रशासन के व्यवहार में आवश्यक प्रश्न यह पूछा जाता है कि सरकार के किसी भी कार्य का उत्तरदायित्व यथार्थतः किस पर है। यह बात विशेषतः द्वैध शासन के लिए सही है क्योंकि यहां उत्तरदायित्व विभाजित है। विधान मण्डल व निर्वाचकों के लिए सारी व्यवस्थाएं इस बात को निर्धारित करती है कि सुरक्षित विषयों का उत्तरदायित्व पार्षदों के पास और हस्तान्तरित विषयों का मन्त्रियों के पास है। वित्त प्रशासन से घनिष्ट रूप से जुड़ा हुआ है अतः उसके लिए एक अलग बजट आवश्यक है। मन्त्रियों को अपने पद पर बने रहने के लिए निर्वाचित बहुमत पर आधारित होना चाहिए न कि बनावटी आधार पर। सयुक्त विवेचन को अपने निश्चित क्षेत्र में प्रतिबन्धित किया जाना चाहिए और सयुक्त निर्णय पर पहुचने की तरफ बढ़ने की अनुमति नही दी जानी चाहिए। अनुभव के आधार पर स्पष्टीकरण के लिए एक और विषय यह है कि क्या विषयों का विभाजन इस तरह सम्भव नही था कि सरकार धनार्जन की क्षमता व व्यय की आवश्यकता को शासन के दो भागों में इस तरह बाँट देती जिससे एक भाग में सामान्य विकास होता रहता और दूसरे मे विभागों का विस्तार किया जा सकता और क वि-करीय ये दोनों समान ही रहते। उत्तरदायित्व के गतिरोध को दूर करने के लिए यह भी सुझाव रखा जा सकता था कि सुरक्षित विभागों से सम्बन्धित अनुदान माँगे व विधेयक विधान मण्डल मे मतदान के लिए प्रस्तुत नही की जाते केवल उन पर विचार-विमर्श ही होता। १६१६ मे दिए गए पुराने सुझाव मे एक व्यवस्था यह भी थी कि विधानमण्डल दो पृथक् शाखाओ पर विचार करते समय दो अलग-अलग नामों और यदि सम्भव हो तो पृथक् भवन मे, अपनी बैठकें करें। भावना की ही भाँति स्वरूप भी महत्त्वशाली होता है।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि जब शक्ति का हस्तान्तरण किया जाय तो वह वास्तविक व सारगर्भित होना चाहिए। अगर हस्तान्तरण के लिए बहुत कम विषय उपलब्ध हो तब भी जो कुछ हस्तान्तरित किए जाएं उनमे बाहरी हस्तक्षेप व नियन्त्रण बिल्कुल कम होना चाहिए। यह चाहे सीमित होगा, पर प्रयोग वास्तविक होगा। दूसरे शब्दों मे उत्तरदायित्व के अनुरूप शक्ति होनी चाहिए। तभी उत्तरदायित्व विकसित हो सकता है और एक ऐसा आधार हो सकता है जिस पर आगे के हस्तान्तरण की सम्भावनाओं का निर्णय निर्भर रह सकता है। १६१६ के अधिनियम में राज्यपाल को मन्त्रियों के ऊपर मिलीं अनिश्चित व सामान्य शक्तियां स्पष्टरूप से इस सिद्धान्त के विरुद्ध थीं। उनको निश्चित रूप से परि-भाषित किया जाना चाहिए था। बाहरी सत्ता द्वारा सेवाओ की संख्या व उन्हें अनावश्यक नियन्त्रण के विषय न देना इस प्रयोग की सफलता के लिए अधिक उपयुक्त रहना। वस्तुतः ली कमीशन १६२३ के बजाए १६१६ मे नियुक्त किया जाना चाहिए था। हस्तान्तरित

विभागों मे नियुक्ति व नियन्त्रण का अधिकार मन्त्रियों के पास रहना आवश्यक है किन्तु इसके पूर्व कि यह प्रयोग प्रारम्भ होता अधिकारियों की नियुक्ति कर दी गई। अनुभवहीन मन्त्रियों से प्रशासन मे भाई भतीजावाद, भ्रष्टाचार व शक्ति दुरुपयोग से बचने का एक उपाय यह ही सकता था कि संविधान के प्रभावकारी होने के साथ ही निष्पक्ष लोक सेवा आयोग की नियुक्ति कर दी जाती।

लेकिन यह स्पष्ट होना चाहिए कि मन्त्रियों को जो शक्ति हस्तान्तरित की गई, उसका उपयोग सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर किया जाना है न कि व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त से स्वतः ही शक्ति का दुरुपयोग रुक जाता है। हम यह देख चुके है कि सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे इस संविधान की भाषा मे बहुत अस्पष्टता थी। उनको दूर किया जा सकता था। इस व्यवस्था से हमे यह विश्वास नहीं होता कि संयुक्त उत्तरदायित्व विकसित होगा। संविधान निर्माता सम्भावित बाधाओं को दूर कर सकते हैं।

Further Readings

1. *Kerala Putra*: **The Working of Dyarchy in India. (1919—1928)** Bombay, D. B. Taraporewala Sons & co. 1928 chapters. IV, VI
2. Report of the Indian Statutory Commission, London, His Majesty's stationary office, 1930 pp. 37—65.

३

प्रान्तीय स्वायत्तता तथा संघीय राजव्यवस्था का आश्वासन

(भारत में संसदीय शासन पद्धति पर आधारित एक उत्तरदायी सरकार की दिशा में दूसरी युगांतरकारी घटना १९३५ के भारतीय अधिनियम के रूप में प्रकट हुई। इस अधिनियम की अपनी पृथक् कोई प्रस्तावना नही थी। इस प्रकार इसका उद्देश्य उस प्रक्रिया को आगे बढ़ाना था जो १९१९ के अधिनियम के अन्तर्गत प्रारम्भ की गई थी। प्रान्तीय स्तर पर स्थापित की गई आंशिक उत्तरदायी सरकारों को अब पूर्ण स्वायत्तशासी सरकारों में परिवर्तित कर दिया गया था तथा केन्द्रीय स्तर पर एक अंशतः उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गई थी। १९३५ के अधिनियम की महत्ता मात्र पहले की प्रक्रिया को निरन्तर रखने मे भी है। यह नई प्रक्रिया भारत को संघीय शासन प्रणाली का आश्वासन प्रदान करती थी। यद्यपि यह अधिक प्रभावशाली नहीं हो सकी क्योंकि देशी रियासतें प्रस्तुत संघ में सम्मिलित होने के लिए सहमत नही थीं, फिर भी १९३५ के अधिनियम का स्वतन्त्र भारत के संविधान पर जो प्रभाव प्रतिफलित हुआ उसके लिए वह महत्त्वपूर्ण है।

यहां पर हम १९३५ के अधिनियम द्वारा प्रस्तुत प्रान्तीय सरकार के बारे में सामान्य रूपरेखा को उस रूप में पुनर्प्रस्तुत कर रहे हैं जिसे के० टी० शाह द्वारा उनकी पुस्तक प्रोविन्शियल ऑटोनोमी (वोरा एण्ड कम्पनी पब्लिशर्स लिमिटेड, बम्बई, १९३७, पृ० ४१–४९) में दिया गया है। संयोगवश यह उद्धृत अंश १९३५ के अधिनियम के विषय में राष्ट्रवादी भारतीयों की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया को भी प्रस्तुत करता है। यह पुस्तक नेशनल पब्लिकेशन सोसाइटी द्वारा प्रकाशित की गई थी, जिसके संपादक जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव तथा के० टी० शाह थे।

सम्पादक

इस शताब्दी के प्रारंभ में भारत के राजनैतिक नेताओं को ऐसा अनुभव हो गया था कि ब्रिटिश सरकार से यह अपेक्षा करना असंभव है कि वह केन्द्रीय स्तर पर किसी भी प्रकार की प्रभावशाली शक्ति भारतीय सरकार को हस्तान्तरित करने के लिये तैयार हो सकेगी।

अतः यदि भारतीय जनता शासन कार्य में भाग लेना चाहती थी तो उनके लिये एकमात्र आशा का स्थान, स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में तथा अधिक से अधिक निश्चित अवस्थाओं तथा नियत्रणों के साथ, प्रान्तीय प्रशासन मे था। परिणामतः उन्होंने शक्ति के 'विकेन्द्रीकरण' की आवाज उठाई। इसके साथ ही उन्होने अधिकाधिक संख्या में निर्वाचित भारतीयो को स्थानीय संस्थाओ तथा प्रान्तीय सरकारों में सम्मिलित करने की भी मांग की।

लार्ड मोर्ले के समय तक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस देश में संसदीय प्रजातंत्र की संभावना की कल्पना तक नही कर सकते थे। मोर्ले-मिंटो सुधारों द्वारा जो परिवर्तन किये गए थे, उनकी समालोचना करने के पश्चात् लॉर्ड मोर्ले ने लॉर्ड सभा में यह घोषणा की थी—

"यदि यह कहा जाता है कि सुधारों के इस अध्याय ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भारत में संसदीय शासन प्रणाली की दिशा मे प्रगति की तो मेरे लिए यह मत कभी मान्य नही हो सकता।[1]

यद्यपि इस घोषणा के पश्चात् छः वर्ष से भी कम समय में विश्व-युद्ध के प्रारम्भ ने, ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को अपने दृष्टिकोण पर पुनर्विचार करने लिए बाध्य किया, किन्तु मौलिक रूप से कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होने पर भी साररूप में दृष्टिकोण पूर्ववत् ही रहा है।

भारतीय नेताओं के विचारानुसार स्वशासन :

इस दौरान भारतीय नेताओ का दृष्टिकोण अपने अधिकारों के प्रति अनायास ही सचेष्ट हो गया था। अब उन्होने अपने देश के संपूर्ण प्रशासन पर प्रभावशाली नियंत्रण की बात करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु वे अभी भी भारत में ब्रिटिश साम्राज्य तथा पूंजीवाद द्वारा शोषण के वास्तविक रूप को नही समझ पाये थे। यदि उनमें से कुछ लोगों को वास्तविक स्थिति का आभास था भी तो वे स्वयं ब्रिटिश शासकों से निकट सम्बन्ध बनाये हुए थे। ये सम्बन्ध कुछ इस प्रकार के थे जिनमे वैयक्तिक निहित स्वार्थ तथा आर्थिक आधार पर वर्ग सहानुभूति के स्तर पर उनमें तादात्म्य था। परिणामस्वरूप उनमें इस व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की माँग करने की कोई इच्छा नही थी। तार्किक संगति के अतिरिक्त यह आरोप लगाया जा सकता था कि वे श्वेत नौकरशाही के स्थान पर देशी नौकरशाही ही चाहते थे तथा ब्रिटिश शोषक का स्थान भारतीय शोषक वर्ग को देने के इच्छुक थे। अतः उनका उद्देश्य ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के अन्तर्गत डोमीनियन पद (dominion status) प्राप्त करने से अधिक नही था, जिसे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रशसको द्वारा आलंकारिक शैली में 'राष्ट्रमंडल' नाम से सम्बोधित किया जाता है। पूर्ण स्वतन्त्रता का आदर्श तथा इसे वास्तविक रूप से प्राप्त किये जाने पर जिस उत्तरदायित्व का भार पड़ता, उसे स्पष्ट रूप से मात्र प्रदर्शनकला की वस्तु समझ कर अस्वीकार कर दिया। जहां तक राजनैतिक सत्ता के माध्यम से समाज के पुनर्निर्माण का

---

१ लॉर्ड सभा डिबेट, दिसम्बर १७, १६०८

प्रश्न था, वे स्वयं सामाजिक न्याय से पूर्णतः अनभिज्ञ थे तथा राज्य के माध्यम से उसकी प्राप्ति मे विश्वास नहीं करते थे। अत. वे अब भी संवैधानिक सुधारों की शब्दावली में ही सोचते थे तथा उसी मापदंड के अनुसार उनका यह विचार था कि १९३५ का अधिनियम अपने निर्धारित उद्देश्यों को पूरा कर सका है।

संविधान का क्षेत्र व उद्देश्य :

संविधान द्वारा प्रान्तीय स्वायत्त शासन किस स्वरूप मे तथा किस सीमा तक प्रदान किया जा सका इसका हम आगामी पृष्ठों में निश्चित चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। रचनात्मक तथा ठोस विधि से कुछ प्राप्त कर सकने की इस नवीन व्यवस्था के संदर्भ में सम्भावनाओं पर भी विचार करना होगा। परन्तु यहाँ इस नवीन संविधान की प्रमुख विशेषता के सम्बन्ध में यह सामान्य विचार प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा कि इसके कुछ लक्षण जैसे, सुरक्षित स्थानों और सुरक्षाओं की स्पष्ट व्यवस्था, शर्तो और सीमाओं की ओर विशेष रूप से सकेत और केवल उन दिशाओं का निर्देशन जिनमे सरकार क्रियाशील हो सकती हो—इन सबने संयुक्त रूप से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जिससे साम्राज्यवादी भार एवं शोषण की नीतियों से बचाव की कोई सम्भावना नही रही।

१९१९ के अधिनियम की आधारभूत योजना

१९१९ का अधिनियम प्रस्तुत चार सिद्धान्तों पर आधारित माना जाता था :

(१) नगरपालिकाओं जैसी स्थानीय संस्थाओं की बाह्य नियंत्रण से स्वतन्त्रता तथा उन पर पूर्ण लोकप्रिय नियंत्रण।

(२) प्रान्तों में उत्तरदायी शासन प्राप्त करने की दिशा में अधिकाधिक प्रयास जोकि भारत सरकार के संसद् के प्रति अन्तिम उत्तरदायित्व के अनुकूल हो।

(३) भारत में भारत सरकार की सर्वोच्च सत्ता, जो संसद् के प्रति उसके उत्तरदायित्व को निहित करती हो।

(४) संसद् के नियन्त्रण में स्थानीय उत्तरदायित्व तथा प्रान्तीय स्वायत्तता के विकास मे क्रमिक उदारता।

१९३५ के अधिनियम में परिवर्तन

इन सब सैद्धान्तिक प्रश्नों पर १९३५ का अधिनियम आमूल परिवर्तन की घोषणा करता है।

(१) ब्रिटिश संसद् की संप्रभुता का सिद्धान्तः

ब्रिटिश संसद् की सर्वोच्चता तथा भारत के संरक्षण के सिद्धान्त का पूर्णतः परित्याग नहीं किया गया है। वस्तुतः सपूर्ण भारत के संघ में, रियासतों को सम्मिलित करने की संभा-

वना ब्रिटिश संसदीय संप्रभुता को उन क्षेत्रों तक विस्तृत कर देती है जो इस संघ के प्रारंभ होने से पहले स्पष्टतः प्रकट रूप में इस संप्रभुता व सर्वोच्चता के आधीन नहीं थे। इस शृंखला के एक अन्य प्रबन्ध के अन्तर्गत भारतीय स्वायत्तता के आदर्श की दिशा में भारतीय राज्य अथवा राष्ट्रमण्डल में देशी रियासतो के विलय सम्बन्धी साधन का निश्चित मूल्यांकन किया गया है। सरकारी क्षेत्र चाहे कितना भी सीमित हो अथवा उसका व्यवहृत रूप चाहे कितना ही संकीर्ण हो, इस सैद्धान्तिक स्थिति को स्वीकृति देने के पश्चात् उनका आग्रह था कि इस सुधार को मोन्ट-फोर्ड रिपोर्ट व १९१९ के अधिनियम की प्रस्तावना में प्रस्तुत सुधारों की पूर्ति के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए।[२]

(२) केन्द्रीय नियंत्रण में ढील :

भारत सरकार द्वारा प्रान्तीय सरकारों पर नियंत्रण अथवा आधिपत्य में दी गई ढील तथा प्रान्तीय विधान सभाओ मे बहुमत प्राप्त दल में से उत्तरदायी मंत्रिमंडल के सिद्धान्त को मान्यता नीति मे मूलतः उसी प्रवृत्ति की परिचायक है जिसको भारत में ब्रिटिश शासन के समर्थक सद्भावना तथा रचनात्मक राजनीतिमत्ता का प्रमाण मानते हैं।

प्रान्तीय मन्त्रिमडलों का उत्तरदायित्व जहाँ तक कि वे एक सुगठित निकाय के रूप में रह सकती थी, इतना परिस्थितियद्ध है, गवर्नर द्वारा अपने मंत्रिमंडल के चयन के नियम इतने कठोर हैं तथा प्रान्तीय सरकारों का कार्य क्षेत्र इतना अधिक संकुचित है कि प्रान्तों में सरकार को न तो वास्तविक स्वायत्तता प्राप्त हो सकती है और न ही भारत सरकार से किसी प्रकार की स्वतन्त्रता।

भारत सरकार का नगण्य विषयों के संदर्भ में नियन्त्रण कम हो सकता है लेकिन मूल रूप मे गवर्नर जनरल की संघीय-कार्यपालिका के अध्यक्ष की हैसियत से अर्जित शक्तियाँ, १९१९ के अधिनियम की तुलना मे अधिकाधिक प्रभावशाली और विस्तृत ही होंगी। यदि राजसत्ता के प्रतिनिधि, वाइसरॉय तथा गवर्नर जनरल की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में समाहित हों तो यह बात अधिक सही प्रतीत होती है।[३] संसदीय नियन्त्रण में ढील

---

२ "क्योंकि यह संसद् की घोषित नीति है कि वह भारतीय प्रशासन की प्रत्येक शाखा से भारतीयों को अधिकाधिक सम्बद्ध करेगी और ब्रिटिश भारत के एक अखण्ड भाग के रूप मे ब्रिटिश भारत में स्वशासी संस्थाओ के क्रमिक विकास की व्यवस्था करेगी।"

३ सी० पी० खड ३ भारत सरकार अधिनियम १९३५

गवर्नर जनरल की नियुक्ति भारत मे सम्राट द्वारा शाही घोषणा के द्वारा इन शक्तियो के साथ की जाती है—

अ-वे सभी शक्तियाँ तथा कर्त्तव्य जो इस अधिनियम द्वारा प्रदान किये गए हैं, तथा

ब. सम्राट की वे अन्य शक्तियाँ जो भारतीय रियासतो के सदर्भ में राजमुकुट के कार्यों को निहित करती हैं, तथा जिन्हें सम्राट गवर्नर जनरल को देना चाहता है। भारतीय रियासतो के सदर्भ में राजमुकुट के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए सम्राट द्वारा अपने प्रतिनिधि की नियुक्ति की जाती है तथा उसके वे कर्त्तव्य व शक्तियाँ होती हैं जो सम्राट उसे प्रदान करे। ये वे शक्तियाँ या कार्य नहीं हैं जो इस अधिनियम के अन्तर्गत गवर्नर जनरल को दी गई हैं। सम्राट कानूनी रूप से उपरोक्त दोनो पदो के लिए एक ही व्यक्ति की नियुक्ति कर सकता है।

आ जाना भारत में स्वशासन के विकास का तर्कसंगत परिणाम था, किन्तु भारत के संदर्भ में १६३५ के अधिनियम का वह अर्थ नहीं है जो वेस्टमिन्स्टर के अधिनियमों का उपनिवेशों के विषय में होता है। संसद् का नियन्त्रण व्यापक तथा प्रभावशाली दोनों है। वह भारतीय राजनीतिज्ञ का अध्येता, जो इस नियन्त्रण से सम्बन्धित १६३५ के अधिनियम की उपेक्षा करता है तथा उनके उद्देश्य व प्रभाव से अनभिज्ञ रहता है, अततः साम्राज्यवादी राजनीति के निहित तथ्यों की ही उपेक्षा करेगा।

भारत में संघ की उल्लेखनीय विशेषताएँ

यहाँ पर १६३५ के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों के मध्य शक्तियों व कार्यों का जो वितरण हुआ उसके विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही है। फिर भी यह इंगित कर देना आवश्यक होगा कि भारत का संघ विश्व के अन्य सभी संघों से दो महत्त्व पूर्ण पक्षों मे भिन्न होगा :

१. निर्माण करने वाली इकाइयाँ संप्रभुता तथा स्तर की दृष्टि से समान नहीं है। सम्मिलित होने वाली रियासतें कुछ मात्रा में स्थानीय दृष्टि से संप्रभु व स्वतन्त्र होंगी। किन्तु इसका दावा ब्रिटिश प्रान्त स्वय सर्वोच्च सत्ता की रचना होने के कारण कभी नही कर सकेंगे। दूसरी ओर, प्रान्त आर्थिक दृष्टि से विकसित तथा सामान्य दृष्टि से उन्नत है जिसका भारतीय रियासतों में न केवल अभाव है अपितु वे आर्थिक विकास की प्रक्रिया में बाधक भी हो सकती है। एक सामान्य सरकार अथवा प्रशासन की माँग करने की अथवा साथ कार्य करने की प्रवृत्ति भी संघीय शासन के इन दो भिन्न निर्माण करने वाले तत्वों में समान नही रह सकती है। यही स्थिति उनसे सम्बन्धित आदर्शों तथा अन्तिम उद्देश्यो के विषय में भी है।

२. विषमता का अन्य पक्ष संघ तथा उसके निर्माणकारी तत्वों के मध्य शक्तियो व कार्यों के वितरण से सम्बन्धित है। जहाँ प्रान्तों को अधिनियम द्वारा कुछ निश्चित कार्य स्पष्ट रूप से प्रदान किये गए हैं तथा कुछ कार्य केन्द्रीय सरकार के साथ समवर्ती रूप से दिये गए हैं (जिनके सम्बन्ध में संघर्ष होने पर निश्चय ही केन्द्रीय सरकार को सर्वोच्चता प्राप्त होगी) वही रियासतें संघीय सत्ता को मात्र वे कार्य अथवा शक्तियाँ, उन शर्तों तथा प्रावधानों के साथ देंगी-जो संघ के साथ रियासतों के विलय पत्र में लिखित होंगी (अनुच्छेद ६)। प्रान्त संसद् के अधिनियम द्वारा संघ का भाग बना दिए गए हैं, जबकि रियासतें एक ऐसे विलय पत्र द्वारा इस संघ का भाग बनेंगी जिस पर प्रत्येक राज्य के शासक द्वारा उन सब शर्तों, अर्थों तथा व्यवस्थाओं के साथ हस्ताक्षर किये गए हैं और वे गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकृत किये गए हैं।[४]

संघीय विषयों की सूची (सातवी अनुसूची के १०० वें अनुच्छेद) में ५६ विषय निहित है जिनमें से मात्र ४७ का रियासतों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। यह सभव है कि

४ देखिये १६३५ के अधिनियम के विशेष रूप से अनुच्छेद २ तथा ६ तथा १२२-१२६

क्रियान्वयन की स्थिति में ये विलय पत्र १९३५ के अधिनियम की उन धाराओं से समानता प्रदर्शित करेंगे, जिनके बिना सरकारी तंत्र का संचालन असम्भव होगा। तथापि रियासतों मे संघीय सरकार का संपूर्ण संदर्भ प्रान्तों से पूर्णतः भिन्न है। परिणामतः प्रस्तावित संघ में इन दोनो भागो का कार्य मूलतः भिन्न होगा।

भारत के बाहर संप्रभु शक्ति :

इन दो भिन्न, तथा कुछ सीमा तक परस्पर विरोधी आधारों पर निर्मित प्रस्तावित भारतीय संघ के संविधान मे दो अन्य निहित दुर्बलताएं थी जो भविष्य में संपूर्ण देश को सामूहिक रूप से एक बने रहने के विषय मे अधिक आशावादी नही बनाती।

अ-सर्वोच्च सत्ता (संपूर्ण सप्रभुता) भारत में निहित नही हैं : यह एक बाह्य शक्ति मे निहित है—जो ब्रिटेन में स्थित सम्राट तथा ससद् मे सामूहिक रूप से (king-in parliament) है। ऐसे क्षेत्र है जिनके अन्तर्गत भारतीय संघ कार्रवाई नही कर सकता। यह कार्रवाई उस स्थिति में भी नही हो सकती जब भारतीय सघ संघटक की (constituent) इकाइयो का इसको समर्थन प्राप्त हो क्योकि इनको संयुक्त रूप अथवा पृथक् रूप से ऐसा करने की शक्ति प्राप्त नही है। अधिनियम में ऐसे विषय भी हैं जिनके सम्बन्ध में सघीय सरकार विधि-निर्माण नही कर सकती है क्योंकि न तो उसको और न ही उसकी सघटक इकाइयों को यह अधिकार प्रदान किया गया है। इस प्रकार के विषयों मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय स्वयं सवैधानिक संशोधन मे सम्बन्धित है। ब्रिटिश सम्राट तथा ससद् की सहमति के बिना भारतीय सविधान मे कोई परिवर्तन नही किया जा सकता है। चाहे देश के सम्पूर्ण भाग की जनता और उसके विभिन्न वर्गों द्वारा ही यह मांग क्यों न उठाई जाए।

ब्रिटिश संसद् की सर्वोच्च सत्ता :

यद्यपि भारतीय जनता संविधान में कोई परिवर्तन नही कर सकती किन्तु इस क्षेत्र में ब्रिटिश संसद् को सर्वोच्च सत्ता प्रदान की गई है। इस नई शासन व्यवस्था का प्रारम्भ विभाजन से किया गया है—बर्मा को भारत से पृथक् कर दिया गया है। इस विभाजन का समर्थन बर्मा की जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार के आधार पर किया जा सकता है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि सविधान की वास्तविक धाराएं इस बात के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नही करती है कि बर्मा का विभाजन पूर्णतः बर्मावासियों को आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान करने के लिए किया ही गया था। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि यह उचित दिशा में प्रयास था, फिर भी यह उदाहरण मूलनीति मे पृथकतावादी प्रवृत्ति के प्रभाव को दर्शाता है। वह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो अंततः सघ की सत्ता को दुर्बल करेगी। यहां तक कि संघ तथा उडीसा का पृथक् प्रान्तो के रूप में निर्माण ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनाई गई उसी छलपूर्ण प्रवृत्ति का ही उदाहरण है जिसके परिणामस्वरूप एक इकाई को इतना शक्तिशाली बनने का अवसर दिया गया कि वह केन्द्रीय सत्ता के लिए खतरा बन सके।

संयोगवश इस प्रवृत्ति के साथ मुसलमानों मे पृथकतावादी प्रवृत्ति जो सिंध तथा अन्य स्थानों पर अभिव्यक्त होती है, ब्रिटिश सरकार की पृथकतावादी नीति के लिए अत्यधिक सहायक सिद्ध होगी। इस दिशा में वर्तमान प्रगति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कम से कम आधी शताब्दी के लिए ब्रिटिश नीति के असफल होने की कोई संभावना नही प्रकट होती क्योंकि इन प्रदेशों के लोग ब्रिटिश सरकार के राजनय को समझने योग्य नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त संपूर्ण उत्तर पश्चिम भारत मे मुसलमान गुट की रचना, जो परम्परागत पश्चिमी एशियाई देशो के निकट है, सर्वइस्लामी स्वप्न का आभास नही है। यह राष्ट्रवादी भारत के सरकार के सिर पर लटकती हुई 'डिमोक्लेस की तलवार' है। यदि वह एक संयुक्त अथवा अखण्ड भारत का इच्छुक है तो उसे साम्राज्यवादी ब्रिटेन के प्रति स्वामिभक्त रह कर अनिवार्यतः आधीनतापूर्वक सहयोग करना होगा अन्यथा अधिनियम मे निहित विभाजक शक्तियो का दबाव भारतीय एकता को समाप्त कर देगा। पंजाब, सिंध तथा उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त जैसे प्रांत इतने सजातीय हैं तथा उनकी भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की है कि वे सहज रूप से पृथक होने की धमकी दे सकते है। यह स्थिति उग्र राष्ट्रवादी भारतीयों के मात्र कल्पनाजन्य दुःस्वप्न को वास्तविकता मे परिणत कर सकती है। जब तक भारत की एकता और ब्रिटिश अखण्डता साम्राज्यवादी सत्ता को सुविधाजनक होगी तब तक भारतीय संघ की सहायता की जाएगी, उसे सशक्त किया जाएगा। स्थानीय स्वायत्तता के प्रति ब्रिटिश सम्मान को विस्मृत करते हुए भी यह किया जाएगा। लेकिन जिस क्षण भारतीय संघ अथवा उसका कोई भाग ब्रिटिश साम्राज्यवादी आधिपत्य के विरुद्ध प्रभावशाली उद्दण्डता प्रदर्शित करेगा उसी क्षण विभाजक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया जाएगा—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी आवश्यकताओं के अनुकूल साम्प्रदायिक भावनाओं को उकसाया और नियन्त्रित किया जाता है।

इस प्रकार १९३५ के अधिनियम में गृह-युद्ध के बीज विद्यमान हैं। ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हो गया है जो संघर्ष उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हैं। साथ ही युद्ध-प्रारम्भ करने की प्रभावपूर्ण शक्ति भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि—गवर्नर जनरल में पूर्णतः निहित कर दी गई है। वे रियासतें भी, जो स्वेच्छा से संघ की सदस्यता ग्रहण करने वाली है तदुपरांत अपनी सुविधानुसार संघ से पृथक् नही हो सकती हैं। चाहे उनसे उनके स्थानीय हित अथवा व्यक्तिगत विचार कितने ही दुष्प्रभावित क्यों न होते हों। अनुच्छेद ६ (५) तथा अनुच्छेद ४५ (४)[५] यह व्यवस्था करते हैं कि १९३५ के अधिनियम में किसी

---

५ अनुच्छेद ६ (५) के अनुसार "प्रत्येक विलय पत्र मे यह शर्त होगी कि इस अधिनियम की व्यवस्थाएँ, जो यहाँ द्वितीय अनुसूची में दी गई हैं, रियासतों के विलय को प्रभावित किए बिना संसद् अथवा संसद् द्वारा प्राप्त शक्ति से संशोधित की जा सकती हैं। किन्तु कोई ऐसा संशोधन उस रियासत के संदर्भ मे विलय पत्र द्वारा सम्राट अथवा संघीय सत्ता को प्रदान की गई किसी भी शक्ति को विस्तृत नही करेगा जबतक कि वह शक्ति एक पूरक विलय-पत्र के माध्यम से रियासत के शासक द्वारा स्वीकार न कर ली गई हो।

परिवर्तन की स्थिति में अथवा किसी अधिनियम द्वारा संविधान के तीन वर्षों तक निलंबन की दशा में रियासतो को संघ से निकालना उचित होगा । किन्तु संघ का परित्याग करने की यह शर्त है कि पृथक्करण की यह इच्छा केवल एक ओर से अर्थात् रियासतों की इच्छा से ही प्रारम्भ नही हो । वस्तुतः राज्यों को दो विशिष्ट परिस्थितियों में संघ से पृथक् होने का अस्पष्ट अवसर देना यथार्थ में उन उग्र भारतीय राष्ट्रवादियों के लिए एक धमकी है जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चंगुल से भारत को पूर्ण मुक्ति दिलाना चाहते हैं । इस धमकी में निहितार्थ यह है कि यदि भारतीय राष्ट्रवादी ब्रिटिश सरकार द्वारा निर्धारित उचित सीमा से आगे अपनी "विध्वंसकारी" गतिविधियो को बढ़ाते हैं तो ब्रिटिश सरकार संपूर्ण देश को विघटित कर देगी ।

शक्तियों व कार्यों का वितरण :

ब-संघ व उसकी इकाइयों के मध्य शक्ति के कार्यों तथा दायित्वों का वितरण भी अंततः ब्रिटेन की संप्रभुता तथा आधिपत्य को ध्यान में रखकर किया गया है । जब हम प्रान्तों के *आर्थिक साधनों की चर्चा करते हैं तब हमें यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि किस* प्रकार ब्रिटेन की सर्वोच्चता को दृढतापूर्वक बनाए रखने के लिए वे नष्ट कर दिए गए हैं। रियासतों द्वारा वे साधन व शक्तियाँ संघीय सत्ता को हस्तांतरित कर दी जाएंगी, जो संघीय संरचना के सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए संघ मे शामिल होने वाली प्रत्येक रियासत सिद्धान्ततः आवश्यक मानती हैं । परिस्थितिवश रियासतों को अपनी शक्तियाँ प्रदान करनी पड़ेंगी अथवा कुछ स्रोत प्रदान करने पड़ेंगे जो निश्चय ही स्थानीय विकास के लिए उपलब्ध अवसरों को सीमित कर देंगे। इस अधिनियम के विस्तृत ब्यौरे तथा आधारभूत सिद्धान्तों मे ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जो इस संदेह को स्पष्ट कर देती हैं कि प्रान्तीय स्वायत्तता के विचार का विकास उस सीमा तक स्वीकार किया गया है जब तक वह ब्रिटिश संप्रभुता को चुनौती नहीं देता अथवा जहाँ तक वह साहसपूर्ण भारतीय राष्ट्रवाद की अभिवृद्धि के विरुद्ध प्रभावशाली शस्त्र प्रमाणित होता है ।

इस प्रकार, प्रस्तावित संघीय व्यवस्था की इकाईयाँ अपने क्षेत्र की जनता के कल्याण के लिए किसी महत्त्वपूर्ण अथवा वास्तविक कार्य कर सकने की क्षमता मे अत्यधिक नियंत्रित हैं । वे निंदा अर्जित कर सकती हैं, जैसे उनमे राजनैतिक भावना का अभाव है, वास्तविकता

अनुच्छेद ४५ (४) के अनुसार—

"यदि इस अनुच्छेद के अंतर्गत की गई घोषणा से किसी भी समय भारत सरकार निरन्तर तीन वर्ष तक कार्य करती है तो उस अवधि की समाप्ति के पश्चात् उस घोषणा का प्रभाव समाप्त हो जाएगा । तब संघ की सरकार का सचालन इस अधिनियम की अन्य व्यवस्थाओं के अनुसार होगा जिसमे संसद् आवश्यक परिवर्तन कर सकती है । किन्तु इस अनुच्छेद से संसद् की शक्ति मे ऐसा व्यापक प्रसार नही होगा कि वह रियासत के विलय को प्रभावित किए बिना इस अधिनियम मे सशोधन कर सके ।

इसका अर्थ यह हुआ कि संविधान मे व्यापक अथवा आमूल परिवर्तन या उसके तीन वर्ष तक निलंबित होने की स्थिति मे सघटक राज्य संघ छोड़ सकते हैं।

की अनुभूति का अभाव है अथवा सहयोगपूर्ण ढंग से कार्य कर सकने की क्षमता का अभाव है किन्तु उन्हें राष्ट्रीय अथवा स्थानीय स्तर पर उस विकास योजना को कार्यान्वित करने के लिए कोई साधन प्राप्त नहीं हैं जो ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति के अनुकूल नहीं हों। प्रान्तीय स्वायत्तता में केन्द्र न्यूनतम् हस्तक्षेप के लिए केन्द्रीय सरकार को बहाने मात्र की आवश्यकता होगी तथा निश्चित रूप से किंचित् प्रशासनिक दक्षता अथवा प्रगति पर बल देने के लिए उसे हस्तक्षेप का अवसर मिल सकेगा। प्रत्येक प्रान्त को अपने क्षेत्र की जनता के विकास से सम्बन्धित साधनों को उन्नत करने मे कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। जहाँ तक रियासतों का प्रश्न है, यह निरपवाद मानना होगा कि वे पर्याप्त पिछड़ी हुई हैं। अतः वे भौतिक विकास की दृष्टि से पिछड़ी ही रहेगी। किन्तु उत्पादन रहित विशाल ऋण का अस्तित्व, अत्यधिक निराशापूर्ण व्यय-साध्य सुरक्षा संगठन, तथा सरकार के सभी विभागों कीअधिकतम वेतनभोगी प्रशासनिक सेवाएँ—इन सबके विद्यमान रहते हुए प्रान्तों के विकास के लिए अतिरिक्त धनराशि को प्राप्त करना पूर्णतः असम्भव लगता है। अतः जो भी स्रोत्र प्राप्त हैं, उन्हें आने वाले कई वर्षों तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद के स्थायित्व के लिए लगाना पड़ेगा। परिणामस्वरूप प्रान्त तथा रियासतें आने वाली एक या अधिक पीढ़ियों तक अपने लोगों के जीवन स्तर को उठाने मे सफल नही हो सकेंगी।

केन्द्र इकाइयाँ

क्या केन्द्रीय अथवा संघीय सरकार प्रभुसत्ता सम्पन्न हैं या इकाइयाँ शक्तिशाली है? १९३५ के अधिनियम के संदर्भ में इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। जैसाकि कहा जा चुका है—संघीय सरकार के लिए पर्याप्त सत्ता सुरक्षित रखी गई है, विशेष रूप से किसी भी संभव संकट में केन्द्रीय सरकार की सत्ता को बनाये रखने के लिए गवर्नर जनरल को विशेष रूप से पर्याप्त शक्तियाँ दी गई हैं। यदि यह भी पर्याप्त न हों तो एक उद्‌घोषणा द्वारा वह संपूर्ण संविधान को निलंबित कर, संघीय व्यवस्था को स्थगित कर तथा व्यवस्थापिका को नियंत्रित करने के पश्चात् संपूर्ण शक्तियाँ स्वयं में निहित कर सकता है।[६] अधिनियम के अनुच्छेद १२ में उसके विशिष्ट उत्तरदायित्वों का अध्ययन यदि अधिनियम की वित्तीय व्यवस्थाओं के संदर्भ में किया जाए तो यह प्रमाणित हो जाता है कि उस प्रत्येक दिशा में,

---

६ अनुच्छेद ४६ (१) के अनुसार : यदि किसी भी समय गवरनर जनरल इस बात से संतुष्ट हो जाए कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं जबकि संघीय सरकार इस अधिनियम के अनुसार काम नही कर सकती है तो वह एक उद्‌घोषणा द्वारा—

(अ) यह घोषणा कर सकता है कि उसके कार्य उद्‌घोषणा मे घोषित सीमा तक उसके वैयक्तिक निर्णय पर आधारित होंगे (ब) वह स्वयं उन शक्तियों में से कतिपय हस्तांतरित कर सकता है जो किसी संघीय संस्था अथवा सत्ता द्वारा प्रयुक्त की जाती हैं। ऐसी उद्‌घोषणाएँ कुछ अन्य व्यवस्थाएँ निहित कर सकती हैं जो उसके विचार से उद्‌घोषणा के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक अथवा वांछनीय प्रतीत होती हों।

जिसमें भारत पर ब्रिटिश नियन्त्रण को बनाए रखना है, गवर्नर जनरल को इस प्रकार की सत्ता एवं शक्तियाँ प्रदान की गई है जो ब्रिटिश साम्राज्य को शक्तिहीन अथवा विघटित करने के किसी भी प्रयास का दमन करने हेतु पर्याप्त होंगी।

यद्यपि गवर्नर जनरल को मुख्य कार्यपालिका के रूप में भारत के शासन-संचालन के प्रत्येक पक्ष में सामान्य तथा असामान्य परिस्थितियों का सामना करने के लिए शक्तियाँ प्रदान की गई है तथापि इसका यह अर्थ नही है कि संघीय सरकार भी उतनी ही शक्तिशाली है। गवर्नर जनरल संघीय सरकार से, जिसका अर्थ मंत्रिमंडल से है, पर्याप्त भिन्न है। (संघीय मन्त्रिमण्डल की शक्तियाँ पर्याप्त रूप से सीमित हैं।) प्रान्तों का कार्य निश्चित है, जो संघीय सरकार की सत्ता तथा प्रभाव-क्षेत्र से पृथक् है। यद्यपि यह इतना पर्याप्त नही है कि स्थानीय विकास की दिशा का स्वयं निर्धारण कर सके। इन परिस्थितियों में निश्चित तथा संतोषजनक रूप से उपरोक्त प्रश्न का उत्तर दे सकना सम्भव नही है। *फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ उस स्तर तक* रखी गई हैं जिसके पश्चात् वास्तविक प्रान्तीय स्वतन्त्रता की अपेक्षा करना असंगत है। यदि कोई प्रान्त समावर्ती विषयों के क्षेत्र में भी केन्द्र का मुकाबला करना चाहेगा तो उसे मात्र द्वितीय स्थान ही प्राप्त होगा।

संघ तथा संघ का निर्माण करने वाली इकाइयों में शक्तियों के वितरण के अतिरिक्त भी ऐसे मामले हैं जिनमें उनके कार्य पारस्परिक तथा परस्परव्यापी हैं। अतः इस प्रकार के मामलों के लिए अधिनियम के भाग IV के अनुच्छेद १२२–१३५ में व्यवस्थाएँ दी गई हैं। अधिनियम का यह अंश इस सामान्य सिद्धान्त से प्रारम्भ होता है कि—

> "प्रत्येक प्रान्त तथा संघ में सम्मिलित रियासत की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार किया जाएगा कि उस प्रान्त अथवा रियासत में क्रियान्वित संघीय व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधि के लिए सम्मान प्राप्त हो सके। (१२२)"

संघीय व्यवस्थापिका के कानूनों को क्रियान्वित करने के लिए कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग करते समय पारस्परिकता के आधार पर निश्चय ही स्थानीय इकाइयों के हितों पर भी ध्यान दिया जाए। किन्तु जहाँ तक प्रान्तों का प्रश्न है, गवर्नर जनरल किसी भी गवर्नर को उसके क्षेत्र के जन-जातीय प्रदेशों तथा सुरक्षा, वैदेशिक संबंध तथा धार्मिक मामलों के विषय में अपने प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने के निर्देश दे सकता है। (अनुच्छेद १२३)

संघ की कार्यपालिका शक्ति भी गवर्नर-जनरल द्वारा ऐसे किसी मामले में, जिसमें प्रान्त की सरकार स्वीकृति देती है, सशर्त अथवा बिना किसी शर्त के प्रदान की जा सकती है। १२४ (१)

इसी प्रकार संघीय व्यवस्थापिका भी, प्रान्तीय सरकार को, उसके अधिकारियों व संस्थाओं के लिए उन विषयों से सम्बन्धित दायित्व अथवा शक्तियाँ सौंप सकती है जो *अन्यथा प्रांतीय व्यवस्थापिका के विधि-निर्माण के क्षेत्र में नही आते हैं।*

ऐसे ही मामलों में व्यावहारिक रूप से अधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी क्योंकि जिस विधि को क्रियान्वित किया जाएगा वह संघीय होगी। अतः यह संभव नही अपितु

आवश्यक होगा कि सम्बन्धित संघीय अधिकारी उस विधि को क्रियान्वित करने के लिए स्पष्टीकरण व निर्देश भेजें। इसके वावजूद प्रत्येक कानून की क्रियान्विति का होना उस प्रान्तीय सरकार के अधिकार क्षेत्र की आवश्यकता है। प्रान्तीय सरकार के अधिकारियों को इन कानूनो की क्रियान्विति हेतु उचित शक्तियाँ प्रदान करनी पड़ेगी तथा केन्द्रीय सरकार स्वाभाविकतः ऐसे अधिकारियों को वेतन देगी जो इन संघीय कानूनों को क्रियान्वित करने में व्यस्त होंगे १२४ (४) । किन्तु यह स्वयं संपूर्ण सम्भावित कठिनाइयों तथा व्यवधानों को समाप्त नहीं कर देता है। जब भी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगी जिसमें प्रान्तीय सरकार संघीय सरकार के विपरीत मामलों में रुचि रखती है, तभी प्रान्तीय अधिकारी एक ओर प्रान्तीय भावना के प्रति निष्ठा एवं दूसरी ओर संघीय सत्ता के प्रति कर्तव्य के बीच दुविधा-पूर्ण कठिनाई का अनुभव करेंगे और केन्द्रीय सत्ता स्वामिभक्ति में कमी अनुभव करेगे जो उनकी सेवाओं के बदले उन्हें वेतन प्रदान करेगी।

साधारणतः ऐसी परिस्थिति में गवर्नर जनरल अपने द्वारा मनोनीत सदस्यो के माध्यम से निरीक्षण करवा कर स्वयं को संतुष्ट करने का प्रयास करेगा । ये निरीक्षक भी संघीय निरीक्षण आयोग का कार्य करेंगे जबकि अधिनियमों का वास्तविक क्रियान्वयन स्थानीय अधिकारियों द्वारा किया जाएगा। संघीय कार्यपालिका की सर्वोच्चता स्पष्ट रूप से अनुच्छेद १२६ में उल्लिखित है जिसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त को अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करने का निर्देश दिया गया है जिससे वे सघ की कार्यपालिका शक्ति को क्रियान्वित करने में किसी प्रकार का गतिरोध उत्पन्न न करें। सघीय कार्यपालिका को इस उद्देश्य से प्रान्तीय सरकार को ऐसे निर्देश देने का अधिकार दिया गया है जो उसकी दृष्टि में अनिवार्य हों। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सरकार को निर्देश देने की यह शक्ति मात्र मुख्य संघीय विषयों तक ही सीमित नही है अपितु यह समवर्ती सूची में निहित किसी विषय पर संघीय सरकार द्वारा बनाये गये कानून को उस प्रान्त मे लागू करने के लिए उपयोग मे लायी जा सकती है। उदाहरण के लिए यदि हम संचार के साधनों की व्यवस्था को लें तो सघीय कार्य-पालिका किसी भी प्रान्तीय सरकार को निर्देश दे सकती है कि संचार के साधनो का किस आधार पर निर्माण व उनकी देखभाल की जाए—इसके अतिरिक्त संचार के उन साधनों पर तो नियन्त्रण पूर्णतः पृथक् रूप से होगा ही जो देश की सुरक्षा की दृष्टि से प्रत्यक्ष रूप से संघीय सत्ता के अधिकार क्षेत्र में आते हैं।

यदि कोई प्रान्त इस प्रकार के निर्देशो को क्रियान्वित करने में असफल रहता है तो गवर्नर जनरल को अपने वैयक्तिक निर्णय की शक्तियों के आधार पर कार्य करते हुए इस प्रकार के निर्देश उसी रूप में अथवा संशोधित रूप में गवर्नर को देने का अधिकार प्राप्त है, १२६ (४) । ये आदेश उस कार्यविधि के विषय में भी दिए जा सकते हैं जिस रूप में प्रान्तीय कार्यपालिका अपनी शक्ति का प्रयोग भारत तथा उसके किसी भाग की शांति तथा व्यवस्था के भंग होने की आशंका के गम्भीर संकट को रोकने के उद्देश्य से करे। ऐसी व्यवस्था बड़ी आसानी से उस प्रान्तीय सरकार को कठिनाई मे डाल सकती है जो राष्ट्रीय (अथवा समाजवादी) आंदोलन से सहानुभूति रखती हो और जिसके बारे में केन्द्रीय सरकार

को यह आभास हो कि वह स्थानीय सरकार किसी एक समुदाय की पक्षपाती या दूसरे की विरोधी है। किसी भी प्रान्त में इस प्रकार की परिस्थिति तब तक उत्पन्न नहीं हो सकती जब तक गवर्नर कानून द्वारा प्रदान किये गए अपने अधिकारों का शब्दशः उपभोग करता है। यदि गवर्नर संयोगवश राष्ट्रवादी (अथवा समाजवादी) पक्ष की ओर कुछ सहानुभूति रखता भी है तो भारत सरकार ने अपने पास ऐसे लोगों से अपने आदेशों का पालन करवाने के लिए पर्याप्त शक्तियाँ सुरक्षित रख छोड़ी हैं।

प्रसारण

भारत की अर्थ-व्यवस्था में दो महत्त्वपूर्ण विषय हैं, जिनमें से एक अपेक्षाकृत आधुनिक है जबकि दूसरा अनादि काल से महत्त्व का रहा है। ये ऐसे विषय हैं जिनको लेकर संघीय तथा स्थानीय अधिकारियों में संघर्ष हो सकता है। जहाँ तक प्रसारण का प्रश्न है, प्रान्तीय सरकारें इस प्रकार के कार्य करने के लिए सक्षम हैं जो उन्हें प्रांत में ट्रांसमीटर बनाने अथवा उनका उपयोग करने योग्य बनाए तथा साथ ही ट्रांसमीटर के निर्माण तथा प्रयोग पर, व ग्रहण करने वाले यंत्र के प्रयोग पर उन्हें शुल्क लगाने का भी अधिकार प्रदान करे।[७] संघीय सरकारें अपने स्वयं के लिए इस प्रकार के पृथक् यंत्र रख सकती हैं जिन पर किसी भी प्रान्त अथवा रियासत का अधिकार स्वीकार नहीं किया जाएगा। यन्त्रों तथा संयन्त्रों के विषय में, जो पूर्णतः प्रान्तीय अधिकार क्षेत्र में हैं, संघीय सरकार उन कार्यों को करने के लिए प्रान्तीय सरकारों पर विभिन्न शर्तें भी लगा सकती है जिनमें ऐसी सेवाओं की वित्तीय व्यवस्था भी निहित है। किन्तु संघीय सरकार ऐसी शर्तें न ही लगा सकती जो प्रान्तीय यन्त्रों द्वारा प्रसारित होने वाले विषयों को भी नियन्त्रित कर सकें [१२६ (२८)] तथापि संपूर्ण भारत अथवा उसके किसी अंग की शांति व सुरक्षा का प्रश्न जिसका निर्धारण गवर्नर जनरल करेगा, इसका अपवाद है।

जल-व्यवस्था

जहाँ तक जल व्यवस्था का प्रश्न है, इन दिनों विशेष रूप से उन विशाल नदियों पर, जो एक से अधिक प्रान्तों तथा रियासतों में से होकर प्रवाहित होती हैं, व्यापक रूप से सिंचाई योजनाओं का निर्माण हो रहा है। सम्बन्धित प्रान्तों की इकाइयों के मध्य संघर्ष की सम्भावनाएं निस्सन्देह अत्यधिक हैं। एक रियासत अथवा प्रान्त जिसके मध्य में होकर कोई एक नदी बहती है, उसके लिए इस सीमा तक निर्धारित प्रवाह को रोकना, अथवा नदी के मार्ग को बदलना या उसके जल का निकास करना सम्भव है कि बाद के क्षेत्रों में, जहाँ वह नहीं पहुंचती हो, इतना भी जल नहीं बचा पाए कि वह उस क्षेत्र की भूमि में सिंचाई करने के लिए पर्याप्त हो। उस राज्य में, जिसे पूर्ण मात्रा में जल नहीं मिल सका है, संपूर्ण

---

७ देखिये अनुच्छेद १२६।

अर्थ व्यवस्था के लिए संकट उत्पन्न हो सकता है। अतः इस अधिनियम के अनुच्छेद १३०-१३४ के द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि यदि किसी भी प्रान्त अथवा रियासत द्वारा गवर्नर जनरल से इस प्रकार की शिकायत की जाए तो गवर्नर जनरल इसकी निष्पक्ष जाँच के लिए एक उपयुक्त आयोग की स्थापना कर सकता है। इस प्रकार से आयोग द्वारा की गई सिफारिशें जब गवर्नर जनरल द्वारा दिये गए निर्णयों अथवा आदेशों का रूप ग्रहण करेंगी तो उसको क्रियान्वित करने हेतु उसे पूर्णरूपेण कानूनी रूप प्राप्त होगा।[८] स्पष्ट रूप से उस राज्य अथवा रियासत को, जो इस फैसले को अन्यायपूर्ण मानता है, परिषद् द्वारा *सम्राट से प्रत्यक्ष अपील करने का अधिकार दिया गया है किन्तु सम्राट तथा संसद् का* सामूहिक निर्णय उस मामले में अन्तिम माना जाएगा। इस प्रकार का निर्णय गवर्नर जनरल द्वारा दिये गए विपरीत निर्णय को ही अवैध नहीं करेगा—अपितु उस निर्णय के विपरीत परित स्थानीय विधेयक तथा कार्यपालिका के आदेश भी उस सीमा तक अवैध हो जाएँगे।

इस अधिनियम का १३५ वाँ अनुच्छेद गवर्नर जनरल की सिफारिश पर एक प्रान्तों की परिषद् की स्थापना की व्यवस्था करता है। यह परिषद् प्रान्तों के मध्य किसी विवाद की जाँच कर सकती है। इसके अतिरिक्त यह एक से अधिक संघीय इकाइयों के सामान्य हित के विषयों पर भी विचार-विमर्श कर सकती है। यह तत्सम्बन्धी नीति में समायोजन प्राप्त करने के लिए भी सिफ़ारिश कर सकती है। कुल मिलाकर यह संघ की विभिन्न इकाइयों के मध्य आंतरिक सहयोग प्राप्त करने हेतु एक अपरिष्कृत, व्ययसाध्य किन्तु आवश्यक साधन है।

Further Readings

1. *Coupland, R*: The constitutional problems in India, Oxford, 1944, pt. 1, pp. 149–159 pt. II, pp. 1 154.
2. *Keith, A. B.*: A constitutional History of India, (1600–1935) Allahabad, Central Book Depot, 1973 pp. 319–520.
3. *Masaldan, P. N.*: Evolution of Provincial Autonomy in India, Bombay Hind Kitabs, 1953, pp. 51–135.

८ देख देखिए अनुच्छेद १३१

भाग २

भारतीय संविधान की संरचना तथा स्रोत

सफल संविधान पर एक टिप्पणी

भारतीय संविधान स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आकस्मिक चिंतन का प्रतिफल नही था। यह चिंतन हमारे स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ विकसित हुआ था। वस्तुतः 'नेहरू रिपोर्ट' (१६२८) हमारी सवैंधानिक प्रतिमा का प्रथम निदर्शन थी। यद्यपि हमारी संविधान रचना कई आन्तरिक एवं बाह्य घटकों से प्रभावित हुई परन्तु हमारे संविधान की मूल आत्मा विशुद्ध रूप से भारतीय है। हमने अन्य संविधानों की संरचनाओं व व्यवहारो को उन्मुक्त रूप से भारतीय वातावरण व आवश्यकताओं से अन्त.क्रिया करने का अवसर दिया। स्वदेशी, विदेशी प्रभाव व स्वातंत्र्योत्तर भारतीय आवश्यकताओं की इस अंतःक्रिया के पश्चात् जो सार-तत्त्व प्राप्त हुआ वह भारतीय संविधान का मूलाधार बना। भारतीय सविधान विभिन्न प्रभावों के अंधानुकरण का परिचायक नहीं है, वह सहज रूपान्तरण की भारतीय क्षमता का उदाहरण है। यही कारण है कि इसमे विभिन्न आवश्यकताओं उद्देश्यों व सामाजिक-आर्थिक यथार्थ के बीच समायोजन निहित है। इसमें लोकतंत्र, राष्ट्रवाद, व समाजवाद के बीच समन्वय पर बल दिया गया है, उन्हे परस्पर विरोधी नही समझा गया। सविधान मे निहित मूल अधिकार जहाँ व्यक्ति को आधारभूत स्वतत्रताएँ उपलब्ध कराते हैं, वही राज्यनीति के निदेशक सिद्धांत राज्य को सामाजिक-आर्थिक क्षमता व न्याय का निर्देश देते है। इस प्रकार भारतीय संविधान मे अत्यन्त यथार्थपूर्ण रूप से भारतीय जीवन व आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई है और यह अभिव्यक्ति किसी विशेष काल अथवा अवस्था से बंधी नही रही बल्कि उसके साथ-साथ निरन्तर प्रगति करती रही है। इसी कारण आज स्वतंत्रता के २६ वर्ष उपरांत भी भारतीय सविधान उसी प्रामाणिकता से राष्ट्रीय आकांक्षाओं को मुखरित कर रहा है। वह जनता के राष्ट्र के प्रति विश्वास व उत्साह का प्रतीक है।

ग्रेनविल ऑस्टिन ने अपनी सुविख्यात कृति **दि इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनः कॉर्नर स्टोन ऑफ ए नेशन*** (लन्दन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १६६६, पृ० ३०८–३३०) में भारतीय संविधान के निर्माण काल व उसके क्रियान्वयन की समीक्षा की है। पुस्तक का प्रस्तुत अन्तिम अध्याय **'कमेंट्स ऑन ए सक्सेसफुल कॉन्स्टीट्यूशन'** सार रूप में सविधान सभा की विभिन्न अवस्थाओं की समीक्षात्मक चर्चा करता हुआ परिवर्तित परिस्थितियों में भारतीय संविधान का एक वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। इस अध्याय को यहाँ पुनःप्रस्तुत किया जा रहा है। –संपादक]

४

सफल संविधान पर एक टिप्पणी

स्वतंत्रता प्राप्ति से हमने हर गलती के लिए ब्रिटेन पर आरोप लगाने का बहाना ढूंढने का अवसर खो दिया है। यदि अब कोई गलती होती है तो हमें सिवाय अपने, कोई और आरोप लगाने के लिए नहीं मिलेगा। बी०आर०अम्बेडकर

२६ नवम्बर १६४६ को संविधान सभा के सदस्यों द्वारा संविधान को अंगीकृत करने के साथ ही भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र बन गया। शक्ति और इच्छा के इस कार्य से *संविधान सभा के सदस्यों ने १७८७ में फिलाडेल्फिया के बाद संभवत: सबसे बड़े* राजनैतिक साहस की शुरूआत की। इस प्रकार एक विशाल क्षेत्रफल वाला देश जो जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में दूसरे स्थान पर है, जिसका आर्थिक व सामाजिक विकास अवरुद्ध रहा है और जहाँ सांस्कृतिक विविधताएँ हैं, १५० वर्षों में पहली बार अपने भाग्य निर्माण के लिए स्वयं उत्तरदायी बना। उसका उद्देश्य एक लोकतांत्रिक संविधान के माध्यम से प्रशासनिक व राजनैतिक एकता अर्जित करना तथा आर्थिक व सामाजिक क्रान्ति को कार्य रूप में परिणत करना था। राष्ट्र को यह कार्य एक ऐसे संविधान के अन्तर्गत करना था जिसके प्रावधान व सिद्धान्त यद्यपि भारतीय विचार व तात्कालिक इतिहास के अनुरूप थे, फिर भी उनका उद्गम अधिकांशतः अ-भारतीय था क्योंकि ये सिद्धांत और प्रावधान भारत को एक पुरानी औपनिवेशिक शक्ति से उत्तराधिकार में मिले थे।

संविधान-सभा ने चीन व रूस के उदाहरणों को अस्वीकार कर दिया जहाँ संवैधानिक प्रियोक्ति (euphemism) के अतिरिक्त राष्ट्रीय एकता और सामाजिक पुनरुद्धार को निरंकुश साधनों से प्राप्त किया गया था। अपनी स्वतंत्रता के (२६ वर्षों) के उपरान्त भी भारतीय लोकतंत्र की अपनी रुचि के प्रति निष्ठाबद्ध रहे हैं। इसके विपरीत अन्य छोटे राष्ट्र, जहाँ निश्चिततः भारत की तुलना में समस्याओं का आधिक्य नहीं हैं, लोकतंत्र की *अनिश्चितताओं को झेलने में असमर्थ रहे है। उन्होंने निर्देशित लोकतंत्र (guided-democracy)* अथवा किन्हीं अन्य व्यवस्थाओं का आश्रय लिया है और इस प्रकार शासन में जनता के प्रत्यक्ष सहयोग की संभावनाओं को अस्वीकृत किया है।

अपने प्रारम्भिक वर्षों से ही भारतीय संविधान ने सही दिशा में कार्य किया है। इस प्रकार सविधान सभा का इसके निर्माण तथा राष्ट्र के प्रति विश्वास प्रमाणित हुआ है। यद्यपि लोकतन्त्र की सुरक्षा पूर्णतः विश्वसनीय नहीं है, तत्सम्बन्धी अनिश्चिता पर पूर्ण विजय प्राप्त नहीं की जा सकी है और सामाजिक क्रांति का लक्ष्य प्राप्त करने की ओर गति धीमी बनी हुई है, फिर भी भारत के संदर्भ में पर्सीवल स्पीयर का यह निर्णय सही है कि सम्पूर्ण संविधान की सांकेतिक सफलता के रूप में घोषणा की जानी चाहिए।[1]

जब किसी संविधान की प्रभावशीलता पर विचार किया जाए तो उससे पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि उसका वास्तविक अस्तित्व उसकी प्रयोग-विधि पर निर्भर करता है। संविधान की सफलता उसकी उन स्थितियों से संगति रखने पर भी निर्भर करती है जिनके संदर्भ में वह निर्मित हुआ है। इसके अतिरिक्त उसकी सफलता का एक मापदण्ड यह भी है कि वह अनागत भविष्य में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान करने में कितना प्रभावकारी सिद्ध होता है और उसमें उन लोगों की कितनी निष्ठा बनी रहती है जो इसके द्वारा स्वशासित होते हैं। यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है कि संविधान की भावना का झुकाव जितना अधिक जनता की ओर होगा उसमें उतनी ही अधिक उसकी निष्ठा रहेगी। इन मापदण्डों को भारत के संविधान पर लागू करने पर इनकी प्रभावशीलता का प्रमुख उदाहरण प्रधानमन्त्री नेहरू के पश्चात् उनके सहज उत्तराधिकार के रूप में मिलता है। एक चमत्कारिक व सर्वशक्तिमान नेता के पश्चात् एक साधारण व्यक्ति द्वारा उत्तरदाधिकारी बनना किसी भी अन्य व्यवस्था में कठिन है—किसी नए लोकतन्त्र में तो और भी कठिन। लेकिन मई १९६४ में नेहरू की मृत्यु के कुछ घन्टों बाद ही एक अंतरिम सरकार का गठन हो गया और दो सप्ताहों के भीतर ही कांग्रेस संसदीय दल ने अपने संगठन पक्ष की सहायता से नए नेता का चयन कर लिया जिसे राष्ट्रपति ने सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया।

भारत की लोकतांत्रिक सरकार ने जिन दुर्दमनीय समस्याओं का सामना किया है वे भारतीय संविधान की विश्वसनीयता को भी प्रकट करती हैं। इन अवसरों पर, जब राज्यों में सरकारें असफल हो गईं, वहां संकटकालीन धाराओं के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। केन्द्र ने राज्य में अपना शासन तब तक बनाए रखा जब तक कि वहां नए चुनावों अथवा किसी अन्य माध्यम से सामान्य सरकार की स्थापना नहीं हो गई। तदुपरांत केन्द्रीय शक्ति सहजता से हटा भी ली गई। भारतीय संविधान ने इस प्रकार पूर्वाभासी स्थितियों का सफलतापूर्वक सामना किया है। सन् १९६४ में उत्तर प्रदेश में राज्य विधान मंडल व उच्च-न्यायालय के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई क्योंकि उच्च-न्यायालय ने बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas corpus) याचिका द्वारा एक ऐसे व्यक्ति को रिहा कर दिया जिसको विधान मंडल के अपमान के आरोप में गिरफ्तार किया गया था। राज्य विधान मंडल व उच्च न्यायालय के बीच इस शक्ति-परीक्षण ने काफी उत्तेजना पैदा की और इसके प्रति लोगों की व्यापक दिलचस्पी प्रकट हुई। राष्ट्रपति ने संविधान की धाराओं के अनुकूल

---

[1] स्पीयर, इंडिया, पृ० ४२७

यह मामला सर्वोच्च न्यायालय को सलाहकारी मत के लिए सुपुर्द किया। सर्वोच्च न्यायालय ने उच्च न्यायालय की कार्रवाई को वैध घोषित किया। यह प्रश्न यद्यपि अभी भी अनिर्णीत है, फिर भी संविधान द्वारा उसकी दिशा निर्धारित कर दी गई है।

संविधान को भारतीय एकता के घोषणापत्र के रूप में स्वीकार किया गया है। इसकी सीमाओं के अन्तर्गत संघीय व्यवस्था के क्रियान्वयन से संबंधित संधि-वार्ताएँ हुई हैं। भाषायी आधार पर राज्य सीमाओं का पुनर्गठन संविधान में प्रदत्त भारतीय राष्ट्रवाद की परिभाषा के अन्तर्गत किया गया था। संसद् में सरकारी भाषा से सम्बन्धित सभी विचार-विमर्श भी उस संदर्भ में हुआ जिससे उत्पन्न समझौते द्वारा राष्ट्रीय एकता सुरक्षित की जा सकती थी। भारतीय संविधान ने राष्ट्रीय व्यवहार द्वारा स्वीकृत मानदण्डों की स्थापना की है।

परन्तु संविधान की महानतम् सफलता सरकारी स्तर के नीचे निहित है। इसने सामाजिक व राजनैतिक विकास ढांचा तथा राजनैतिक व्यवहार का विवेकसम्मत, संस्थात्मक आधार प्रदान किया है। यह केवल राष्ट्रीय आदर्शों की ही स्थापना नहीं करता। इसका इससे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि यह उस विवेक सम्मत, संस्थात्मक आचरण को जन्म देता है जिसके माध्यम से इन आदर्शों की प्राप्ति करना अभिप्रेत है। यह उन लोगों के संदर्भ में उल्लेखनीय प्रगति है जो पहले अधिकांशतः पारलौकिक लक्ष्यों के लिए अतार्किक माध्यमों से प्रतिबद्ध थे। संविधान में मात्र मूल अधिकार, निदेशक सिद्धान्त और राष्ट्रीय आयोजन का ढाँचा ही नही है, इसमें एक प्रत्यक्ष चुनाव-प्रणाली भी है। इसे सरकार पर दबाव डालने के एक साधन के रूप में स्वीकृत किया गया है। इस बात की पुष्टि (पाँच) बडे आम चुनावों से भी अधिक कुछ महत्त्वपूर्ण उपचुनावों द्वारा होती है। इस प्रत्यक्ष चुनाव-प्रणाली ने भारत के परम्परागत, पदसोपानिक समाज को एक नई शक्ति दी है। इस प्रकार संविधान ने लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवहार सम्बन्धी एक मानदण्ड विकसित किया है जो इस विश्वास पर आधारित है कि व्यक्ति स्वयं अपना भाग्य निर्माण कर सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि भारत में अब और उदासीनता नही है, भारतीय सामाजिक और राजनैतिक जीवन पूर्णतः लोकतांत्रिक है या भारत में संवैधानिक लोकतन्त्र के लिए कोई संकट नही है। इसका सहज अभिप्राय यह है की राजनैतिक और सामाजिक सत्तावाद के विरुद्ध एक शक्तिशाली, सकारात्मक प्रतिशक्ति की स्थापना की गई है। संविधान अब तक सफल रहा है क्योंकि जिन उद्देश्यों की इसने घोषणा की है और उनकी प्राप्ति के लिए इसने जिन माध्यमों को निर्धारित किया है उन्हें व्यापक समर्थन मिला है और उन्होंने भारतीय समाज में लाभप्रद परिवर्तन किए हैं।

अंततः यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि किसी भी संविधान की सफलता न तो इतनी सहज होती है कि उसे प्रमाणित किया जा सके और न ही उसकी असफलता को स्पष्टतः प्रदर्शित किया जा सकता है। अतः एक अर्थ से भारत मे संवैधानिक स्थिति पर किसी टिप्पणी का अभाव वस्तुतः संविधान के प्रभावशाली क्रियान्वयन का संकेत है। इसको भारत में लोकतंत्र के आधार के रूप में उसी प्रकार स्वीकृत किया गया है जिस प्रकार एक परिवार अपने उस

मकान की नीव को ठोस आधार मानता है जिसमें कि वह रहता है।

संविधान की सफलता के मूल मे अनेक कारण विद्यमान हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इस सफलता का कारण यह है कि भारतीय संविधान का उद्भव यूरो-अमेरिकन-विशेषतः ब्रिटिश संवैधानिक पूर्वोदाहरणों से निकट रूप से सम्बन्धित है। (यद्यपि इसमें सन्देह है कि कोई संविधान जो विदेशी पूर्वोदाहरणों का इतना ऋणी हो, किसी ऐसे देश के संदर्भ में उपयुक्त होगा जिसकी अपनी महान और प्राचीन परम्पराएँ हैं)। स्वतन्त्रता-पूर्व के अनुभव को भी इसका श्रेय दिया गया है जिसका सम्बन्ध संसदीय सरकार से था। इसके अतिरिक्त संविधान निर्माण काल व उसके आरम्भिक वर्षों के दौरान उपस्थित विविध बाह्य घटक भी इसके प्रति उत्तरदायी हैं, जैसे योग्य नेताओं की उपस्थिति और एक प्रबल दल-व्यवस्था।

यद्यपि इन घटकों के महत्त्व को अनिवार्यत. स्वीकार किया जाना चाहिए, इसके बावजूद भारतीय संविधान की सफलता मुख्यतः इस बात पर निर्भर है कि इसका निर्माण भारतीयों ने किया है और वह भी एक सर्वोत्कृष्ट निर्माण-प्रक्रिया द्वारा। सविधान सभा के सदस्यों ने एक ऐसे संविधान की रचना की जो राष्ट्र की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता था। उन्होंने कुशलतापूर्वक उधार ली हुई विदेशी धाराओं (संवैधानिक) का चयन किया उनमें परिवर्तन किया, और इस कार्य मे उन्हें विभिन्न विशेपज्ञों की सहायता और केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो के मन्त्रालयों का परामर्श मिला। संविधान सभा के सदस्यों ने प्रभावपूर्ण तरीके से दो पूर्णतः भारतीय विचारों—सहमति व समायोजन को लागू किया। समायोजन को संविधान में समाहित किए जाने वाले सिद्धान्तो के संदर्भ में लागू किया गया, जबकि सहमति निर्णय प्रक्रिया का वह उद्देश्य था जो सविधान सभा की प्रभावशीलता का एकमात्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत था।

भारत का मौलिक योगदान

सहमति से निर्णय

सहमति वह तरीका है जिसके अन्तर्गत सर्वसम्मति से या लगभग सर्वसम्मति से निर्णय लिए जाते हैं। यह वह तरीका भी है जिसके द्वारा एक निर्णय को वह महत्त्व प्रदान किया जाता है जो स्वयं उस निर्णय से कही अधिक होता है। यह इस तथ्य को मान्यता देता है कि बहुमत का शासन सफलतापूर्वक उन राजनैतिक संघर्षों का निबटारा नहीं कर सकता जिनसे मानवीय भावनाएँ गहरे स्तर पर जुड़ी होती हैं। इसको यह भी मान्यता है कि बावन व्यक्तियों द्वारा शेप अड़तालीस व्यक्तियो पर अपनी इच्छा थोपने की प्रवृत्ति चाहें नैतिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण न हो, लेकिन राजनैतिक दृष्टि से यह अबुद्धिमत्तापूर्ण अवश्य है। सहमति एक ऐसी अनुभूति को स्थान देती है जो इस तर्क पर आधारित है कि कोई भी निर्णय उस स्थिति में राजनैतिक व मौलिक दृष्टि से अधिक सशक्त होगा जब उसके

सम्बन्ध में सौ व्यक्तियों मे से नब्बे में परस्पर सहमति होगी।[२] संविधान सभा के सदस्यों ने इसकी सार्थकता को समुचित रूप से समझा और तदुपरांत अपनी शक्ति इस दिशा में इस विश्वास के साथ लगा दी कि सहमति द्वारा निर्मित संविधान प्रभावपूर्ण तरीके से कार्य करेगा और स्थिरता देगा। उनके प्रयास सफल हुए। तीसरे वाचन के दौरान संविधान सभा के सदस्यो मे से अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र विचार वाले सदस्य, ठाकुरदास भार्गव ने कहा, 'मुझे वास्तव में काफी प्रसन्नता है कि हम सर्वसम्मति से एक भव्य संविधान का निर्माण कर सके है।[३] यद्यपि यह अतिशयोक्तिपूर्ण कथन है लेकिन इससे उस व्यापक सहमति का आभास होता हैं जिसके द्वारा संविधान सभा ने अपना कार्य सम्पादित किया।

भारत मे सहमति की जड़ें गहरी है। परम्परागत रूप से ग्राम-पचायतें सहमति द्वारा निर्णयो तक पहुँचती थी। यद्यपि व्यवहार में अक्सर यह प्रक्रिया अधिक समर्थ सदस्यो द्वारा अपने हित में नियंत्रित की जाती थी, फिर भी यह आदर्श विद्यमान था। यह आज भी है। जाति पचायतों ने सहमति द्वारा निर्णय लेने की नीति को प्रभावशाली तरीके से बनाए रखा है। निश्चित रूप से भारतीय एकपक्षीय निर्णय लेने की बजाय समस्याओं पर देर तक विचार-विमर्श करना पसन्द करते हैं। इस प्रकार सहमति को संविधान सभा मे सामान्य समर्थन प्राप्त था। नेतृत्व की दृष्टि से यह स्थायी समझौते के लिए एक नैतिक व प्रभावपूर्ण तरीका था और सामान्य जनों के लिए यह एक ऐसी सुपरिचित देशी संस्था थी जो भारतीय सविधान के निर्माण मे सहायक थी।

सविधान निर्माण की आरभिक अवस्था मे ही नेहरू ने सविधान सभा से आग्रह किया कि सविधान का निर्माण उपयुक्त समय में सहमति के प्रति जितनी निष्ठा सम्भव हो वह उसे देते हुए किया जाना चाहिए।[४] सदस्यो ने इस आग्रह को अपना लक्ष्य बनाते हुए, इसे विविध तरीकों से क्रियान्वित किया। इसमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान काग्रेस विधान सभा दल की बैठकों का था, जहाँ सविधान की प्रत्येक धारा पर स्पष्ट तथा खुलकर बहस होती थी और यहाँ की स्वीकृति वस्तुत: उतनी ही महत्वपूर्ण होती थी जितनी कि स्वयं संविधान सभा की। प्रत्येक वह व्यक्ति जो कि काग्रेस के टिकट से विधान सभा के लिए निर्वाचित हुआ था, इन बैठको मे उपस्थित हो सकता था। इस प्रकार इस विचार-विमर्श मे काग्रेस के दिग्गज नेताओं से लेकर गैर-काग्रेसी व्यक्तियों समेत सभी भाग लेते

---

२ के. जी. मशरूवाला ने अपने 'सम पर्टीकुलर मजेशन्स फॉर दि कान्स्टीट्यूशन' में सहमति को निश्चित स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया है। उन्होंने कहा कि उनचास लोगों पर पचास का बहुमत एक ऐसे देश के लिए अनुपयुक्त था जो एकीकृत नहीं था। उनका आग्रह था कि निर्णय सदन में उपस्थित सदस्यों की सहमति पर आधारित होने चाहिए और असहमति अनुपात कुल सदस्य संख्या के ३५% से अधिक नहीं होना चाहिए। यह स्थिति बहुमत की निरंकुशता को समाप्त कर सकती है।

३ सी० ए० डी० XI, ५, ६८२

४ सी० ए० डी० II, ३, २६६

थे। गैर-कांग्रेसी व्यक्ति जैसे अय्यर, अम्बेडकर तथा एन० जी० अय्यंगर आदि इस आधार पर आमंत्रित किए जाते थे क्योंकि नेतृत्व का यह विश्वास था कि इन लोगों की प्रतिभाओं का उपयोग किया जाना चाहिए। सभा की कमेटी व्यवस्था, सभा में प्रान्तीय व केन्द्रीय सरकार के नेताओं के बीच संवाद, विभिन्न सरकारों के मध्य पत्र-व्यवहार और सभा के नेताओं तथा विरोधी सदस्यों के बीच रिकॉर्ड के अतिरिक्त हुआ विचार-विमर्श, ये सभी गतिविधियां इसी प्रक्रिया का अंश थी। इन सब का उद्देश्य एकता की दिशा मे एक विवेकी व न्यायोचित दृष्टि का विकास करना था।

सहमति द्वारा निर्णय लेने के प्रारम्भिक उदाहरण सभवतः संविधान के संघीय व भाषायी प्रावधान थे। सविधान सभा ने भारतीय सघीय सरचना के सम्बन्ध मे विस्तृत विचार-विमर्श किया जो १९४७ की वसन्त ऋतु मे यूनियन पॉवर्स कमेटी की बैठक से लेकर नवम्बर १९४९ तक चला। इन सवैधानिक प्रावधानो के प्रति केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के प्रतिनिधियों की संतुष्टि आवश्यक थी क्योकि न तो प्रान्तों को भारत से पृथक होने का अधिकार था और न ही संघवाद अवपीड़न (coercion) से चल सकता था। इसलिए प्रान्तीय राजनैतिक विभूतियों को महत्त्वपूर्ण समितियों में स्थान दिया गया था और सभी प्रमुख निर्णयों में भी उनका हाथ था। उदाहरण के लिए यूनियन पॉवर्स कमेटी में उत्तरप्रदेश के मुख्य मंत्री (premier) पंत व राज्यों के तीन प्रमुख प्रतिनिधि मित्तर, वी० टी० कृष्णामाचारी व रामास्वामी मुदालियर सम्मिलित थे। प्राविंशियल कॉन्स्टीट्यूशन कमेटी में दो प्रान्तीय मुख्य मंत्री, उड़ीसा के महताव व बम्बई के खेर तथा प्रमुख प्रान्तीय कांग्रेसी जैसे बियानी, उज्जलसिंह, देव, दिवाकर तथा नागप्पा थे। परन्तु संघीय प्रावधानों के निर्माण में अधिक महत्वपूर्ण स्थान उन बैठकों की शृंखला का था जो समय-समय पर ड्राफ्टिंग कमेटी, यूनियन पॉवर्स कमेटी, व केन्द्रीय मंत्रिमंडल के सदस्यों (और उनके विभागीय सचिवो) तथा प्रान्तीय मुख्य मत्रियों, वित्त मंत्रियो व शिक्षा मन्त्रियों के बीच हुई थी। जुलाई १९४९ के अंत में हुई बैठकें इसी प्रयास का अतिम परिणाम थीं।

संविधान की संघ सम्बन्धी धाराओं पर समझौते के उद्देश्य से उससे सम्बधित कई प्रश्न मत्रिमडल को भेजे गए। शिक्षा के क्षेत्र में एक समान राष्ट्रीय मानक (standard) द्वारा केन्द्रीय शक्तियों में अभिवृद्धि के आजाद के प्रस्ताव पर मंत्रिमंडल में पहले विचार विमर्श हुआ था तत्पश्चात् जुलाई में प्रान्तीय मुख्य मंत्रियों व केन्द्रीय नेताओं की एक बैठक में उस पर अंतिम सहमति हुई। रेलवे की सुरक्षा भी केन्द्रीय अधिकार का प्रश्न बना। यद्यपि 'रेलवे' प्रस्तावित केन्द्रीय विषय-सूची का विषय था, फिर भी रेलवे पुलिस एक राज्य विषय था। परन्तु केन्द्रीय रेलवे मंत्रालय रेलवे की सुरक्षा के लिए पुलिस तैनात करने के विषय मे संवैधानिक सत्ता चाहता था। गृहमंत्रालय ने इस पर आपत्ति की क्योंकि उसका विश्वास था कि असंतोष के समय यह बेहतर होगा कि पुलिस सामान्य सेवाओं के लिए उपलब्ध रहे। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न प्रान्तीय सरकारों की शक्ति से भी प्रत्यक्षतः जुड़ा हुआ था। इस विवाद मे अवगत होने पर मंत्रिमंडल ने यह निर्णय लिया कि इस प्रश्न को जुलाई मे होने वाली प्रान्तीय मुख्य मत्रियों की बैठक मे प्रस्तुत करने के पश्चात् कोई

अंतिम निर्णय लिया जाए।[५] इस प्रश्न पर नवम्बर के मध्य में शांतिपूर्ण तरीके से निर्णय ले लिया गया। इस निर्णय के अनुसार राज्यों का रेलवे पुलिस पर नियंत्रण था लेकिन केन्द्र को भी इस संदर्भ में निर्देश देने का अधिकार था। मंत्रिमंडल ने संकटकालीन धाराओं के निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी, जैसे संविधान के प्रारूप के अन्तर्गत समाहित धारा १८८ के सम्बन्ध में इसने पुनर्विचार को स्वीकृति दी। प्रस्तावित पुनर्विचार के परिणामस्वरूप राष्ट्रपति एक प्रान्तीय सरकार के पतन की स्थिति में, बिना उस राज्य के राज्य मंडल द्वारा संकटकालीन घोषणा किए जाने पर भी संविधान को निलंबित कर सकता था। मंत्रिमंडल स्वयं इस सम्बन्ध में कोई निर्णायक भूमिका नहीं निभा सकता था लेकिन उसकी इच्छा थी कि प्रारूप समिति (Drafting Committee) इस प्रस्ताव को लागू करने के लिए इसे भली-भाँति संशोधित करे।[६] इस प्रश्न को जुलाई १९४९ में हुई प्रान्तीय मुख्यमंत्रियों की बैठक में उठाया गया और इस पर निर्णय लिया गया। मन्त्रिमण्डल ने १९४९ के प्रारंभिक ग्रीष्म काल में प्रवर सभा (Select Assembly) के मध्य अन्य सदस्यों के साथ बिक्री कर से सम्बन्धित धारा के लिए वित्त मन्त्रालय की सिफारिशों पर भी विचार-विमर्श किया। इस विचार-विमर्श से उत्पन्न प्रस्ताव को संविधान की प्रारूप समिति और प्रान्तीय प्रधान मन्त्रियों के सम्मेलन में प्रस्तुत किया जाना था।[७]सहमति द्वारा लिए गए ऐसे निर्णयों, विशेषकर संघ से सम्बन्धित वित्तीय धाराओं पर टिप्पणी करते हुए बी०जी० खेर ने कहा, 'मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है कि विवेक की विजय हुई है और हमने ऐसे सिद्धान्त विकसित किए हैं जिन्हें केन्द्र व राज्यों दोनों का व्यापक समर्थन प्राप्त है'।[८]

भाषा के प्रश्न ने संविधान सभा की निर्णयकारी व्यवस्था पर सर्वाधिक भार डाला। लगभग तीन वर्ष संविधान सभा के सदस्य एक सामान्यतः स्वीकृत सिद्धान्त की प्राप्ति के लिए प्रयासशील रहे। मुन्शी-अय्यंगर सिद्धान्त तो लगभग निराशा की स्थिति में तैयार किया गया। भाषा के प्रश्न पर हुई अंतिम बहस का समारंभ करते हुए प्रसाद ने यह घोषणा की कि वे इस प्रश्न पर मतदान की अनुमति नहीं देंगे। यदि कोई समझौता पूरे देश को मान्य नहीं हुआ तो उसका क्रियान्वयन कठिन होगा। अतः उन्होंने कहा कि इस सम्बन्ध में बहस द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचना लाभप्रद नहीं होगा।[९] हिन्दी के प्रबल समर्थकों द्वारा किसी अंतिम समझौते के प्रति उत्साह का अभाव, एक प्रकार से सभा में

५ इस सम्बन्ध में रेल मंत्रालय के एम. रामसुब्बन व एसेम्बली सचिवालय के एस. एन. मुकर्जी के बीच हुए गुप्त पत्रव्यवहार को देखें जिसमें केबिनेट की कार्यविधि का उल्लेख है (पत्र-व्यवहार की तिथि अज्ञात है परन्तु केबिनेट कार्य विधि की तिथि १३ अगस्त १९४९) लॉ मिनिस्ट्री आर्काइव्स फाइल संख्या सी. ए /६२/कान्स्टीट्यूशन/४९.

६ गृह मंत्रालय द्वारा एस. एन. मुकर्जी को लिखा गया पत्र देखें २ जून १९४९, वही, फाइल सं. सी. ए. १९/ कांस्टीट्यूशन/४९

७ वित्त मंत्रालय द्वारा सभा सचिवालय को लिखा गया पत्र, ८ जुलाई १९४९, लॉ मिनिस्ट्री आर्काइव्स

८ सी० ए० डी. XI, ५९९७

९ सी. ए. डी. XI, ३१, १३१२

निर्णयकारी प्रक्रिया की एक प्रमुख पराजय का परिचायक था। इसके बावजूद यह एक विजय थी क्योंकि यह प्रयास इस बात का भी परिचय देता था कि संविधान सभा सहमति के लिए कितनी उत्सुक थी और उसे कितना महत्त्व देती थी।

सहमति, और सामान्यतः निर्णय प्रक्रिया, मुख्यतः एकता के आदर्शवाद व कुछ निश्चित राष्ट्रीय उद्देश्यों के वातावरण का परिणाम थी। इस वातावरण के अनुकूल प्रभाव संविधान सभा पर व्याप्त थे। यह संविधान सभा नेहरू के शब्दों में एक अंधेरी घाटी से निकलकर स्वतन्त्रता की सूर्यकिरणों तक पहुँची थी। कई सदस्य तो कुछ समय पूर्व ही जेल से छूटे थे। यकायक उन्हें स्वतन्त्रता आंदोलन के स्वप्नों व आदर्शों को साकार करने वाले एक संविधान के निर्माण का अवसर दिया गया। कांग्रेस, जिसने इस राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आंदोलन को नेतृत्व दिया था—वही आज अपने स्वरूप के अन्तर्गत देश की प्रतिभा व विविधता को अभिव्यक्त करते हुए, भारत के इतिहास में पहली बार उसे सम्पूर्णता प्रदान कर रही थी। इसी कारण संविधान सभा मे दल की बैठक की अध्यक्षता केन्द्रीय सरकार का प्रधानमंत्री नहीं बल्कि कांग्रेस दल का अध्यक्ष करता था। संविधान सभा में कुछ निश्चित प्रश्नों के सम्बन्ध में नेतृत्व के दबाव के परिणामस्वरूप निर्णय हो सकता था लेकिन यह एक राष्ट्रीय भावना थी जिसने सदस्यों को उनके तीन-वर्षीय कार्यकाल के दौरान उन्हें नए भारत की नींव डालने के लिए प्रेरित किया। तात्कालिक भावनाओं व उद्देश्यों की प्रतीक एक फिल्म भी थी जिसका नाम 'शहीद' था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की कहानी पर आधारित इस फिल्म ने काफी भीड़ आकर्षित की।

इसके बावजूद यह अनुमान करना असंगत होगा कि संविधान सभा के सदस्य प्रत्येक अवसर पर सद्भावनापूर्वक अवश्यम्भावी निष्कर्षों तक पहुँच जाते थे। सहमति, यहाँ तक कि एक सीमित आधार का समझौता भी अत्यधिक प्रयत्नसाध्य परिणाम होता था और उसके लिए राजनैतिक तकनीकों के वर्गीकरण का प्रयोग किया जाता था। संविधान सभा के सामान्य जन यद्यपि असामान्य क्षमता के व्यक्ति थे फिर भी उन्हें नेतृत्व की आवश्यकता थी।[10] नेतृत्व के दर्शन को सभवतः असामान्य पितृ-सुलभ विधि से एन०जी० अय्यंगर ने अभिव्यक्त किया था। बी०एन० राव को एक पत्र में उन्होंने लिखा 'मेरा विश्वास है कि इन प्रश्नों (संविधान के मूल सिद्धान्तों से संबंधित प्रश्नों) पर प्रारम्भिक निर्णयों के पश्चात् उन पर जनता के कुछ चुने हुए लोगों द्वारा, जिनमें दल के सदस्य भी हैं, विचार-विमर्श होगा और आप ऐसे व्यक्तियों की सहायता से इस प्रश्न से सम्बद्ध सभी पक्षों की जांच होगी। वस्तुतः इस सम्बन्ध में लोकमत को एक दृढ़ नेतृत्व व कुशल निर्देशन दोनों की आवश्यकता होती है।'[11] स्वल्पतन्त्र (Oligarchy) तथा 'विशेषज्ञों' ने यह नेतृत्व

---

१० कई भूतपूर्व संविधान सभा सदस्यों (जो अब संसद् सदस्य हैं) व अन्य प्रेक्षकों (जिन्होंने दोनों परिषदों का कार्य संचालन देखा है) के अनुसार वर्तमान संसद् की तुलना में संविधान सभा का क्षमता स्तर अधिक ऊँचा था।

११ बी. एन. राव को एन. जी. अय्यंगर का पत्र २१ मार्च १९४७, लॉ मिनिस्ट्री आर्काइव्स, फाइल सख्या सी. ए. /१८/कांस./४७

का समावेश इन दोनों व्यक्तियों के संयुक्त प्रभाव का संभवत. सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

परन्तु नेहरू व पटेल ही संविधान सभा मे एकमात्र शक्तिशाली व्यक्ति नही थे। इस अल्पतन्त्र में उनके कुछ अन्य सहयोगी भी थे, जैसे आज़ाद और विशेषकर प्रसाद, जिनका अत्यधिक प्रभाव था। प्रसाद इस प्रभाव का प्रयोग खुल कर नहीं कर सकते थे क्योंकि उनके द्वारा संविधान सभा की अध्यक्षता इसमे व्यवधान डालती थी। परन्तु पार्श्व से उनके द्वारा दिए गए सुझावो मे काफी दम होता था। मूलत एक अनुदार (Conservative) व्यक्ति होने के कारण उनकी सहानुभूति अधिकांशतः पटेल से होती थी और प्रान्तों के प्रमुख व्यक्ति उदाहरणार्थ पुरुषोत्तमदास टंडन प्रसाद के माध्यम से अपने विचार संविधान सभा के नेताओं के अतःकेन्द्र तक पहुँचाते थे। विभिन्न विषयों पर प्रसाद के पक्ष को निर्धारित कर पाना कठिन है लेकिन कुछ प्रश्नों, जैसे मुंशी-अय्यंगर भाषा सिद्धान्त के विषय मे उनके नियमन सम्बन्धी निर्देश अनुदारवाद से प्रेरित होते थे। प० पंत, जोकि संविधान सभा में प्रान्तीय मुख्यमन्त्रियों के अनौपचारिक प्रवक्ता थे, इस अल्पतंत्र के अत्यधिक निकट थे। पंत ने संघीय प्रावधानो, और कुछ कम अर्थों में, भाषायी तथा उचित प्रक्रिया के विवाद से संबधित प्रावधानों के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

संविधान सभा का नेतृत्व अनौपचारिक रूप से अपनी सत्ता का प्रयोग राजनैतिक शक्ति व व्यक्तिगत लोकप्रियता तथा औपचारिक रूप से संविधान सभा के दलीय सचेतक (Whip) द्वारा करता था। सचेतक का प्रयोग दिसम्बर १९४६ मे संविधान सभा के प्रथम सत्र से किया गया और तत्पश्चात् उसका निरन्तर प्रयोग किया जाता रहा। इन सचेतकों का प्रयोग एक, दो अथवा तीन पंक्ति के सचेतकों के स्वरूप में नही था। ये उन प्रावधानों व संशोधनों की मात्र अनुलिपित्र (mimeographed) सूची थे जिन्हे संविधान सभा मे प्रस्तुत करने के उपरान्त स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करना होता था। उन पर मुख्य सचेतक सत्यनारायण सिन्हा द्वारा हस्ताक्षर होते थे। इस सचेतक के पीछे दलीय अनुशासन की शक्ति थी। यद्यपि यह सचेतक अधिकांशतः किसी प्रश्न पर संविधान सभा में होने वाली बहस को नहीं रोकता था, लेकिन इस प्रश्न पर होने वाले मतदान को यह सामान्यतः अवश्य नियंत्रित करता था। वे सभी सदस्य, जो संविधान सभा के लिए कांग्रेसी टिकट के आधार पर निर्वाचित होते थे, चाहे वे कांग्रेस दल के सदस्य हो या नही, इस अनुशासन के अधीन थे। अनेक अवसरों पर तो इसने पं० पंत जैसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो को भी चुप रहने के लिए बाध्य कर दिया और टंडन को अपने विश्वासो की रक्षा के लिए संविधान सभा के दल से त्याग पत्र देना पड़ा क्योंकि उन्होने मुंशी-अय्यंगर भाषा सिद्धान्त पर मतदान के समय सचेतक को मानने से इंकार कर दिया था। यह सचेतक वह व्यवस्था थी जिसके द्वारा नेतृत्व संविधान सभा के व्यवहार, विशेषकर बैंक बेंचर सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करता था। लेकिन इसकी ब्रिटिश ससद् अथवा वर्तमान लोकसभा के तीन-पंक्ति के सचेतक से तुलना करना असगत होगा। इनमें और वर्तमान संसदीय सचेतको मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि इस सचेतक का बिना किसी दण्ड के उल्लंघन किया जा सकता था। कांग्रेस दल के पं० कुंजरू, एच० वी० कामथ, एस०एल० सक्सेना, ठाकुरदास भार्गव व अन्य कई सदस्यों ने बार-बार इस सचेतक का उल्लंघन किया। एक अवसर पर कामथ

व सक्सेना के विरुद्ध अनुशासन कार्रवाई की योजना तैयार की गई लेकिन इसे कभी भी क्रियान्वित नहीं किया जा सका।[१४] अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि पंत ने इस सचेतक का पालन किसी भय अथवा दण्ड की आशंका से नहीं अपितु अपने आत्मानुशासन के कारण किया। यह सचेतक दलीय बैठकों में लिए गए निर्णयों के माध्यम से संविधान सभा के सदस्यों के लिए एक निर्देशक का कार्य भी करता था। संविधान सभा निर्माणाधीन संविधान के प्रारूप की एक दर्जन से अधिक धाराओं पर एक बैठक में विचार-विमर्श कर सकती थी। अक्सर प्रत्येक धारा के लिए एक से अधिक संशोधन होते थे और उनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में दलीय बैठक ने कोई निर्णय लिया होता था। संविधान सभा के सदस्यों से यह अपेक्षित नहीं था कि वे इन सब को स्पष्टतः याद रख सकें। सचेतक पिछले निर्णयों के संबंध में नैत्य-संदर्भ (routine-reference) का भी हवाला देता था।

संविधान सभा की सहमति द्वारा निर्णय लेने की इच्छा के संदर्भ में सचेतक ने अपना काफी महत्त्व खो दिया क्योंकि अपने सर्वाधिक दृढ स्वरूप के बावजूद सचेतक संविधान सभा के दल की बैठकों में निर्णयों से पूर्व हुई लम्बी बहस के बाद रिकॉर्ड करते थे। इस विचार-विमर्श में प्रत्येक को अपनी बात कहने का अवसर मिलता था। अम्बेडकर जैसे विशेषज्ञ, मथाई जैसे केन्द्रीय मन्त्री, नेतृत्त्व क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य प्रभावशाली व्यक्ति, बैक बेंचर सदस्य तथा नेता सभी अपनी बात सभा के सम्मुख रख पाते थे। इस विचार-विमर्श के दौरान संविधान सभा के सामान्य जनों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की यद्यपि वे संविधान निर्माण की जटिलताओं से अधिकांशतः अपरिचित थे। कई प्रश्नों पर, विशेषकर तकनीकी प्रश्नों पर उन्होंने स्वेच्छापूर्वक नेतृत्त्व का अनुसरण स्वीकार कर लिया। लेकिन उनकी रुचि के प्रश्नों पर उन्होंने विचार-विमर्श में सक्रिय भाग लिया और कई अवसरों पर नेतृत्त्व पर अपनी इच्छा आरोपित की। इस संदर्भ में भाषा व भाषाई प्रान्तों का प्रश्न, मूल अधिकार व निदेशक सिद्धान्त, संविधान की व्यवस्थापिका व कार्यपालिका से सम्बन्धित प्रश्न तथा कई अन्य प्रश्न उल्लेखनीय हैं।

संविधान सभा में लगभग दो सौ पचास सदस्यों ने भाषण दिए जिनमें से दो सौ से अधिक सदस्य सक्रिय रूप से बोले। एकसमान विचार वाले सदस्य संघीय, भाषायी अथवा मूल अधिकार सम्बन्धी प्रावधानों पर अपनी इच्छाओं का प्रभावशाली दबाव डालने के लिए कई अवसरों पर नेहरू व पटेल के इर्द-गिर्द एकत्रित हुए। इसके अतिरिक्त उन्होंने उन लोगों के इर्द-गिर्द भी जमाव किया जो नेतृत्त्व से बाहर थे जैसे कुंजरू, टंडन, मन्थानम् और ठाकुर-दास भार्गव। एक गुट ने संविधान की विभिन्न धाराओं पर हुई बहस में लगभग स्थायी योगदान दिया। उन्होंने तीन वर्ष के दौरान न केवल सक्रिय रूप से बहस में हिस्सा ही लिया बल्कि संविधान के प्रारूप के लिए कई संशोधन लिखित रूप में भी प्रस्तुत किए। इस गुट के सदस्य अपने को 'कैनिंग लेन गुट' कहते थे, क्योंकि वे संविधान सभा की बैठक में भाग लेने के लिए कैनिंग लेन से आते थे, जहाँ वे ठहरे हुए थे। यह कैनिंग लेन कर्जन रोड से मिलती थी जहाँ से कॉन्स्टीट्यूशन हाउस अधिक दूर नहीं था। इसी स्थान पर संविधान सभा

१४ दि हिन्दुस्तान टाइम्स (२३ अगस्त, १९४६) में इस विषय से सम्बन्धित समाचार रिपोर्ट देखें।

की बैठकें होती थीं। पट्टाभि सीतारमया, श्रीमती दुर्गाबाई, एम० अय्यंगर तथा ठाकुरदास भार्गव इस गुट के सदस्य थे। संविधान सभा में हुई संवैधानिक बहसों मे सदस्यों द्वारा सामान्यत: भाग लेने के बावजूद यह एक तथ्य है कि संविधान से संबधित अधिकांश कार्य लगभग पचास व्यक्तियों ने किया। इसमें भी बारह से कम व्यक्तियो ने सशक्त नेतृत्व प्रदान किया और महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए। अधिकाशत: संविधान सभा के समक्ष निर्दिष्ट दिशा मे ही कार्य करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नही होता था। फिर भी सभा के सामान्य जन नेतृत्व के निर्णयो पर केवल मोहर लगाने का ही काम नही करते थे। क्योंकि सहमति के लाभप्रद प्रभाव सम्बद्ध प्रश्नों पर सक्रिय समझौतों द्वारा ही अर्जित किए जा सकते थे। इस सम्बन्ध में प्रक्रियात्मक सहमति ही पर्याप्त नहीं थी। यदि संविधान को अक्षुण्ण रखना था तो अनिवार्यत: आधारभूत प्रश्नों के बारे में सहमति पर ही उसका निर्माण होना था। ऐसा कार्य रूप में इसलिए संभव हो सका क्योंकि संविधान सभा इस आदर्श की प्राप्ति के लिए बडे परिश्रम से कार्यशील रही।

सहमति से संबंधित एक और पक्ष की भी चर्चा की जानी चाहिए। यदि सहमति ने ने संविधान सभा की कार्रवाई में इतना विशिष्ट योगदान दिया तो उसे संविधान में स्थान क्यों नही दिया गया ? इसका संभावित कारण प० कुंजरू ने स्पष्ट किया है। उनका आग्रह है कि 'आधुनिक सरकार सहमति से संचालित नही हो सकती।'[१५] इसके अतिरिक्त इस प्रकार की धारा का निर्माण भी अत्यधिक जटिल होता। सहमति को परिभाषित करना होता (क्या यह मतदाताओं का ८५,६५ अथवा १०० प्रतिशत अनुपात होगा ?)। इससे भी जटिल प्रश्न यह था कि इसे किन विषयों पर लागू किया जाए क्योंकि संसद् के समक्ष विचाराधीन प्रत्येक प्रस्ताव तो सहमति से पारित किया नही जा सकता। इन मुख्य श्रेणियां को तो सहजतापूर्वक चुना जा सकता है जिनमें सहमति को लागू करना हो लेकिन कम महत्त्वपूर्ण विषयों का चयन संभव नही था।[१६] इन सारी परिस्थितियों के प्रकाश में सर्वाधिक उपयुक्त यही था कि जिस प्रकार संविधान सभा में सद्भावना व विवेक के आधार पर इसका प्रयोग किया गया था उसी प्रकार इसे भविष्य में भी पृथक् अवसरों के लिए छोड़ दिया जाए और उपयुक्तता के आधार पर इसका प्रयोग किया जाए।

(२) समायोजन का सिद्धान्त :—

संविधान निर्माण में भारत का दूसरा मौलिक योगदान समायोजन का है। समायोजन अनुकूलता और सामंजस्य की क्षमता है। इसका उद्देश्य सद्भावना का प्रसार करना और किसी कार्य को उसके स्वरूप में परिवर्तन किए बिना सम्पादित करना है। ये विचार

---

१५ लेखक द्वारा ली गई एक भेंटवार्ता के दौरान

१६ के. जी. मशरूवाला ने अपनी पुस्तक "सजेस्शन्स फॉर दि कॉन्स्टीट्यूशन" में उन विषयों को क्रम- पूर्वक उल्लिखित किया था, जिनके सम्बन्ध में उनकी सहमति की प्रणाली लागू होती थी। जैसाकि कहा जा चुका है, इस प्रणाली को लागू करने से सम्बन्धित वास्तविक समस्या सर्वाधिक कठिन था।

आभासित रूप में परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं—कम से कम गैर-भारतीयों, विशेषतः एक यूरोपीय अथवा अमेरिकी व्यक्ति को तो इनमे विरोधाभास प्रतीत होता ही है। भारतीय ऐसे आभासित विरोधाभासी विचारों को समायोजित कर सकते हैं। ऐसा इन विचारों को मूल्यो के पृथक् स्तरो पर रख कर, या जल-रुद्ध वर्गों में रख कर किया जा सकता है। लेकिन ये विचार पर्याप्त रूप से पृथक् होने चाहिए ताकि एक विचार दूसरे विचार से संघर्ष मे आए बिना, स्वतन्त्र रूप से अपने क्षेत्र मे काम कर सके। समायोजन समझौता नही है। यह एक विश्वास अथवा दृष्टिकोण है जबकि समझौता एक तकनीक है। समझौता दो पक्षों द्वारा अपनी-अपनी ओर से दी गई रियायतो का परिणाम होता है क्योंकि इनमें प्रत्येक पक्ष अपने वाछनीय लक्ष्य के एक अश का इसलिए त्याग करता है क्योंकि वह दूसरे पक्ष के हितों के विरुद्ध होता है। यह दोनो पक्षो द्वारा मान्य एक मध्य-मार्ग की तलाश है। संविधान के मापायी अध्याय की धाराएँ एक समझौता हैं।

समायोजन के अन्तर्गत विचार और दृष्टिकोण यद्यपि परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं लेकिन वस्तुतः वे अखण्डित रहते हैं। वे समझौते द्वारा नष्ट नही किए जाते बल्कि उनसे एकसाथ काम लिया जाता है। इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है:

"भारतीय गतिविधियों के प्रत्येक क्षेत्र की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता दो विरोधी मतों अथवा कार्यों में सामजस्य की दिशा मे सतत् प्रयास करना, एक कार्यशील समझौते की खोज करना तथा कालो और गोरों के सदर्भ मे मानव स्थिति को देखने की प्रवृत्ति से बचना है जैसाकि भारत के दार्शनिक राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने कहा है: स्थितियो को इस अथवा उसके संदर्भ मे ही क्यो देखा जाए? इन दोनों की उपलब्धि के ही प्रयास क्यो न किए जाए"? १७

लेखक विपयानुभवी है लेकिन उसने समायोजन व समझौते में अतर नहीं किया है। एक अन्य लेखक इस बात से सहमत है कि समायोजन संभवतः भारतीय प्रकार के चिंतन को प्रतिबिम्बित करता है और उसे राजनैतिक व्यवहार की भारतीय परम्परा के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।१८

सविधान सभा का सहमति के प्रति दृष्टिकोण यह था कि उसने प्रक्रियात्मक तकनीको के सम्बन्ध मे उसे समायोजित किया। बहुमत का शासन अर्थात् मत द्वारा निर्णय और सहमति द्वारा निर्णय—ये दो परस्पर विरोधी विचार हैं। संविधान सभा की सहमति द्वारा निर्णय लेने की इच्छा थी लेकिन स्पष्टतः संवैधानिक धाराओं का प्रत्येक भाग इस प्रकार तैयार नही हो सकता था। इसके अतिरिक्त, सविधान सभा एक ससदीय संस्था थी जिसका उद्देश्य एक ऐसी संसदीय लोकतात्रिक व्यवस्था के लिए सविधान का निर्माण करना था जहाँ संख्यात्मक अनुपात शासन का आधार होता है। इस स्थिति मे सहमति किस प्रकार

---

१७ वीरा एम. डीन. न्यू पैटर्न्स ऑफ डेमोक्रेसी पृ॰ २

१८ फ्रासिस कारनेल, पोलिटिकल आइडियाज एण्ड आइडियोलॉजीज़ इन साउथ एण्ड साउथ-ईस्ट एशिया, एस. रोज़ (सपादित) पॉलिटिक्स इन सदर्न एशिया का अध्याय XIV, पृ॰ २८२

अर्जित की जा सकती थी ? संविधान सभा ने इस समस्या का समाधान इससे दो स्तरों पर सामना करके किया : कम महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सहमति अर्जित की जा सकती थी लेकिन यदि आवश्यक हो तो मतदान का भी प्रावधान था परन्तु महत्त्वपूर्ण विषयों पर सहमति द्वारा ही निर्णय लिए जाने थे।

भारतीय संवैधानिक ढांचा महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में समायोजन के सिद्धान्त का एक अच्छा उदाहरण है। शासन की संघीय और एकात्मक व्यवस्थाएँ आभासित रूप से परस्पर विरोधी हैं। अमेरिकी या ब्रिटिश विधि-विशेषज्ञ के मत में किसी संविधान को या तो संघीय होना चाहिए या एकात्मक। परन्तु भारतीय संविधान परिस्थितियों के अनुकूल संघीय अथवा एकात्मक है। राष्ट्रमंडल में भारतीय सदस्यता का प्रश्न इसी प्रकार का एक और उदाहरण है। १९४६ में संविधान सभा ने यह निर्णय लिया कि भारत एक गणतंत्र होगा। इसके बावजूद १९४९ में सभा ने यह निर्णय भी लिया कि भारत एक ऐसे संगठन का सदस्य होगा जिसके सर्वोच्च पद पर ब्रिटिश सम्राट था। इस प्रकार भारत वह पहला राष्ट्र था जिसने गणतन्त्रवाद व राजतन्त्र के मध्य सामन्जस्य स्थापित किया। ऐसा उस समय किया गया जब आयरलैंड राजतंत्र के अवांछनीय प्रतीक के प्रति विद्रोह कर राष्ट्र-मण्डल से पृथक् हो रहा था और प्रतिक्रियास्वरूप स्वयं को एक गणतंत्र घोषित कर रहा था।[१९] भारत ने इन दोनों स्थितियों से इस दृष्टिकोण से सामन्जस्य किया कि उसकी सम्प्रभुता और 'सहयोग के प्रतीक के रूप में व उसी स्थिति में राष्ट्रमण्डल के अध्यक्ष के रूप में' ब्रिटिश सम्राट को उसके द्वारा दी गई मान्यता—ये दो बिल्कुल पृथक् चीजें हैं।[२०]

पंचायत की समस्या का समाधान भी समायोजन पर आधारित था। संविधान सभा के नेताओं ने पंचायती सम्बन्धी माँग के समर्थन को गाधीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत अनुमोदित पूर्णतः अप्रत्यक्ष सरकार के प्रति समर्थन से सफलतापूर्वक अलग किया और इस प्रकार पंचायत के समर्थकों व एक प्रत्यक्ष संसदीय संविधान के प्रतिपादकों के बीच किसी प्रमुख संघर्ष की संभावना को समाप्त किया। लेकिन फिर भी प्रशासकीय विकेन्द्रीकरण बनाम केन्द्रीकरण के संदर्भ मे पंचायती विकास की माँग विद्यमान थी। नेहरू, और वस्तुतः संविधान सभा के सभी सदस्यों ने इस आवश्यकता का समर्थन किया कि एक सशक्त केन्द्रीय सरकार होनी चाहिए लेकिन उन्होंने इसके साथ ही यथासंभव विकेन्द्रीकरण का भी समर्थन किया। क्या इन दो परस्पर विरोधी विचारों को समायोजित किया जा सकता था ? स्वतन्त्रता में काफ़ी समय पूर्व यह प्रश्न कांग्रेस के सम्मुख था और नेहरू व गांधी दोनो के लिए भी महत्त्व का विषय था। अब संविधान सभा को इसका उत्तर देना था।

संविधान सभा ने दोनों सिद्धान्तों को भारतीय संविधान में स्थान देकर और उन्हें शासन के भिन्न स्तरों पर क्रियान्वित कर इस उलझन का समाधान किया। केन्द्रीकरण को एक

---

१९ इस प्रश्न के निश्चयात्मक प्रस्तुतीकरण के लिए देखें के० सी० व्हेयर, दि कॉन्स्टीट्यूशनल स्ट्रक्चर ऑफ द कॉमनवेल्थ पृ० १५३–१५५

२० वही पृ० १५४

संवैधानिक सिद्धान्त बनाया गया और उसका प्राथमिक कार्य केन्द्र व प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्धों को प्रभावित करना था। विकेन्द्रीकरण को प्रान्तीय सरकार के स्तर के नीचे कार्य करना था और सम्बन्धित अधिकांश व्यवस्थापन प्रान्तीय विधान मंडलों को करना था। संविधान की धारा ४० इन दोनो विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों को समायोजित करने की एक सजग व्यवस्था थी। १९५० के बाद से हुआ पंचायती विकास यह प्रमाणित करता है कि वह व्यवस्था सफल हो सकती है।

संविधान सभा द्वारा वर्तमान संविधान का अंगीकरण समायोजन का सम्भवतः सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण है। किसी भी नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देश के निवासियों का, विश्व की दृष्टि में और स्वयं अपनी दृष्टि में पहला कार्य अपने राष्ट्र से तादात्म्य तथा अपना अस्तित्वकारण (Raisond'etre) स्थापित करना होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने अन्य साथियों से स्वयं को स्वतन्त्र व्यक्तित्व के आधार पर पृथक् करने की इच्छा रखता है उसी प्रकार की इच्छा एक नवजात राष्ट्र की भी होती है। भारत इसका अपवाद नहीं था। संविधान सभा के प्रथम सत्र में सदस्यों को सम्बोधित करते हुए नेहरू ने कहा : "यह सर्वथा वांछनीय है कि हम स्वयं अपने को, उन लोगों को, जो इस सभा को देख रहे हैं, इस देश के उन लाखों लोगों को जो हमसे कुछ आस लगाए बैठे हैं, तथा सम्पूर्ण विश्व को इस बात का संकेत दे कि हम क्या कर सकते हैं, क्या उपलब्ध करना चाहते हैं और हम किधर जा रहे हैं।"[२१] भारत में राष्ट्रीयता की पुनःस्थापना की कुछ अधिक आवश्यकता थी क्योंकि अंशतः इस देश में अत्यधिक अंग्रेजियत थी। कुछ संविधान सभा के सदस्यों का यह विश्वास बन गया था कि भारतीय संस्थाओं में भारतीयता का इतना अधिक अभाव है कि इसकी पुनःस्थापना के लिए एक विशेष प्रयास करना होगा।

भारतीय होने की महत्ता को महसूस करने के पश्चात् संविधान सभा के सदस्य एक ऐसे संविधान से किस प्रकार संतुष्ट हो सकते थे जिसके राजनैतिक सिद्धान्त और यहाँ तक कि धाराएँ भी लगभग पूर्णतः यूरोपीय अथवा अमेरिकी उद्गम की थीं? सदस्यों का बहुमत ऐसा इस सहज कारण से कर सका कि इन दोनों स्थितियों में कोई विरोध नहीं है। के० सी० शर्मा ने कहा कि 'कोई भी संविधान असम्पृक्त रूप से अस्तित्व में नहीं रह सकता। यह सही है कि हम दूसरों के अनुभवों तथा ब्रिटिश व अमेरिकी संविधानों से लाभान्वित हों।[२२] कई सदस्यों का यह भी विश्वास था कि भारतीयता व मूलतः एक गैर-भारतीय संविधान की आभासित असंगति के बीच सामन्जस्य संविधान की भारतीय प्रकार से क्रियान्विति द्वारा स्थापित किया जा सकता है। इस तथ्य ने कि आयरलैंड के संविधान की धारा को भारतीय स्थितियों का सामना करने के लिए संविधान में स्थान दिया गया, उक्त धारा को और

---

२१ सी. ए. डी. I, ५, ५६ प्रोफेसर बर्लिन ने आधुनिक युग की राष्ट्रीय भावनाओं के स्रोतों का उल्लेख करते हुए 'अपने राष्ट्र, वर्ग, या गुट' के "व्यक्तित्व" को आरोपित करने की 'इच्छा' को एक स्रोत माना है। बर्लिन, टू कॉन्सेप्ट्स. पृ. ४५.

२२ सी. ए. डी. X, ५, ६७७

अधिक प्रभावशाली रूप से भारतीय बना दिया । आधुनिक संविधान की तकनीकें सच्चे भारत को सुरक्षित रखेंगी। सेठ गोविन्ददास, जो दृष्टिकोण से निश्चिततः कट्टर हिन्दू थे, इस बात पर विश्वास रखते थे :

> मैं नहीं सोचता कि हम में से कोई आज के भारत को ऋग्वैदिककालीन भारत में परिणत कर सकता है।" हिन्दी में बोलते हुए सेठ गोविन्ददास ने कहा, "लेकिन इस मत का समर्थन करते हुए साथ में मैं यह भी स्पष्ट करना चाहूँगा कि हम लोगों को उस सभ्यता और संस्कृति का त्याग नहीं करना चाहिए जो हमारे प्राचीन इतिहास की देन है। यद्यपि हमें वह सब ग्रहण करना चाहिए जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आधुनिक विश्व हमें दे लेकिन आधुनिक भारत का निर्माण इस प्रकार भी होना चाहिए जिससे हम अपनी संस्कृति व सभ्यता को कायम रख सकें।"[२३]

भारत का लम्बा गौरवशाली इतिहास एक तथ्य था जो एक गैर-भारतीय संविधान को ग्रहण करने के बावजूद भी नष्ट नहीं हुआ। जिस प्रकार इन दोनों ने समय की दो पृथक् अवस्थाएँ अधिकृत की थी उसी प्रकार उन्होंने यथार्थ के भी दो पृथक् स्तर अपनाए।

समायोजन की जड़ें भारतीय विचार-भूमि में निहित हैं। इस विचार की विशेषता यह है कि इसमें मतान्धता (Dogmatism) का अभाव है। स्पीयर ने जिसे 'हिन्दूवाद की आत्मसाती तथा समन्वयवादी विशेषताएँ'[२४] कह कर सम्बोधित किया है और जो केवल एक उदार वातावरण का ही परिणाम हो सकती थी, आज भारतीय (भारतीय मुसलमान व हिन्दू) जीवन की दृष्टि बन गई हैं। राधाकृष्णन् ने लिखा है : "भारत में धर्म मतान्ध नहीं है। यह एक तार्किक संश्लेषण है जो जैसे-जैसे दर्शन प्रगति करता है, वैसे-वैसे अपने लिए निरन्तर नए विचारों का समाकलन करता रहता है। इसकी प्रकृति प्रयोगात्मक है, अन्तिमरूपेण निर्धारित नहीं।[२५] सभी विचारों की खुली परीक्षा की ऐसी मनोवृत्ति ही समायोजन को सम्भव बनाती है क्योंकि नए विचार इतने निकट नहीं होते कि उन्हें सहजता से प्राप्त किया जा सके।

बिना मतांधता के भिन्न स्तरों पर विचार करने की क्षमता तथा संकीर्ण व्यवस्थाओं के अन्तर्गत चिंतन को सीमित न करना—ये दोनों गुण भारतीय समाज में व्याप्त थे। नेहरू ने लिखा है : पिछले हजारों वर्षों का भारतीय इतिहास भारत की एकता और उसकी संस्कृति की जीवन-शक्ति और अनुकूलनीयता को प्रदर्शित करता है।[२६] सामान्यतः भारतीयों का,

---

२३ सी. ए डी. XI, ४,६११

२४ स्पीयर, पूर्वोक्त, पृ. ३६

२५ राधाकृष्णन्, इंडियन फिलॉसोफी पृ॰ २५-२६

२६ नेहरू, यूनिटी ऑफ इंडिया, पृ. १७ यह आपत्ति की जा सकती है कि मुसलमानों को पूर्णतः समाहित करने की भारतीय असमर्थता और अततः विभाजन ने समायोजन के सम्पूर्ण विचार को अवैध ठहराया है। इस आपत्ति के दो सभावित उत्तरों में से एक अपेक्षाकृत सरल है : भारत में मुस्लिम समुदाय की पृथकतावादी प्रवृत्ति और फलस्वरूप एक पृथक सास्कृतिक व राजनैतिक इकाई के रूप में पाकिस्तान का उदय, कुंठित शक्तियों को समाहित न कर सकने सम्बन्धी हिन्दू भारत

और उसी प्रकार संविधान सभा के सदस्यों का भी, यह विश्वास था कि ये गुण एक ऐतिहासिक तथ्य तथा राष्ट्रीय शक्ति का प्रवाही स्रोत, दोनों थे। स्वभावितः उन्होंने संविधान-निर्माण में उनको प्रयुक्त किया।

चयन और परिवर्तन की कला

संविधान सभा के लिए १९४७ में नए संवैधानिक सिद्धांतों की खोज करना कठिन अथवा असम्भव था।[२७] इस दृष्टि से भारतीय संविधान, ऊपरी तौर पर एक व्युत्पन्न (derivative) संविधान है। लेकिन इस कारण यह सोचना कि भारतीय संविधान सभा मात्र एक अनुकृति थी, गलत होगा क्योंकि जिन धाराओं को अपनाया गया उनमें संविधान सभा चयन के दायित्व से मुक्त नहीं थी। इन धाराओं को इस उद्देश्य से ग्रहण करना था कि वे भारतीय स्थितियों के अनुकूल हों। संविधान सभा के कार्य सम्बन्धी किसी भी मूल्यांकन को उस कुशलता जिनके द्वारा इन धाराओं को चुना गया था और वह गुण जिसके द्वारा इनमें परिवर्तन किये गए थे —से देखना होगा क्योंकि इन दोनों में ही सृजनशीलता और मौलिकता तथा सफलता व असफलता निहित है। कालांतर में यह प्रकट हुआ है कि संविधान सभा ने सफलतापूर्वक कीमियागर की भूमिका अदा की है और उन्होंने विदेशी धातु को भारतीय सिक्कों में कुशलतापूर्वक ढाला है।

चयन और परिवर्तन का एक उदाहरण संवैधानिक संशोधन है। संविधान सभा द्वारा संशोधन से सम्बन्धित जिन तीन व्यवस्थाओं की रचना की गई थी उन्होंने उनके सम्बन्ध में की गई अवांछित भविष्यवाणी के बावजूद, संविधान को नमनीय बनाया है लेकिन साथ ही उन्होंने राज्यों के अधिकारों की भी सुरक्षा की है। उन्होंने किसी भी ऐसे देश की संशोधन प्रक्रिया की तुलना में सफलतापूर्वक कार्य किया है जहाँ पर संविधान में संघवाद और ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था संयुक्त रूप से संविधान के आधार थे। संविधान सभा की यह दूरदर्शिता विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसके अन्तर्गत उसने संसद् को भाषा के प्रश्न तथा संघ में नए राज्यों के निर्माण व प्रवेश से सम्बन्धित समस्त अधिकार सौंपे थे। इस दूरदृष्टि ने कई प्रान्तों के पुनर्गठन का पूर्वाभास कर लिया था। संविधान सभा के समक्ष पूर्वोदाहरण के रूप में १९३५ का अधिनियम तथा ब्रिटेन द्वारा सिंध व उड़ीसा प्रान्तों का निर्माण

की एक प्रमुख पराजय का परिणाम था। यह उत्तर पूर्णत: सही नहीं है और इसीलिए एक दूसरा सम्भावित उत्तर प्रकट होता है। एक नई राजनैतिक व धार्मिक शक्ति के विरुद्ध हिन्दुवाद की प्रतिरक्षात्मक प्रतिक्रिया में मुगल साम्राज्य के वैभव काल (अकबर के लोकोपकार के अन्तर्गत) के दौरान कमी आ रही थी। समायोजन हो सकता था यदि पहले यह औरंगजेब द्वारा और तत्पश्चात् १८३०-१९४७ के दौरान अंग्रेज़ों द्वारा न रोका होता।

२७ डा. अम्बेडकर का यह विश्वास था कि इतने विलम्ब से तैयार किए जाने वाले संविधान में यदि कोई नई चीज़ हो सकती है तो वह यह कि इसके (पूर्ववर्ती) दोषों को दूर करने के लिए परिवर्तनों का अवधान हो और उसे (संविधान को) देश की स्थिति के अनुरूप समन्वित किया गया हो। सी. ए. डी. VII, I, ३७

था। लेकिन उसके द्वारा ऐसे दबावों के लिए एक सुरक्षा की व्यवस्था (सेफ्टी वॉल्व) छोड़ने की दूरदर्शिता में इस तथ्य के कारण और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हुई कि उसने तात्कालिक स्थितियों के विपरीत नए राज्यों के निर्माण के लिए एक प्रक्रिया के रूप में मात्र संसदीय बहुमत प्रस्तावित करने की बुद्धिमानी की थी। इसके लिए किसी संवैधानिक संशोधन को उसने असंगत ठहराया था। यह स्थिति ऑस्ट्रेलिया व नाईजीरिया की नकारात्मक स्थिति से भिन्न है जहाँ संवैधानिक कठिनाईयों ने नए राज्यों के निर्माण में बाधाएँ उत्पन्न की हैं।

संविधान-सभा की सृजनशीलता के विरोधी जब यह तर्क प्रस्तुत करते है कि संविधान की संघीय धाराएँ १६३५ के अधिनियम पर आधारित है तब वे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान नही देते।[२८] यद्यपि दोनों संघीय व्यवस्थाओं में काफी समानताएँ हैं, इसके बावजूद संविधान सभा ने व्यवस्थापन सूची प्रणाली तथा राजस्व संग्रह व वितरण से सम्बन्धित कई धाराओं में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। इसमे भूतपूर्व देशी रियासतों को संघीय व्यवस्था मे वही स्थान दिया गया जो प्रान्तों का था, इसने संघीय ढाँचे के अन्तर्गत राष्ट्रीय आयोजन का प्रावधान रखा, और इसके अतिरिक्त इसका एक और महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि इसने राज्यों के हितों की सुरक्षा तथा राजस्व प्रावधानो की नमनीयता के लिए वित्त आयोग का निर्माण किया। यहाँ प्रासंगिक महत्वपूर्ण विषय अनुकृति अथवा परिवर्तनो का नही है। इसका सम्बन्ध इस तथ्य से है कि एक नव-स्वतंत्रताप्राप्त देशों के प्रान्तीय नेताओं ने स्वेच्छापूर्वक एक ऐसी कठोर संघवाद की व्यवस्था को अपनाया जो मूलतः एक सशक्त, केन्द्रीकृत औपनिवेशिक प्रशासन की हितसाधक के रूप में बनाई गई थी। अंग्रेजों ने भारत पर ऐसी व्यवस्था आरोपित की, लेकिन भारतीयों ने अपनी राष्ट्रीय आवश्यकता के अनुरूप अपने लिए एक सहकारी संघवाद (Co-operative federalism) को स्वीकृत किया। ऐसी व्यवस्था इस तथ्य के बावजूद अपनाई गई कि कई नवोदित राष्ट्र कठोर संघवाद को भी फूट डालने वाली व्यवस्था मानते थे।

सविधान सभा अपने पूर्वोदाहरण को अस्वीकृत करने या उनको गृहीत करने के माध्यम से सृजनशील हो सकती थी। उसने १६३५ के अधिनियम का अधिकाश भाग अस्वीकृत कर दिया जिससे कि वह भारतीयों के लिए एक ऐसे संविधान का निर्माण कर सके जो उन्हे पहली बार राजनैतिक दृष्टि से संगठित करे। जहाँ तक सविधान सभा समर्थ थी उसने भारत में साम्प्रदायिक इकाइयों तथा अन्य अल्पसंख्यकों को एकता प्रदान की। ऐसा करने के लिए उसने उन अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित विस्तृत धाराओं को अस्वीकृत किया जो यूरोप मे प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् बने संविधानों की विशेषताएँ थी और जिनसे सदस्य वी. एन. राव की 'कास्टीट्यूशनल प्रीसिडेंट्स' नामक पुस्तक तथा १६३५ अधिनियम के विकलांग पूर्वोदाहरणों के माध्यम से परिचित थे।

---

२८ इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि १६३५ के अधिनियम की संघीय व्यवस्थाएँ विभिन्न डोमिनियनो के सविधानो से व्युत्पन्न थी और यह भी कि कांग्रेस ने १६२० के दशक के दौरान भारत के लिए एक संघीय संविधान की आवश्यकता पर बल दिया था।

१९३५ के अधिनियम ने राजनैतिक सूझ-बूझ व अल्पसंख्यकों के कल्याण की वास्तविक चिंता के मिश्रण से प्रेरित होकर गुटो को राजनैतिक स्वरूप प्रदान किया और उन्हें प्रोत्साहित किया।[२९] जैसाकि विदित है, इसी अधिनियम ने व्यवसायगत प्रतिनिधित्व, पृथक् निर्वाचक वर्ग, सुरक्षित स्थानों तथा अधिक प्रतिनिधित्व (weightage) जैसी संवैधानिक व्यवस्थाओं को प्रयुक्त किया। संघीय विधान मंडल निचले तथा सैद्धान्तिक रूप से लोकप्रिय सदन में साम्प्रदायिक व व्यवसायगत प्रतिनिधित्व के लिए ग्यारह प्रकार की सुरक्षित सीटें निर्धारित की गई थीं। प्रान्तीय विधान सभाओं में सदस्य इन सीटों के लिए सामान्यतः अप्रत्यक्ष रूप से तथा निश्चित निर्वाचक-वर्ग द्वारा पृथक् रूप से निर्वाचित होते थे। इस प्रकार की गुटबन्दी को समर्थन देकर अंग्रेजों ने औपनिवेशिक शासनों के प्रन्तविरोध को अभिनीत किया। देशी बहुमत के चंगुल से देशी अल्पमत के अधिकारों की सुरक्षा के आवरण मे उन्होंने दोनो की ही स्वतन्त्रताएँ छीन ली।

राष्ट्रीय एकता के प्रसार के उद्देश्य से संविधान सभा के सदस्यो ने इन व्यवस्थाओं को अस्वीकृत किया। उन्होने निचले सदनो में अप्रत्यक्ष चुनावो के स्थान पर प्रत्यक्ष चुनावों को स्वीकार कर पृथक् निर्वाचक वर्गों के स्थान पर संयुक्त निर्वाचक वर्गों को चुना और अनुसूचित जातियों और जनजातियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी वर्ग अथवा समुदाय को अधिक प्रतिनिधित्व देना समाप्त कर दिया। जेनिंग्स के शब्दो में संविधान सभा का यह विश्वास था कि साम्प्रदायिक दावो को मान्यता देने का अर्थ साम्प्रदायिकता को शक्ति देना होगा।[३०] इस विश्वास के वशीभूत होकर उसने इन सबको समाप्त करने का निर्णय लिया। निःसंदेह विभाजन के कारण भारतीय मुसलमानों की संख्या में हुई भारी कमी ने सभा का कार्य सहज कर दिया और उसके भीषण परिणामो ने साम्प्रदायिक सद्भावना की आवश्यकता पर बल दिया लेकिन संविधान सभा की साम्प्रदायिक एकता के प्रति रचनात्मक दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि भारतीय अपने-अपने कार्यों व गतिविधियो के लिए स्वतंत्र हो गए।

संविधान सभा ने अन्य संविधानों से ली गई धाराओ को अत्यधिक कुशलता से चुना। यह कार्य बी. एन. राव की देख-रेख मे संविधान सभा सचिवालय द्वारा तैयार किये गए संवैधानिक पूर्वोदाहरणो की तैयारी द्वारा सभा की बैठकों के पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। संविधान सभा ने संविधान के निर्माण-कार्य में राव के परामर्श का कुछ समय तक स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग किया, उसके बाद वह संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में न्यूयॉर्क चले गए। संविधान सभा उन गैर-कांग्रेसियों—जैसे एन. गोपालस्वामी अय्यंगर,

---

२९ भारतीय एकता के प्रति ब्रिटेन का नकारात्मक रुख अपेक्षित था क्योंकि भारत की एकता ब्रिटिश शक्ति को एक चुनौती थी। अतः यह एक बुद्धिमतापूर्ण नीति थी वे गुटो को प्रोत्साहन दें और फिर उनमे संतुलन स्थापित करें। ब्रिटेन ने भारत मे स्वयं गुटो अथवा साम्प्रदायिकता का निर्माण नहीं किया लेकिन उनकी नीतियो व उपस्थिति ने अवश्य ऐसा किया। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि सामान्यतः स्वयं भारतीय इस विषय में अपनी विसंगति के प्रति उत्तरदायी हैं।

३० जेनिंग्स, सम करेक्टेरिस्टिक्स, पृ० ६५

अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर, तथा अम्बेडकर—पर भी अत्यधिक निर्भर थी जिन्हें कांग्रेस द्वारा संविधान सभा में लाया गया था। डॉ० अम्बेडकर के अन्तर्गत विधि मंत्रालय तथा जॉन मथाई के अन्तर्गत वित्त मंत्रालय द्वारा दी गई सहायता विशेष महत्त्व की थी। इन दोनों ने संविधान सभा के दल की बैठकों में भाग लिया ही था। कई अन्य केन्द्रीय मंत्रालयों ने भी संविधान सभा को ज्ञापन प्रस्तुत किए। संविधान सभा को प्रान्तीय सरकारों से भी सैकड़ों पत्र प्राप्त हुए थे जिनका विषय-क्षेत्र राजस्व करों से लेकर मूल अधिकारों तथा उन सुझावों तक विस्तृत था जिनमें कुछ वर्गों को अनुसूचित जाति और जनजाति में रखने की सिफारिश की गई थी। इसके अतिरिक्त संविधान सभा के समक्ष संविधान से सम्बंधित वित्तीय शक्तियों, भाषायी प्रान्तों के प्रश्न, सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों, नागरिकता सम्बन्धी धाराओं तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों के विषय में गठित की गई विशेषज्ञ समितियों के भी प्रतिवेदन थे। इन दृष्टिकोणों के निर्माण व उनकी व्याख्या को एक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हुए संविधान सभा के सदस्यों को शासन का वास्तविक अनुभव भी प्राप्त करना था। इस उत्तरदायित्व को न्यूनाधिक अंशों में सभी सदस्यों द्वारा निर्वाह होना था। इस दोहरी भूमिका से प्राप्त व्यावहारिक ज्ञान ने संविधान की सामग्री को विशेष रूप से प्रभावित किया। अनेक लोक संगठनों ने भी संविधान सभा के समक्ष अपने विचार रखे। इन संगठनों में चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इंडस्ट्रीज तथा निजी कम्पनियों, बार एसोसिएशनों, भाषायी परिषदों तथा अल्पसंख्यक वर्गों का उल्लेख किया जा सकता है। जिन व्यक्तियों ने संविधान सभा को लिखा वे मुख्यतः कानूनी जटिलताओं, भाषायी प्रश्न, मूल अधिकारों व अल्पसंख्यकों के अधिकारों में रुचि रखते थे। अंतिम दो विषयों पर हजारों की संख्या में पत्र प्राप्त हुए। कई पत्र 'कल्कि भगवान' के नाम से प्राप्त हुए जिन पर 'एस. आर. चारी—ईश्वर का अवतार' नाम से हस्ताक्षर किये गये थे।[३१] संविधान सभा सचिवालय ने लगभग सभी पत्रों की प्राप्ति-सूचना दी और अक्सर प्रारूप समिति तथा संविधान सभा के नेताओं के लिए उनका सारांश प्रस्तुत किया। संविधान पर इनके प्रभाव की जाँच कठिन है। कुछ सुझावों को तुरन्त अस्वीकार कर दिया गया। एक ऐसा सुझाव चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एण्ड इंडस्ट्रीज़ से प्राप्त हुआ था जिसमें यह प्रस्तावित किया गया था कि संविधान मंडल में व्यवसायगत प्रतिनिधित्व मिले। वकीलों, न्यायाधीशों तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा अधिकार संबंधी प्रावधानों में ढील देने के लिए डाला गया दबाव फलदायक था यद्यपि यह संशयपूर्ण है कि बाहरी व्यक्तियों द्वारा व्यक्त मतों का संविधान सभा में कुछ सदस्यों द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं होता हो। ऐसा स्पष्टतः प्रतीत होता है कि संविधान सभा के सदस्य विभिन्न विषयों से संबोधित लोकमत की शक्ति के प्रति सजग थे। इस आधार पर यह कहना उपयुक्त होगा कि संविधान सभा को प्राप्त अनेकों पत्रों का प्राथमिक उद्देश्य सदस्यों को इस बात के प्रति आगाह करना था कि उनके प्रयासों पर लोगों की

---

३१ यद्यपि जनता से प्राप्त पत्र, सूचनाएं आदि विभिन्न संकलनों में उपलब्ध हैं लेकिन उनमें से अधिकांश गृह मंत्रालय के आर्काइव्स में हैं।

नज़र है और उन्हे विभिन्न प्रावधानो के निर्माण में विशेष सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। संविधान सभा के सदस्यो को संघवाद व संसदीय लोकतंत्र की उनकी पसन्द की आलोचना करने वाले बहुत कम पत्र प्राप्त हुए थे। यह इस बात का परिचायक था कि गृहीत संवैधानिक व्यवस्थाओ का विरोध कम था और लोगों की रुचि इस बात में थी कि कार्य भली-भांति हो।

यदि किसी संविधान के उद्देश्यों की उत्कृष्टता उसकी परिषद् के अभिप्राय की मापक है तो इन आदर्शों की प्राप्ति के लिए निर्धारित धाराओं की क्षमता उसकी कुशलता की मापक होनी चाहिए। संविधान सभा का यह अभिप्राय था कि भारतीय संविधान देश-वासियों को स्वतन्त्रता, समानता, भातृत्व व न्याय उपलब्ध कराएगा। कुल मिलाकर उसका यह उद्देश्य था कि संविधान के माध्यम से भारत का पुनर्जन्म होना चाहिए। पिछले चौदह वर्षों (अब छब्बीस वर्षों) की घटनाओ ने यह सकेत दिया है कि संविधान ने इन उद्देश्यों की प्राप्ति मे सहायता प्रदान की है। अत. महत्त्वपूर्ण यह नही है कि उपलब्धि-साधन विदेशी उद्गम के हैं, महत्त्वपूर्ण यह है कि उनको सुचारू रूप से स्वीकृत कर उनके द्वारा राष्ट्रीय उद्देश्यो की प्राप्ति की गई है।

संविधान की आलोचनाएं

संविधान सभा के सभी सदस्यो का यह विश्वास नहीं था कि विदेशी पूर्वोदाहरणों को भारतीय आवश्यकताओ के अनुरूप ढाला जा सकता है। कुछ का यह मत था कि एक संविधान जो 'अ-भारतीय' है और अपने सिद्धान्तों में न सही तो कम से कम स्वरूप में विदेशी है, सफल नही हो सकता। इसके बावजूद कुछ विद्वानों, विशेषकर ब्रिटिश संविधान वेत्ता सर आइवर जेनिंग्स ने, भारतीय संविधान की ब्रिटिश पूर्वोदाहरणों पर निर्भरता को उचित तो ठहराया है लेकिन उनका यह तर्क है कि इन गृहीत धाराओं को भलीभांति चुना नही गया। उनके अनुसार सामान्यत. भारतीय संविधान अत्यधिक लम्बा और जटिल है। हमे इन विचारों की परीक्षा करनी चाहिए।

सर्वाधिक आशंका जिसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है, यह प्रकट की गई कि संविधान के अधिकांशतः विदेशी उद्गम होने के कारण उसे भारत में सुचारू रूप से सक्रिय नही बनाया जा सकेगा। बहस के दौरान संविधान सभा के एक सदस्य ने यह आरोप लगाया कि "उन आदर्शों का भारत की मूल भावना से कोई प्रत्यक्ष संबंध नही है जिनसे संविधान का यह प्रारूप तैयार हुआ है। मैं यह विश्वास दिला सकता हूँ कि यह संविधान उपयुक्त सिद्ध नही होगा और जैसे ही इसे क्रियान्वित किया जाएगा, यह विघटित हो जाएगा।[32] एक अन्य सदस्य ने इस बात पर दुःख व्यक्त किया कि 'हम वीणा अथवा सितार का संगीत चाहते थे, लेकिन हमें अंग्रेजी बैंड की धुने मिली हैं।[33] एक और सदस्य

३२ सी. ए. डी. XI, ४,६१३, एल-साहू।
३३ वही, पृ. ६१६. के हनुमन्थैया

ने संविधान की तुलना पश्चिम के दासतापूर्ण अनुकरण या उससे भी अधिक उपयुक्त रूप से पश्चिम के प्रति दासतापूर्ण आत्मसमर्पण से की ।[३४]

इन आलोचको का यह विश्वास था कि यह संविधान अ-भारतीय या भारत-विरोधी है क्योंकि इसने न तो भारत के प्राचीन ज्ञान व राजव्यवस्था को समाविष्ट किया है और न इनका प्रतिनिधित्व ही । उनके मत मे इसके द्वारा यदि भारत का मूल व्यक्तित्व नहीं, तो कम से कम विरासत तो लुटी ही थी । उनका आग्रह था कि भारत को अनिवार्यतः भारतीय संस्थाओं द्वारा शासित किया जाना चाहिए और उनके मतानुसार संविधान सभा ने महात्मा गांधी की शिक्षाओं तथा देशी संस्थाओं को भुला कर एक गलत कार्य किया था ।

इसके बावजूद उन सदस्यों ने, जिनकी यह शिकायत थी कि संविधान भारतीय प्रतिभा को प्रतिबिम्बित नही करता, गांधीवादी संविधान का भी समर्थन नही किया । साथ ही उन्होने यह भी कभी नही स्पष्ट किया कि उनका इस प्रतिभा से क्या अभिप्राय है । इसका कारण यह था कि वे इस सम्बन्ध मे स्वयं निश्चित नहीं थे । किसी ने भी सविधान सभा के कार्यकाल के दौरान या कभी उसके बाद 'भारतीय' शब्द को परिभाषित नही किया । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर०एस०एस०) व हिन्दू सभा जैसे कट्टर हिन्दू संगठनो ने भी संसदीय सरकार को इस आधार पर चुनौती नही दी कि वह रहस्यात्मक हिन्दू राज व्यवस्था के विरुद्ध हैं । स्वयं हिन्दू महासभा द्वारा प्रस्तावित सविधान अपने स्वरूप की दृष्टि से संसदीय था । यह घोषित करना कि संविधान अ-भारतीय अथवा भारत विरोधी है असंगत है, क्योंकि इस स्थिति मे ऐसे मापदण्ड का प्रयोग करना होगा जो अबतक अपरिभाषित है, भले ही वह अपरिभाष्य न हो ।

वस्तुतः अधिकाश संविधान भारतीयेतर (Non-Indian) है, लेकिन इस स्थिति में और उसके अ-भारतीय होने मे या उसकी भारतीय विचारों और कार्यों से असंगति में स्पष्टतः अंतर है । यदि संविधान और हिन्दू परम्पराओं अथवा भारतीय परम्पराओं के मूल्यों में किसी प्रकार की वास्तविक असंगति होती या यों कहा जाए कि सविधान अभारतीय होता और इसलिए शासन के आधार के रूप में अनुपयुक्त होता तो इसकी अपर्याप्तता अबतक निश्चित रूप से प्रकट हो गई होती और अनुदार अथवा प्रतिक्रियावादी जनसमुदाय ने इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया की होती । लेकिन इस प्रकार की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई है । इसके विपरीत भारतीय जनसमुदाय ने—चाहे वह मिल मजदूर हो या किसान—संविधान के उद्देश्यों को अपने बेहतर जीवन की गारंटी के रूप में तत्परता से स्वीकार किया है ।

---

३४ सी. ए. डी. VII, २,२४२, लोकनाथ मिश्रा । संविधान सभा व्यवस्थापिका के अध्यक्ष और बाद मे लोकसभा के अध्यक्ष, जी वी मावलंकर ने भी इसमे सदेह व्यक्त किया कि सविधान देश की प्रतिभा के अनुकूल है । मावलकर का यह विश्वास था कि भारत में राजनैतिक चेतना का स्तर इतना निम्न है कि यहाँ कोई लोकतात्रिक सविधान कार्यशील नही हो सकता । देखें, दि हिन्दुस्तान टाइम्स १५ सितम्बर १९४९ । स्पष्टत मावलकर नेहरू व पटेल की भाँति ऐसी बाजी खेलने के पक्ष मे नहीं थे कि एक बार लोकतात्रिक सरकार की स्थापना के बाद कालातर मे ऐसी व्यवस्था के लिए आवश्यक राजनैतिक चेतना भी आ ही जाएगी ।

ऐसे करते समय उन्होंने संभवतः इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया कि इन धाराओं का उद्गम कहाँ से हुआ है। उन्होंने इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समान उत्सुकतापूर्वक विभिन्न संवैधानिक व्यवस्थाओं जैसे वयस्क मताधिकार, न्यायपालिका, मूल अधिकारों तथा निदेशक सिद्धान्तों का प्रयोग किया है।

समस्या का केन्द्रबिन्दु यह है कि अधिकांश भारतीयों ने, चाहे वे परम्परागत जीवन को कितना भी महत्त्व क्यों न दें, उस परम्परागत राजनीति के प्रति कम रुचि प्रकट की है जिसको कुछ विशेष लोगों द्वारा बहुमत का शासन समझा जाता है। वे इन दोनों स्थितियों में कोई आवश्यक रूप से सम्बन्ध नहीं देखते। प्राप्त प्रमाण यह अधिकाधिक स्पष्ट करते हैं कि भारतीय सामान्यतः राजनैतिक व सामाजिक स्वतन्त्रता के हित में परम्पराओं के सर्वाधिक व्यक्तिगत पक्षों को समाप्त करने के अतिरिक्त अन्य सभी पक्षों के संदर्भ में लोकतान्त्रिक राजनीति का प्रयोग करना चाहते हैं। संविधान की इस आधार पर आलोचना करना कि वह भारत विरोधी है इस तथ्य की उपेक्षा करना होगा कि भारत में धर्म निरपेक्ष लोकतन्त्र के अन्तर्गत ही राजनीति के भारतीय स्वरूपों ने स्थान पाया है और आज भी सत्याग्रह, उपवास तथा विनोबा भावे के भूदान आंदोलन ऐसे राजनीति के भारतीय स्वरूप प्रचलित हैं। इन्हीं भारतीय स्वरूपों व प्रतीकों ने समन्वयवाद व समायोजन की उन भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया है जिन पर भारतीयों को गर्व है।

संविधान की सर आइवर जेनिंग्स ने विशेष आलोचना इस आधार पर की है कि वह अत्यधिक लम्बा, विस्तृत तथा दुष्परिवर्तनशील है।[३६] संविधान निश्चित रूप से लम्बा और विस्तृत तो है लेकिन उसकी दुष्परिवर्तनशीलता सिद्ध नहीं हुई है। संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों की दृष्टि में संविधान के विस्तार के अनेकों ठोस आधार थे। कई धाराओं का समावेश तो इसलिए किया गया था क्योंकि उनके विषय में यह सोचा गया कि वे आधारभूत महत्त्व की हैं और इस कारण उन्हें साधारण व्यवस्थापन के स्तर पर ही नहीं छोड़ना चाहिए। उदाहरण के लिए, लोकसेवाओं तथा न्यायपालिका से संबंधित धाराएँ इसलिए समाविष्ट की गईं कि उन्हें संसद की पहुँच से दूर रख कर उनकी स्वतन्त्रता सुरक्षित की जा सके। इस प्रकार उनके प्रति विशेष सम्मान का भाव प्रकट किया गया। संविधान में न्यायिक धाराएँ इसलिए भी रखी गईं क्योंकि संविधान सभा में यह आवश्यक निर्णय लिया गया कि उन्हें किसी न्यायालय-अधिनियम को नहीं सौंपा जाएगा। जैसाकि डॉ० अम्बेडकर ने कहा कि संविधान में इस प्रकार की धाराएँ अनिवार्यतः समाविष्ट होनी चाहिएं क्योंकि ऐसा बिल्कुल संभव है कि संविधान के स्वरूप में बिना किसी परिवर्तन के मात्र प्रशासन में परिवर्तन द्वारा ही उन्हें विकृत कर दिया जाए।[३७] इस आशंका से कि कहीं उनके अभिप्राय को नष्ट न कर दिया जाए, संविधान सभा के सदस्यों ने उन्हें संविधान में स्पष्टतः लिखित रूप प्रदान करने का ध्यान रखा। हमें संभवतः इसका आभास न हो कि

---

३५ इस प्रश्न पर विस्तृत चर्चा के लिए देखें मॉरिस जोन्स, पार्लियामेन्ट इन इंडिया, पृ० ३७–३८

३६ जेनिंग्स, सम केरेक्टेरिस्टिक्स, पृ० ९–१६

३७ सी. ए डी. VII, १, ३८ इस विषय पर डॉ. अम्बेडकर के विस्तृत विचारों को जानने के लिए प्रथम अध्याय (इसी पुस्तक का) देखें।

डॉ० अम्बेडकर का संदेह न्यायोचित था या नहीं, लेकिन क्योंकि संविधान के विस्तार ने उसकी कार्यकुशलता को प्रभावित नही किया है, इस कारण उनकी सावधानी ने कोई हानि नहीं पहुँचाई है।

संविधान सभा के सदस्यों के अनुसार संविधान में विविध विस्तार का एक अन्य कारण यह था कि उसे प्रशासनिक क्षमता को सुरक्षित रखते हुए भारत की ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय सरकार को सत्ता हस्तांतरित करने के कार्य को प्रभावपूर्ण बनाना था और स्वतंत्रता के अवसर पर उसने सवैधानिक विधि की एक सुदृढ़ व्यवस्था को विरासत में प्राप्त किया था। मुख्य सिद्धान्तो वाले एक संविधान का प्रारूप तैयार करने के उपरान्त उनको विधानों के रूप में पारित किया जाना सदस्यों के मत में यदि खतरनाक नही तो कठिन अवश्य था। ये अनिश्चितता की व्यापकता के लिए पूर्वोदाहरणों का ठोस आधार क्यों समाप्त करते? संविधान सभा के सदस्यों का यह भी विश्वास था कि संविधान का विस्तार संभवतः उसके अर्थ व उनके अभिप्राय का परीक्षण करने वाले मुकद्दमों की संख्या में वृद्धि के स्थान पर कमी करेगा। ऐसा विशेष रूप से तब सही होता जब प्रशासनिक विस्तार सम्बन्धी सवैधानिक धाराएँ १८३५ के अधिनियम से ली जाती क्योंकि कानूनी व्यवसाय के सदस्य तथा मंत्री दोनों ही उनसे भलीभाँति परिचित थे। साथ ही, संविधान मे १६३५ के अधिनियम तथा अन्य संविधानो से प्राप्त धाराओं के समावेश का यह अर्थ होता है कि तात्कालिक न्यायिक मुकद्दमें जिनसे इन धाराओं की व्याख्या होती थी, भविष्य मे भी संविधान की व्याख्या हेतु उपलब्ध होते। समय ने इन सभी अनुमानों का समर्थन किया है। सवैधानिक व्याख्या सम्बन्धी मुकद्दमो की संख्या में अनुचित वृद्धि हुई है लेकिन जब-जब ऐसा हुआ है, सर्वोच्च न्यायालय ने भारतीय पूर्वोदाहरणों के साथ-साथ अमेरिकी व अन्य देशों के मुकद्दमों का खुलकर प्रयोग किया है। भारतीय प्रशासन उल्लेखनीय रूप से प्रभावशाली इसलिए रहा है क्योंकि स्वतन्त्रता के उपरान्त उसका नए सिरे से निर्माण नहीं किया गया।[३८]

इस प्रकार समय ने संविधान से सम्बन्धित अधिकांश आलोचनाओं को गलत सिद्ध किया है। हमें इसमें संदेह नही होना चाहिए कि भारतीय संविधान एक कल्पनाशील, लेकिन साथ ही कुशल दस्तावेज था जिसकी राष्ट्रीय संवैधानिक आवश्यकताओं के सदर्भ मे यदि सर्वथा मौलिक नही तो कम से कम सृजनात्मक दृष्टि अवश्य थी। ऐसा भारत में संसदीय, लोकतांत्रिक सरकार की सफलता से सिद्ध होता है क्योंकि किसी अच्छे संविधान से बुरा शासन तो हो सकता है, लेकिन किसी बुरे संविधान द्वारा अच्छा शासन लगभग असम्भव है।

---

३८ इस सम्बन्ध मे यह सर्वविदित है कि १६४५ में कई भारतीय पाकिस्तान के उस अवसर के प्रति ईर्ष्यालु थे जिससे उसने एक राष्ट्र का निर्माण किया था और अस्तित्वप्राप्त परम्पराओं व व्यवस्था द्वारा अपेक्षाकृत भारयुक्त प्रशासन पाया था। लेकिन इसके बावजूद पाकिस्तान व अन्य कई देशो ने इस कार्य को अत्यधिक जटिल पाया है। भारत का काम सरल नहीं था। अतीत की धरोहर गुप्त रही है और अवसर उसने सहायता भी की है। हो सकता है उसे भविष्य मे छोड़ना भी पड़े। लेकिन स्वतन्त्रता के प्रारम्भिक वर्षों मे एक कार्यशील प्रशासनिक व्यवस्था निस्सदेह एक अत्यधिक प्रशंसनीय उपलब्धि है।

सफलता का श्रेय

कुछ विद्वानो ने संविधान के सफल क्रियान्वयन के लिए १९५० से वर्तमान काल तक की हितकारी स्थितियों को उत्तरदायी माना है, तो कुछ ने औपनिवेशिक काल के दौरान भारतीय समाज मे लोकतान्त्रिक अनुभवो के बीज अंकुरण को इसका कारण माना है। इसके अतिरिक्त संविधान में ससदीय लोकतन्त्र की प्रयोगसिद्ध व सच्ची संस्थाओं के प्रवेश को भी इसकी सफलता का एक कारण माना गया है। संविधान-निर्माताओं के समक्ष संविधान के प्रारूप तथा सविधान सभा के कार्य-संचालन के समय ब्रिटिश व अमेरिकी संवैधानिक पूर्वोदाहरणो का मूल्य सदा विद्यमान रहा है। विशेष रूप से १९३५ के अधिनियम का योगदान इस दिशा में उल्लेखनीय है। लेकिन यह महत्त्वपूर्ण तथ्य अक्सर भुला दिया जाता है कि उक्त अधिनियम इतना अधिक दोषपूर्ण था कि मात्र उसके कुछ अंशों को ही कुशलतापूर्वक लिया गया और संविधान सभा के सदस्यों ने उसकी अनेक मुल्य व्यवस्थाओं को नही लिया। ब्रिटिश काल के दौरान भारतीयो के लोकतांत्रिक ससदीय संस्थाओ के अनुभव व शासन मे उनके अप्रत्यक्ष सहयोग के उदाहरण ने निश्चित रूप से संविधान की सफलता की संभावनाओ को अत्यधिक बढ़ा दिया था। औपनिवेशिक शासन के इस लाभप्रद पक्ष को मुश्किल से चुनौती दी जा सकती है। इस उपलब्धि के आलोचकों को इस पक्ष से भी आँख नही मूंदनी चाहिए कि सविधान सभा ने जिस कुशलता से संविधान का प्रारूप तैयार किया, उसी ने परिणामतः भारतीयो को इतनी अच्छी तरह कार्य करने के समर्थ बनाया है।

जो लोग यह तर्क देते हैं कि परिस्थितियों ने भारतीय संविधान को सुचारु रूप से कार्य करने मे सहायता दी वे अपने पक्ष के समर्थन मे उन तीन घटकों का उल्लेख करते है जो किसी भी नए राष्ट्र की स्थिरता के लिए आवश्यक हैं। ये घटक हैं: एक चमत्कारिक नेतृत्व, जनसाधारण का दल तथा कुशल रूप से प्रशिक्षित प्रशासनतन्त्र।[३९] नेहरू व अन्य महत्त्वपूर्ण नेताओ ने अपनी राजनीतिमत्ता तथा लोकप्रियता के आधार पर भारत को एक नवीन दिशा दी है और वे स्वय प्रेरणा के लिए राष्ट्र के केन्द्र-विन्दु रहे हैं। संविधान ने अंशतः सुचारु रूप से कार्य इसलिए किया है क्योकि नेताओं को यह आभास था कि वे कहाँ जा रहे है और जनसाधारण को उनके नेतृत्व के प्रति संतोष था। एक जनसाधारण के दल ने अपने सामान्यतः स्वीकृत लक्ष्यों, सहकारी भावना पर आधारित इसके प्रयासों, तथा इसके अनुशासन (जो मुख्यतः नेताओं के प्रति निष्ठा पर आधारित होता था) के माध्यम से न केवल राष्ट्र को एक व्यापक उद्देश्य ही प्रदान किया है बल्कि उसे एकता भी दी है। कांग्रेस उच्च कमान के पास जो शक्ति व आकर्षण था उसने आज तक संघीय व्यवस्था के प्रभावशाली क्रियान्वयन में विश्वास उत्पन्न किया है। प्रशासन तन्त्र ने संविधान के निर्माण काल के दौरान व उसके अन्तर्गत सरकारी व्यवस्था को सुचारु रूप से बनाए रखा है और उसके द्वारा आधारभूत आवश्यक कार्य सम्पन्न होते रहे हैं।

---

३९ इन घटकों की सुस्पष्ट व्याख्या के लिए लेखक स्वर्गीय फ्रांसिस कॉरनेल का ऋणी है।

भारत में कभी भी लोकप्रिय विश्वास का सकट नही उपस्थित हुआ, अराजकता का यहाँ कभी प्रसार नहीं हुआ क्योंकि यहाँ सामान्य प्रशासन सुचारु रूप से चलता रहा है, राष्ट्र का उसके नेतृत्त्व के प्रति विश्वास रहा है और राष्ट्रीय विकास हेतु दल के समग्र प्रयास होते रहे हैं। इन्हीं घटकों ने भारत को विभाजन से उत्पन्न अराजकता को झेलने की क्षमता दी है। एक बार जीवन सुव्यवस्थित रूप से चलता रहे तो ससदीय लोकतन्त्र की सूक्ष्मताओं तथा संविधान-निर्माण की ऐसी विचारपूर्ण समस्याओं व प्रश्नो पर ध्यान दिया जा मकता है। यह कहा जा सकता है कि संविधान इस कारण सफल रहा क्योंकि उसकी संस्थाओं या स्वयं उस पर कोई प्रत्यक्ष प्रहार नहीं हुआ है और औपनिवेशिक अनुभव, नेतृत्त्व, एक जन साधारण के दल और प्रशासनतंत्र ने हितकारी सवैधानिक वातावरण का निर्माण किया है।

यह अनुमान करना कठिन है कि औपनिवेशिक अनुभव की सफलता के अभाव में यदि कोई संविधान लागू किया जाता तो उसका क्या भविष्य होता ? यदि भारत मे एक महान् नेता, एक जनसाधारण का दल और कुशल लोकसेवक न होते तो उस स्थिति में क्या होता ? यदि नेहरू भारतीय राजनीति मे लम्बे समय तक न रहते और परिणामतः कांग्रेसी आधिपत्य की समाप्ति हो गई होती तो क्या भारतीय संविधान इस स्थिति को झेल सकता था ?

यदि बीसवी सदी के मध्य मे उदित हुए नव स्वतन्त्रताप्राप्त देशो द्वारा लोकतान्त्रिक संविधानों को स्वीकार करना है तो हमें यह प्रश्न पूछना ही होगा। इस प्रश्न मे निहित अर्थ यह है कि यदि कांग्रेसी आधिपत्य न होता तो उसके स्थान पर कई दल एक साथ प्रभावहीन तरीके से शक्ति की खोज मे लगे होते और परिणामस्वरूप अराजकता प्रकट होती। कोई भी लोकतन्त्रीय संविधान ऐसी स्थिति मे अपना लोकतान्त्रिक स्वरूप खोकर, तथा अपने मूलरूप पर आधारित सरकारो की अयोग्यता व विनाश से स्वय को बचाकर ही अपनी रक्षा कर सकता है। अपने अनवरत अस्तित्त्व के लिए एक लोकतान्त्रिक संविधान की यह आवश्यकता होती है कि विशेषतः शासित लोगो व शासको का लोकतन्त्र मे विश्वास हो। सरकार के सदस्यो से यह अपेक्षा होती है कि वे मात्र लोकतान्त्रिक ही नही हों बल्कि प्रभावशाली शासक भी हों। एक लोकतान्त्रिक सघ एकता के प्रति इच्छा का भी पूर्वानुमान लगाता है।

इन स्थितियों का अभाव एक लोकतांत्रिक संविधान को प्राणान्तक चुनौती देता रहता है, जैसाकि १८६१ के संयुक्त राज्य या वाइमर जर्मनी में हुआ। जिन घटकों के माध्यम से भारत ने अपने सविधान की रक्षा की है उन्ही के रहते एक देश अपने संविधान का गला भी घोट सकता है जैसाकि घाना में हुआ। वहाँ एक चमत्कारिक नेता भी था तथा एक जनसाधारण का दल भी लेकिन वहाँ प्रत्येक व्यक्ति ने लोकतंत्र की मात्र दुहाई ही दी। अतः हम यह पूछ सकते हैं कि क्या भारतीय संविधान का निर्माण ऐसे नेता व सशक्त दल की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति दोनो स्थितियों से निवटने के लिए किया गया है ? इसका उत्तर यह है कि संविधान इतना ही उपलब्ध करा सकता है जो किसी परिस्थिति में सम्भव हो

सके, क्योंकि नए राष्ट्रों में लोकतंत्र मात्र एक सुविचारित खतरा है। १९६४ की घटनाएँ इस बात का संकेत देती है कि भारत में यह खतरा टल चुका है तथा भारत का संसदीय लोकतंत्र महान नेताओं की शृंखला में अन्तिम नेता नेहरू की मृत्यु झेल सकता है।

भारत में अन्य नवोदित राष्ट्रों की तुलना में सफलता की सम्भावनाएँ, असफलता की आशंकाओं से कहीं अधिक थी क्योंकि भारतीय परम्पराएँ व भारतीय समाज-दोनों लोकतान्त्रिक सरकार के अनुकूल हैं। संविधान के सुचारु संचालन के लिए औपनिवेशिक अनुभव से उतना अधिक योगदान नहीं दिया जितना कि इस तथ्य ने कि ब्रिटिश उदार लोकतंत्र की भावना व विचार के बीज ब्रिटिश शासन-काल में ही उपजाऊ भारतीय भूमि में पड़ गए थे और उन्होंने भारतीय आचरण को प्रभावित किया था। इसके अतिरिक्त यह सही है कि भारतीय चमत्कारी नेतृत्व और जनसाधारण के दल ने लोकतंत्र का मखौल उड़ाने के स्थान पर उसको सुरक्षा प्रदान की है। समस्त कारणों के साथ-साथ ये दोनों कारण भी उसी एक आधारभूत तथ्य पर निर्भर हैं कि भारतीय लोकतांत्रिक तौर-तरीकों के प्रति सजग रहे है।

सहमति का आदर्श सभी मानकों में सर्वाधिक लोकतांत्रिक है। भारत की महान्, प्राचीन तथा उदार सांस्कृतिक परम्पराओं ने सर्वाधिक प्रगतिवान् बौद्धिक विचारों को समाहित किया है। भारतीय बौद्धिक वर्ग यूरोपीय संस्कृति के आदि-प्रतिनिधियों से समान स्तर पर मिल सका था। उन्होंने सहजतापूर्वक आधुनिक सरकार व दर्शन को अपने विचारों में अनुस्यूत किया था। भारत की लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं के प्रति स्वाभाविक सजगता और उन्हें नियंत्रित करने की क्षमता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सम्पूर्ण इतिहास के उदाहरण से स्पष्ट होती है। अधिकांश राष्ट्रवादी आन्दोलन के उदाहरणों के विपरीत कांग्रेस अपने आन्तरिक संगठन की दृष्टि से लोकतांत्रिक थी। इसके आचरण की दिशा में आतंकवाद एक अपवाद था, न कि नियम जबकि समझौता वार्ताएँ एक नियम थी न कि अपवाद। स्वाधीनता के साठ वर्षों पूर्व से ही कांग्रेस ने 'लोकतांत्रिक सरकार की माँग करने के साथ-साथ उसको व्यवहार में भी परिणित किया था।

भारतीयों द्वारा अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं की अनुभूति, आधुनिक विश्व के कला व विज्ञान के क्षेत्रों में उनकी व्यवसायगत उपलब्धि और स्वशासन की उनकी क्षमता के प्रति उनके विश्वास–इन सभी ने संयुक्त रूप से सरकार के निर्माण व उसके संचालन के सम्बन्ध में उन्हें एक विवेकसम्मत दृष्टि प्रदान की। एक लोकतांत्रिक संविधान के निर्माण व उसकी मूलभूत योग्यताओं, मनोवृत्तियों तथा अनुभवों से सम्बद्ध होकर उन्होंने नियति से धैर्य व साहस के साथ साक्षात्कार किया।

Further Readings

1. *Bannerjee, A.C.* — **The Making of the Indian Constitution.** Calcutta, A. Mukherjee & Co., 1948, pp. 312-327, pp. 385-386, pp. 483-486 and pp. 522-540.

2. *Chaube,*

3. *Rau. B.N.* ; **India's Constitution in the Making** Bombay, Allied Publishers, 1960, particularly pp. 360-366.

भाग ३

राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप

भारत में धर्म-निरपेक्षता

धर्म-निरपेक्षता एक संविधानेतर विचार है। इसके बावजूद इसने भारतीय कानून व व्यवहार पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि धर्म-निरपेक्षता वस्तुतः भारत जैसे बहुलवादी समाज को, जहाँ विविध भाषाएँ, रीति-रिवाज मान्यताएँ, धर्म सम्प्रदाय आदि अस्तित्त्व मे हैं, एकता का सम्बल प्रदान करती है। यह विचार राष्ट्रीय विकास व उसके प्रति जन मानस की आस्था के प्रतीक के रूप में उभरा है।

धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप व उसके विविध आयाम, अत्यधिक विवाद का विषय रहे हैं। इस सम्बन्ध में अथक बौद्धिक चर्चा हुई है और वह अनवरत रूप से जारी है। विवाद धर्मनिरपेक्षता की भारत के सदर्भ में प्रासंगिकता अथवा अप्रासंगिकता के विषय में नहीं है, वह वस्तुतः स्वयं धर्मनिरपेक्षता के सैद्धान्तिक पक्ष के सम्बन्ध में है और यह कहना सम्भवत. अतिशयोक्तिपूर्ण न हो कि इस विवाद ने धर्मनिरपेक्षता के विचार को परिष्कृत किया है। विवाद को उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करने की दृष्टि से हमने मुख्य दो प्रतिनिधि-लेखों का चयन किया है। प्रथम लेख डोनल्ड स्मिथ का है—भारत में **धर्मनिरपेक्षता (इंडिया एज़ ए सेक्यूलर स्टेट,** प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस १९६३, पृ० ४९४-५०१) इस लेख में धर्मनिरपेक्षता को पश्चिमी दृष्टि से देखा गया है और उसे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की आधुनिकीकरण की इच्छा के समूचे सदर्भ में स्थान दिया गया है। लेखक ने धर्मनिरपेक्षता की विसगतियों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण किया है और अंततः वह धर्मनिरपेक्षता की सफलता के प्रति आशावान् रहा है। भारतीय पक्ष को प्रस्तुत करते हुए भारत के लब्धप्रतिष्ठ न्यायशास्त्री व उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश डॉ० गजेन्द्रगडकर का यह आग्रह है कि धर्म-निरपेक्षता के भारतीय स्वरूप को उसके पश्चिमी स्वरूप के समकक्ष रखना अनुपयुक्त है। एक मूल्य के रूप मे धर्मनिरपेक्षता हमारे इतिहास से सम्बद्ध रही है और उसने हमारे अतीत को प्रभावित किया है। स्वतंत्र भारत मे इसकी राष्ट्रीय विकास के संदर्भ में विशेष प्रासंगिकता है। यह लेख डॉ० गजेन्द्रगडकर के एक दीक्षांत भाषण पर आधारित है जो उन्होंने राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के अठारहवें दीक्षांत समारोह के अवसर पर दिया था (राजस्थान विश्वविद्यालय के सौजन्य से)। इन दोनों लेखों को इस आशा से पुनःप्रस्तुत किया जा रहा है कि वे धर्मनिरपेक्षता के संदर्भ में एक पूर्ण पक्ष प्रस्तुत करेंगे। —सम्पादक

५

भारत में धर्मनिरपेक्षता

भारत को धर्मनिरपेक्षता से जोड़ना लगभग विरोधाभास-सा प्रतीत होता है क्योंकि लोकप्रिय धारणाओं व विद्वत्तापूर्ण अनुसंधानों द्वारा भारतीय ऐतिहासिक सभ्यता के धार्मिक अभिमुखीकरण (Orientation) पर बल दिया गया है। आर्नल्ड टॉयनबी के अनुसार इस सभ्यता की प्रत्यक्षतः एक ऐसे दृष्टिकोण की ओर प्रवृत्ति है जो प्रबल रूप से धार्मिक है। अतः भारत सरकार की एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के निर्माण से प्रतिबद्धता को अनिवार्यतः उसकी सम्पूर्ण आधुनिकीकरण से प्रतिबद्धता के महत्त्वपूर्ण संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

भारतीय नेताओं द्वारा प्रायः इस बात पर बल दिया गया है कि उनके विचार मे धर्मनिरपेक्ष राज्य का अभिप्राय धर्म विरोधी राज्य से नहीं है। उसका सीधा-सा अर्थ धार्मिक कार्यों को राज्य के कार्य-क्षेत्र से अलग करना है। संक्षेप, में भारतीय दृष्टि में सिद्धान्ततः धर्मनिरपेक्षता राज्य व चर्च के पृथक्करण की पश्चिमी धारणा की समानुपाती है और वह भी फ्रांसीसी परम्पराओं से अधिक अमेरिकी परम्पराओं के अनुकूल है। राज्य कानूनी या संवैधानिक दृष्टि से किसी विशिष्ट धर्म के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। नागरिकता के अधिकार व कर्त्तव्य भी किसी तरह से व्यक्तिगत धर्म पर आधारित नहीं हैं और व्यक्ति को राज्य द्वारा किसी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना अपने धर्म का पालन व प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। मूल सिद्धान्त काफ़ी स्पष्ट है और भारतीय संविधान 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' शब्द का बिना प्रयोग किए हुए ही उससे सम्बन्धित मूल-भूत सिद्धान्तों का स्पष्टतः मूर्त रूप है।

इस पश्चिमी विचार को हिन्दू प्रधान एशियाई समाज में व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने मे कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं। जिस प्रकार के धार्मिक विचारों व मान्यताओं का भारत में इस समय प्रचलन है, उस स्थिति में उसे आधुनिकीकरण के अपने प्रयासो की दिशा में किस सीमा तक जाति की सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार करना चाहिए ? किस तरह सरकार समान सामाजिक कानून का निर्माण कर धर्मनिरपेक्षता की अपनी आकांक्षा को पूरा कर सकती है जबकि हिन्दू और मुसलमानों के अपने-अपने धर्म-ग्रन्थो पर आधारित

पृथक् विवाह नियम हैं और दोनों में किसी प्रकार का सामंजस्य नही है ? एक प्रजातान्त्रिक स्वतन्त्र व्यवस्था में राजनैतिक व्यवहार के अन्तर्गत धार्मिक व साम्प्रदायिक निष्ठा को सरकार किस तरह कम कर सकती है विशेषतः तब जबकि ये निष्ठाएँ परम्परागत समाज के यथार्थ का प्रतिनिधित्व करती हो ? ये सभी समस्याएँ व अनेक अन्य समस्याएँ एक धर्म प्रधान समाज में प्रजातान्त्रिक विधि से धर्मनिरपेक्षता के क्रियान्वयन मे बाधाएँ उत्पन्न करती हैं।

प्रयोग का महत्त्व

स्वतन्त्र भारत ने "धर्मनिरपेक्ष राज्य" के इस विशिष्ट आदर्श को अंगीकार किया है यही तथ्य अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। सामान्य रूप से सम्पूर्ण दक्षिण व दक्षिण-पूर्व एशिया में धर्मनिरपेक्षता के प्रति कोई निहित रुचि नही है। इस क्षेत्र व अन्य क्षेत्रो की सरकारों को वैधता प्राप्ति व राष्ट्रीय एकता के विकास जैसी गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। बीस वर्ष पूर्व पश्चिमी व एशियाई–दोनों प्रेक्षकों ने यह स्वीकार किया था कि इस क्षेत्र के नए राज्यो की मुख्य आवश्यकता तीव्र आर्थिक विकास है। लेकिन आज इस क्षेत्र में राजनैतिक विकास की अधिक गम्भीर आवश्यकता के प्रति गुरुतर सजगता है। अनिवार्यतः एक ऐसी स्थिर सरकार होनी चाहिए जिसकी वैधता व औचित्य लोकप्रिय भावना पर आधारित हो। राष्ट्रीय एकता आवश्यक है, इसका अर्थ यह है कि बहुलवादी समाज, जो संप्रभुता प्राप्त कर चुका है, उसका विकास राष्ट्र के रूप मे हो। औचित्य व राष्ट्रीय एकता के अभाव में सरकार की आर्थिक प्रगति की प्रभावशीलता निराशाजनक होगी।

इसी स्थान पर धर्म हमें पर्याप्त सहायता प्रदान करता प्रतीत होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पूरे दक्षिण व दक्षिण-पूर्व एशिया में परम्परागत हिन्दू, बुद्ध व मुस्लिम राज्यों को धर्म के साथ घनिष्ठ रूप से जोड़कर उन्हें औचित्य प्रदान किया गया। राजा धार्मिक विश्वासों का रक्षक; मन्दिरों, मठों व मस्जिदों का निर्माता तथा राजकीय वर्ग का संरक्षक था। हिन्दू परम्परा मे राजा को मानवीय स्वरूप में दैविक माना गय (मनु)। विश्व के इस भाग के अधिकांश राजनीतिज्ञों के लिए इतिहास के ये अनुभव समाप्त नही हुए थे और बड़े परिश्रम से उन्होंने अपने राज्य को धर्म के साथ सम्बद्ध रखा था। बर्मा में ऊनू ने बुद्धवाद को राज्य का धर्म बनाने के विकास की दिशा में व्यवस्था की, और १९६१ मे इस धर्म को राज्य-धर्म बनाने के आशय से सम्बन्धित एक संवैधानिक संशोधन किया। श्रीलंका में विशेषतः १९५६ के बाद सरकार ने बुद्ध धर्म को उसका 'अधिकार पूर्ण' पद दिलाने की दिशा में व्यवस्था की। उसके अनुसार बुद्ध धर्म को राष्ट्रीय जीवन मे प्रतिष्ठा का वह स्थान मिलना चाहिए जोकि उसे पश्चिमी साम्राज्यवादी शासन से पूर्व प्राप्त था। पाकिस्तान एक इस्लामिक गणतन्त्र घोषित किया गया और वहाँ १९५६ व १९६२ के संविधानों में ऐसे प्रावधान थे जो इस्लाम विरोधी सिद्धान्तों पर आधारित कानूनों के निर्माण को रोकते थे। पाकिस्तान के भूतपूर्व राष्ट्रपति अयूब खान ने यह

घोषणा की थी कि पाकिस्तान की विचारधारा इस्लाम की विचारधारा के अतिरिक्त, कुछ नहीं हो सकती।

इन सब घटनाओं व स्थितियों में सरकार ने औचित्य ही नहीं बल्कि धार्मिक प्रतीकों के प्रयोग से राष्ट्रीय एकता को भी प्राप्त किया। धर्म को राष्ट्रीय प्रतीक बनाया गया। संभवतः यही वह शक्तिशाली प्रतीक था जो विभिन्न धर्म व भाषागत समूहों, पश्चिमी शिक्षित युवकों, व अशिक्षित जनता को एक कड़ी में जोड़ सकता था। निश्चित रूप से विशिष्ट वर्ग व किसानों ने अपने सर्वमान्य धर्म को अत्यधिक पृथक् रूप से समझा लेकिन धार्मिक महत्ता का कुछ समय के लिए विराट विभ्रम उत्पन्न किया गया।

भारत के धर्म निरपेक्ष होने के दावे को कई आधारों पर चुनौती दी गई है। यह भी बिल्कुल स्पष्ट है कि अनेक स्थलो पर यह दावा अत्यधिक अशक्त सिद्ध होता है। कुछ भी हो यह विवाद से परे है कि भारत सरकार अपने औचित्य व राष्ट्रीय एकता के स्थायित्व के लिए धर्म को माध्यम नही बनाना चाहती यद्यपि हिन्दूवाद के कुछ प्रतीक राजनैतिक दृष्टि से शक्तिशाली प्रभाव रखते हैं। इसके विपरीत नीति सम्बन्धी मूलभूत मान्यता यह है कि वैधता व राष्ट्रीय एकता धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्तों पर आधारित है क्योंकि बहुमत के छल नियोजन द्वारा जो कुछ भी प्राप्त किया जाए उसे अल्पमत के लगाव के आधार पर अनिवार्यतः समाप्त होना चाहिए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही नेहरू, शास्त्री व अब श्रीमती गांधी की सरकारों का ध्यान उन दलों व समूहों के प्रति कठोरतापूर्ण रहा है जिन्होने हिन्दू राज्य की बात की थी।

हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियों के विरोध मे कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत एक धर्मनिरपेक्ष, प्रजातान्त्रिक, समाजवादी विचारधारा को स्थान दिया गया। समस्या यह अवश्य है कि इस विचारधारा की जड़े परम्परागत जीवन व संस्कृति में नही हैं बल्कि वे पश्चिम से आयातित हैं। हिन्दू दलों का यह विश्वास है कि 'धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र का विचार जनता को प्रेरणा नही दे सकता।' इस विवेचन में काफी सत्यता है। यहाँ हमारे लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वतन्त्रता के २५ वर्ष उपरान्त भी भारत सरकार द्वारा हिन्दूवाद का वैधता व एकता के साधन के रूप मे कोई महत्त्वपूर्ण प्रयोग नहीं हुआ है।

धर्मनिरपेक्षता के आधार

भारत द्वारा धर्म निरपेक्षता को स्थापित करने के प्रयासों की व्याख्या किस प्रकार की जाए? यहाँ यह स्पष्ट ध्येय क्यों रखा गया, जबकि अन्य पड़ोसी राज्यों में विभिन्न धार्मिक मूल्यों का व्यापक आधार पर प्रयोग हो रहा था? इसका उचित व सहज उत्तर यह है कि यह सब एक व्यक्ति जवाहरलाल नेहरू का काम था और यह उनके कृतित्व के अभाव में कभी नहीं जीवित रह सकता। वस्तुतः नेहरू धर्म-निरपेक्षता के महान समर्थक (Champion) व हिन्दू साम्प्रदायिकता के घोर विरोधी थे। तथापि उन्होंने भारत की धर्म निरपेक्ष राष्ट्रीयता की उस परम्परा का निर्वाह किया जो १८८५ में आरम्भ हुई थी।

एक अल्प समय के लिए हिन्दू उग्रवादियों का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में ऊँचा स्थान था लेकिन कुल मिलाकर यह सदा धर्मनिरपेक्ष व असाम्प्रदायिक सिद्धांतों में विश्वास करने वाली संस्था थी। १६३७ में ही कांग्रेस ने मूल अधिकारों से सम्बन्धित एक ऐसा प्रस्ताव स्वीकार किया था जिसको भारत के भावी संविधान में स्थान दिया जाना था। इन अंगीकृत सिद्धान्तों मे से एक सिद्धांत यह था कि " राज्य सभी धर्मों के सम्बन्ध में तटस्थता का व्यवहार करेगा।" यह वास्तव में भारत में ब्रिटिश सरकार की एक लम्बी स्थापित नीति थी जो इस इच्छा पर आधारित थी कि ईसाई शासन व हिन्दू-मुस्लिम प्रजा के बीच संघर्ष को रोका जाए। १६४० में, जबकि मुस्लिम लीग ने अलग मुस्लिम राज्य व भारत के विभाजन की मांग की थी, कांग्रेस के अध्यक्ष इस्लाम के एक प्रमुख विद्वान मौलाना अबुल कलाम आजाद थे। धर्मनिरपेक्षता का विचार उस समय स्वतन्त्रता के साथ ही यकायक नही उत्पन्न हो गया था।

भारत सरकार द्वारा धर्म निरपेक्ष आदर्शों को अंगीकृत करने के समर्थन में हिन्दू धर्म की प्रवृत्ति से भी सहायता मिली है। हिन्दूवाद के एक अव्यवस्थित बहुलवादी स्वरूप ने तथा एक एकल धर्म स्वरूप की अपेक्षा विभिन्न सम्प्रदायों के समूह ने धार्मिक विविधता के दृष्टिकोण के प्रति एक सहिष्णु दृष्टि को प्रोत्साहित किया है। हिन्दूवाद में उस धार्मिक संगठन व केन्द्रीय सत्ता का अभाव है जो एक धर्मनिरपेक्ष राज्य को व्यवस्थित धर्मसापेक्ष सत्ता द्वारा चुनौती देने के लिए आवश्यक होता है। इसमें कोई एक ऐसा स्पष्ट समूह नहीं है जिसे हिन्दू वर्ग का पुरोहित वर्ग कहा जा सके। इसमें कई तरह के असंगठित धार्मिक पदाधिकारी हैं—जैसे पुजारी, संत, आध्यात्मिक धर्म गुरु आदि। किसी भी विशेष हिन्दू समूह का स्वतन्त्रता के बाद की राजनीति पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नही रहा है। इसके विपरीत बौद्ध भिक्षुत्त्व (*Monkhood*) श्रीलंका, बर्मा व दक्षिण वियतनाम में एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक शक्ति है और इस्लामी कानून के विद्वान राजनैतिक दृष्टि से कुछ मुस्लिम देशों में विशेष प्रभावशाली रहे है।

एक बड़ा व प्रभावशाली धार्मिक अल्पसंख्यक वर्ग एक अन्य तत्त्व है जो धर्मनिरपेक्षता को आधार प्रदान करता है। अल्पसंख्यक धर्मनिरपेक्ष राज्य के स्वाभाविक अभिरक्षक हैं। मुसलमानों व सिक्खों की अपनी परम्पराओं में ऐसा कोई विशिष्ट तत्त्व नहीं है जो राज्य के विचार को कोई सार्थक समर्थन दे सके। वे मुख्यतः अपने समुदायों के हितों की रक्षा के लिए ही धर्मनिरपेक्षता को शक्ति देते हैं। ईसाई अल्पसंख्यकों की एक अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में ही स्थिति नहीं है बल्कि वे एक ऐसे धार्मिक समूह के प्रवक्ता भी हैं, जिसकी चर्च-राज्य पृथक्करण की अपनी महत्त्वपूर्ण परम्पराएँ रही है।

भारत-पाक सम्बन्धों ने भारत के धर्मनिरपेक्ष राज्य पर सकारात्मक व नकारात्मक दोनों दृष्टियो से प्रभाव डाला है। इन दोनों देशों के बीच तनाव दुर्भाग्यपूर्ण रूप से भारतीय मुसलमानों के लिए जटिलताएँ पैदा कर सकता है। परन्तु यहाँ स्थिति का दूसरा पक्ष भी है जो एक विचारशील भारतीय को प्रभावित करता रहता है। तथ्य यह है कि भारत व्यवहार में या संवैधानिक दृष्टि से, पाकिस्तान के निर्माण को उचित सिद्ध किए बिना व उस

देश की नीतियों का अनुसरण किए बिना, हिन्दू राज्य नहीं बन सकता। पाकिस्तान ने भारत के धर्मनिरपेक्ष राज्य होने के दावे को कभी स्वीकार नहीं किया। हिन्दूवाद को राज्य धर्म के रूप में स्वीकार करना इस उप महाद्वीप के २० वर्ष के इतिहास की पाकिस्तानी व्याख्या को सिद्ध करेगा और भारत का कोई राष्ट्रवादी ऐसा नहीं चाहेगा।

भारत का संविधान एक ऐसा आधारभूत कानून है जिसमें इस शब्द का बिना प्रयोग किए ही धर्मनिरपेक्ष राज्य के ढांचे को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। निस्सन्देह संविधान में इस संदर्भ में अनियमितताएँ हैं और उनमें से कुछ अपरिहार्य भी हैं। जहां तक अपने वर्तमान स्वरूप को बनाए रखते हुए, धर्म से सम्बन्धित जितने भी प्रावधानों का प्रश्न है, उस स्थिति में धर्मनिरपेक्षवाद की मूलभूत अस्वीकृति कठिन होगी। विधानों के न्यायिक पुर्नविलोकन की शक्ति द्वारा व सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान की व्याख्या ने भी राज्य द्वारा धार्मिक स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करने की प्रवृत्ति पर एक अंकुश का कार्य किया है।

भारत में कार्यशील आधुनिकीकरण से सम्बन्धित समस्त शक्ति का अन्तिम गंतव्य एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। औद्योगीकरण, शहरीकरण, संयुक्त परिवार का विघटन, शिक्षा का प्रसार, उच्च शिक्षा के अवसर आदि सभी शक्तियों ने, व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में सामान्य धर्मनिरपेक्षीकरण को बढ़ाया है। धर्म के प्रति उदासीन रहने के समकालीन पश्चिमी दृष्टिकोण का भारतीय समाज के कुछ भागों पर बहुत प्रभाव पड़ चुका है और यह एक अनवरत प्रक्रिया है। व्यक्ति की दृष्टि से यह अच्छी हो या बुरी पर यह प्रक्रिया धर्मनिरपेक्ष राज्य को शक्ति प्रदान करने वाली प्रवृत्ति अवश्य है। निश्चित रूप से उद्देश्यों की ठीक व्याख्या न होने, गलत नीतियों के निर्धारण व उन्हें लागू करने की असफलता—इन सब घटकों ने संयुक्त रूप से धर्मनिरपेक्षता को कुछ गम्भीर समस्याओं का सामना करने के लिए बाध्य किया है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य की प्रमुख समस्याएँ

'साम्प्रदायिकता' शब्द को उसके व्यापकतम् अर्थों में प्रयुक्त करते हुए निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि यह आज की सर्वाधिक गम्भीर समस्या है। जाति व समुदाय के प्रति दुराग्रहपूर्ण निष्ठा धर्म निरपेक्ष राज्य को हर स्तर पर हानि पहुँचाती है। साम्प्रदायिक निष्ठाएँ आसानी से साम्प्रदायिक विद्वेष को जन्म देती हैं और अर्द्ध-विकसित अर्थ व्यवस्थाओं के अन्तर्गत इस प्रवृत्ति को और अधिक प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि वहां जन-साधारण अनेक आर्थिक अभावों से पीड़ित होते हैं। साम्प्रदायिक विरोध भारत में स्थानिक (undemic) है और यह सहजता से हिंसात्मक संघर्ष का रूप ले लेता है।

वर्तमान भारत में अविलम्ब यह आवश्यक है कि राज्य व स्थानीय स्तरों की सरकारों द्वारा ऐसी इच्छा व साधन का विकास किया जाए जिससे साम्प्रदायिक हिंसा को शीघ्र व कठोरतापूर्वक दबाया जा सके। यह एक वास्तविकता है कि साम्प्रदायिक आतंकवादी व साम्प्रदायिकता से ओत-प्रोत अनुत्तरदायी समाचार पत्र आज भी निवारक नजरबन्दी

कानून, समाचार अधिनियम व राज्य शक्ति के परिचायक अन्य ऐसे अधिनियमो के दण्ड के भय से मुक्त होकर प्रत्यक्षतः समाज विरोधी गतिविधियों में लगे हुए हैं। स्पष्ट भाषा में यह कहा जा सकता है कि यदि राज्य नागरिकों के (चाहे वे अल्पसंख्यक हो या बहुसख्यक) सम्पत्ति व जीवन की साम्प्रदायिक हिंसा से रक्षा नही कर सकता तो धर्मनिरपेक्ष राज्य एक मजाक बन कर रह जायेगा।

साम्प्रदायिकता की समस्या से निबटने मे साम्प्रदायिक हिंसा को रोकना राज्य का एक नकारात्मक कार्य है। कानून व व्यवस्था की सुरक्षा से अधिक आधारभूत, कोई अन्य राज्य-उत्तरदायित्व नही है। लेकिन भारत मे एक सही धर्मनिरपेक्ष राज्य के विकास में अन्य कई बातें भी निहित हैं जैसे राष्ट्र का ऐसा भावात्मक एकीकरण हो जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की जाति व समुदाय के प्रति सजगता उसकी भारत के नागरिक होने की भावना का अग बन जाए। इस क्षेत्र मे भी दुर्भाग्य से सरकारी नीतियो द्वारा वांछनीय परिणामो के प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है।

केन्द्र व राज्य सरकारों ने आर्थिक-सामाजिक-शैक्षणिक आवश्यकताओ को जातीय समूहो के माध्यम से परिभाषित कर, इस आधार पर भी सहायता मे वृद्धि के प्रयास किए जिसने परिणामतः पर्याप्त हानि पहुँचाई। छात्रवृत्तिया, आर्थिक सहायता, सरकार में सुरक्षित स्थान, कालेज में सुरक्षित स्थान, अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए ही नही बल्कि कई अन्य पिछडी जातियों के लिए भी बढ़ाए गए। निस्सदेह इस दृष्टि ने कुछ निश्चित ऐतिहासिक अन्यायों को समाप्त किया लेकिन इससे जाति-भावना का भी विकास हुआ, उसे प्रश्रय मिला। यह इसी स्थिति का परिणाम है कि कई ऐसे मामलों में जहाँ जातीय पद-प्रतिष्ठा व आर्थिक आवश्यकता मे कोई पारस्परिक सम्बन्ध नही था, वहा गंभीर अनौचित्य परिलक्षित हुआ।

धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिए दूसरी बड़ी समस्या हिन्दू धार्मिक सस्थाओ मे राज्य का बहुत अधिक हस्तपेक्ष है। हिन्दु राज्य का मन्दिरो व मठो का निकट से निरीक्षण या बाहरी प्रशासना चलाना परम्परागत कार्य था। स्वतन्त्र भारत मे राज्य की मन्दिर के प्रशासन में पुराने कार्यो को बदलने की स्पष्ट प्रवृत्ति रही। यह प्रवृत्ति यह कह कर सिद्ध की जाती है कि वित्तीय प्रशासन में सुधार की आवश्यकता है जो केवल राज्य ही ला सकता है। इस प्रकार राज्य हिन्दू धर्म सुधार की एक प्रमुख एजेन्सी बन गया है। वर्तमान भारत में यह प्रवृत्ति शक्तिशाली है कि राज्य हिन्दूधर्म के लिए वह सब कुछ करे जो वह अपनी संगठनात्मक कमियों के कारण स्वय नही कर सकता।

मन्दिर प्रशासन के मामले मे भी यह निश्चित प्रवृत्ति पाई जाती हैं कि राज्य विभिन्न हिन्दू धार्मिक वृत्तिदान (endowments) विभागों के माध्यम से हिन्दूवाद के साथ घनिष्ट रूप से एक हो गया है। बुराइयों को रोकने के लिए मन्दिर प्रशासन को राज्य द्वारा चलाने के नकारात्मक कार्य का हिन्दू धर्म के विस्तार के सकारात्मक कार्य से जो अन्तर है वह कई मामलों मे या तो समझा नही गया या उस पर ध्यान नही दिया गया।

यदि राज्य अल्पसंख्यकों के धार्मिक मामलों के संबंध में कोई कार्रवाई करता है तब कई निश्चित राजनैतिक नियन्त्रण ऐसे हैं जो इस हस्तक्षेप की सीमा को नियत कर देते हैं। जब हिन्दू विधायक व प्रशासक अपने धर्म से सबंधित कोई कार्रवाई करते है तो इस स्थिति में कोई नियन्त्रण नही होता क्योकि मूलतः हिन्दू धर्म एक बहुमत का धर्म है।

सविधान की २६वी धारा की न्यायिक व्याख्या के कारण हिन्दू मंदिरों में राज्य का हस्तक्षेप कुछ हद तक सीमित हो गया, फिर भी यह काफ़ी विस्तृत है। इस प्रकार के चिंतन का पूर्ण अभाव है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य का विचार स्वयं सरकार के कार्यों पर कुछ निश्चित सीमाएँ लगा देता है। हर कार्रवाई जिसके करने की आवश्यकता अनुभव होती हो वह राज्य द्वारा नही की जानी चाहिए।

वर्तमान भारत मे तीसरी बड़ी समस्या कानूनी ढांचे में धार्मिक निजी कानून की स्थिति है। हिन्दू, मुसलमान व सिक्ख जोकि एक ही देश के नागरिक हैं, उन पर शासन विभिन्न परम्परागत नियमो से हो यह कानून वस्तुतः आधुनिक भारत में पुरावशेष (anachronism) का परिचायक है। यह धर्मनिरपेक्षता के मूलभूत सिद्धान्त के भी विरुद्ध है। भारतीय सविधान यह घोषणा करता है कि राज्य का एक समान नागरिक कानून होना चाहिए। इस दिशा में हिन्दू कानून को एकीकृत करने के संदर्भ मे विधान द्वारा महत्त्वपूर्ण प्रगति की गई है। इस कानून को स्वीकृत करने के लिए भारतीय संसद् ने हिन्दू कानूनी परम्पराओ में स्वतन्त्रतापूर्वक सशोधन किए और तलाक, पुत्रियों द्वारा सम्पत्ति ग्रहण व कई अन्य क्रान्तिकारी विचारो को प्रथम बार स्थान दिया।

स्पष्टतः दिखाई देने वाला नीति निर्देशक तत्त्व यह है कि राज्य नागरिको के लिए सम्पूर्ण भारत के क्षेत्र मे एक समान सामाजिक कानून प्राप्त करने का प्रयास करेगा। यह परिणाम मे असाध्य प्रतीत होता है। इसके विपरीत, धर्मनिरपेक्ष राज्य को अपनी संप्रभुता स्थापित करने के लिए सम्भावित व बहुत आधारभूत धार्मिक सुधारों को हाथ में लेने की आवश्यकता होती है। सविधान द्वारा यह कहा गया है कि हिन्दूवाद व इस्लाम की ऐसी सामाजिक वैधानिक सस्थाओ का उन्मूलन किया जाए जोकि उनकी पूर्ण जीवन-क्रिया को अलग-अलग कर देती हैं। इन दो बड़ी धार्मिक व्यवस्थाओं को व्यक्तिगत विश्वास, पूजा व व्यवहार तक सीमित कर दिया जाना चाहिए।

हिन्दू कानून मे परिवर्तन करना यद्यपि कट्टर लोगो के लिए दुःखदायी है, तब भी यह स्वीकार कर लिया गया है। आखिरकार बहुमत तो हिन्दू विधायकों का ही है। लेकिन मुस्लिम शरियाह के लिए कदम उठाना अपरिहार्य होना चाहिए और संप्रभु संसद् को यह तय करना चाहिए कि मुस्लिम अल्पसंख्यकों के पवित्र कानून के लिए क्या करना है। धर्मनिरपेक्ष राज्य का विचार दो बातों को मानता है—एकसमान सामाजिक कानून तथा अल्पसंख्यकों के धार्मिक विश्वास के प्रति आदर की आवश्यकता। सम्भवतः ९० प्रतिशत भारतीय मुसलमान यह अनुभव करते हैं कि उनका कानून इस्लाम का समस्त साररूप है। यह एक विचित्र धर्म संकट है लेकिन फिर भी इसका अनिवार्यतः सामना किया जाना चाहिए।

चौथी व अन्तिम बड़ी समस्या धर्मनिरपेक्ष राज्य को आधारभूत रूप से परिभाषित करने की है। भारतीय संदर्भ में 'धर्मनिरपेक्ष राज्य का क्या अर्थ है ? यह प्रश्न पहले शैक्षणिक महत्त्व की दृष्टि से प्रकट हुआ लेकिन इसका व्यावहारिक महत्त्व भी समसामयिक व गहन है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ (१) एक ऐसे राज्य से है जहाँ धार्मिक पक्षपात रहित होकर सबको मदद की जाय, या (२) वह राज्य जो धर्म से पृथक् हो। यदि बाद वाला अर्थ प्रासंगिक है तब राज्य का आदर्श यह होगा कि वह किसी धर्म की सहायता न करे, और न ही कोई धार्मिक कार्य ही उसके द्वारा किए जाएँ।

संयुक्त राज्य अमेरिका मे यह प्राचीन व परिचित समस्या है और सर्वोच्च न्यायालय आज भी 'नो प्रिफरेंस' विचारधारा एव 'वॉल ऑफ़ सेपरेशन' विचारधारा के बीच अस्थिर है। समस्त धार्मिक संस्थाओं को करमुक्त किया जाना पहले सिद्धान्त को प्रदर्शित करता है। भारत का संविधान किसी विशिष्ट धर्म को समर्थन देने के लिए केवल खास करों को निषिद्ध करता है। लेकिन वह सब धर्मों के विकास के लिए सामान्य अनुदान की अनुमति देता है। यह पक्षपात के अभाव की व्याख्या, पृथक्करण की दीवार के सिद्धान्त के विपरीत होगी। भारत में विद्यालयो मे सब प्रकार के धार्मिक निर्देशों (उपदेशो) पर प्रतिबन्ध है।

यहाँ 'नो प्रिफ़रेंस' की विचारधारा की ओर अधिक झुकाव है। यह हिन्दू राज्य की कुछ परम्पराओं के अनुकूल है और उस अभिनव हिन्दू मान्यता से निकट रूप से सम्बन्धित है कि सभी धर्म सच्चे है। यहाँ यह संभावना है कि राज्य द्वारा सामजस्य की दृष्टि से व्यक्ति के एक सार्वभौमिक धर्म (जो कि हिन्दू मान्यताओ पर आधारित है) को न्यायसगत ठहराने के लिए नो प्रिफरेंस' की विचारधारा का प्रयोग हो । यह प्रवृत्ति विश्वविद्यालय शिक्षा पर राधाकृष्णन रिपोर्ट मे स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हुई थी।

इस बात से सम्बन्धित अन्तिम निर्णय मे अत्यधिक सन्देह है कि क्या भारत का धर्म-निरपेक्ष राज्य एक सम्प्रदाय विहीन या धर्मविहीन राज्य होगा ?

मैककॉलम बनाम शिक्षा बोर्ड के मामले मे सयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने चर्च और राज्य के पृथक्करण की इन शब्दों में व्याख्या की : 'पृथक्करण सरकार के अस्पष्ट कार्यों व धार्मिक सम्प्रदायों से बचे रहने के लिए एक आवश्यकता है, इसलिए नहीं कि उन सबको समान माना जाए, पृथक्करण का अर्थ पृथक्करण से ही है इसके अतिरिक्त और कुछ नही।' यह व्याख्या अब भी सयुक्त राज्य अमेरिका में विवाद का विषय है और अन्य न्यायालय के निर्णयों में दूसरा विरोधी दृष्टिकोण भी लिया गया है। मेरी अपनी धारणा यह है कि भारत के सामने जो प्रश्न हैं, उनके संदर्भ में धर्मनिरपेक्ष राज्य संबंधी यह व्याख्या स्पष्ट व महत्त्वपूर्ण उत्तर देती है।

क्या भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है ?

हमने भारत में धर्मनिरपेक्षता की कमजोरियों व सशक्त आधारों पर विचार किया है। अब हमें किसी तरह के सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए। हमें यह ध्यान रखना होगा कि पूर्ण धर्मनिरपेक्ष राज्य का अस्तित्व असम्भव है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसा क्लासिक

उदाहरण भी राज्य व धर्म के पूर्ण पृथक्करण के प्रति अनिच्छा प्रदर्शित करता है। वहाँ राष्ट्रपति व राज्यपाल नागरिकों के लिए यह घोषणाएँ जारी करते हैं कि वे अपने-अपने पूजास्थलों पर जाएँ। वहां सघ व राज्य के विधान मण्डलों के सत्र प्रार्थना के साथ शुरू होते हैं, और प्रत्येक सिक्के पर यह आदर्शवाक्य लिखा होता है कि 'हम ईश्वर मे विश्वास करते हैं।' अमेरिकी प्रतिमान से यदि हम सहायता लें तो भारत की धर्मनिरपेक्षता में कतिपय कमियाँ दिखाई देती हैं लेकिन ऊपर वर्णित आधारों पर यदि निर्धारित किया जाए तो भारत में धर्मनिरपेक्षता का व्यवहार इसके सिद्धान्त के अत्यधिक निकट ही है।

क्या भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है ? मेरा उत्तर कुछ शर्तों के साथ 'हां' है। कई समस्याओं के होते हुए भी भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य कहना ही न्याय सगत होगा। भारत उसी अर्थ में धर्मनिरपेक्ष है जिस अर्थ मे भारत को प्रजातन्त्र कहा जा सकता है। भारतीय राजनीति व शासन मे कई अप्रजातान्त्रिक विशेषताओं के होते हुए भी संसदीय प्रजातन्त्र यहाँ कार्यशील है और वह पर्याप्त क्षमता से कार्य कर रहा है। इसी तरह धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श स्पष्ट रूप से सविधान मे विद्यमान है और इसे महत्वपूर्ण प्रयासों के माध्यम से क्रियान्वित किया जा रहा है। प्रश्न का उत्तर एक गतिशील राज्य के संदर्भ मे होना चाहिए, एक ऐसा राज्य जिसकी कुछ परम्परागत समस्याएँ हैं और जो उनके समाधान हेतु सघर्ष कर रहा है।

सर्वाधिक मूलभूत बात यह है कि भारत सरकार ने राजनैतिक वैधता व राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दूवाद का प्रतीक बनाने की लालसा से अपने आपको हमेशा रोके रखा है। संयोगवश इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए धर्म सम्बन्धी गम्भीर सीमाओं पर ध्यान देना लाभप्रद होगा जैसाकि बर्मा और पाकिस्तान से स्पष्ट होता है। १९७० के चुनाव में पूर्व पाकिस्तान मे धर्मनिरपेक्ष बगला राष्ट्रवाद के उदय ने निश्चित रूप से यह प्रदर्शित किया कि मात्र इस्लाम के प्रतीक अपने आप मे देश के दो भागों को साथ रखने मे असमर्थ हैं।

यद्यपि सावधानी के साथ आशावाद (Cautious optimism) के लिए ध्यान है फिर भी स्पष्टतः यह सोचना मूर्खता होगी कि भारत में धर्मनिरपेक्षतावाद इतनी दृढ़ता से स्थापित हो गई है कि उसका भविष्य पूर्णतः निश्चित है। पाकिस्तान के साथ कोई युद्ध, सब और हिन्दू मुस्लिम दगों की ज्वाला का प्रसार और भावी प्रधान मन्त्रियों का साम्प्रदायिकता के प्रति समझौतावादी रुख, इनमे से कोई भी संभावित विकास हिन्दू दलों को सशक्त करेगा और यह धर्मनिरपेक्षता के लिए एक गम्भीर चुनौती होगी। साथ ही स्वय नई कांग्रेस के कुछ भागों मे निहित साम्प्रदायिक भावना के उदय की संभावनाओं से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है। हिन्दू साम्प्रदायिकता की शक्तियाँ अपने समय की प्रतीक्षा कर रही हैं और यह असभव नही है कि भविष्य उनके विकास के लिए अधिक उपयुक्त परिस्थितियाँ लाएगा। भारत के पूर्ण प्रजातान्त्रिक प्रयोग का धर्मनिरपेक्ष राज्य एक पक्ष है, जिसकी सफलता अनवरत स्थायी नेतृत्त्व, स्थिर आर्थिक विकास, जनसंख्या नियन्त्रण व अन्य तत्त्वों पर निर्भर है। स्पष्टतः कई ऐसी संभवनाएँ आज भी विद्यमान हैं जो 'अवाछनीय' स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं।

६

धर्मनिरपेक्षता तथा भारतीय संविधान

पी. बी. गजेन्द्रगडकर

आधुनिक युग की विश्वविद्यालय-शिक्षा की परम्पराएँ प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालयों की ओर गर्व से दृष्टिपात कर सकती हैं। नालन्दा व तक्षशिला विश्वविद्यालयों की स्मृति हमारे समक्ष विश्वविद्यालय-जीवन का प्रेरणास्पद तथा उत्साहवर्द्धक चित्र प्रस्तुत करती है। भारत के सभी भागो से आए विद्यार्थी इन विश्वविद्यालयों में एकत्रित होते थे और उनका निश्चित उद्देश्य ज्ञान के समस्त पक्षों को प्राप्त करना होता था। प्रबल जिज्ञासा की भावना, ज्ञान-प्राप्ति का दृढ़ निश्चय तथा ज्ञान की खोज में कठोर परिश्रम—ये प्राचीन भारतीय विद्यार्थियो की कुछ परिचायक विशेषताएँ थी। इस दृष्टि को उन प्राचीन भारतीय शिक्षकों से अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता था जो शिक्षा के प्रसार संबंधी उद्देश्य के प्रति समर्पित होते थे। उन्हे जीवन में किसी अन्य पुरस्कार, सम्मान अथवा सुख की इच्छा नही थी सिवाय इसके कि वे यथा सम्भव योग्यता से अपने विषयों की सम्पूर्ण जानकारी युवा पीढ़ी को दे दें। प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालयों का वातावरण काफी अंशों में रमणीय था और अन्वेषण-भावना (spirit of enquiry) प्रेरक था। ये ही वे गुण हैं जो किसी विश्वविद्यालय को एक समुदाय-विशेष के सामाजिक जीवन में गौरव का स्थान दिलाते हैं।

प्राचीन भारत मे विद्वत्ता सदा सम्मानित की जाती थी। वह प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक सर्वविदित है जिसमें राजनैतिक शक्ति की विद्वत्ता से तुलना की गई है और असंदिग्ध रूप से विद्वत्ता की श्रेष्ठता तथा उसके स्थायी स्वरूप के कारण उसकी ख्याति की घोषणा की गई है : "विद्वत्ता और राजपद को कभी भी समकक्ष नही रखा जा सकता क्योंकि एक राजा को उसके देश में ही सम्मान मिलता है जबकि एक विद्वान सर्वत्र सम्मानित होता है।" प्राचीन भारत के शैक्षणिक प्रयासो का इतिहास हमें अनेक दिशाएँ देता है और इसलिए आज जब मैं आपके समक्ष दीक्षांत-भाषण दे रहा हूँ तो मुझे प्राचीन काल में कुलपतियों द्वारा युवा स्नातकों को संबोधित नीति-वाक्यों का स्मरण हो रहा है। कुलपतियों का अपने विद्यार्थियों

से यह आग्रह होता था : "सत्य बोलो। सदाचारी व्यवहार रखो। वेदों का अध्ययन उपेक्षित न करो। अच्छाई से विमुख न हो। सुख, समृद्धि, गुण व प्रवीणता की प्राप्ति के प्रति उदासीन न हो।" युवा स्नातकों को प्राचीन भारतीय कुलपतियों की यह सलाह होती थी कि वे सत्य की खोज करें, कर्त्तव्य पथ पर चलें और अध्ययन की दिशा में किए जाने वाले परिश्रम में कोई कोर कसर नहीं रखें। सामाजिक सत्य, कर्त्तव्य पथ तथा लोक-कल्याण से प्रतिबद्धता उनकी सलाह का सारतत्व था। इन शब्दों का स्मरण कर मैं स्वयं से यह प्रश्न करता हूँ कि आज के युवा स्नातकों का क्या सामाजिक धर्म अथवा कर्त्तव्य है? उत्तर स्वरूप मैं यह पाता हूँ कि धर्मनिरपेक्षता की खोज आज की एक प्रमुख आवश्यकता है और यही आज का सामाजिक धर्म है। इसीलिए मैं आज के युवा स्नातकों से यह अपेक्षा करता हूँ कि वे इस कर्त्तव्य से विमुख न हों।

II

आज धर्मनिरपेक्षता का विषय राजनैतिक महत्त्व के संवेगात्मक उत्तेजक व्यंजको (emotive martial overtones) से युक्त है और इसीलिए विषय का वस्तुनिष्ठ अध्ययन कुछ कठिन है। भारत मे धर्मनिरपेक्षता का विचार मूलत एक राजनैतिक विचार के रूप में उद्भूत हुआ था। इस विचार ने प्रामाणिक रूप से भारत के प्रमुख समुदायो–हिन्दूओ व मुसलमानों मे एकता स्थापित करने का प्रयास किया। राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए हमारे संघर्ष काल के दौरान, और विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस मत का मुख्यतः राजनैतिक धरातल पर ही श्रमपूर्वक, समझदारी और लगन से प्रयोग किया गया। यह वही मत है जिसकी सहायता से हमारे राष्ट्र को मध्यकालीन "दो राष्ट्रों के सिद्धात" का प्रतिरोध करने की प्रेरणा मिली, वह इस दिशा में समर्थ सिद्ध हुआ। हमारा यह विश्वास है कि भारत जैसा एक बहुजातीय, बहुभाषी तथा बहुधार्मिक समुदाय कभी भी दो राष्ट्रों के सिद्धांत को अपना नही सकता जो कि दो नागरिकों के धर्म पर आधारित है। यह विचारधारा हाल ही की संकटकालीन स्थिति का सामना करने मे सफल रही है और हमने सभी समुदायों, धर्मों, जातियो और वर्गों के सदस्यो को एकजुट होकर आक्रामक की चुनौती का सामना करते हुए पाया है। ऐसा उस समय हुआ जब आक्रामक ने कश्मीर पर आक्रमण किया और इस प्रकार भारत की एकता और सम्प्रभुता को चुनौती दी। स्वाभाविकतः हम सब की यह अनुभूति है कि हम सभी की परीक्षा का काल वस्तुतः हमारा गौरव-काल भी था और इसी ने धर्मनिरपेक्षता की विचारधारा पर संवेगात्मक तथा उत्तेजक व्यंजकों का आवरण डाल दिया है। आज धर्मनिरपेक्षता की विचारधारा पर प्रकाश डालते हुए मेरा उद्देश्य उक्त समस्या के विस्तृत, मूलभूत व मूल सामाजिक दर्शन की चर्चा करना है। उस अर्थ मे धर्मनिरपेक्षता विशुद्ध रूप से मात्र एक राजनैतिक विचार नही है और केवल हिन्दू व मुसलमानों तक ही इसका प्रभाव क्षेत्र सीमित नही है। यह एक व्यापक सामाजिक-आर्थिक विचार है जो अपने अन्तर्गत विविध भारतीय समुदायों को समाहित करता है और जिसका अपना एक

सकारात्मक संदेश है।

मानव दर्शन के विकास का इतिहास यह स्पष्ट करता है कि प्रेरणास्पद व युगांतरकारी विचार भी कभी-कभी लोकप्रिय भ्रांतियों व अंधविश्वासों के एक संकीर्ण परिवेश में कैद हो जाते हैं। ऐसे अवसरों पर यह आवश्यक हो जाता है कि उन्हें लोकप्रिय भ्रान्तियों की इस कैद से मुक्त किया जाए और जनता के सामने उनके सही क्रान्तिकारी स्वरूप तथा महत्व की व्याख्या की जाए। धर्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में कुछ कहने का मेरा आशय यह है कि मैं भारतीय संविधान के अन्तर्गत उसकी मूल व आवश्यक धारणाओं पर प्रकाश डालने का प्रयास करना चाहता हूँ।

III

होलिओक (Holyoake) को पश्चिमी यूरोप में धर्मनिरपेक्षता का जनक माना जाता है। उसने धर्मनिरपेक्षता से सम्बन्धित अपना अभियान लगभग १८४६ में प्रारम्भ किया और अपनी पुस्तकों—'प्रिंसिपल्स ऑफ सेक्यूलरिज्म' तथा 'दि ओरिजिन एण्ड दि नेचर ऑफ सेक्यूलरिज्म'—में इसके सिद्धान्त प्रतिपादित किए। यह अभियान धर्म को राज्य से पृथक् करने की आकांक्षा से उत्पन्न हुआ। यह निश्चित रूप से एक भौतिकवादी व तर्कबुद्धिपरक (rationalistic) आन्दोलन था। सामाजिक विचारकों ने यह समझा कि धर्म सामाजिक-आर्थिक विषयों पर प्रभुत्व स्थापित करने की प्रवृत्ति रखता है। इसीलिए धर्म की पूर्ण मुक्ति की आकांक्षा के फलस्वरूप धर्मनिरपेक्षता का जन्म हुआ। एम० एन० रॉय, जो अपने युग के एक प्रमुख तर्कबुद्धिवादी व धर्मनिरपेक्षता के समर्थक थे, राज्य से यह अपेक्षा रखते थे कि वह अपने नागरिकों को विविध धर्मों व धार्मिक विचारों में से चयन की स्वतन्त्रता नहीं बल्कि धर्म के अत्याचारों से मानव मस्तिष्क को मुक्ति दिलाए। रूस में साम्यवाद के प्रारम्भिक काल में धर्म को एक प्रकार की 'मादक औषधि' (dope) माना जाता था और वहाँ साम्यवादी राज्य ने धर्म-निरपेक्षता का एक ऐसा प्रतिमान निर्मित करने का प्रयास किया जो धर्म से पूर्णतः पृथक् था। उस अवस्था में साम्यवाद की परम्परागत दृष्टि पर आधारित राज्य-प्रयासों का दर्शन मात्र धर्म को राज्य से पृथक् कर उस धर्म को एकाकी करने से ही संतुष्ट नहीं था। वस्तुतः उसका यह विचार था कि धर्मनिरपेक्षता की भौतिकवादी भावना को प्रोत्साहित करने के लिए धर्म की अवज्ञा करना और धर्म विरोधी विश्वासों को संरक्षण देना आवश्यक है। भौतिकवादी धर्मनिरपेक्षता के प्रति भक्ति में अक्सर धर्म के सम्बन्ध में एक विद्वेष और कभी-कभी तो घृणा का भी संकेत दिया है। निस्संदेह धर्म के विषय में सहिष्णुता थी लेकिन यह पर्याप्त अनिच्छा से थी। धर्म-पालन व धार्मिक क्रियाओं के अभ्यास का कठोरता से नियमन होता था और जनमानस में धर्म के प्रति निष्ठा को हतोत्साहित करना उस समय का एक निर्धारित लक्ष्य था।

भारतीय धर्मनिरपेक्षता उक्त संकीर्ण उत्तेजक श्रेणी में नहीं आती है। जैसाकि डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा है, "मैं यह अधिकृत रूप से कहना चाहता हूँ कि धर्मनिरपेक्षता

का अर्थ अधर्म नहीं है। इसका अर्थ यह है कि हम सभी धर्मों और विश्वासों का सम्मान करते है और हमारा राज्य किसी धर्म विशेष से तादात्म्य नही स्थापित करता।" गाधी ने और अधिक स्पष्टता से यह कहा कि सभी धर्म सच्चे है और "मेरी अन्य विश्वासों के प्रति श्रद्धा वैसी ही है जैसीकि स्वय मेरे निजी विश्वास के प्रति है।" भारतीय धर्मनिरपेक्षता का यह पक्ष हिन्दू दर्शन तथा नीतिशास्त्र के अनुकूल है। हम सभी उस मत से भली-भाँति परिचित हैं जिसकी भगवत्गीता में भावपूर्ण शिक्षा दी गई है :

"हे कौन्तेय (अर्जुन) ! वे सभी भक्त जो श्रद्धा से युक्त होकर अन्य देवताओं की पूजा करते है, स्वयं मेरी ही पूजा करते हैं यद्यपि वे विधिपूर्वक ऐसा नही करते।" यह सिद्धान्त इस तथ्य को मान्यता देता है कि सत्य की खोज करने के अनेक मार्ग हैं और सत्य किसी धर्म विशेष के एकाधिकार पर आश्रित नही है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि "जो कोई भी अपने धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तो का विश्वासपूर्वक समझदारी से पालन करता है, वह अंततः मुझ तक पहुँचता है।" यदि समस्त मार्ग रोम पहुँचा सकते हैं तो हिन्दू जीवन पद्धति के अनुसार विश्व के दार्शनिकों व संतों द्वारा प्रतिपादित समस्त पंथ सत्य की अनुभूति के लक्ष्य तक पहुँचा सकते हैं। हिन्दू दर्शन के इसी व्यापक, समग्र और प्रगतिशील धरातल पर धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का जन्म हुआ है।

सिद्धान्ततः धर्मनिरपेक्षता धर्मेतर, धर्म-विरोधी व संशयवादी हो सकती है लेकिन भारतीय धर्मनिरपेक्षता ऐसी नकारात्मक दृष्टि को स्वीकार नही करती। वह धर्म की आवश्यकता और उसके अस्तित्व को मान्यता देती है यद्यपि धर्म को राज्य व उसकी सामाजिक आर्थिक गतिविधियों से पृथक् करने का उसका एक सुविचारित प्रयास भी होता है। यह भारतीय धर्मनिरपेक्षता का एक सकारात्मक पक्ष है।

पारसन्स के अनुसार "अस्तित्व का ज्ञानात्मक अर्थ, और सुख-दुःख तथा अच्छाई व बुराई का अर्थ—ये धर्म की केन्द्रीय समस्याएँ हैं। लेकिन धर्म एक व्यक्तिगत विषय है और उसे अनिवार्यतः ऐसा ही माना जाना चाहिए। धर्म का सम्बन्ध स्वयं अपने अभिज्ञान व अपनी प्रतिबद्धताओं के लिए मानव व्यक्तित्व के अन्तरतम् सार से है।" मानव अस्तित्व के अंतिम उद्देश्य को जानने की आकांक्षा, मानव जीवन के पश्चात् 'परलोक' की शाश्वत समस्या जानने की इच्छा और यह जानने की रुचि कि क्या कोई ऐसा निर्माता भी है जो मानव जाति के भाग्य का नियामक है—ये सभी आकांक्षाएँ मानव मस्तिष्क में अंकित हैं और शाश्वत् सत्य की इसी भावपूर्ण खोज ने सभी धर्मों व दर्शनों को जन्म दिया है। जवाहर लाल नेहरू ने, जो स्वतन्त्र भारत में धर्मनिरपेक्षता के महानतम् प्रतिपादक थे और जिनका दृष्टिकोण अत्यधिक तर्कबुद्धिपरक था, स्वयं बड़े भावपूर्ण शब्दों में शाश्वत् सत्य की इस खोज का उल्लेख किया है : "हर एक को जीवन का सामना दर्शनयुक्त वैज्ञानिक स्वभाव व दृष्टि से करना होता है और इसके (जीवन के) परे (beyond) अन्य विषयों का श्रद्धा से।" इस 'परे' के सम्बन्ध में नेहरू का कथन यह है : "अवसर जब मैं इस विश्व की ओर देखता हूँ तो मुझे अज्ञात गहनताओं की रहस्यात्मकता का आभास होता है।"

समस्त संवेदनशील मानव-मस्तिष्कों को उद्वेलित करने वाली श्रद्धा श्रौ स्वस्थ जिज्ञासा की इस भावना को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। इसीलि धर्मनिरपेक्षता धर्म की समस्या के प्रति नकारात्मक, यहाँ तक कि निष्क्रिय दृष्टि अपनाती। निस्सदेह यह धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देखती है लेकिन साथ ही य उसको उचित सीमा में कार्यशील रखने के लिए भी कृतसंकल्प है। इसका यह कि धर्म इन सामाजिक-आर्थिक समस्याओं की सीमा तक न पहुँचे जिनका आधुनि को सामना कम करना होता है और यह अनिवार्यतः नागरिकों के सामाजिक-आ हारों के निर्धारण का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रयास न करे। जब तक धर्म अपने वैध होता है तब तक धर्मनिरपेक्षता धार्मिक रूप से इसके प्रति तटस्थ रहती है।

धर्मनिरपेक्षता किसी नागरिक के धर्म और प्रार्थना में उसके विश्वास को धार्मिक मत के अनुसार नागरिक ईश्वर के बीच का विषय मानती है। क्योंकि धर्म से राज्य सम्बन्धित नहीं है, इसलिए यह सभी पूजा-स्थलों के प्रति समान स व्यवहार करता है चाहें वे चर्च, मन्दिर, गुरुद्वारा व मस्जिद कुछ भी हों ले प्रति उसकी कोई सक्रिय रुचि नहीं होती। यह भारतीय धर्मनिरपेक्षता का पक्ष है।

IV

यह उल्लेखनीय है कि 'धर्मनिरपेक्ष' तथा 'धर्मनिरपेक्षता' शब्दों का भारतीय में कहीं प्रयोग नहीं हुआ फिर भी धर्मनिरपेक्षता का विचार संविधान की लगभ महत्त्वपूर्ण व अर्थवान् धारा में परिलक्षित होता है। संविधान ने भारतीय ना लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना तथा सामाजिक आर्थिक-राजनैतिक उपलब्धि का वायदा किया है। यह आदर्श स्वयं सम्पूर्ण संविधान पर धर्मनिर प्रेरणास्पद दीप्ति की छाप छोड़ता है।

भारतीय नागरिकता पूर्ण रूप से एक विशुद्ध धर्मनिरपेक्ष पद है। नागरिकों मूल अधिकारों की गारन्टी दी गई है और इन अधिकारों में जो मूल कर्त्तव्य (Fu ntal obligations) निहित है, वे नागरिकता से प्रवाहित होते हैं और उनके समुदाय, जाति, धर्म अथवा भाषा सम्बन्धी कोई भी प्रश्न अप्रासंगिक है। का सम्मुख समानता तथा सभी नागरिकों के लिए कानूनों द्वारा समान संरक्षण— अधिकारों से सम्बन्धित ऐसे बुनियादी विचार हैं जिन पर भारतीय संविधान को न्य रूप से गर्व हो सकता है। संविधान की धारा १४ में ये गारन्टी निहित है। एक यह समानता अथवा संरक्षण भारतीय संविधान का मूल आधार है। समानता मूल अधिकार में ही अन्य मूल अधिकार प्रवाहित होते हैं और इन मूल अधिका तेजस्वी प्रवाह स्पष्टतः भारतीय संविधान का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप प्रकट करता है विदित है कि इस धर्मनिरपेक्ष स्वरूप का प्रवाह सर्वविद्यमान है और इसके द्वारा

हिन्दुओं व मुसलमानों, बल्कि सभी समुदायों व धर्मों को भी परोपकारी संरक्षण प्राप्त है। हमारा देश एक बहुधार्मिक, बहुभाषीय तथा बहु-साम्प्रदायिक क्षेत्र है। जिसमें संविधान ने अपने समस्त नागरिको को समान मूल अधिकार प्रदान किए है। एक अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में संविधान अपने समस्त नागरिकों से भारत की एकता के प्रति समान निष्ठा तथा देश के सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों की दिशा में उसके अभियान के प्रति समान मूलभूत कर्त्तव्यों की अपेक्षा करता है।

संविधान ने अपने इस दर्शन के अनुकूल कि नागरिकों द्वारा पालन किए जाने वाले समस्त धर्मों को अनिवार्यत: समान संरक्षण मिले, अपनी धाराओं में इनसे सम्बन्धित विशिष्ट प्रावधान नियत किए हैं। धारा २५ अन्तरात्मा (Conscience) तथा व्यवसाय की स्वतन्त्रता की गारन्टी देती है जबकि धारा २६ धार्मिक मामलों की व्यवस्था से सम्बन्धित स्वतन्त्रता प्रदान करती है। ये दोनो धाराएँ समस्त धर्मों को समान संरक्षण प्रदान करती हैं, लेकिन इस संरक्षण से सम्बन्धित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि ये संरक्षण कुछ निश्चित बुनियादी अभिभावी मान्यताओं (Overriding considerations) के अधीन हैं। धारा २५ (१) के अनुसार "लोक व्यवस्था, नैतिकता व स्वास्थ्य तथा इस भाग से सम्बन्धित अन्य शर्तों के साथ सभी को समान रूप से अंत:करण की स्वतन्त्रता है और साथ ही उन्हें स्वतन्त्र रूप से (इस निर्दिष्ट क्षेत्र के अंतर्गत) धर्म के प्रचार, पालन व अभिव्यक्ति का अधिकार भी है।" इस धारा के प्रारम्भिक अंश पर ध्यान देना आवश्यक है। इसके अनुसार धर्म, उसके पालन, प्रचार व अभिव्यक्ति तथा लोकव्यवस्था, नैतिकता, स्वास्थ्य या भाग ३ द्वारा गारन्टी प्राप्त किसी अन्य मूल अधिकार के बीच संघर्ष की स्थिति में अनिवार्यतः पहले की अपेक्षा दूसरे को प्रमुखत्व प्राप्त होगा। दूसरे शब्दों में, संविधान ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि धर्म को हर स्थिति में उसकी उचित सीमा में कार्य करना चाहिए और किसी भी स्थिति में राज्य की सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। ये सामाजिक-आर्थिक गतिविधियाँ सामाजिक न्याय के आदर्श से प्रेरित हैं और इसकी प्राप्ति के लिए राज्य ने एक समतावादी लोक कल्याणकारी राज्य का साहसिक पद प्राप्त करने का प्रयास प्रारम्भ किया है। इस खोज की पूर्व आवश्यकता के रूप में लोकव्यवस्था महत्त्वपूर्ण है, नैतिकता महत्त्वपूर्ण है, जन-स्वास्थ्य अपरिहार्य है और मूल अधिकार आवश्यक हैं, इनकी महत्ता अभिभावी है और धर्म को उन पर आधिपत्य का अवसर नही दिया जाएगा।

धारा २५ (१) के प्रारम्भिक अंशों में निहित इस स्थिति को धारा २५ (२) द्वारा और अधिक स्पष्ट किया गया है। इस अनुच्छेद के अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया है कि अनुच्छेद (१) द्वारा प्रस्तावित स्वतन्त्रताएँ राज्य को ऐसी आर्थिक, वित्तीय, राजनैतिक अथवा किसी अन्य धर्मनिरपेक्ष गतिविधि को नियमित या प्रतिबन्धित करने से नहीं रोकेंगी जिनका धार्मिक व्यवहार से सम्बन्ध हो या जिनसे सामाजिक जन कल्याण अथवा सुधार होता हो अथवा जिनके द्वारा सभी वर्गों व वर्णों के हिन्दुओं के लिए जन-स्वरूप की परिपाटी किसी सार्वजनिक हिन्दू धार्मिक संस्था को प्रतिबन्धों और बाधाओं से दूर किया जाता हो। इस प्रकार धारा-२५ में समाहित धार्मिक स्वतन्त्रता का विचार दो दृष्टियों से मुक्त एवं

सकारात्मक रचनात्मक विचार है। धर्म को तबतक पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई है जबतक कि वह अपनी उचित सीमा का परित्याग नही करता। इसके अतिरिक्त धर्म के विषय में यह भी स्पष्ट किया गया है कि सामाजिक-आर्थिक न्याय सम्बन्धी अभिभावी मान्यताएँ किसी भी धार्मिक हस्तक्षेप को सहन नही करेंगी। अतः धार्मिक स्वतंत्रता का विचार धर्म-विरोधी या ईश्वर-विरोधी नही है, यह मानव जीवन में धर्म की आवश्यकता और उसके अभिप्राय को मान्यता देता है लेकिन यह धर्म के लिए एक उचित सीमा निर्धारित करता है और साथ ही यह सामाजिक आर्थिक गतिविधियों का वह व्यापकतर क्षेत्र भी निर्धारित करता है जिसके संबंध मे अनिवार्यतः राज्य और उसकी नीतियों का प्रभुत्व होता है।

धारा २५ मे जितना सत्य है उतना ही सत्य धारा २६ में भी है। धार्मिक विषयों की व्यवस्था सम्बन्धी स्वतन्त्रता दी गई लेकिन धार्मिक संस्थाओं की सम्पत्ति की व्यवस्था को इस धारा से नियमित किया गया है कि ऐसी व्यवस्था कानून के अनुसार होगी और यह कानून एक ऐसा धर्मनिरपेक्ष सामाजिक-आर्थिक कानून है जिसे राज्य तत्संबंधी नीतियों के उद्देश्य से स्वीकार करता है।

धार्मिक स्वतन्त्रता को पूर्णता प्रभावशीलता के उद्देश्य मे संविधान की धारा ३० में कुछ निश्चित प्रावधान ऐसे है जिनके अतर्गत अल्पसख्यकों को उनकी पसंद की शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना व उनकी व्यवस्था करने का अधिकार दिया गया हैं। व्यापक रूप मे यह कहा जा सकता है कि यह व्यवस्था भारतीय सविधान द्वारा सभी धर्मों को दी गई स्वतंत्रता की गारन्टी की प्रतीक है।

सम्पूर्ण विश्व के संदर्भ में धर्मों का इतिहास यह स्पष्ट करता है कि अपने संगठित साम्प्रदायिक स्वरूप मे धर्म कभी-कभी समाज की सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों को नियमित करता है। उदाहरणस्वरूप अस्पृश्यता (untouchability) पर विचार किया जा सकता है। परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार अस्पृश्यता (छुआछूत) कुछ प्राचीन धर्मग्रन्थो पर आधारित है यद्यपि इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। संविधान ने ऐसा अनुभव किया कि हिन्दू सस्कृति अथवा हिन्दू जीवन पद्धति के इस कलंक (अस्पृश्यता) को सामाजिक जीवन से पूर्णरूपेण हटाना आवश्यक है। अतः उसने धारा १७ में उसके उन्मूलन सम्बन्धी निश्चित व्यवस्था की है। यह धारा व्यक्त रूप से यह निर्देश देती है कि अस्पृश्यता के आधार पर कोई भी अयोग्यता मानना इस कानून के अनुसार दण्डनीय होगा। यदि अस्पृश्यता को किसी धर्मग्रन्थ के आधार पर निर्धारित करने का दावा किया जाता है तो उस स्थिति से निपटने के लिए संविधान ने यह घोषणा की है कि ऐसे धर्म ग्रन्थ अथवा व्यवहार की कोई वैधता नहीं है क्योंकि उसमे समुदाय की सामाजिक आर्थिक गतिविधियों मे हस्तक्षेप होता है, इसलिए संविधान मे उक्त प्रथा को प्रतिबन्धित किया है। यह संवैधानिक दृष्टि का एक ज्वलंत उदाहरण है जिसके अंतर्गत संविधान ने सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रो मे धर्म के हस्तक्षेप की चुनौती का सामना किया है।

कालांतर मे संविधान जिन अन्य आदर्श की प्राप्ति की आकांक्षा रखता है वह धारा ४४ मे निहित है। इस धारा के अनुसार राज्य अपनी सीमा के अन्तर्गत सभी नागरिकों के

लिए एक समान नागरिक नियम संहिता प्राप्त करने के प्रयास करेगा । इसी आदर्श की खोज के फलस्वरूप संविधि संग्रह (statute book) में हिन्दू कोड को स्थान दिया गया। यह स्मरण होगा कि ससद् मे जब हिन्दू कोड बिल प्रस्तुत किया गया तो उस समय कट्टर व अनुदार हिन्दुओं की ओर से इसका तीव्र विरोध हुआ। इस सम्बन्ध मे पारम्परिक हिन्दू दृष्टिकोण यह था कि हिन्दू कानून प्राचीन 'श्रुति' तथा 'स्मृति' पर आधारित है और उनके सम्बन्ध में संसद् को कार्यवाई करने का कोई अधिकार नही है । यह विरोध निस्संदेह प्रामाणिक था और इस विश्वास पर आधारित था कि व्यक्तिगत कानून सम्बन्धी व्यवस्थाएँ धार्मिक मामलो के अंतर्गत आती है । कट्टर हिन्दू मत से उत्पन्न यह तीव्र विरोध वस्तुतः भारतीय स्वतंत्रता के प्रारम्भिक काल मे ही धर्मनिरपेक्षता के लिए एक चुनौती थी । इस चुनौती का साहस से सामना किया गया और अतत इस पर विजय प्राप्त की गई । हिन्दू कोड आज एक पूर्ण तथ्य बन गया है । हिन्दू कोड बिल की स्वीकृति से यह भी स्पष्ट होता है कि देश के आर्थिक सामाजिक जीवन मे धर्मनिरपेक्षता का विचार किस प्रकार क्रमशः सफलता प्राप्त कर रहा है । हिन्दू कोड के प्रति विरोध वस्तुतः हिन्दू कानून के विकास के सम्बन्ध मे पूर्ण अज्ञानता और भ्राति पर आधारित था । हिन्दू धर्म, जोकि न्यायोचित रूप से स्वयं को विश्व के सर्वाधिक प्राचीन यश का मान सकता है, वर्तमान काल तक तरुण व जीवित इसलिए रह सका है क्योकि पूर्व-ब्रिटिश काल के दौरान उसने समय-समय पर उपयुक्त सामजस्य किया जिससे कि वह अपनी व्यवस्थाओं को समाज की परिवर्तित एवं विकसित प्रथाओं व विश्वासों के अनुकूल कर सका । 'सदाचार' (अथवा 'सत्'—अच्छे पुरुषों का आचरण) हिन्दू धर्म का सदैव स्रोत माना गया है । इस दृष्टिकोण से हिन्दू कानून का अध्ययन अत्यधिक चित्ताकर्षक विषय है । इससे यह पता चलता है कि हिन्दू धर्म के व्याख्याता, जोकि कानून के शाब्दिक अर्थ और अस्तित्व प्राप्त प्रथाओं व व्यवहारों के मध्य अंतर के प्रति सदैव सजग थे, किस प्रकार व्याख्या के माध्यम से कानूनी व्यवस्थाओं को समन्वित करते थे । व्याख्या-शास्त्र (Sc. of Interpretation) ने हिन्दू कानून के परिवर्तनशील विकास मे सहायता दी है । यद्यपि उसका कानूनी स्वरूप वही रहा लेकिन उसकी भावना व सार समय-समय पर परिवर्तित होते रहे ।

यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटिशकाल के दौरान विकास की यह प्रक्रिया अवरुद्ध थी । इस कारण जनमानस का यह विश्वास कि हिन्दू धर्मस्थिर अथवा गतिहीन है, वस्तुतः श्रुतियो व स्मृतियों पर ही पूर्णतः आधारित होने के कारण परिवर्तित नहीं किया जा सका । इस प्रचलित विश्वास को हिन्दू कोड के माध्यम से सुधारा गया और अब हिन्दू समुदाय ने यह स्वीकार कर लिया है कि व्यक्तिगत कानूनों से सम्बन्धित व्यवस्थाएँ धर्मनिरपेक्ष विषयो के आधीन है और उनका संकीर्ण धार्मिक मान्यताओं से कोई सरोकार नही है । उनकी वैधता सम्बन्धी कोई भी निर्णय, जनता के सामान्य हित एवं सामाजिक-आर्थिक कल्याण ऐसे विवेकी तथा वैज्ञानिक आधारों पर ही लिया जाना चाहिए ।

यह सही है कि देश के समस्त समुदायो के लिए एक समान नियम संहिता का लक्ष्य प्राप्त नही हुआ है लेकिन भारतीय संविधान यह इंगित करता है कि धर्मनिरपेक्षता को

सामाजिक-आर्थिक न्याय के अनुरूप अपना आचरण ढालें। एक अर्थ में धर्मनिरपेक्षता की दृष्टि यद्यपि भौतिकवादी है लेकिन इसकी जड़ें नैतिकतावादी हैं। यह प्रत्येक नागरिक के दूसरे नागरिक के संदर्भ में कर्तव्यों के प्रति सजग है और इसलिए यह सामाजिक-आर्थिक न्याय के प्रति समर्पण के एक दर्शन को विकसित करती है जो इसके अनुसार आधुनिक युग की सर्वोच्च नैतिकता है। इसलिए धर्मनिरपेक्षता की अपनी एक अलग नैतिक नियम-संहिता होती है और यह उसके लिए जन-अन्तरात्मा से अपील भी करती है। यह भारतीय धर्म निरपेक्षता का व्यापक, समग्र, प्रगतिशील व दूरदर्शी आधार है।

धर्मनिरपेक्षता स्पष्ट व तीव्र स्वर में सामाजिक असमानता के विषय में, विशेष रूप से हिन्दुओं को सम्बोधित करती है। धर्म निरपेक्षता यह घोषणा करती है कि जल-रुद्ध वर्गों (Watertight Compartments) में विभक्त परस्पर असम्पृक्त विभिन्न गुटों वाली जाति-व्यवस्था सामाजिक समानता का खण्डन करती है। जातियाँ और उपजातियाँ अपरिहार्य रूप से श्रेष्ठता व हीनता की भावनाएँ उत्पन्न करती हैं और एक सामाजिक अलगाव (Social Exclusiveness) के वातावरण का निर्माण करती हैं। यह एक ऐसी स्थिति है जिसे धर्मनिरपेक्षता सहन नहीं करती। अत्यधिक उच्च उदात्त दर्शन तथा दुखद रूप से अधम और अशोभनीय व्यवहार हिन्दू सामाजिक संस्थाओं के लिए एक अभिशाप रहा है। इसलिए हिन्दूवाद जहाँ एक ओर महानतम् व प्रबुद्ध सिद्धान्तों की घोषणा करता है वहीं दूसरी ओर व्यवहार में यह हिन्दू नागरिकों को अनेक गुटों में भी विभक्त करता है और एक निश्चित वर्ग के नागरिकों को अन्य वर्गों की तुलना में हीन दर्शाने की प्रवृत्ति रखता है। अस्पृश्यता का अभिशाप हिन्दू दर्शन की महानता और इसके अधम व्यवहार के अन्तर को स्पष्टत: प्रकट करने वाला एक सटीक उदाहरण है। धर्मनिरपेक्षता हिन्दू समुदाय से समस्त जातियों और उपजातियों को समाप्त कर सामाजिक न्याय व समानता स्थापित करने की अपील करती है। इसका यह आग्रह है कि हिन्दुओं में भ्रातृत्व भाव का विकास हो और इसकी यह मान्यता है कि इसी के आधार पर अनंत सम्पूर्ण राष्ट्रीय स्तर पर नागरिकों में भ्रातृत्व भाव विकसित होगा। वर्तमान युग में हिन्दू समुदाय के लिए धर्मनिरपेक्षता का यही विशेष व भावपूर्ण संदेश है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि स्वाधीनता के पश्चात् भारतीय लोकतन्त्र, जो सामाजिक न्याय पर आधारित है, जातियों व उपजातियों के प्रति निष्ठा व्यक्त करने की प्रवृत्ति रखता है। देश के समस्त लोकतन्त्रवादियों को यह तथ्य स्वीकार करना ही होगा कि जब तक जाति व उपजाति से सम्बन्धित प्रतिस्पर्द्धी संकीर्ण निष्ठाओं का पूर्ण रूपेण उन्मूलन नहीं किया जाएगा तब तक हमारे देश में लोकतन्त्र की जड़ें स्थिर नहीं हो सकेंगी।

भारतीय संविधान के अन्तर्गत धर्मनिरपेक्षता एक तर्कबुद्धिपरक वैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित है। यह विवेक की पूजा में विश्वास करती है, उस पर आधारित निष्कर्षों को अनुभव की कसौटी पर कसती है और आवश्यकतानुसार इनमें परिवर्तन करती है। इसको अपने निष्कर्षों को संशोधित करने में कोई भय प्रतीत नहीं होता क्योंकि अनुभव पर आधारित संशोधनवाद जीवन का परिचायक है और इससे जीवन की प्रगतिशील दृष्टि का पता चलता

है। धर्मनिरपेक्षता पूर्ण निरपेक्ष सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करती, इसकी दृष्टि मतान्ध नहीं है, और यह कथित धर्म सिद्धान्तों अथवा अंध-विश्वासों को मान्यता नहीं देती। वास्तव मे इसकी दृष्टि आनुभविक व परिणामवादी है, और इसका लक्ष्य भारत में एक ऐसे एकरूप-समुदाय का निर्माण करना है जो इस देश के प्रति निष्ठावान् हो, जिसके नागरिक भारत की एकता व अखण्डता के आदर्श के प्रति समर्पित हों और जो सामाजिक आर्थिक न्याय उपलब्ध कराने के राष्ट्रीय लक्ष्य की दिशा मे अपना योगदान दें। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता एक समग्र व्यापक एवं गतिशील विचार है। इसका मात्र राजनैतिक स्वरूप ही नहीं है। अपने सार रूप में यह नैतिक है और इसके नैतिक तत्वों से अनिवार्यतः समस्त नागरिको को प्रेरित होना चाहिए। यदि धर्मनिरपेक्षता को उसके इस नैतिक अर्थ मे समझ लिया गया तो अंततः सामाजिक न्याय की प्राप्ति होगी। जब धर्मनिरपेक्षता "भूख, गरीबी, अज्ञानता, बीमारी अथवा गंदगी की समस्या का सामना करती है और उनको सक्रिय जन-अन्तरात्मा की सहायता से वैधानिक साधनों से जीतना चाहती है तब उस स्थिति में इसका धर्म अथवा भाषा सम्बन्धी प्रश्नों से कोई सरोकार नही होता और यह उनकी चुनौती को अपने सार्वभौतिक धरातल पर झेलती है। धर्मनिरपेक्षता को अनिवार्यतः देश के समस्त भागो के सामान्य नागरिको तक पहुँचना चाहिए ताकि उसके सम्पूर्ण महत्त्व सम्बन्धी ज्ञान पर आधारित भ्रातृत्व भावना का जन्म हो सके। देश के विश्वविद्यालय भारतीय नागरिकों के लिए ऐसी भ्रातृत्व भावना विकसित करने में योगदान दें और धर्म-निरपेक्षता के प्रेरणास्पद निर्देशन मे लोकतांत्रिक विधि से सामाजिक न्याय के पावन उद्देश्य को उपलब्ध कराने मे सहायता दे।

Further Readings

1. *Gajendragadkar, P.B.* : **The Constitution of India (Its Philosophy and Basic Postulates).** Oxford, 1972 pp. 63-68,
2. *Menon, V.K.N.* : **India Since Independence—From The Preamble to the Present** Delhi, S. Chand & Co. 1970, p.p. 1-16.
3. *Smith, Donald Eugene* : **India as Secular State.** Prinleton, New Jersey, Princeton University, Press,' 1963, p.p. 3-8 and pp. 493-497

७

राज्य स्वतन्त्रता के स्रोत

किसी संघीय राजव्यवस्था की वैधानिक-औपचारिक संरचना का अध्ययन प्रायः उसकी परिचालन गत्यात्मकता (Operational dynamics) को समझने में कोई उल्लेखनीय सहायता नहीं देता। संविधान से इतर राजनैतिक एवं सामाजिक-आर्थिक घटक संयुक्त रूप से संघीय संरचना को जीवन्तता प्रदान करते हैं। भारत इसका कोई अपवाद नही है। मार्कुस फ्राण्डा ने अपनी लब्ध प्रतिष्ठित कृति 'वेस्ट बेंगाल एण्ड दि फेडेरलाईजिंग प्रोसेज इन इंडिया' (प्रिन्सटन, न्यू जेरसी १९६८, पृ. २००–२२४.) में भारत की संघीय राज व्यवस्था की वैधानिक औपचारिक सीमाओं के बाहर दृष्टिपात करने की चेष्टा की है और आनुभाविक रूप से उन सामाजिक आर्थिक एवं विशेष रूप से राजनैतिक घटको को निर्धारित किया है जो केन्द्र-राज्य सम्बन्धो की वास्तविक अवस्था को निश्चित करते हैं। यद्यपि फ्राण्डा का विश्लेषण पश्चिम बगाल के आनुभविक अध्ययन पर आधारित है, लेकिन उनके निष्कर्ष केन्द्र-राज्य संबंधों के संदर्भ में अन्य राज्यों से संबंधित विवरणात्मक परिकल्पनाएँ भी प्रदान करते हैं। वस्तुतः इनकी अन्य राज्यों के संबंध में सामान्य वैधता है। इसी कारण उनकी उक्त पुस्तक के अंतिम अध्याय को यहाँ इस आशा से पुनःप्रस्तुत किया जा रहा है कि वह भारत मे संघवाद के संदर्भ में एक सार्थक आनुभविक दृष्टि प्रदान करेगा। —सम्पादक

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान निर्माताओ के समक्ष एक केन्द्रीकृत व सहकारी संघीय व्यवस्था की दिशा मे विचार करने के कई कारण थे। यह स्पष्ट था कि भारत की विभिन्नता व उसका विस्तृत आकार यथेष्ठतम् एकीकृत निर्णयों के कुशल क्रियान्वयन में बाधा डालेगा। इसके बावजूद भारत के नए नेतृत्व के सामने आने वाली संभावित समस्याओं की व्यापकता, व निर्धारित लक्ष्यों के कारण केन्द्रीय सत्ता के पर्याप्त शक्तिशाली होने की आवश्यकता को महसूस किया गया ताकि विघटन को रोका जा सके और गतिशील विश्व में परिवर्तनो को दिशा दी जा सके। साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता, आर्थिक असंतुलन, व सामाजिक, क्रान्तिकारी लक्ष्यों इन सबने विभिन्नता मे एकता के उस सूत्र की माँग की जिसे

संविधान में लिखित रूप देते हुए "सशक्त" केन्द्र के साथ संघ[1] की संज्ञा दी गई। भारतीय संघवाद का प्रारम्भ एक शक्तिशाली एकीकृत (ब्रिटिश) प्रशासकीय ढाँचे की शक्ति के हस्तातरण से हुआ। यह हस्तातरण सर्वप्रथम १९१९ के भारत सरकार अधिनियम में, तत्पश्चात् १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में, और अन्त में स्वतन्त्र भारत की संविधान सभा मे हुआ। यह अनुभव जो कि अमेरिकी संविधान निर्माताओं से अत्यधिक भिन्न है, (जो पृथक् राज्यो के प्रतिनिधियो के रूप में गठित हुए) स्पष्ट रूप से भारत के निकट अतीत मे केन्द्रीय शक्ति के प्रति निर्भरता की ओर इंगित करता है और साथ ही इस तथ्य की ओर भी कि भारतीयो को न तो उस अधिक परम्परागत संघीय व्यवस्था का अनुभव था जोकि आस्ट्रेलिया या अमेरिका मे है और न ही उसकी कार्यप्रणाली में उन्होने कभी भाग ही लिया था।

इन तत्त्वों के परिणामस्वरूप भारतीय संविधान निर्माताओं ने कई ऐसे प्रावधानो को स्वीकार किया जिन्होंने सघीय सतुलन के भार को केन्द्रीय प्रभुत्व के पक्ष में कर दिया और भारतीय राजनीति को सदिग्ध वना दिया।[2] धारा ३ मे केन्द्रीय संसद को यह शक्ति दी गई है कि वह साधारण बहुमत से नए प्रान्त का निर्माण या किसी भी राज्य की सीमा में परिवर्तन कर सकती है। इस संदर्भ में संबधित राज्यों या अन्य राज्यों की सहमति की आवश्यकता नही है। धारा २५४ मे यह व्यवस्था है कि किसी भी घटना में, जहाँ विधान सभा द्वारा पारित कानून संघीय संसद् के कानून के विरुद्ध हो तो संसद् का कानून मान्य होगा। धारा २४८ के अनुसार यदि राज्य सभा के २/३ सदस्य स्वीकृति दें तो 'राज्य सूची में निहित किसी भी विषय पर संसद् कानून बना सकती है। धारा ३५२ व ३६० में संकट-कालीन प्रावधान हैं जो राष्ट्रपति को यह शक्ति देते हैं कि वह कुछ निश्चित परिस्थितियों में और निश्चित विधि से संविधान को स्थगित कर दे और राज्य (या राज्यों) का प्रशासन नई दिल्ली से चलाया जा सके। यह तब होगा जब उसे यह विश्वास हो जाए कि राज्य की सुरक्षा को खतरा है' या वहाँ वित्तीय संकट है या सरकार की संवैधानिक व्यवस्था वहाँ भग हो चुकी है।*

यद्यपि ये सवैधानिक प्रावधान कुछ राज्यों में अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त हुए हैं, लेकिन पश्चिमी बंगाल मे इनका प्रयोग मितव्ययता से हुआ है। वस्तुतः यह अध्ययन (जिनमे कठिन व कभी-कभी तीव्र राजनैतिक निर्णय सार्वजनिक नीति के दायरे मे बाहर

---

१ यह उक्ति नेहरू बार-बार उस समय प्रयोग मे लाते थे जब वे सविधान की व्याख्या करते थे। ऑस्टिन में उद्धृत, भारतीय सविधान पृष्ठ १९६

२ भारतीय सघ के "सघीय सिद्धान्तो" के प्रश्न पर पहला कार्य के० सी० व्हेयर का था, फेडरल गवर्नमेन्ट (द्वितीय संस्करण, लन्दन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६१) १९५१ के बाद मे कई लेखको ने व्हेयर की भारतीय 'संघवाद की व्याख्या को अपनाया, उदाहरण के लिए देखें के०एन० मिन्हा की कृति 'भारत का सविधान : संघात्मक के बजाए एकात्मक अधिक' (माडर्न रिव्यू, १९५५-४४८-५२)।

* यह कथन १९६७ से पूर्व की स्थिति को चरितार्थ करता है —सम्पादक

लेने पड़े) बहुत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है कि केन्द्र सरकार पश्चिमी बंगाल के साथ सम्बंधों मे उतनी शक्तिशाली नेही रही जैसाकि संविधान में प्रावधान है और जैसी राज्य की केन्द्र पर निर्भरता की संभावनाएँ दिखाई देती थीं। पश्चिमी बंगाल मे दलीय ढांचे व व्यवस्था का विश्लेषण और राज्य के दलीय नेतृत्व की जनता को निर्वाचन व आन्दोलनात्मक लक्ष्यो की ओर मोड़ने की योग्यता का अधिक उपयुक्त विवेचन, इन घटनाओं को समझने के लिए आवश्यक है।

दलीय ढाँचा और व्यवस्था

विषय-अध्ययन के समय, पश्चिमी बगाल की केन्द्र-राज्य संबधों मे अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता के लिए जो मुख्य राजनैतिक तत्त्व कार्य कर रहा था वह राज्य स्तरीय एक सुगठित संगठन था जो केन्द्रीय दल के अनुशासन व नियत्रण को रोकने में समर्थ था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही भारत का कांग्रेस दल केन्द्र व पश्चिमी बंगाल (व अन्य कई स्थानीय शासनों) मे सत्ता मे रहा। परिणामत. लोक सभा व राज्य विधान सभा में एक प्रभावशाली दलीय अनुशासन बना रहा। राज्य कांग्रेस दल की १९६७ के विधान सभा के चुनावों में विरोधी दलो के एक संयुक्त मोर्चे से हार हुई। लेकिन यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा (जैसाकि हाल ही में रिचार्ड एल० पार्क ने निकाला)[3] कि कांग्रेस दल, उस समय भी 'अनुशासित' अथवा केन्द्र द्वारा नियत्रित था जब उसका राज्य सरकार पर प्रभुत्व था। वस्तुतः विभिन्न अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि केवल पश्चिमी बंगाल में ही दलीय ढांचे ने इस ढंग से कार्य नहीं किया जिससे केन्द्रीय निर्णयों का प्रतिरोध किया जा सके, बल्कि यह उन तत्त्वो का भी परिणाम था जो राज्य की राजनैतिक प्रक्रिया के लिए आधारभूत थे। सक्षप में, दलीय ढांचे व व्यवस्था के जो पक्ष पश्चिमी बंगाल में केन्द्र-राज्य संबधो की दृष्टि से अत्यधिक उपयुक्त हैं वे निम्न है :—

१. दलीय प्रभाव के स्रोत स्थानीय है न कि राष्ट्रीय। (अर्थात् वे राज्य के सामाजिक-आर्थिक और सास्कृतिक पर्यावरण से व्युत्पन्न है)।
२. राज्य का दल केन्द्रीय दल से इस तरह अलग संगठित किया जाए ताकि वह राज्य के दलीय मामलो में केन्द्रीय नेताओं के हस्तक्षेप के प्रयासों को प्रभावशाली ढंग से रोक सके।

---

३ पार्क के शब्दों में 'भारत ने सत्ता व शक्ति को एक केन्द्रीय सरकार के अधीन इस उद्देश्य से किया है ताकि देश की राष्ट्रीय एकता को उत्साहित किया जा सके। इसका परिणाम यह हुआ कि तानाशाही ढग से निर्णयो को राज्य व स्थानीय सरकारों पर आरोपित करने की प्रवृत्ति बनी। कांग्रेस दल, जो देश मे करीब-करीब सभी सरकारी इकाइयो को नियन्त्रित करता है, अपने अनुशासित व केन्द्र नियन्त्रित दलीय शक्ति द्वारा ऐसे अन्तरदलीय समझौतो [illegible] करता है जिसमे राज्य स्तरीय नेताओ की स्थिति, सुदृढ हो सके। रिचार्ड एल० पार्क 'भारत', रॉय सी० मेक्रिडिस और राबर्ट वार्ड की 'आधुनिक राजनैतिक व्यवस्था': एशिया में (एंग्लवुड क्लिफ्स, न्यू प्रेन्टिस हॉल पृ० २९३

३. निर्वाचन मे कांग्रेस की सफलता का आधारभूत कारण यह है कि राज्य में विभिन्न स्तरों पर कांग्रेसी संगठनों का जाल बिछा हुआ है। इसके अतिरिक्त स्वाधीनता आंदोलन मे राज्य कांग्रेस की भूमिका भी उसकी सफलता का एक कारण रहा है।

४. इन तत्वों के कारण राज्य का दल केन्द्रीय दल के नेताओं से पृथक् और स्वतंत्र (और अक्सर उसके विरुद्ध) दिशा अपना सका। ये निष्कर्ष, यद्यपि पूर्णतः पश्चिमी बगाल के अनुभव पर आधारित है लेकिन फिर भी ये भारत के अन्य भागों से एकत्रित आँकड़ों द्वारा असमर्थित नही हैं। उदाहरण के लिए पार्क के विवेचन के विपरीत वीनर ने मैसूर चुनाव क्षेत्र में कांग्रेस दल के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि कांग्रेस 'सिद्धान्तेतर (Non-Ideological) और सामूहिक (Aggragative) थी, जिसका आधार मुख्यतः ऐसे लोगों पर निर्भर रहना था जिनके पास स्थानीय शक्ति थी या जिन्होंने अतीत में उसे अपने पास रखा था। स्पष्टतः यही विवेचन पश्चिमी बंगाल के दल पर भी लागू होता है। पश्चिमी बगाल के कांग्रेस दल ने विशेष रूप से केन्द्रीय नेताओं की सैद्धान्तिक स्थिति को स्वीकार करने से इन्कार किया है और इसने निश्चिततः उन केन्द्रीय कार्यक्रमों के आधार पर कार्य करने से मना किया है जो समाज के वर्तमान ढांचे में परिवर्तन की दिशा में निर्देश का काम करते हैं। इसके बजाय यह दल पूरे राज्य के समर्थकों को आकर्षित करने का प्रयास उनमें से करता है जो अपने क्षेत्रो मे पहले से ही प्रभावशाली हैं और वह स्थानीय प्रश्नों को भी एक आधार बनाता है।[५]

राज्य में कांग्रेस दल द्वारा इस तरह का संगठन बनाने के प्रयास करना, वह भी विशेषतः, अस्तित्व प्राप्त सामाजिक व्यवस्था के सदर्भ में, कोई आश्चर्यजनक बात नही है। भारत के अन्य भागों के समान पश्चिमी बंगाल का सामाजिक ढांचा भी बहुत अधिक विभाजित है। संघर्ष सामान्यतः एक भौगोलिक सीमित क्षेत्र मे किया जाता है जबकि संबंधों का एक पदसोपानिक ढांचा सर्वत्र व्याप्त है। परिणामस्वरूप एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसमे कुछ लोगो के पास तो इतनी अधिक प्रभाव-शक्ति होती है जो पदसोपान्तर रूप से संगठित समाज व्यवस्था मे देखने को नहीं मिलती परन्तु साथ ही यह

४ माईनर वीनर, 'ट्रेडिशनल रोल परफोरमेन्स एण्ड दि डवलपमेन्ट ऑफ माडर्न पॉलिटिकल पार्टीज भारतीय घटना'. जर्नल ऑफ पालिटिक्स न० ४ (नवम्बर, १९६४), ८४१

५ पश्चिमी बंगाल में कांग्रेस दल के विवेचन की सामग्री पश्चिमी बगाल मे १९६३-६४ में एकत्रित की गई। यहाँ दिए गए निष्कर्षों की विस्तृत व्याख्या के लिए फान्डा की 'पश्चिमी बंगाल की राजनीति' स्टेट पालिटिक्स इन इण्डिया में देखिये। ये निष्कर्ष वीनर के पश्चिमी बगाल के अध्ययन से भी मिलते-जुलते है। चेन्जिग पेटनर्स ऑफ पालिटिकल लीडरशिप इन वेस्ट बंगाल तथा नोट्स ऑन पालिटिकल डवलपमेंट इन वेस्ट बंगाल पालिटिकल चेंज इन साउथ एशिया मे देखिये। पृ० १७७-२५७

प्रभाव अनिवार्यतः छोटे स्थानिक (spatial) व सामाजिक क्षेत्रों में सीमित होता है। पश्चिमी बंगाल के प्रत्येक गाँव, नगर और पड़ोस मे कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो बहुत अधिक प्रभावशाली (देशी भाषा में 'बड़े आदमी') हैं : भूस्वामी, जिन पर कानूनकार व हिस्सेदार अपनी खेती के लिए निर्भर रहते हैं, छोटे व्यापारी जो उधार व संभरण (सप्लाई) को नियंत्रित करते हैं और जिनमें इसे रोकने की क्षमता होती है, छोटे अधिकारी और भू-वितरण अधिकारी जो यह तय करते हैं कि सरकारी प्रयत्न कैसे पूरे होंगे, कलकत्ता मे बस्ती या धोबीखाना के व्यवस्थापक, जो किराया-दर तय करते हैं और बेदखल करने की शक्ति रखते हैं और अन्य कई व्यक्ति, जो व्यक्तिगत व सार्वजनिक सुविधा व सेवाओ पर नियन्त्रण का प्रयोग करते हैं तथा जिन पर अधिकांश जनता अपनी आवश्यकताओं के लिए निर्भर रहती है।

इन व्यक्तियों की आर्थिक शक्ति अक्सर सामाजिक व्यवस्था मे निहित तत्व से और सुदृढ हो जाती है। विशेष तौर से ग्रामीण क्षेत्रों मे कुछ व्यक्ति अधिकांश लोगों पर प्रभाव रखते है क्योंकि वे अपने क्षेत्र मे प्रमुख जाति के सदस्य है या इसलिए कि वे अपनी जाति के अन्तर्गत परम्परागत रूप से सत्ता पर अधिकार रखते आए है। उदाहरण के लिए निकोलस द्वारा किए गए एक अध्ययन के अन्तर्गत गाँव (चाँदीपुर) में यह पाया गया कि ग्रामीण जीवन के अधिकांश मामलों मे सुमदाय की प्रभुत्वशाली जाति पहल करती है और उन्हे नियन्त्रित करती है।

अधिकांश भागो मे जो जातियाँ सामाजिक स्थिति से निम्नतर है उन्हे प्रभुत्व वाले वर्ग की पहल को स्वीकार करना चाहिए।[६] यहाँ तक कि शहरी क्षेत्रों मे कलकत्ता मे कारखाना समूह का एक सरदार, उन लोगों के जीवन में सम्बन्धित सभी क्षेत्रों पर अपना अधिकार रखता है जो इसके अन्तर्गत हैं और यह अधिकार ग्रामीण सामाजिक सरचना में उसकी स्थिति से उत्पन्न होता है।[७] संभवतः वे व्यक्ति भी अधिक प्रभाव डालते हैं जिनकी उनके समुदाय मे काफ़ी प्रतिष्ठा होती है। उदाहरणार्थ आदिवासी और अछूत समुदायों के नेता, बंगाली मध्यम वर्ग के सदस्य जो अपनी सांस्कृतिक उपलब्धि या अपने परिवार की सांस्कृतिक उपलब्धि के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त है, पास-पड़ोस सगठन के नेता जो पड़ोस में पूजा (धार्मिक उत्सवो) के लिए कोष संगठित और प्रदान करते हैं, और कला व साहित्य के सरक्षक जो नाटक व सांस्कृतिक गतिविधियों के लिए पैसा व सुविधाएँ जुटाते हैं।

क्योंकि ये लोग ऐसी सामाजिक स्थिति में है जहाँ वे अधिकांश स्थानीय जनता के आर्थिक भविष्य पर नियन्त्रण रखते हैं, या क्योंकि इनके पद व सत्ता के कारण अधिकाश जनता इनका आदर करती है। अतः ऐसे 'महत्त्वपूर्ण व्यक्ति'[८] अपने सभी या लगभग सभी समर्थको, निर्भर व्यक्तियों व आश्रितों को एक दल अथवा दूसरे दल के समर्थन मे मत देने

६ राल्फ, डब्ल्यू. निकोलस, "विलेज फक्शन्स एण्ड पॉलिटिकल पार्टीज इन रूरल वेस्ट बंगाल", जरनल ऑफ कामनवेल्थ पॉलिटिकल स्टेडीज" सख्या १ (नवम्बर १९६३), १९

७ अशोक मित्रा, 'वेस्ट बंगाल, सिक्किम एण्ड चन्द्रनगर' सेन्सस ऑफ इण्डिया में के १९५१ एण्ड भाग ए रिपोर्ट (दिल्ली, मैनेजर ऑफ पब्लिकेशन्स, १९६३) पृ. ३१८-१९

के लिए प्रेरित करने की क्षमता रखते हैं। लेकिन तथ्य यह है कि ये इतनी पृथक् सामाजिक आर्थिक पृष्ठ-भूमि से जुड़े होते हैं और इनका प्रभाव अपेक्षाकृत इतने छोटे क्षेत्र तक सीमित रहता है जिससे यह आभास होता है कि उनमें सामान्य हितों व उद्देश्यों का अभाव है। इसका अर्थ यह है कि अगर इन व्यक्तियों का उपयोग राजनैतिक संगठन के उद्देश्य से किया जाय तो कई विषयों पर निश्चित और सुदृढ़ दलीय मापदण्डों के प्रयोग के लिए इनको आकर्षित करना कठिन होगा।

लेकिन जब से राज्य के कांग्रेस दल ने सुदृढ सैद्धान्तिक बातों पर आग्रह करना छोड़ दिया है या वह केन्द्र सरकार के योजना व कार्य-क्रम के दावों से मुक्त है, वह इन 'महत्वपूर्ण व्यक्तियों' के साथ स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल गठबन्धन कर सकता है (समझौता और लेन-देन से व सजा अथवा पुरस्कार प्रदान कर)। उदाहरण के लिए, दामोदर घाटी निगम के मामले में पश्चिम बंगाल का कांग्रेस दल जल-वितरण से सम्बन्धित सहायता देने में समर्थ था। जिन्होंने अपने हित को ध्यान मे रख कर सिंचाई उपकर (cess) दिया, उन्हे इससे लाभ प्राप्त हुआ। कांग्रेस दल उन क्षेत्रों से भी सिंचाई उपकर एकत्रित न करने के लिए कार्य करता रहा यहां लोग इस योजना के अन्तर्गत नियमित जलमार्ग से पानी लेने के अनिच्छुक थे और उसे छल कपट से प्राप्त करते थे। इस घटना में दल उन किसानों व भू-स्वामियों का पक्ष ले सका जिन्होंने यह तर्क दिया कि दामोदर घाटी योजना के द्वितीय चरण को पूरा करने के बजाय स्थानीय विकास अधिक महत्वपूर्ण है। तदनन्तर दल उन बस्तियों मे एक राहत संगठन के रूप में भी कार्य कर सका जहां द्वितीय चरण के कार्य को न करने के कारण भयंकर बाढ़ आ गई थी। दल को यह अपयश मिला है कि वह महत्वपूर्ण व्यक्तियों के दबाव के वशीभूत होकर सैद्धान्तिक अभिमुखीकरण का प्रतिशोधक बन गया है। वस्तुत. केवल इसी आधार पर उसने राज्य को प्रभावशाली रूप से संगठित भी किया है।

इस प्रकार के राजनैतिक प्रतिनिधित्व में प्रभाव डालने की दिशा मे विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान कांग्रेस का है जो स्वतन्त्रता के उपरान्त विकसित हुई थी। यह संगठन मुख्यतः अतुल्य घोष द्वारा बनाया गया था। स्वतन्त्रता के बाद जब घोष प्रदेश कांग्रेस समिति के महासचिव चुने गए, उन्होंने तत्काल कई ऐसे केन्द्रों की स्थापना की शुरूआत की। बंकुप जिले में दौलागरा, हुगली में आरामबाग, कलकत्ता में अतुल्य के निवासस्थान, कर्वली लेन मे और अन्य कई जगह। यहां पर राजनैतिक कार्य-कर्त्ता रह कर काम कर सकते थे या विचार-विमर्श के लिए मिल सकते थे। ऐसे प्रत्येक केन्द्र पर कई नवयुवक दलीय कार्यकर्ता रहते हैं जो रचनात्मक गतिविधियों मे भाग लेते हैं, अपने आपको स्थानीय व जिला स्तरीय राजनै-

---

८ यह शब्द रजनी कोठारी द्वारा प्रयोग मे लाया गया, सम प्रॉब्लम्स ऑफ आर्टीक्यूलेशन्स इन इण्डियन पॉलिटिक्स, यह लेख अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विज्ञान परिषद् के लिए तैयार किया गया, बम्बई जनवरी १६६४ पृ. २ (मिमियोग्राफ्ड, यह निकोलस द्वारा भी प्रयोग किया गया, जरनल ऑफ कामवैल्थ पालिटिकल स्टडीज (नवम्बर, १९६३)

तिक गतिविधियों से पूरी तरह परिचित रखते हैं, कांग्रेस फाइलों को रखते है तथा इसी तरह के अन्य कार्य करते हैं। राज्य के दलीय व सरकारी नेताओं द्वारा अपने जिले की यात्रा के दौरान वारी-वारी से प्रत्येक केन्द्र का निरीक्षण होता है। जिले के उन राजनैतिक कार्यकर्ताओं ने भी इस दिशा में योगदान दिया है जो किसी जानकारी की प्राप्ति के उद्देश्य से या शिकायतें लेकर दलीय कार्यालय आते हैं। इन केन्द्रों के अस्तित्व ने निश्चित रूप से राजनैतिक नेताओं और साधारण जन के मध्य घनिष्ट सम्पर्क का साधन प्रदान किया है। ये राज्य कांग्रेस दल के ऊपरी वर्ग को भेजी जाने वाली स्थानीय व ग्रामीण माँगों तथा शिकायतों का संचार माध्यम हैं। इस शृंखला मे जुड़े हुए लोगो का केन्द्र के साथ घनिष्ट सम्बन्ध इनके मध्य बातचीत मे प्रयोग में लाये गए स्नेह-युक्त सम्बोधनों से प्रकट होता है। घोष स्वयं 'बडा बाबू' नाम से जाने जाते हैं जोकि एक अधिपुरुष (बॉस) के लिए एक स्नेहपूर्ण सम्बोधन है। या उन्हें अनुल्य दा (बडा भाई) कहा जाता है। इस संगठन की प्रभावशीलता इस तथ्य से प्रकट होती है कि स्वतन्त्रता से पहले बगाली राजनीति पर हावी होने वाले बहुसंख्यक गुट स्वतन्त्रता के बाद या तो समाप्त हो गए या समाहित कर लिये गए।

केन्द्रीय दलीय नेताओ के प्रभाव से राज्य कांग्रेस दल की स्वतत्रता राज्य आधारित सुगठित संगठन के निर्माण पर ही निर्भर नही है, बल्कि इस स्वतन्त्रता को दल के आकारनिष्ठ ढाँचे द्वारा प्रोत्साहित किया गया है (जबकि स्वतन्त्रता पूर्व काल में इस दल का नेतृत्व केवल विचारधारा युक्त था)। प्रदेश कांग्रेस कमेटी १६२० से ही दल का निर्णायक संगठन रही है जिसने दल को राज्य व प्रान्तीय सीमा के अन्तर्गत संगठित किया है। यह प्रदेश कांग्रेस कमेटी ही स्थानीय जिला व मंडल कांग्रेस कमेटियों की संख्या निर्धारित करती है जिन्हें राज्य मे सगठित किया जाना होता है। यही इन स्थानीय स्तर पर संगठित इकाईयों को एक साथ रखने के लिए भी पूर्णरूप से उत्तरदायी है। स्पष्टतः स्थानीय इकाईयो पर नियन्त्रण ही प्रान्तीय नेतृत्व को दलीय सदस्यता के सम्बन्ध मे अत्यधिक प्रभाव प्रदान करता है। परिणामस्वरूप राज्य मंत्रिमंडल व केन्द्रीय संसद् में निर्वाचक स्थिति को बनाए रखने में प्रातीय नेतृत्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राज्य कांग्रेस के नेतृत्व का महत्व कई अन्य घटको से भी बढ़ा है। जब से कांग्रेस दल का संविधान एक ही व्यक्ति को मुख्य-मंत्री व साथ ही प्रदेश कांग्रेस समिति का अध्यक्ष बनने से रोकता है तभी से मन्त्रिमण्डल दलीय सगठन को न तो हथिया सकता है और न नियन्त्रित ही कर सकता है। और इस प्रकार, अक्सर मुख्य-मंत्री निश्चित रूप से इस राजनैतिक व्यवस्था पर अपनी निर्भरता को स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है जो उसे पद पर बनाए रखती है। इसके अतिरिक्त दल का प्रमुख राज्य मे दलीय वित्त पर नियन्त्रण रखता है और कांग्रेस कोष के लिए आधिकारिक रूप से उसे एकत्रित करता है।[६] नियन्त्रण के इस

---

६ मार्कुस फान्डा, दि ऑर्गेनाइजेशनल डेवलेपमेंट ऑफ इंडियाज् कांग्रेस पार्टी, पेसेफिक अफेयर्स सख्या ३ (काल १९६२) २५३

स्वरूप के कारण राज्य प्रदेश कांग्रेस समिति अपने राज्य में अत्यधिक स्वायत्तता प्राप्त करने में समर्थ है।

क्योंकि पश्चिमी बंगाल का कांग्रेस दल बहुत संयुक्त रूप से बना हुआ संगठन है, जो अपनी शक्ति को राष्ट्रीय दल से स्वतन्त्र होकर स्थानीय स्रोतों से प्राप्त कर रहा है, इसलिए यह राज्य, दलीय मामलों मे केन्द्रीय व्यक्तियों के हस्तक्षेप के प्रयासों को प्रभावशाली ढंग से हटाने मे समर्थ रहा है। वस्तुतः अनेक बार केन्द्रीय दलीय नेता पश्चिमी बंगाल कांग्रेस दल की जिला व स्थानीय इकाईयो को नई दिल्ली से नियन्त्रित करना चाहते थे। उन्होंने राज्य संगठन मे केन्द्रीय दलीय नेताओं के पक्षधर प्रत्याशियों को आरोपित करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने विरोधियों को भी अलग किया जो दल के वर्तमान नेतृत्व को उखाड़ना चाहते थे। लेकिन अनेक अवसरो पर केन्द्रीय नेतृत्व वर्ग के निर्देशों का प्रतिरोध करने मे राज्य के दल की प्रभावशीलता सिद्ध हुई है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् पश्चिमी बंगाल कांग्रेस संगठन पर केन्द्रीय दलीय नेताओं के नियन्त्रण का प्रथम प्रयास १९४७ मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के तत्काल बाद सामने आया। यह वह समय था जबकि पश्चिमी बंगाल राज्य गम्भीर राजनैतिक संकट के दौर से गुजर रहा था। इस समय तक शहरी संगठन, जो पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान पश्चिमी बंगाल के कांग्रेस दल पर प्रभुत्व रखता था, अखण्ड रूप से नहीं बन सका था। ऐसा मुख्यतः इसके नेता सुभाष बोस के अलग हो जाने के परिणामस्वरूप हुआ था। कई कांग्रेसी समर्थक, जो बोस के अनुयायी थे, युद्ध के समय कांग्रेस से बाहर हो गए और वामपंथी दलों में शामिल हो गए। कांग्रेस के अनेक गढ़ विभाजन के कारण राज्य से अलग हो गए और दल को चुनाव लड़ने में ऐसे क्षेत्रो मे संकट का सामना करना पड़ा जहाँ स्वतन्त्रता से पहले मुसलमान मंत्रिमण्डल सत्ता मे था। विधान सभा और प्रदेश कांग्रेस समिति मे किसी समूह विशेष का नियन्त्रण होने की स्थिति में कांग्रेस उच्च कमान ने प्रफुल्ल घोष को समर्थन देने का निश्चय किया जो कांग्रेस कार्य समिति के सदस्य व गाँधी के पक्के समर्थक थे। लेकिन पश्चिमी बंगाल में घोष का राजनैतिक समर्थन नगण्य था। वह कोमिल्ला (पूर्वी बंगाल) में अभय आश्रम में गाँधीवादी समूह के नेता थे और पश्चिमी बंगाल में इनका कोई विशिष्ट राजनैतिक प्रभाव नही था। फलतः इनका नेतृत्व कमजोर पड़ गया, विधान सभाई दल ने इनका समर्थन नही किया और अन्ततः राज्य के राजनीतिज्ञों के हठ के कारण उन्हें त्यागपत्र देने को बाध्य होना पड़ा।

इस प्रकार पश्चिमी बंगाल में वर्तमान कांग्रेस संगठन को प्रेरणा स्वयं राज्य से ही मिली न कि केन्द्र से।[१०] जनवरी १९४८ को राज्य विधान सभा के कांग्रेसी सदस्यों ने अपना समर्थन विधानचन्द्र रॉय को दिया जो कलकत्ता के एक सम्मानित डॉक्टर थे और उन्होंने तत्काल पश्चिमी बंगाल के गुटों व संगठित समूहों के समर्थन को प्राप्त करने का प्रयास किया। आरामबाग समूह के नेता प्रफुल्ल सेन, राज्य सरकार में मन्त्री नियुक्त किए गए

---

१० के. पी. थॉमस, डॉ. बी. सी. रॉय (कलकत्ता : प. बंगाल कांग्रेस समिति, १९५५) पृ० २२५

(बाद में ये मुख्य मन्त्री बने) और इसी तरह हुगली समूह के कई सदस्यों को भी अनेक मन्त्रिमण्डलीय पदों पर रखा गया। हुगली जिला राजनीति के प्रमुख नेता, श्री अतुल्य घोष दल के सचिव बने। इसके साथ ही कई महत्त्वपूर्ण मन्त्रिमण्डलीय विभाग या तो स्वयं रॉय के हाथ में ही रहे या उनके समर्थकों व कलकत्ता के सहयोगियो के पास।

१९४८ मे जिस राज्य आधारित समग्र संगठन ने पश्चिमी बंगाल में सत्ता ग्रहण की, वह काफी स्थिर रहा। वह राज्य के सगठनात्मक कार्यों पर प्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय कर्मचारियों द्वारा डाले गए प्रभाव के प्रयासो का प्रतिरोध करने मे सक्षम रहा। १९५२ के बीच मे दक्षिणी कलकत्ता जिला कांग्रेस समिति में पनपे गुटीय झगड़ों की समाधान-विधि से यह देखा जा सकता है। झगड़े का संबध उस समय बनाए गए संगठन के स्वरूप से था। १९५२ के मध्य में दक्षिण कलकत्ता जिला कांग्रेस समिति के कई सदस्य घोष द्वारा बनाए गए दल के स्थान पर एक अधिक सिद्धान्त अभिमुखी दल के पक्ष मे थे। क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि विरोधी विचारों का दल आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र मे तीव्र व क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में अधिक सक्षम होगा।[11] यद्यपि यह गुट उस समय अपनी जिला कांग्रेस समिति मे ही नही थे फिर भी यह महसूस किया गया कि जिला कांग्रेस समिति के अधिकांश सदस्य वहाँ की समिति के पुनर्गठन के पक्ष में थे और यह आशा की जाती थी कि ये विरोधी सदस्य नए दलीय चुनावों मे जीत जाएँगे। इन सदस्यो ने कांग्रेस कार्य समिति से यह प्रार्थना की कि वह जिला कांग्रेस समिति के नए चुनावों का प्रबंध करे। कार्य समिति ने तत्काल दक्षिणी कलकत्ता में नए चुनावो के लिए आदेश दे दिया। प्रदेश कांग्रेस समिति के सचिव विजयसिंह नाहर ने कहा कि दक्षिणी कलकत्ता जिला कांग्रेस समिति के नए चुनाव (मई २४, १९५२) को होंगे लेकिन चुनाव होने के पाँच दिन पहले दल की इस इकाई को पूर्णतः बदल दिया गया। कार्य समिति के आदेशों का पालन करने के बजाय प्रदेश कांग्रेस दल के अध्यक्ष (अतुल्य घोष) ने निर्वाचन इकाई को भंग कर दिया और नाहर को यह निर्देश दिया कि 'दक्षिणी कलकत्ता जिला कांग्रेस समिति के सभी मामलों को वह अपने हाथ में लेकर उन पर कार्रवाई करें।[12] तत्पश्चात् राज्य के दल ने, दक्षिणी कलकत्ता इकाई मे विरोधियों को बाहर करने के लिए कई नए सदस्यो को लेने के उपाय किए और अन्ततः वह राज्य के दलीय संगठन से विरोधियो को बाहर करने में वह समर्थ रहा। विशेष बात यह है कि यह सब केन्द्रीय दलीय सगठन के आदेशों के विरोध

---

११ प्रमुख कांग्रेसियो मे से वे जो पश्चिमी बंगाल में बिल्कुल हाल ही मे इस गुट के साथ जुड़े हैं वे हैं प्रफुल्ल बनर्जी, बरेन सेन, जहाँगीर कबीर, श्रीमती मैत्रेयी बोस, अरविन्द बोस, कन्हैयालाल गोस्वामी और अशोक सेन। इस गुट के सदस्यों का यह विश्वास है कि कांग्रेसी एक ऐसा राजनैतिक आधार प्राप्त करने के लिए तत्पर हैं जिससे राज्य में दलीय मामलों में केन्द्रीय प्रभाव में वृद्धि हो सके। राज्यों के पुनर्गठन के अध्ययन मे निश्चित रूप से यही मामला था। अशोक सेन को दल द्वारा बंगाल बिहार विलय के अलोकप्रिय प्रश्न के लिए नामांकित किया गया। वह पश्चिमी बंगाल के विरोधियों के सबसे बड़े नेता हैं और स्व० नेहरू के निकटतम् मित्र हैं।

१२ स्टेट्समेन (कलकत्ता) जून १८, १९५२ पृष्ठ ५

में किया गया।[१३]

कांग्रेस उच्च कमान द्वारा राज्य दलीय संगठन के कार्यों में हस्तक्षेप का दूसरा बड़ा प्रयास १९५८ में हुआ, पश्चिमी बंगाल प्रदेश कांग्रेस समिति के १९५८ के चुनावों के तुरन्त पहले। इस समय पश्चिमी बंगाल के कई कांग्रेसी सदस्यों ने शैलकुमार मुकर्जी के चुनाव कार्य के लिए एक अस्थाई समिति का संगठन किया। श्री शैलकुमार मुकर्जी प्रतिष्ठित कलकत्ता निवासी व विधान सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष थे और एक जो केन्द्र सरकार की योजनाओं, कार्यक्रमों व नीतियों के प्रति राज्य की निष्ठा व उसके दृढ़ समर्थन के पक्षधर थे। प्रारम्भिक अवस्था में इस 'उग्र वर्ग' (Ginger group) ने नेहरू से यह प्रार्थना की कि वह घोष को दल के अध्यक्ष के रूप में त्यागपत्र के लिए निर्देश दें। नेहरू ने घोष को त्यागपत्र देने का निर्देश देने से मना कर दिया और यह कहा "मैं पश्चिमी बंगाल कांग्रेस संगठन के लिए घोष द्वारा किए गए कार्यों के प्रति अच्छी राय रखता हूँ। वह एक अच्छे संगठनकर्त्ता है और उन्होंने कांग्रेस की अच्छी सेवा की है। पश्चिमी बंगाल पर नेतृत्व या किसी अन्य चीज को आरोपित करना मेरा कार्य नहीं है। मेरी रुचि कांग्रेसियों के प्रभावशाली कार्य में है"।[१४] साथ ही नेहरू ने विरोधियों को यह कह कर भी प्रोत्साहित किया कि 'सिद्धान्त रूप में कांग्रेस समितियों में पदाधिकारियों की क्रमिक व्यवस्था को रखना अधिक उपयुक्त है'।[१५]

नेहरू के इस वक्तव्य के तत्काल बाद कांग्रेस दल की कार्य समिति ने एक आदेश जारी किया जिसमें सब संसद् सदस्यों को, जो प्रदेश कांग्रेस समिति की कार्यकारिणी के भी सदस्य थे, यह निर्देश दिया गया कि वे किसी एक अथवा दूसरे पद से त्यागपत्र दे दें। उस समय अतुल्य घोष संसद् सदस्य और साथ ही पश्चिमी बंगाल के प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष भी थे। दल के केन्द्रीय संसदीय बोर्ड ने उनको यह निर्देश दिया कि वह प्रदेश कांग्रेस समिति की अध्यक्षता से इसलिए त्यागपत्र दें क्योंकि वह दल के लिए एक संसद् सदस्य के रूप में अधिक महत्वपूर्ण हैं। (वास्तविकता यह थी कि इस समय से पहले वह लोक सभा की बैठकों में केवल तीन अवसरों पर ही उपस्थित हुए थे जबकि ६ साल से वह संसद् सदस्य थे।) यद्यपि घोष और उनके अनुयायियों ने इस घटना को राज्य के मामलों में केन्द्र द्वारा अवांछनीय हस्तक्षेप के रूप में देखा[१६] फिर भी वे केन्द्रीय दल की संस्था के निर्देशों के अनुसार कार्य करने व साथ ही अपने संगठन पर नियन्त्रण बनाए रखने में सक्षम

१३ दक्षिणी कलकत्ता जिला कांग्रेस समिति के सदस्यों ने कार्य समिति से बाद वाली तारीख को जिला कांग्रेस समिति को पुनर्गठित न करने की प्रार्थना की। इसका आधार यह था कि राज्य पी. सी.सी. ने कार्य समिति के पहले के आदेशों का पालन नहीं किया, एक कार्य समिति की उपसमिति ने जिसमें देसाई, गाडगिल और पन्त थे, इन आरोपों को बहुत अधिक संदिग्ध कह कर समाप्त कर दिया। देखिये पूर्वोक्त, जनवरी १३, १९५३

१४ पूर्वोक्त, जुलाई २५, १९५८ पृ०।

१५ इसे 'उग्र समूह' द्वारा उत्साह के रूप में लिया गया। पूर्वोक्त, देखिये पृ० ५। कई विरोधियों ने साक्षात्कार में यह कहा कि व्यक्तिगत सभाओं में अपनी योजना को आगे लाने के लिए उन्हें नेहरू ने उत्साहित किया।

१६ एक साक्षात्कार में घोष द्वारा कहा गया अप्रैल १६, १९६४

रहे। ३१ अक्टूबर १६५८ को अतुल्य घोष ने प्रदेश कांग्रेस समिति के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया और उसी दिन प्रदेश कांग्रेस समिति के अन्य सभी पदाधिकारियों ने भी अपने त्यागपत्र प्रस्तुत कर दिए। दो दिन बाद वे कार्यपालिका परिषद् के रूप में अन्तिम बार मिले और अपनी कार्रवाई के पक्ष में मत दिया। साथ ही उन्होंने सम्पूर्ण प्रदेश कांग्रेस समिति की साधारण सभा का आयोजन किया (करीब ६०० सदस्य) जहाँ नई कार्यपालिका परिषद् का चयन होना था।

पश्चिमी बंगाल के विरोधी गुटों ने नेहरू और यू० एन० ढेबर (कांग्रेस अध्यक्ष) से इस पूर्वमान्यता के आधार पर एक तदर्थ समिति बनाने की प्रार्थना की कि यदि इसी प्रदेश कांग्रेस समिति के आह्वान पर साधारण सभा की बैठक आयोजित हुई तो उसमे घोष समर्थित वर्ग ही निर्वाचित होगा। उन्होंने इस प्रस्तावित तदर्थ समिति के अध्यक्ष पद के लिए शैल मुकर्जी का नाम सुझाया।[१७] लेकिन मुकर्जी ने मुख्यमन्त्री बी० सी० राय के समर्थन के बिना अपनी सहमति देने से इन्कार कर दिया।[१८] अन्ततः राय ने इन विरोधियों को घोष व उनके वर्ग की तुलना मे समर्थन देने से इन्कार कर दिया क्योंकि घोष वर्ग उनकी सरकार को अस्तित्व मे लाने मे सहायक हुआ था। परिणामस्वरूप ७२ साल के बुजुर्ग कांग्रेसी श्री जादवेन्द्र नाथ पंजा का नाम कांग्रेसी अध्यक्ष पद के लिए घोष समर्थित समूह द्वारा प्रस्तावित किया गया (पी० सी० सेन ने स्वयं इस नाम का प्रस्ताव रखा) और प्रदेश समिति की सभा में मान्य बहुमत से उन्हें चुन लिया गया। पंजा ने अपने सहयोगियों के रूप के उन्हीं व्यक्तियों को नामांकित किया जिन्होंने चुनाव से पहले प्रदेश कांग्रेस समिति की कार्यकारिणी का निर्माण किया। अपवादस्वरूप वे व्यक्ति नहीं लिए गए जो विरोधियों के पक्ष में हो गए थे। घोष स्वयं भी कार्यपालिका परिषद् में रहे और प्रदेश कांग्रेस समिति की कई महत्त्वपूर्ण समितियों मे, श्री घोष को स्थान मिला और पंजा के अनुरोध पर सम्बंधित समिति के सदस्य विशेष ने घोष के समर्थन में स्वेच्छा से त्यागपत्र दे दिया। इसका निश्चित परिणाम यह हुआ कि विरोधियों को या तो घोष के नेतृत्व और संगठन को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया या उन्हें दल मे निकाल दिया गया। प्रदेश कांग्रेस समिति के चुनाव के बाद एक वक्तव्य मे (विरोधियो ने) यह कहा कि जो कुछ हुआ है वह मात्र "पत्तों का हेर-फेर है।" और पहले की अपेक्षा अब वे कहीं अधिक शक्तिहीन है।[१६]

यह संभव है कि पार्क द्वारा इंगित तथ्य के अनुकूल भारत के अन्य क्षेत्रों मे कांग्रेस दल 'अनुशासित' व केन्द्र द्वारा नियंत्रित हों। लेकिन पश्चिमी बंगाल प्रदेश कांग्रेस समिति को अनुशासित करने की केन्द्रीय दलीय नेतृत्व की अयोग्यता उसकी इस संगठन पर निर्भरता को प्रतिबिम्बित करती है। क्योंकि राज्य-संगठन प्रत्यक्ष रूप से अपने कार्यों में केन्द्रीय दल

---

१७ स्टेट्समेन (कलकत्ता)', नव० १४, १६५८ पृ. १

१८ पूर्वोक्त नव० २४, १६५८ पृ. १

१६ पूर्वोक्त, नवम्बर २६, १६५८, पृ. ७

के अधिकारियो के हस्तक्षेप को प्रभावशाली ढंग से रोकने में समर्थ रहा है, इसीलिए राज्य की प्रदेश काग्रेस कमेटी (पी० सी० सी०) बिना किसी आशंका के अपना स्वतंत्र मार्ग निर्धारित कर सकी। प्रदेश काग्रेस कमेटी को अनुशासित न रख पाने के कारण अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के नेता मतो, दल की वित्तीय व्यवस्था व चुनाव संगठन के लिए के नेताओ पर निर्भर रहते है।

इस प्रकार का दलीय ढांचा एक केन्द्रित निर्णय प्रक्रिया के मार्ग मे बाधक होता है, यह स्पष्ट रूप से विभिन्न अध्ययनों मे अभिव्यक्त हुआ है। उदाहरण के लिए दामोदर घाटी निगम के मामले मे राज्य काग्रेस दल ने उन कृषको का पक्ष लिया जिन्होने इसकी नहरों से छलकपट से पानी लिया था। यह केन्द्रीय दल के निर्देशों के विपरीत था और उसने इसी कारण ऐसे व्यवहार की भर्त्सना की थी। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने राज्य के नेताओ की सभी मांगों को स्वीकार किया (जोकि केन्द्र से पृथक्, स्वतन्त्र निर्णय के तरीके को अपना रहे थे) क्योकि राज्य के दल ने यह तर्क दिया था कि यह उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक था। इसी तरह राज्यों के पुनर्गठन के मामले में राज्य के दलों को अधिक छूट देने के लिए सरकार को उस समय बाध्य होना पड़ा जब राज्य पुनर्गठन आयोग के प्राथमिक प्रतिवेदन के प्रकाशन के बाद प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने अहिंसात्मक प्रदर्शनों की धमकी दी। केन्द्र बिहार और बंगाल को मिलाने के सरकारी प्रस्ताव के विरुद्ध राज्य कांग्रेस की गतिविधियों को रोकने मे भी असमर्थ रहा। अन्त में, भूमि सुधार के मामले मे राज्य के नेताओं ने यह तर्क दिया कि ग्रामीण जनता के हित को समन्वित करने वाला विधेयक दलीय सगठन को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। केन्द्रीय दलीय नेताओं ने भिन्न मत रखने के बावजूद अपने विरोध को इसलिए नही प्रकट होने दिया कि कही ऐसा न हो कि राज्य मे उनकी चुनाव स्थिति पर संकट आ जाए।

राजनैतिक संचालन (Mobilization)

यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि भारत के अन्य कई राज्यों में प्राय. इसी तरह का दलीय ढांचा है और इन राज्यो में दलीय व्यवस्था करीब-करीब उसी तरह काम करती है जैसी पश्चिमी बंगाल में लेकिन फिर भी इसके परिणाम केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के संदर्भ में अलग-अलग दृष्टिगोचर होते हैं। मध्यप्रदेश कांग्रेस का प्रत्यक्ष उदाहरण लिया जाए। उसकी केन्द्रीय दल से संरचनात्मक व्यवस्था वैसी ही है जैसी पश्चिमी बगाल की प्रदेश कांग्रेस समिति की। लेकिन मध्यप्रदेश में राजनैतिक कार्यों में भाग लेने के निम्न स्तर और राज्य के राजनीतिज्ञो की केन्द्र राज्य के सम्बन्ध मे जनता को गतिशील रखने की अयोग्यता के कारण यह राज्य काफी सीमा तक नई दिल्ली के नियंत्रण में रहा है। इसी सन्दर्भ में पश्चिमी बंगाल मे राजनीतिकरण की अधिक सीमा महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योकि यह स्पष्ट है कि अन्य राज्यो की भांति पश्चिमी बंगाल राजनैतिक दृष्टि से अत्यधिक संचालित है और जनसंख्या का एक बड़ा भाग विशेषत. केन्द्र-राज्य सबधो से सबधित किसी भी प्रश्न पर बडी शीघ्रता से भावुकतापूर्वक उत्तेजित हो जाता है।

बंगाल में राजनीतिकरण की अधिक दर इस क्षेत्र के औपनिवेशिक इतिहास व स्वतंत्रतावाद के अनुभव–दोनों का परिणाम है। बंगाल वह पहला क्षेत्र था जो भारत मे अंग्रेजों द्वारा उपनिवेश बनाया गया और इस पूरे महाद्वीप के सामाजिक परिवर्तन और शासन के तरीकों के लिए यह क्षेत्र अंग्रेजो के कई प्रयासों का केन्द्र बना। विशेष रूप से पूरी १९ वी सदी के दौरान ब्रिटिश भूमि सुधार तरीकों, शिक्षा नीति, औद्योगिक और व्यापारिक नीति और अन्य कई प्रयोग पहले बगाल में किये गए और बाद मे उनका अन्य प्रान्तों मे प्रसार हुआ।[२०] आश्चर्य नही कि चेतना व राजनैतिक जागृति पहले बंगाल मे उठी (विशेषतः कलकत्ता के निकटवर्ती क्षेत्रो में) और बगाली कई राजनैतिक जागृति लाने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों में अग्रणी हो गए। प्रथम कांग्रेस अध्यक्ष बंगाली था और इसके अतिरिक्त अन्य कई प्रमुख उदारवादी नेता भी बंगाली थे जिन्होने प्रारम्भिक चरणों मे कांग्रेस को नेतृत्व दिया। आतंकवादी आन्दोलन व क्रान्तिकारी हिंसा, जो इस शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में दृष्टिगत हुई, उसके विकास का माध्यम भी बगाली ही थे। प्रारम्भिक आतकवादी संगठन (जुगान्तर और अनुशीलन समिति) की स्थापना बगाल मे हुई थी और रूसी क्रान्ति के बाद भारत में कई मार्क्सवादी वामपन्थी दलो का जन्म भी बंगाल में ही हुआ। वस्तुतः राष्ट्रीय आन्दोलन मे बगाल का महत्त्वपूर्ण स्थान इस शताब्दी के तीसरे दशक तक अर्थात् गांधी और अन्य राष्ट्रीय नेताओं के जन्म तक कम नही हुआ था।

इस शताब्दी में कई ऐसी घटनाएँ हुई जिन्होने इस क्षेत्र मे बगालियों के राजनैनिक जागरण का प्रसार किया। जहाँ एक ओर बगाली अपने प्रान्त की सांस्कृतिक और राजनैतिक गरिमा के ह्रास का अनुभव कर रहे थे, वही दूसरी ओर उन्हे एक भयकर अकाल का भी सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान वे कलकत्ता और उसके बाहरी क्षेत्रो में मित्रराष्ट्रों की गतिविधियों से भी सम्बद्ध रहे। १९४७ में इस उपमहाद्वीप के विभाजन और उसके परिणामस्वरूप हुए व्यापक दंगों का प्रभाव भी यहा पड़ा और भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति ने भी उन्हे अत्यधिक प्रभावित किया जबकि परिवर्तन की गति अत्यधिक तीव्र थी। उन वर्षों के दौरान बगाली मध्यम वर्ग को मानसिक कुंठाओं व कठिनाइयों का उस समय सामना करना पड़ा जब बंगाल शेष भारत पर अपनी सांस्कृतिक "सर्वोच्चता" को बनाए रखने के लिए प्रयास कर रहा था। सारे भारत की तरह पश्चिमी बंगाल में भी विभाजन के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था मे अनेक अव्यवस्थाओं तथा भूमि सुधार और शैक्षणिक नीतियो के कारण मध्यम वर्ग मे तीव्र गति से शिक्षित बेरोजगारों मे वृद्धि हो गई थी। पूर्वी पाकिस्तान के शरणार्थियों की भारी संख्या तथा १० लाख ३० हजार मध्यस्थो के लिए जमीदारी कानून के उन्मूलन से मध्यम वर्ग का आकार काफी बढ गया था। उसके लिए नौकरियों के लिए संघर्ष, शिक्षा के अवसर और आवास की समस्याओं ने काफी विकराल रूप धारण कर लिया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के

---

२० १९वी शताब्दी में बंगाल में राजनीतिक चेतना का विवरण साधन बोस की पुस्तक "द इण्डियन अवेकनिंग एण्ड बंगाल" में है (कलकत्ता फिरमा के एल० मुखोपाध्याय, १९६०)

पश्चात् जीवन स्तर के महँगे होने और चुनाव की वास्तविकताओं के परिणामस्वरूप कलकत्ता शहर की समस्याओं की अवहेलना करने से शहरी मध्यम वर्ग की आर्थिक स्थिति अधिकाधिक नीचे गिरी है। साथ ही बंगाल के विस्थापन और शिक्षा की ऊँची माँग ने एक ऐसी शैक्षणिक व्यवस्था को उत्पन्न किया है जो पूर्ववर्ती स्तर की सांस्कृतिक गतिविधियों को बनाए रखने की उपयुक्तता के प्रति आस्थावान नहीं है।

यह प्रचलित धारणा है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों की अपनी अलग विशिष्ट भाषा, सामाजिक ढाँचा, जाति व्यवस्था, सांस्कृतिक परम्पराएँ और आर्थिक वितरण का एक पृथक् प्रतिमान है। कई बार यह भी कहा जाता है कि इतिहास में शायद ही कभी बंगाल दिल्ली के अधीनस्थ रहा हो और जब कभी भी ऐसा हुआ हो अस्तित्व प्राप्त केन्द्रीय साम्राज्य के साथ इसके गठबन्धन अस्थाई व सामान्यतः शिथिल ही रहे। भारत की विभिन्नता की चर्चा करना चाहे कितनी ही सामान्य धारणा क्यों न हो, इसी के साथ उन तरीकों पर भी विचार करना आवश्यक है जिनसे विभिन्नता ने अन्य घटकों के साथ मिलकर भारतीयों के विचारों व भावनाओं को प्रभावित किया है और जिसका केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर भी प्रभाव पड़ा है।

बंगाल के संदर्भ में, उच्चकोटि के राजनीतिकरण ने प्रादेशिक परम्पराओं के सहयोग से एक ऐसी स्थिति पैदा की है जिसमें जनसंख्या का अधिकांश भाग, बंगालियों की पृथक् सांस्कृतिक परम्पराओं को बनाए रखने के लिए अत्यधिक सजग और बहुत कृतसंकल्प है)। कई बंगाली अपनी भाषा को भारत की अन्य सभी भाषाओं से बहुत अधिक विकसित मानते हैं। बंगाली साहित्य, कला, नाट्य और चलचित्र अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक उच्चकोटि के माने जाते हैं और बंगाली लोग इसे बंगाली "प्रतिभा" का प्रमाण मानते हैं कि टैगोर ही एकमात्र ऐसे भारतीय थे जिन्होंने नोबेल पुरस्कार (Nobel pri'e) जीता, कि प्रेसीडेन्सी कॉलेज को किसी समय 'भारत का हावर्ड' कहा जाता था और कि गोखले ने एक बार कहा था" आज बंगाल जो सोचता है, वह भारत कल सोचेगा।[२१] बंगाली आज भी उन सांस्कृतिक उपलब्धियों तथा बौद्धिक और शैक्षणिक प्राप्तियों को काफी महत्त्व देते हैं जो बंगाली परम्परा को बनाए रखने में सहायक हैं। अधिकांश मध्यमवर्गीय परिवार आज भी बंगाली 'भद्रलोक' वर्ग (अच्छे आदमी) द्वारा शताब्दियों तक अपनाई गई परम्पराओं और गतिविधियों पर बल देते हैं।

वर्तमान शताब्दी की घटनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप शहरी मध्यम वर्ग का एक बड़ा भाग, प्रायः सभी राजनैतिक घटनाओं की व्याख्या केन्द्र की ब्रिटिश सरकार व अन्य

---

२१ कई बंगाली यह महसूस करते हैं कि बंगाल की सांस्कृतिक "प्रतिभा" बंगाली जनता में निहित है। इस घटना की सिद्धि के लिए "तीन सिद्धान्त" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक-जमीन का उपजाऊपन जिससे बंगाली जीवन की विलासिताओं पर अधिक ध्यान दे सकते हैं, दूसरा, जलवायु, जो विश्राम को प्रोत्साहित करती है, और तीसरा बंगाली जनता का जातीय संघटन (composition) माईरन वीनर की "भारत में विद्यार्थी समस्या'- भी देखिये स्टेट्समेन (कलकत्ता) मई २६), १९२४ पृ० ६

सरकारों तथा गैर-बंगाली व विदेशी व्यापारियो की षड्यंत्रकारी गतिविधियों के रूप में करने लग गया है। इस भावना का कि एक षडयंत्र बंगाल की भूमि के लिए खतरा बन रहा है, सहज परिणाम यह होता है कि उन कार्यो के विरुद्ध एक भावनात्मक आंदोलन उभरता है। जिनकी केन्द्रीय हस्तक्षेप, हिन्दू साम्राज्यवादी या किसी अन्य प्रकार के संघीय नियंत्रण के संदर्भ में व्याख्या की जाती है। वस्तुतः बगाली मध्यम वर्ग का काफी बड़ा भाग विभाजन और उसके दुष्परिणामों के लिए गाधी और कांग्रेस दल के केन्द्रीय नेताओं को दोषी मानता है,[२२] नेहरू को बगाली हितो के प्रति क्रूर और अपमानजनक उदासीनता के लिए दोषी ठहराता है क्योंकि उन्होंने नेहरू—नून समझौते के अन्तर्गत बेरुबाड़ी के पाकिस्तान व भारत के बीच समान विभाजन को स्वीकार कर लिया था और केन्द्र पर कई मामलों मे पश्चिमी बंगाल के प्रति "असहानुभूति या असम्बद्ध" होने का आरोप लगाता है। इन भूलों के सुधार के लिए आयोजित आंदोलनों मे बगाली मध्यमवर्ग ऐसे जन आदोलन व हड़ताले करने मे नही हिचकिचाया जिससे सारी बंगाली जनता सम्बद्ध हो सके। अपनी मागो के पक्ष में उन्होने राज्य सरकार और राज्य दल पर अत्यधिक दबाव डालने का प्रयास किया और कई अवसरों पर प्रदर्शन भी किए।[२३]

इस तरह की भावनाएँ और इस स्तर के विद्यमान राजनैतिक संचालन की सभावनाएँ केन्द्र सरकार की दिल्ली से निर्णय लेने की क्षमता मे बाधक बनती है, यह बात इस अध्ययन में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त की गई है। उदाहरण के लिए राज्यों के पुनर्गठन के विषय मे केन्द्रीय कार्यसमिति ने एक सुझाव स्वीकार करने के लिए मत दिया जिसे इसने पश्चिमी बगाल व बिहार के मध्य एक समझौते के रूप में देखा लेकिन उसने इन प्रदेशो के राज्य कांग्रेस दलो या राज्य सरकारो की बिना सलाह के ऐसा किया। वैसे यह ऐसा क्षेत्र भी था जिसमे केन्द्र सरकार को स्पष्ट रूप से निर्णय लेने का सवैधानिक अधिकार था। लेकिन केवल इस अफवाह ने कि केन्द्र ने राज्य के नेताओं से बिना सलाह लिये ही सबंधित निर्णय ले लिया है राज्य के अन्दर जन-आदोलन को उत्तेजित कर दिया। एक रात मे ही बड़े पैमाने मे विरोधी सगठन तैयार हो गए और पूरे राज्य मे उग्रतापूर्ण प्रदर्शन तत्काल शुरू हो गए, हिंसा का खतरा हो गया, और कांग्रेस दल ने भी इस विरोध प्रदर्शनो के समर्थन की आवश्यकता को स्वीकार किया। जब इस तरह का विरोध केन्द्र सरकार के निर्णय लेने के विरुद्ध किया गया, तो केन्द्र सरकार और केन्द्र के दलीय नेता तत्काल पीछे हट गए।

लेकिन स्थानीय और क्षेत्रीय परम्पराएँ, जो बगाल मे पनपी, वे अस्पष्ट रूप से एक दूसरे तौर पर केन्द्रीय सरकार की निर्णय-प्रक्रिया के विरुद्ध सगठित होने के लिए अवसर प्रदान करने में सहायक हैं। जैसाकि काहेन ने इंगित किया है कि विवेचनात्मक दृष्टि से

---

२२ "क्षेत्रीयता राजनीति और विचारो का एक अध्ययन" बगला अध्ययन पर द्वितीय वार्षिक सम्मेलन के लिए तैयार किया हुआ अप्रकाशित लेख, मसूरी कोलम्बिया, मसूरी विश्वविद्यालय मई १३-१५, १९६६ पृ.

२३ कलकत्ता में मध्यम वर्ग द्वारा अपनाए गए तरीके को माईरन विनर की कलकत्ता में हिंसा और राजनीति' मे देखा जा सकता है। जनरल ऑफ एशियन स्टडीज् न० ३, (१९६१) २७५-८२

राजनैतिक व्यवस्था के करीब चार स्तरों को पृथक् करना संभव है जो भारत के इतिहास के दौरान स्वतंत्र रूप अस्तित्त्व में रहे, साम्राज्यवादी, अप्रधन (Secondary) क्षेत्रीय और स्थानीय।[२४] संपूर्ण भारतीय इतिहास में इनमे से प्रत्येक स्तर की स्थिरता के बारे में कुछ कहना संभव है। साम्राज्यवादी और अप्रधान स्तर समय के दौरान तेजी से बदलते रहे हैं, कभी-कभी पूरा उपमहाद्वीप या उसका अधिकांश भाग इसके अन्तर्गत आया और कभी-कभी यह दृष्टि से ओझल ही हो गया। लेकिन क्षेत्रीय और विशेष रूप से स्थानीय व्यवस्थाएँ, कभी कुछ सीमा तक तो बदली लेकिन अन्य स्तरों की तुलना में उनमें निरन्तरता बनी रहीं (कार्य और कर्मचारियो दोनों दृष्टियों से)। काहेन के शब्दो में १८ वी शताब्दी तक एक परम्परा विकसित हो गई थी जिसमें, "वंश, परिवार या (स्थानीय) नेताओं ने प्रत्यक्ष रूप से स्थानीय किसानों, व्यापारियों और कारीगरों को नियन्त्रित किया और उनसे पैसा या फसल का भाग एकत्रित किया। इसके बदले में उन्होंने बाहरी हस्तक्षेप से उन्हे सुरक्षा प्रदान की।[२५]

यहाँ पर हमारा मन्तव्य यह तर्क प्रस्तुत करना नही है कि बंगाल के गाँव या स्थानीय सरकारे "अपरिवर्तनीय" है, लेकिन वर्तमान सन्दर्भ मे सुदृढ़ स्थानीय शासनों की परम्पराओं की महत्ता पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है। आज की दलीय व्यवस्था की सफलता, और राज्य की दलीय सरकार की केन्द्रीय दबाव को रोकने की क्षमता (कम से कम बंगाल में) राज्य के वर्तमान दलीय नेताओ द्वारा इस स्तर के स्थानीय शासकों को गतिशील बनाने की क्षमता पर निर्भर करती है। निकोलस ने यह अनुभव किया कि पश्चिमी बंगाल के कई "जमीदार" और उसके अध्ययन क्षेत्र के प्रायः सभी "मुखियाओं" ने अंग्रेजों को समर्थन दिया और अपनी ग्रामीण निर्भरता को काफी कुछ सफलता तक ब्रिटिश समर्थित समूह में व्यवस्थित कर दिया लेकिन जब स्वतन्त्रता मिलना निश्चित हो गया तो इनमें से अनेकों ने अपने समर्थन को कांग्रेस की तरफ मोड़ दिया।[२६] इस घटना में पश्चिमी बंगाल के स्थानीय राजनैतिक स्तर के नेताओं का व्यवहार पूरे बगाली इतिहास के स्थानीय नेताओं के व्यवहार से मौलिक रूप से भिन्न नही है। निरन्तर बदलते हुए केन्द्रीय नियन्त्रण का सामना करने मे बगाल के स्थानीय नेताओं ने एक विशिष्ट दृढ़ता का प्रदर्शन किया है। जो कोई भी स्थानीय और अप्रधान स्तरों पर स्थान प्राप्त करने में समक्ष प्रतीत हुआ है उन्होने उसी को अपना समर्थन दिया है।[२७]

इन स्थानीय स्तरों पर अपने निर्वाचक संगठनों को आधारित करने मे राज्य का कांग्रेस दल, कई परम्परागत कार्यों को पूरा करता है। जैसाकि वीनर ने स्पष्ट किया है कि

---

२४ बनार्ड एस, कोहेन, "१८ वी शताब्दी के भारतीय राजनैतिक व्यवस्थाएं", बनारस क्षेत्र "जनरल ऑफ द अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी न० ३ (जुलाई–सितम्बर १९६२) ३१२–२०

२५ पूर्वोक्त, पृ० ३१४

२६ राल्फ, डबल्यू. निकोलस और तारा शेष मुखोपाध्याय, पश्चिमी बंगाल के दो गाँवो में राजनीति और कानून बुलेटिन ऑफ द एन्थ्रोपोलोजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया, (१९६४) ६३७

२७ यह निर्मलकुमार बोस का भी निष्कर्ष या आधुनिक बंगाल (कलकत्ता विद्योदय पुस्तकालय, १९५९, पृ० २०)

कांग्रेस सामान्य रूप से कार्यों के शीघ्र सम्पादन द्वारा प्रशासन को जनता से जोड़ती है, मध्यस्थ के रूप में विभिन्न स्थानीय जनसमूहों के झगड़ों का निपटारा करती है और रचनात्मक कार्यकर्त्ता के रूप में सामाजिक सेवाओं व अनुदान प्रदान करने की दिशा में काम करती है।[२८] इन गतिविधियों से राज्य कांग्रेस दल ने उन कार्यों को अपनाया है जो शताब्दियों से क्षेत्रीय व स्थानीय सेवाओं द्वारा पूरे किए जाते रहे हैं।

स्थानीय परम्पराओं की उपस्थिति, और राज्य स्तर पर कांग्रेस दल की इस परम्परा के अन्तर्गत समर्थकों को सगठित करने की योग्यता के परिणामस्वरूप ही विकेन्द्रित दल व्यवस्था कार्य करने में सफल रही और (उपरोक्त वर्णित मामलों में) वह केन्द्रीय निर्णयों का प्रतिरोध कर सकी। यद्यपि राज्य दल और स्थानीय राजनैतिक स्तर के गठ-बन्धन की व्यवस्था ने राज्य में व्यवहार्य (viable) दलीय सरकार को बनाया है लेकिन इसने केन्द्र सरकार या प्रशासनिक सुधार के किसी भी प्रयास के प्रभाव को रोका भी है। इस व्यवस्था में दलीय प्रतिनिधियों ने जिन्हें उन लोगों को सतुष्ट करना था जो विद्यमान राज्य कार्य को सुरक्षित रखना चाहते थे, नीतियों के कार्यान्वयन को उतना ही प्रभावित किया जितना कि उन केन्द्रीय प्रशासकों ने जिन पर वर्तमान राज्य व्यवस्था के सुधार के उत्तरदायित्व को डाला गया था। इस प्रकार केन्द्र और यहाँ तक कि राज्य सरकार उन नीतियों व विधानों को लागू कर सकी जिसमें इच्छित परिवर्तनों की आकांक्षा निहित थी। लेकिन व्यवस्थित प्रक्रिया ने सरकार विरोधी उन नीतियों को भी प्रोत्साहित किया जिनके माध्यम से नीति के उस पक्ष को रद्द किया जा सके जो सामाजिक व राजनैतिक संरचना में स्थापित लोगों के लिए अवांछनीय था।[२९] दामोदर घाटी निगम व भूमि सुधार दोनों मामलों के अध्ययन में परम्परागत स्थानीय राजनैतिक स्तर के नियन्त्रण में प्रमुख व्यक्ति

---

२८ विनर, जनरल ऑफ पालिटिक्स, ८३२

२९ जिस तरीके से पश्चिमी बंगाल में यह व्यवस्था चलती है उसके कई उदाहरण उपलब्ध हैं। अनाज का लदान वितरण व प्रक्रिया सभी सरकारी कानून के अधीन हैं। लेकिन जो वयस्क गैरकानूनी रूप से संचित करते हैं उनको सजा देने में कानून लागू करने वाली और प्रशासकीय संस्थाएं अक्सर अनिच्छुक रहती हैं। ऐसा उनके प्रति भी होता है जो मूल्य नियन्त्रित खाद्य दुकानों को चलाने की सरकारी आज्ञा का दुरुपयोग करते हैं। व्यक्तिगत क्षेत्र को नियन्त्रित करने के लिए कांग्रेस सरकार ने विस्तृत लाइसेंस प्रक्रिया की स्थापना की लेकिन साथ ही इनको प्रभावशाली ढंग से लागू न करने की असफलता से कई प्रक्रियाओं का प्रभाव समाप्त हो गया।

शहरी अध्यादेश यह आवश्यकता स्वीकार करता है कि कलकत्ता की सारी गायें सरकारी लाइसेंस प्राप्त छप्परों में रहनी चाहिए, राज्य का कानून बिना लाइसेंस के पुस्तक विक्रेताओं द्वारा सरकारी पाठ्य पुस्तकों के विक्रय को अवैध घोषित करता है और राज्य भवन कानून यह मांग करता है कि मकान की कुछ जरूरत मकान मालिकों द्वारा पूरी की जानी चाहिए लेकिन इसी के साथ वह निकट दलीय प्रशासकीय संवैधानिक गठबन्धन की व्यवस्था भी कुछ व्यक्तियों के लिए सम्भव करता है जिससे सभी नियमों को इच्छा से भंग किया जा सके। फ्रांक ए. टेमिन की "डिस्ट्रिक्ट एडमिनिस्ट्रेशन इन मेट्रोपालिटन कलकत्ता" इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन १९६४) व फ्राण्डा के स्टेट पालिटिक्स इन इण्डिया" भी देखिए।

उन नीतियों को स्वरूप देने में सक्षम थे जिनका प्रभाव उनके क्षेत्रों पर पड़ता था। केन्द्रीय सरकार और दल की केन्द्रीय शाखा राज्य कांग्रेस या स्थानीय सत्ताधारियों पर नियन्त्रण रखने मे अयोग्य रही और परिणामस्वरूप काफी सीमा तक प्रभावहीन भी।

उपसंहार

प्रस्तुत अध्ययन यह संकेत देता है कि कई तत्त्व-राज्य स्तर पर राजनैतिक दलों के ढाँचे राज्य स्तर पर दलीय व्यवस्था के स्वरूप, सामाजिक वर्ग संगठन, आर्थिक वितरण, और राजनीतिक संस्कृति पश्चिमी बंगाल में भारत के संघात्मक संविधान की क्रियाशीलता के साथ घनिष्ट रूप से सबद्ध हैं। चूंकि भारत एक ऐसा देश है जहाँ ये तत्त्व एक राज्य से दूसरे मे अत्यधिक भिन्न हैं अतः यह अध्ययन कई प्रश्न उठाता है और इन प्रश्नों के समाधान के लिए अन्य राज्यों के साथ तुलनात्मक विवेचनात्मक अध्ययन को मुखरित करता है। ये प्रश्न हैं, भारत के एकदलीयप्रभुत्व की व्यवस्था का सहकारी संघीय संविधान पर क्या प्रभाव पड़ा है? तीव्र राजनैतिक गतिशीलता की प्रक्रिया संघीय सन्तुलन को बनाए रखने के साथ कैसे जुडी हुई है? संघवाद व अभाव की राजनीति में नए समूहों के उद्‌भव या मांगो की बढती हुई तीव्रता के मध्य यदि कोई सम्बन्ध है तो उसका क्या स्वरूप है? सहकारी संघीय संविधान के ऐसे अतिबहुलवादी समाज में क्या परिणाम हो सकते है जहाँ जनता का आधारभूत लगाव प्राचीन गठबन्धनों से है।

ये प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर तभी दिया जा सकता जब विभिन्न राज्यों में केन्द्र व राज्य के सम्बन्धो के पर्याप्त अध्ययन उपलब्ध हों। यह अध्ययन इस बात की ओर भी संकेत करता है–राज्य दलीय इकाइयो की शक्ति व संयोग (कम से कम वहाँ जहाँ राज्य मे प्रभुत्व वाला दल सत्ता में हो) और राजनैतिक कार्यों के लिए जनता को गतिशील किए जा सकने की मात्रा–ये दो तत्त्व भारत मे केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के स्वरूप को स्थिर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। एक ऐसी" सौदे की स्थिति" की कल्पना की जा सकती है जिसमें राज्य स्तर पर दल की शक्ति संयोग की मात्रा के साथ राजनैतिक कार्यों के लिए राज्य की जनता की इच्छा और सामर्थ्य केन्द्र की अनुदान देने वाली संस्थाओं के सदर्भ मे राज्य की स्वतन्त्रता की उद्‌गम बनेगी। इन अर्थों में दलीय संयोग, राजनैतिक चेतना से सम्पन्न जनता की उपस्थिति और राज्य के राजनैतिक दलों की राज्य के उद्देश्यों के लिए जनता को गतिशील करने की योग्यता, हैं इनमे से प्रत्येक एक उपलब्धि का परिचायक होगा और इनका प्रयोग राज्य के राजनीतिज्ञो की केन्द्र सरकार व दलीय नेताओं से स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की योग्यता को बनाने में किया जा सकेगा। दलीय सम्बन्द्धता और शक्ति के अभाव, राज्य स्तर पर राज्य क्रियाशील दलो अनुपस्थिति या राज्य की जनता में उस चेतना का अभाव जिसे राजनीतिक कार्यों के लिए गतिशील बनाया जा सके, इन सभी घटको को ऐसी "कमजोरियो" के रूप मे देखा जाना चाहिए जो केन्द्र राज्य कार्यों में राज्य के नेताओं की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रभावशीलता को कमजोर करते हैं।

इस अध्ययन मे उत्पन्न सामान्यीकरणों के परीक्षण के लिए प० बंगाल की

उपलब्धियों की भारत के अन्य क्षेत्रों के आंकड़ों से तुलना की जानी चाहिए। पश्चिमी बंगाल की आन्ध्र से तुलना करना विशेष रूप से मूल्यवान होगा जहां निर्णय क्षेत्रीय (खास तौर से जाति) तत्वों से प्रभावित हुए प्रतीत होते है। केरल या १९६७ के बाद पश्चिमी बंगाल के उन क्षेत्रो से भी समान मूल्यवान तुलना की जा सकती है जहां कांग्रेस विरोधी शक्तियां सत्ता प्राप्ति मे सफल रही है। मध्य प्रदेश से जहां राज्य स्तर पर राजनैतिक कार्यों के लिए जनता तीव्र रूप से गतिशील नहीं है या महाराष्ट्र के साथ जहां जनता उच्च रूप से गतिशील है लेकिन कोई मजबूत वामपक्ष नही है। ये सब तुलनात्मक अध्ययन लाभदायक होंगे। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में केन्द्र राज्य सम्बन्धों के तुलनात्मक अध्ययन न केवल केन्द्र राज्य निर्णयों को प्रभावित करने वाले कई तत्वों के सापेक्षिक महत्व को स्पष्ट रूप से प्रकट करेंगे बल्कि हमे वह अवसर भी मिलेगा जिससे हम केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के विभिन्न प्रतिमानों के मध्य सम्बन्धों का अनुमान लगा सकेंगे और राजनैतिक एकीकरण की वृहत्तर समस्या पर गम्भीरता से विचार भी कर सकेंगे।

Further Readings

1. *Morris-Jones, W.H.* **The Government and Politics of India** London, Hutchinson univ. library 1971 pp. 19–27, pp. 80–82, pp. 150–156 and pp. 161–164,
2. *Narain, I. and Mathur, P.C.* : Union State Relations-in India: A Case-Study in Rajasthan, **Journal, of Commonwealth Political Studies** Vol. 2 No. 2 May, 1964 Pages 120-140.

८

योजना आयोग तथा केन्द्र व राज्य

भारत की संघीय राज व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक विचारों में से दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार हैं। प्रथम के अनुसार भारत की संघीय राजव्यवस्था का केन्द्रवाद की ओर रुझान स्पष्टत: प्रकट है। इस विचार की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति के० सी० व्हेयर के कृतित्व में हुई है। व्हेयर के अनुसार भारत एक एकात्मक राज्य है जिसके सहायक संघीय लक्षण हैं। दूसरे विचार का प्रतिनिधित्व पॉल एच० एपलबी द्वारा किया गया है जिनके अनुसार केन्द्रीय सरकार अपनी नीतियों के क्रियान्वयन के लिए दयनीय रूप से राज्य सरकारों पर आश्रित है। वे लोग, जो प्रथम विचार को मानते हैं मात्र व्यवस्थापन, प्रशासन एवं वित्तीय क्षेत्र में केन्द्र की प्रभुत्वशाली शक्ति की ओर ही इंगित नहीं करते बल्कि सामान्य रूप से योजना कौशल व विशेष-रूप से योजना आयोग की ओर भी इशारा करते है। इस योजना आयोग को वे संविधानेतर संस्था मानते हैं। अशोक चंदा इस दृष्टिकोण के सर्वाधिक प्रमुख समर्थक हैं। उनका यह विचार है कि योजना ने भारत में लोकतंत्र व संघवाद दोनों को मात दे दी है। उनका अनुसंधान, जिसे यद्यपि सर्वमान्यता प्राप्त नहीं है, विचार के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है। यह उनकी पुस्तक फेडरेलिज्म इन इंडिया (लंदन, ऐलन एण्ड अनविन १९६५, पृ० २८०–२९०) के प्रस्तुत अंश से स्पष्ट हो जाएगा। —सम्पादक

आयोग तथा केन्द्र :

राज्यों की अपेक्षा केन्द्रीय मंत्रालयों के साथ योजना आयोग के सम्बन्धों की चर्चा करना अधिक आसान है क्योंकि राज्य स्पष्टतः एक जटिल विषय हैं। उनका सम्बन्ध एक ऐसे संवैधानिक या अन्य किसी औचित्य के ताने-बाने से है जिसका विस्तृत विश्लेषण करना आवश्यक है।

सरकारी निश्चय द्वारा आयोग के गठन ने यह आभास दिया था कि वह अनुसंधान तथा अध्ययन के एक निर्धारित क्षेत्र में कार्यकारिणी की ऐजेंसी के रूप में कार्य करेगा। इसे एक विस्तृत निर्देश-तन्त्र (Terms of reference) प्रदान किया गया था। जिसके

अन्तर्गत आयोग को विभागीय कार्यक्रमों में समन्वय व पुनर्प्रस्तुतीकरण का कार्य सौंपा गया था। यह कार्य पहले वित्त-मंत्रालय के पास था और मुख्यतः इसी के माध्यम से प्रशासन में मंत्रालय की सत्ता आधारित थी। जो कुछ भी संशय थे वे आयोग की घोषणा द्वारा दूर हो गए। आयोग के गठित स्वरूप मे प्रधानमंत्री, अन्य मंत्रियों व राजनीतिज्ञों का स्थान होने के कारण उससे यह अपेक्षा करना कठिन था कि वह मात्र एक निष्क्रिय सलाहकारी भूमिका से ही संतुष्ट हो जाएगा, प्रधानमंत्री के इस निरन्तर आग्रह द्वारा तो यह और भी कठिन हो गया था कि योजना को गतिशील होना चाहिए।

एक संसदीय लोकतंत्र में नीतियों और उसके द्वारा प्राप्त किए जाने वाले लक्ष्यों का निर्धारण किसी भी ऐसे मंत्रिमंडल का एक प्राथमिक कार्य है जो अपने कार्यों के लिए संसद् के प्रति उत्तरदायी होता है। इसी प्रकार, स्वीकृत योजनाओं व कार्यक्रमों का अबाधित निष्पादन मंत्रालयों का उत्तरदायित्व है। ये कार्य बडी मुश्किल से ही किसी अन्य सत्ता के सहयोग द्वारा किए जा सकते हैं। मंत्रालय के साथ आयोग के आंशिक तादात्म्य ने इस संवैधानिक स्थिति को क्षीण बना दिया है और आयोग के लिए यह सम्भव हो सका है कि वह नीति-सम्बन्धी विषयों, यहाँ तक कि दैनिक प्रशासनिक कार्यों में भी हस्तक्षेप कर सके।

प्रारम्भ मे मंत्रालयों ने नीति-निर्माण व नीति-क्रियान्वयन की अपनी दोहरी भूमिका में आयोग के हस्तक्षेप का प्रतिरोध किया। पहले आयोग स्वयं मंत्रालयों द्वारा किये गए कार्यों को समाहित कर संतुष्ट हो जाता था। लेकिन यह मात्र एक अस्थाई उपाय था। युद्धोत्तर (द्वितीय विश्व युद्ध) विकास-योजनाएँ, जो कि अंशतः निष्पादित और आस्थगित (abeyence) थी, प्रथम पंचवर्षीय योजना में एकीकृत की गई। काफी अंशों में यह एक 'जिग-सौ समस्या' - बिगाड़ने-बनाने के क्रम (जिग-सौ अभ्यास के अन्तर्गत किसी काठ या कार्ड-बोर्ड पर लगी तस्वीर को अनियमित और परस्पर गुंथे हुए टुकडों मे तोड़ा जाता है और फिर इसे पुराना आकार देने का प्रयास किया जाता है) का अभ्यास था। वित्तमंत्री डा० जॉन मेथाई का यह विचार था कि आयोग द्वारा वित्तीय साधनों में वृद्धि के लिए उपाय सुझाना, प्राथमिकताएँ निर्धारित करना तथा आर्थिक विकास मे बाधक घटकों का मूल्यांकन करना उनके (डॉ० मेथाई के) उत्तरदायित्वों की मात्रा में एक गम्भीर कटौती है। इस प्रकार की स्थिति को स्वीकार करने के स्थान पर उन्होंने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। संभवतः उन्होंने हल्देन समिति की ही भांति यह अनुभव किया कि 'यदि किसी हौज को भरना और उसमें पानी के एक निश्चित स्तर को रखना उसका (चांसलर का) उत्तरदायित्व है तो उसे अनिवार्यतः पानी के वहिर्गमन का नियमन कर सकने की स्थिति में भी होना चाहिए।'

इसने उद्देश्यों व व्यक्तियों के संघर्ष में वृद्धि की, लेकिन फिर भी विभिन्न मंत्रालयों के साथ आयोग के सम्बन्धों के स्वरूप की व्याख्या करने का कोई प्रयास नहीं हुआ। स्थितियों को अनिर्णीत छोड़ना ही श्रेष्ठतम समझा गया। यह अनुमान लगाया गया कि वे स्वयं अपने लिए अनुकूल स्थान खोज लेंगी।

क्रमश. प्रधानमंत्री के प्रोत्साहन व समर्थन द्वारा, आयोग एक उच्च-आर्थिक मंत्रिमंडल के रूप में उभरा, यहाँ तक कि उसने संवैधानिक वित्त आयोग की सत्ता को भी अस्वीकार कर दिया। आयोग द्वारा वित्त-मंत्रालय की शक्तियों को किस सीमा तक ग्रहण किया गया है, इसका प्रमाण तो इस तथ्य से मिलता है कि न केवल सरकारी विदेशी मुद्रा-नीति के सम्बन्ध मे बल्कि निम्न प्रशासकीय व वित्त मंत्रालयों के विस्तृत परीक्षण के बाद पारित की गई पृथक् योजनाओ के सम्बन्ध में भी आयोग की स्वीकृति आवश्यक है। ऐसे विषयों में आयोग का हस्तक्षेप उस अभिधारणा के विपरीत है जिसके अन्तर्गत उसका गठन किया गया था। मतव्य यह था कि 'इसे दैनिक प्रशासन के भार से मुक्त रहना चाहिए, लेकिन सर्वोच्च नीति-स्तर पर इसे सरकार के निरन्तर सम्पर्क में रहना चाहिए।'

यहाँ तक कि वे मत्री भी, जो योजना-आयोग के सदस्य हैं, यह सोचते हैं कि उनकी मंत्री की भूमिका आयोग की सदस्यता से पृथक् व भिन्न है और कभी-कभी वे आयोग की बैठकों द्वारा उपलब्ध निष्कर्षों को चुनौती देते हैं। अभी हाल ही में खाद्य नीति के सम्बन्ध में आयोग व खाद्य मंत्री श्री एस० के० पाटिल के मतभेद सार्वजनिक रूप से प्रकट हुए और उन्होंने एक अशोभनीय विवाद का रूप ले लिया। कामराज योजना के अन्तर्गत श्री पाटिल की मन्त्रिमंडल से निकासी के लिए अन्य घटकों मे इस घटक का क्या स्थान रहा, यह एक अनुमान का विषय है लेकिन यह स्पष्ट है कि सामंजस्य प्राप्त करने के उद्देश्य से मंत्रियों को योजना आयोग का सदस्य बनाने का प्रयोग प्रधानतः विफल रहा है।

आयोग तथा राज्य :

एक योजना की विषय-वस्तु को दो वर्गों में बांटा जा सकता है, औद्योगिक विकास तथा आर्थिक व सामाजिक सेवाएँ। पहले औद्योगिक क्षेत्र पूर्णतः मात्र केन्द्र के लिए ही सुरक्षित था क्योंकि यह सोचा गया था कि औद्योगिक विकास एक एकीकृत आधार पर सम्पूर्ण देश के संदर्भ में होना चाहिए। बाद में इस नीति में कुछ ढील दी गई और राज्यों को पूरक विकास (Complementary development) से सम्बन्धित कार्यों को करने की अनुमति दे दी गई। कुछ राज्यों जैसे पश्चिमी बंगाल, जहाँ दुर्गापुर में एक औद्योगिक-समूह का निर्माण किया गया है, वहाँ नियंत्रण के अत्यधिक प्रयास किए जा रहे है। इस बात पर सामान्य सहमति है कि इससे शक्ति के अपव्यय की स्थितियाँ उत्पन्न होंगी। साथ ही यह भी कि औद्योगिक विकास के साधन केन्द्र द्वारा निर्देशित व समन्वित नहीं किए जाते थे और उन्हे प्रान्तीय भावनाओ के आधार पर विकसित होने दिया गया।

'सामाजिक व आर्थिक सेवाओ के विषय में योजना आयोग व राज्यों में संघर्ष उत्पन्न हुआ है। इसके अन्तर्गत अनेक विषय आते हैं जिनमें शिक्षा, दवाइयाँ, जन-स्वास्थ्य, कृषि, सहकारिता, समाज कल्याण व औद्योगिक आवास-व्यवस्था प्रमुख हैं। ये सभी विषय राज्य सूची से सम्बन्धित हैं और व्यवहार मे परस्पर मिल कर राज्यों के अस्तित्व की सार्थकता (raison d'etre) सिद्ध करते है। अतः राज्यों का यह अनुभव करना अस्वाभाविक नहीं है कि इन राष्ट्रीय योजनाओ द्वारा उनकी (राज्यों की) स्वायत्तता पर कुठाराघात पहुँचाया जा रहा है जिनको स्वरूप देने में उनका योगदान नगण्य अथवा बिल्कुल नहीं है। शिकायत

का एक अन्य कारण यह है कि योजना आयोग प्रमुखत: क्षेत्रीय असमानताओं व आवश्यकताओं की अवहेलना करता है और ऐसे एकरूप कार्यक्रम आरोपित करता है जिनकी कुछ राज्यों के संदर्भ में बहुत कम उपयोगिता होती है।

पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा तीसरे वित्त आयोग को भेजे गए एक ज्ञापन में राज्यों की इन भावनाओं का अच्छा प्रतिनिधित्व हुआ है। केन्द्रीय बजट की विषय-वस्तु का विश्लेषण करते हुए पश्चिम बंगाल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि केन्द्रीय व्यय के अन्तर्गत केन्द्रीय सूची की तुलना मे राज्य-सूची पर अधिक व्यय किया गया है। इस धारणा की पुष्टि के लिए निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की गई थी :

विषय	व्यय (कई दस लाख रुपयों में)		वृद्धि की
राज्य	१९५७–५८	१९६०–६१	प्रतिशत
शिक्षा	२१०	४५४	११६
मेडिकल	४५	८८	९५
जन-स्वास्थ्य	८७	१२०	३८
कृषि	११३	१५५	३६
पशु-पालन	९५	—	—
सहकारिता	१०	३५	२५६
केन्द्र :			
विदेशी मामले	७०	१०४	४८
रक्षा सेवाएँ	२७४०	२९३०	७

ज्ञापन में उल्लिखित राज्य विषयों पर औसत वृद्धि ८५% थी जबकि केन्द्रीय सूची से उदाहरणार्थ लिये गए दोनों विषयों पर औसत वृद्धि की प्रतिशतता केवल ८ थी।

इसके अतिरिक्त इसमें एक अन्य तालिका भी दी गई थी जिसमें तीसरी योजना के अन्तर्गत उन विषयों पर केन्द्रीय व्यय के प्रावधानों का संकेत था जो राज्य सरकारों के कार्य-क्षेत्र मे आते थे। यह तालिका इस प्रकार थी :

कृषि व सामुदायिक विकास	१२५०
विद्युत	१२५०
ग्रामीण व लघु उद्योग	१२००
सामाजिक सेवाएँ (शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि)	३०००
	६७००

पश्चिम बंगाल सरकार ने यह व्यक्त किया कि इस स्थिति ने एक अनावश्यक द्विरावृत्ति (duplication) व परस्पर-व्यापन को जन्म दिया है और यह इस कारण हुआ है कि केन्द्र जन-कल्याण के नाम पर उन सामाजिक सेवाओं पर भी व्यय करना चाहता है जो संविधान द्वारा राज्य सरकारों के उत्तरदायित्व की परिधि में आती हैं। राज्य केन्द्र की तुलना में अपने पृथक् अधिकार-क्षेत्र में आने वाले क्षेत्रों की निश्चित आवश्यकताओं से कहीं

अधिक परिचित हैं। यदि केन्द्र और राज्य दोनों एक ही सामाजिक सेवाओं के लिए समानांतर, समान अथवा पद सोपानिक संगठन बनाते हैं तो यह केवल अपव्यय ही होगा। संघीय सिद्धान्त यह आवश्यक मानता है कि केन्द्र व राज्य सरकारें प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में सीमित हो और इस सीमित क्षेत्र में एक दूसरे से स्वतन्त्र हों।

पश्चिम बंगाल सरकार का यह भी मत था कि केन्द्रीय सरकार व योजना आयोग द्वारा केन्द्रीय सहायता का राज्य-क्षेत्र में प्राथमिकताओं को प्रभावित करने के लिए उपयोग अनुचित है। साथ ही प्राथमिकताओं की ऐसी व्यवस्था का अध्यारोपण (Super imposition) भी अनुचित है जिसकी राज्य की तत्कालीन स्थितियों के संदर्भ मे कोई प्रासंगिकता नही है। राज्य सरकारें अपने-अपने विधानमंडलों के प्रति उत्तरदायी हैं और यह स्थिति उत्तरदायित्व से पलायन की सूचक होगी यदि योजना आयोग व केन्द्रीय मंत्रालय प्रत्येक राज्य मे लागू की जाने वाली निश्चित योजनाओं को अपने निर्णय से वित्तीय प्रोत्साहन तथा तुल्य-अनुदान (Matching Grants) देंगे। एक निश्चित उदाहरण यह है कि पश्चिम बंगाल सरकार से आग्रह किया गया कि वह पश्चिम बंगाल मे फिलेरिया के नियंत्रण के लिए कार्य करे। पश्चिम बगाल मे इस रोग का कोई महत्त्व नही था। लेकिन केन्द्र की दृष्टि से राज्य सरकार मात्र कुष्ठ रोग से सबंधित योजना को क्रियान्वित करके केन्द्रीय सहायता पाने की अधिकारी नही मानी जा सकती थी जबकि (राज्य सरकार ने) इसे ही अधिक महत्त्व प्रदान किया था।[1] पश्चिम बंगाल सरकार का यह विचार था कि केन्द्रीय सहायता का कोई ऐसा प्रतिमान निर्धारित करना अनावश्यक व अवांछनीय है जो किसी राज्य मे वहाँ की सरकार द्वारा निर्धारित प्राथमिकता-क्रम स्थान न पाने वाली योजनाओं मे रुचि रखता हो और उसे वहाँ स्थान दिलाने के लिए इस सहायता को एक माध्यम बनाता हो।

तीसरे वित्त आयोग (१९६१) ने भी इस बात पर ध्यान दिया कि 'उनके (केन्द्र) द्वारा प्रदान किए गए प्रतिबंधी-अनुदानों (Conditional grants) व वित्तीय सहायता द्वारा राज्यों को उन कार्यक्रमों को प्रारंभ करने के लिए न बाध्य किया जाए जिन्हें वे अपनी अर्थ व्यवस्थाओ के संदर्भ में महत्त्वहीन व अपने वातावरण के प्रतिकूल समझते हैं।'

पश्चिम बगाल सरकार ने यह मत भी प्रस्तुत किया कि राज्य-योजनाओ पर जो नियंत्रण या देख-भाल की जाए वह उसके प्रवेश काल के दौरान ही की जाए। तदुपरांत राज्य सरकारो को क्रियान्वयन के संबंध मे पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और केन्द्रीय सहायता बजट संबंधी अनुमानों के आधार पर माहवार किस्तो के रूप में नियमिततः मिलनी चाहिए।

आर्थिक व सामाजिक विकास की एक राष्ट्रीय योजना मे राज्य-विषयो का अतिक्रमण अन्तर्निहित है, लेकिन फिर भी इस संदर्भ मे तो विचार किया ही जा सकता है कि क्या ऐसी योजना नही स्थिर की जा सकती जिसमें राज्य अधिक निकट से योजना-निर्माण में

१ तीसरे वेतन आयोग को ज्ञापन।

योगदान दे सकें। इस संबंध में राष्ट्रीय विकास परिषद् अनुपयुक्त है। तीसरे वेतन आयोग ने यह सुझाव रखा कि राज्यों का अपना एक अलग योजना संगठन होना चाहिए जिसके माध्यम से वे अपनी विकास योजनाओं का प्रारूप तैयार कर सकें। इसी की सहायता द्वारा उपयुक्त कालांतर से इन योजनाओं की समीक्षा की जानी चाहिए, उनके क्रियान्वयन की प्रगति का मूल्यांकन होना चाहिए और गैर-योजना (Non-plan) कार्यक्रमों पर भी विचार किया जाना चाहिए।

तीसरे वित्त आयोग का एक अन्य सुझाव भी उल्लेखनीय है। उसकी एक यह भी सिफारिश थी कि योजना व्यय हेतु राज्यों को दी गई सहायता में राष्ट्रीय व स्थानीय उद्देश्यों के बीच अंतर किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय उद्देश्यों, जैसे विद्युत, कृषि, विशाल सिंचाई कार्यक्रमों, बाढ़-नियंत्रण, परिवार नियोजन आदि की पूर्ति के लिए दी जाने वाली सहायता उसके उपयोग संबंधी कठोर निर्देशों पर आधारित होनी चाहिए। वे अनुदान जो राज्य-क्षेत्र को सुगठित करने के उद्देश्य से उन विषयों के लिए दिये जाते हैं जिनके संबंध में निर्णय अनिवार्यतः स्थानीय आवश्यकताओं की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए (जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, छोटी सिंचाई योजनाओं) उनके संबंध में राज्यों को इस अनुदान में से पुनर्विनियोग (Reappropriation) की स्वतंत्रता होनी चाहिए। इस संदर्भ में योजना के व्यापक उद्देश्यों के प्रति निष्ठावान होना आवश्यक है।

इससे पूर्व १९५५ में, लेखक ने, जब वह भारत का कॉम्पट्रालर तथा ऑडिटर जनरल था, 'अनुमान व वित्तीय नियंत्रण' विषय पर जन लेखा समिति (Public Accounts committee) को एक ज्ञापन में राज्यों की योजनाओं के लिए केन्द्रीय सहायता से संबंधित कुछ सुझाव प्रस्तुत किए थे। इस प्रश्न से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण सुझाव यह था कि राज्य द्वारा प्रस्तावित कार्यक्रमों की प्रशासकीय जाँच होनी चाहिए और संबंधित मंत्रालय को इस बात के प्रति निश्चित हो जाना चाहिए कि ये कार्यक्रम योजना के व्यापक स्वरूप के अंतर्गत आते हैं। इन कार्यक्रमों को आयोग को समीक्षार्थ प्रस्तुत करने से पूर्व सम्बन्धित राज्य के वित्त-मंत्रालय को इनकी विस्तृत वित्तीय जाँच का अधिकार होना चाहिए।

कॉम्पट्रोलर तथा ऑडिटर जनरल के इन सुझावों को जन लेखा समिति ने स्वीकार किया और अंततः इसे स्वीकृति देते हुए योजना आयोग ने यह घोषणा की : "यह इरादा किया जा रहा है कि विस्तृत वित्तीय एवं प्रशासकीय जाँच तथा अनुमोदन को समाप्त किया जाए और उसे प्रशासकीय विभागों व वित्त विभाग के लिए छोड़ दिया जाए।" इससे राज्य सरकारों के क्षोभ का एक स्रोत समाप्त हुआ, लेकिन कई अन्य कमी भी विद्यमान थे।

राज्यों तथा आयोग के पारस्परिक संबंधों की सही जानकारी के लिए यह उल्लेख करना आवश्यक है कि 'सामाजिक व आर्थिक सेवाओं' के संदर्भ में योजना के दो भाग हैं। पहला भाग स्वयं राज्यों द्वारा तैयार किये गए कार्यक्रमों से सम्बन्धित है और दूसरे का सम्बन्ध इन सेवाओं के संदर्भ में आयोग द्वारा प्रवर्तित कार्यक्रमों से है। पहले भाग के

सम्बन्ध मे दी जाने वाली केन्द्रीय सहायता तुल्य-मनुदान के सिद्धांत पर आधारित होती है। केन्द्र इन्हें वित्तीय सहायता देता है लेकिन इनके क्रियान्वयन के लिए राज्य-ऐजेंसी का ही उपयोग करता है। १९५५ के बाद मे राज्य कार्यक्रमों की विस्तृत जाँच छोड़ दी गई है लेकिन पृथक् कार्यक्रमो का एक सामान्य परीक्षण फिर भी किया जाता रहा। राज्यों को यह स्वतन्त्रता दी गई कि वे सहायक-कार्यक्रमों के संदर्भ में बिना आयोग को दुबारा बताए, अपने हिसाब से व्यय कर सकते हैं।

१९५८ मे एक और ढील दी गई जब राज्य-कार्यक्रमों को उपयुक्त शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया और केन्द्रीय सहायता इन वर्गों के आधार पर दी जाने लगी। राज्यों को यह अधिकार मिला कि वे उसी वर्ग के अन्तर्गत आने वाले स्वीकृत कार्यक्रमों में धनराशि का पुनर्विनियोग कर सकते हैं। यह उल्लेखनीय है कि यह वर्गीकरण पूर्णतः विवेकसम्मत नहीं था, उदाहरण के लिए 'स्वास्थ्य' शीर्षक के अन्तर्गत एक से अधिक वर्ग थे। इस प्रकार पुनर्विनियोग की शक्ति को संकीर्ण सीमाओं में रखा गया। सहायता का विषय के अनुसार वर्गीकरण करना अधिक तार्किक होता, इससे राज्यों को संतुष्ट किया होता और परिवर्तनशील स्थितियों से निपटने के लिए धनराशि के दिक्-परिवर्तन (Diversion) हेतु एक सुनमनीयता प्राप्त हो जाती।

वर्तमान वितरण के अन्तर्गत किसी एक वर्ग के प्रावधान मे बिना केन्द्रीय मंत्रालय की कार्यवाही के वृद्धि नहीं हो सकती। इसके लिए योजना आयोग को भी सूचित करना आवश्यक है। यह स्थिति यथावत् ही रहती है चाहे उसी सेवा शीर्ष के अन्य वर्ग की बचत इस वृद्धि को खपाने के लिए भले ही उपलब्ध क्यों न हो। जब पुनर्आवंटन (realloca-tion) के लिए एक से अधिक मंत्रालयों की आवश्यकता होती है अर्थात् जब एक से अधिक सेवा शीर्ष उससे प्रभावित होते हैं तो उस स्थिति में अनुदान प्राप्त करना और अधिक कठिन हो जाता है। मंत्रालय स्वयं अपने आप अनुदान प्राप्त करने में सक्षम नहीं होते और उन्हें आयोग की स्वीकृति लेनी ही पड़ती है।

इस समस्या के समाधान स्वरूप तीसरे वित्त आयोग ने यह सिफारिश की कि क्षेत्रीय महत्त्व के विषयों के सम्बन्ध में स्वीकृत कार्य-क्रमों के सम्पूर्ण स्वरूप को ध्यान में रखते हुए संचित अनुदान दिया जाना चाहिए और राज्यों को प्राथमिकता देने तथा साधनों को तब तक नियोजित करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए जब तक कि देय अनुदान का अतिक्रमण न हो और उनको स्वीकृत कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की दिशा में लगाया जा रहा हो। यह कथन सहज रूप से स्पष्ट है कि स्थितियाँ जड़ नहीं होतीं और इसलिए किसी एक कार्यक्रम पर अधिक बल देना और दूसरे के प्रति अपेक्षाकृत कम ध्यान देना स्वाभाविक है और इसका निर्धारण अनिवार्यतः संबंधित राज्यों द्वारा ही हो सकता है।

केन्द्रीय स्तर पर वित्त मंत्रालय द्वारा प्रशासकीय मंत्रालयों की सत्ता का प्रगतिशील हस्तांतरण हुआ है और मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि मंत्रालय संसद् द्वारा स्वीकृत अनुदानों में सामंजस्य की शक्ति रखते हैं। यह समझना कठिन है कि राज्यों के संदर्भ में इस प्रकार के हस्तांतरण के प्रति संकोच क्यों हो ?

कुछ लोगों का यह मत है कि इस प्रकार का हस्तांतरण केन्द्रीय समन्वय को कमजोर बनाएगा और राज्यों को अतिरिक्त साधन जुटाने के उनके प्रयासों में ढील को प्रोत्साहित करेगा। इस प्रकार के विचार में कोई सारगर्भित तथ्य प्रकट नहीं होता क्योंकि समस्त प्रकरण को विवेकसम्मत बनाने में सबसे बड़ी बाधा राज्यों के प्रति व्याप्त अविश्वास है। निर्धारित क्षेत्रों में राज्यों को संविधान के अन्तर्गत स्वायत्तता-सी आ गई है और राज्य सरकारें अनेक विधान मंडलों के प्रति उत्तरदायी हैं। इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि केन्द्र के पास नियमन व नियन्त्रण की कुछ निश्चित प्रभावशाली शक्तियाँ हैं। राज्यों द्वारा किसी प्रकार की दुराचरण की स्थिति में केन्द्र अपनी हस्तांतरित शक्तियाँ वापिस लेकर सुधार सम्बन्धी कार्यवाही कर सकता है। यह स्पष्ट है कि कोई भी राज्य इस प्रकार की स्थिति नहीं चाहेगा। इस तथ्य को मान्यता देनी ही होगी कि केवल केन्द्र व राज्यों के पारस्परिक विश्वास के आधार से ही लोक कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य पूर्णतः प्राप्त किया जा सकता है।

राज्य के सहायक कार्यक्रमों की व्यवस्था केन्द्र-प्रवर्तित कार्यक्रमों पर लागू नहीं होती। इन प्रवर्तित कार्यक्रमों पर केन्द्रीय मंत्रालयों व योजना आयोग का सम्पूर्ण नियन्त्रण होता है। या तो कोई राज्य किसी योजना और इसके साथ की वित्तीय सहायता स्वीकृति करता है या दोनों से ही वंचित रह जाता है। यह स्थिति राज्यों को उलझन में डालती है। यदि वह सहायता लेने से इन्कार करता है तो उसे जनता से निंदा मिलती है यदि वह सहायता स्वीकार कर लेता है तो उसे एक ऐसे कार्यक्रम के प्रति निष्ठा दिखानी पड़ती है जो उसकी सामाजिक आवश्यकताओं तथा अर्थ व्यवस्था की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम महत्व का होता है। उदाहरण के लिए कई राज्यों ने बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रम को प्रारम्भ किया यद्यपि इसके प्रति उनका विश्वास बिल्कुल नहीं था। यह कार्यक्रम दो कारणों से विफल रहा। प्रथम तो इसलिए क्योंकि यह वैचारिक दृष्टि से पूर्णतः सबल नहीं था और दूसरे इसलिए भी कि उसके क्रियान्वयन के प्रति उचित उत्साह का अभाव था। कुल मिलाकर साधनों का अपव्यय हुआ, इन्हीं को स्वयं राज्य अपने प्रयासों से अधिक लाभप्रद तरीके से उपयोग में ला सकते थे जैसे, उनके प्रयासों से प्राथमिक शिक्षा का प्रसार व उसके स्तर में उन्नति की जा सकती थी। इससे पूर्वपश्चिम बंगाल द्वारा दिया गया स्वास्थ्य सेवाओं से सम्बन्धित उदाहरण भी इस संदर्भ में प्रासंगिक है।

स्वीकृत योजनाओं को वार्षिक कार्यक्रमों में बाँटा जाता है और आयोग व राज्य-प्रतिनिधियों के बीच अनेक विचार-विमर्श के बाद उन्हें निर्धारित किया जाता है। मंत्री को यह विशेष रुचिकर नहीं प्रतीत होता है कि उनके मंत्री व सरकारी अधिकारी समय-समय पर दिल्ली की तीर्थयात्राएँ करें। उनका यह विचार है कि एक बार किसी कार्यक्रम को स्वीकृति मिलने के बाद उन्हें यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपनी इच्छा से उसे चला सकें और अपने निर्णय से निर्धारित स्वरूप के अन्तर्गत उसमें परिवर्तन कर सकें।

इसके बावजूद वार्षिक विचार-विमर्श उपयोगी होता है। इसके द्वारा राज्य की गत वर्ष के अनुपालन अथवा कार्यों की समीक्षा होती है, उनके द्वारा अतिरिक्त कर लगाने का वायदा

करने से उत्पन्न जटिलताओं के प्रकाश में उनकी वित्तीय आवश्यकताओं का मूल्यांकन होता है और आवश्यक सामंजस्य भी किया जाता है । यह तो स्वीकार करना ही होगा कि योजनाओं के लिए अधिकाधिक धन जुटाने की स्वाभाविकता की चिंता में राज्य अवसर अपने राजस्व को अधिक बढ़ा-चढ़ा कर लिखते हैं, व्यय कम दिखाते हैं और पुराने करों में समन्वय व नए करों को प्रारम्भ कर वे अतिरिक्त साधनों की व्यवस्था करने का एक खूबसूरत चित्र प्रस्तुत करते हैं । आयोग द्वारा विचार-विमर्श के दौरान होने वाली सौदेबाजी ने इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है ।

योजना आयोग तथा केन्द्र व राज्य मंत्रालयों के बीच वार्षिक कार्यक्रमों में सामंजस्य संबंधी जो लम्बा विचार-विमर्श होता है उससे बचाव का एक सुझाव यह दिया गया है कि वार्षिक योजना को पूर्णतः वित्तीय नियोजन के अनुकूल निर्मित किया जाना चाहिए । जब तक कोई राज्य उसके लिए निर्धारित धनराशि से अधिक न खर्च करे तब तक उससे इस संबंध में कोई विचार-विमर्श नही किया जाना चाहिए । इस निर्धारित स्तर तक योजनाओं के संचालन के लिए सहायता देना केन्द्र के लिए अनिवार्य होना चाहिए, इसके बाद राज्यों को कुशल कार्य-सम्पादन के आधार पर सहायता दी जानी चाहिए । इस सुझाव में अनेक गुण हैं । इसका सर्वाधिक श्रेष्ठ पक्ष तो यह है कि वह उस विचार-विमर्श को दूर करेगा जिसे राज्य अनावश्यक व अरुचिकर मानते हैं । इसके साथ ही यह राज्यों को वित्तीय सहायता प्रदान करेगा जिससे राज्य अपने कार्यक्रमों पर अमल कर सकेंगे और उनकी वित्तीय समस्याएँ इस दिशा में बाधक नही होंगी ।

राज्यों के लिए एक अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि उनके लिए निर्धारित सहायता उनके पास यथासमय पहुँच जाय । पिछले दिनों प्रायः ऐसा हुआ है कि केन्द्रीय सहायता की दुर्वहनीय प्रक्रिया के कारण कार्यक्रम पूर्ण होने से रुक गया और प्रायः इसके पूर्व किया गया व्यय निष्प्रभावी हो गया । इस सम्बन्ध में एक नई प्रक्रिया आरम्भ की गई है जिसके अन्तर्गत राज्यों को एकमुश्त (Lump-some) सहायता दी जाती है जिसके लिए स्वीकृत कार्यक्रमों पर नौ माह का अनुमानित व्यय किया गया है और वित्तीय वर्ष की समाप्ति से पूर्व इस सम्बन्ध में व्यय का अंतिम विवरण फरवरी माह तक देना होता है । लेकिन यह कार्यक्रम भी वाञ्छनीय रूप में सफल नही हुआ है और राज्य को कुल वित्तीय सहायता राशि में से एक बड़ा भाग अवितरित ही रह जाता है ।

अभी हाल ही में कई राज्यों ने यह शिकायत की है कि आयोग द्वारा आवंटित सहायता का एक बहुत बड़ा भाग बकाया रह जाता है और परिणामस्वरूप उन्हें अनेक कार्यशील कार्यक्रमों को धीरे ही चलाना पड़ता है । उन्होंने इस सम्बन्ध में गम्भीर संशय व्यक्त किए हैं और उनका विचार है कि जिस अविवेकी व्यवस्था द्वारा सहायता राशि को नियमित किया जाना है, उसके रहते उनकी योजनाओं का निर्धारित लक्ष्य पूरा नहीं हो सकेगा ।

Further Readings

1. *Bhalerao, C. N.* : Administration, politics and Development in India, Bombay, Lalvani Publishing House, 1972.
(Politics and Federalisim in India : A development hypothesis–The case of Rajasthan; Narain, I. &. Mathur, P. C. pp. 232–260
2. *Ray, Amal.* : Tension Areas in India's Federal system, Calcutta, World Press, 1970, pp. 36–50 & pp. 50–62.
3. *Santhanam, K.* : Union-state Relations in India, Bombay, Asia publishing House, 1960, pp. 43–60

६

अनमनीयता

तकनीकी दृष्टि से भारतीय संविधान 'जटिल संविधानों' की श्रेणी में आता है लेकिन जब तक हम परिचालन-सूचियों के संदर्भ में अनमनीयताके सारतत्व का विश्लेषण नहीं करते तब तक इसे हम मात्र जटिल संविधान कह कर अधिक सार्थक अभिव्यक्ति नहीं दे पाएँगे। इसके अतिरिक्त एक सरल व जटिल संविधान के मध्य अन्तर एक निश्चित समय में राजनैतिक स्थिति के संदर्भ से बंधा हुआ है और उसका मात्र उस प्रक्रिया विशेष से ही सम्बन्ध नहीं है जिसके अंतर्गत किसी संविधान में संशोधन हो सकता है। उदाहरण के लिए १९६७–७१ के दौरान क्षीण बहुमत की स्थिति में केन्द्रीय कांग्रेस सरकार अपनी इच्छा के बावजूद मूल अधिकारों में संशोधन से सम्बन्धित संसदीय शक्ति के प्रश्न पर संसद् एवं उच्चतम् न्यायालय के बीच सम्प्रभुता का निर्धारण करने वाला कोई संवैधानिक संशोधन नहीं कर सकी। मूल अधिकारों में संशोधन के संदर्भ में संसदीय शक्ति को गोलकनाथ के मामले (१९६७) में अमान्य घोषित कर दिया गया था। कालांतर में पाँचवें लोकसभा चुनावों (१९७१) के उपरान्त भीमकाय बहुमत की स्थिति में संसद् सुगमता से संविधान में २४ वां संशोधन कर सकी।

सर आइवर जेनिंग्स ने अनमनीयता की संरचना में उन सार्थक तत्वों का योगदान किया है जिनके इर्द-गिर्द परिचालन-सूचियों का निर्माण किया जा सकता है। परन्तु हम उस राजनैतिक संदर्भ के घटक का उल्लेख नहीं कर रहे हैं जिस पर विश्लेषण की अंतिम स्थिति में संविधान की जटिलता (अनमनीयता) निर्भर करती है। उद्धृत अंश जेनिंग्स के मद्रास विश्वविद्यालय व्याख्यानों से लिया गया है जो पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो चुके हैं–'सम करेक्टेरिस्टिक्स ऑफ दि इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन' (लंदन, ऑक्सफोर्ड, १९५३) सम्पादक

संविधान के नमनीय (flexible) व अनमनीय वर्गीकरण से हमें ब्राइस तथा डायसी ने परिचित कराया है। सामान्यतः समझा जाने वाला यह वर्गीकरण वस्तुतः अति सरल

है। नमनीयता व अनमनीयता का प्रश्न अनिवार्यतः मात्रा से संबंधित है। ब्रिटेन का संविधान मात्र इसलिए ही अत्यधिक नमनीय नहीं है क्योंकि उसका कोई भी भाग संसद् द्वारा पारित कानून से बदला जा सकता है, वह इसलिए भी नमनीय है क्योंकि उसका काफी कम भाग कानूनी रूप में अभिव्यक्त हुआ है। संवैधानिक राजतन्त्र तथा मन्त्रिमण्डलीय सरकार के सिद्धान्त, मंत्रिमण्डल व संसद् के सम्बन्ध तथा मंत्रियों व लोक सेवकों के सम्बन्ध—ये सब कुछ अभिसमयों से नियमित होते हैं और वे स्वयं को परिवर्तित स्थितियों के अनुरूप रूपांतरित करते रहते हैं। एक संविधान जो मात्र किसी विशेष औपचारिक प्रक्रिया द्वारा ही बदला जा सके, अनिवार्यतः अधिक अनमनीय है बनिस्पत उसके जो साधारण विधान द्वारा परिवर्तित किया जा सके। लेकिन अनमनीयता की मात्रा दो घटकों पर निर्भर है। प्रथम, संशोधन–प्रक्रिया के दौरान उपस्थित कठिनाइयों की मात्रा पर निर्भरता : अर्थात् एक साधारण विधान की तुलना में संवैधानिक संशोधन करने के लिए क्या और आवश्यक होता है। द्वितीय, संविधान की विषय सामग्री पर निर्भरता। भारतीय संविधान को जो घटक इतना अधिक अनमनीय बना देता है वह संशोधन की जटिल प्रक्रिया तो है ही, इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी उत्तरदायी है कि संविधान इतना अधिक जटिल है और वह कानून के इतने व्यापक क्षेत्र से सम्बन्धित है कि संवैधानिक वैधता की समस्या अनिवार्यतः अवसर उठ खड़ी होती है।[1]

यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि बहुत कम व्यवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें संशोधन मात्र साधारण बहुमत से सम्भव है। वे संविधान जिनमें संशोधन संबंधी विशेष धाराएँ होती हैं, सामान्यतः ऐसी व्यवस्थाएँ लिए होते हैं जिनमें यह अभिव्यक्त होता है कि "संसद् द्वारा कोई नई व्यवस्था किए जाने तक" वे प्रभावी रहेंगी। निम्नलिखित धाराएँ इस आशय की प्रतीक हैं :

(१) धाराएँ २, ३ व ४ जो संसद् को कानून द्वारा यह अधिकार दिलाती है कि वह नए राज्यों को प्रविष्ट कर सके, सीमा-परिवर्तन द्वारा नए राज्यों का निर्माण कर सके, और तदनुकूल प्रथम व चतुर्थ अनुसूची में परिवर्तन कर सके।

(२) धारा ७३ (२) जो संसद् की किसी अन्य व्यवस्था के होने तक राज्यों में कुछ सुनिश्चित शक्तियाँ निहित करती है।

(३) धाराएँ ७५, ९७, १२५, १४८, १६५ (५) तथा २२१ (२) जो द्वितीय अनुसूची में परिवर्तन की अनुमति देती है।

(४) धारा १०० (३) जिसमें संसद् की किसी नई व्यवस्था के होने तक संसदीय कोरम का प्रावधान है।

---

१ यह तर्क कि ब्रिटिश संविधान इसलिए अनमनीय है क्योंकि उसमें सदियों से कोई संशोधन नहीं हुआ, सही नहीं है। ब्रिटिश संवैधानिक व्यवस्थाएँ भी सहज संशोधनीय हैं। यह तथ्य भी अप्रासंगिक है कि ब्रिटिश जनता राजतंत्र समेत अनेक मामलों में विशेष अनुदार है। सुझाव यह नहीं है कि भारतीय संविधान उसी प्रकार परिवर्तनशील हो जैसे वातावरण व जलवायु के अनुरूप वस्त्र होते हैं। आशय-मात्र यह है कि वर्तमान संविधान परिवर्तन की उपयुक्त सम्भावनाओं को ही नकारता है।

(५) धारा १०५ (३) संसद् द्वारा परिभाषित किए जाने पर संसदीय विशेषाधिकारों की व्यवस्था करती है।

(६) धारा १०६ जो संसद् द्वारा पारित किए जाने पर संसद् सदस्यों के वेतन एवं भत्तों की व्यवस्था करती है।

(७) धारा ११८ (२) जो संसद् के दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत किए जाने पर प्रक्रिया से सम्बन्धित विधि की व्यवस्था करती है।

(८) धारा १२० (२) जो संसद् द्वारा किसी नई व्यवस्था के न किए जाने पर १५ वर्षों के उपरान्त अंग्रेजी को संसदीय भाषा के रूप में छोड़ने की व्यवस्था करती है।

(६) धारा १२४ (१) जिसमें यह व्यवस्था है कि संसद् द्वारा किसी नई व्यवस्था के न होने तक सर्वोच्च न्यायालय में मात्र ७ गौण (Psuine) न्यायाधीश होंगे।

(१०) धारा १३३ (३) जो संसद् द्वारा नई व्यवस्था न किए जाने तक उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को भेजी गई अपील को रोकती है।

(११) धारा १३५ जो संसद् द्वारा किसी अन्य व्यवस्था के किए जाने तक सर्वोच्च न्यायालय के लिए एक सुनिश्चित अधिकार-क्षेत्र नियत करती है।

(१२) धारा १६६ (१) जो कुछ शर्तों के साथ विधान-परिषदों को भंग करने की व्यवस्था करती है।

(१३) धारा २४२ (१) संविधान तथा कुर्ग विधान परिषद् के कार्यों को कायम रखती है।

(१४) धाराएँ ३४३ (३) तथा ३४८ (१) जो सरकारी भाषाओं में कुछ नमनीयता की व्यवस्था करती हैं।

कुछ मामलों मे राज्य विधान मण्डलो के लिए भी ऐसी समान व्यवस्थाएँ हैं जिनके अन्तर्गत वे संवैधानिक व्यवस्थाओ मे परिवर्तन कर सकते हैं। यह स्पष्ट होगा कि ये व्यवस्थाएँ कम है और जो हैं वे महत्त्वहीन है। इसका अपवाद नए राज्यों के निर्माण सम्बन्धी शक्ति है जो यह आभास देती है कि राज्य इस सम्बन्ध में केन्द्र की अपेक्षा कही अधिक कमजोर हैं।

धारा ३६८ संशोधी धारा (Amending clause) है। एक संवैधानिक संशोधन के लिए (अ) प्रत्येक सदन की कुल सदस्यता का बहुमत तथा (ब) प्रत्येक सदन के उपस्थित मतदान करने वाले सदस्यों का कम से कम दो-तिहाई बहुमत आवश्यक है।

इसका अभिप्राय यह है कि सदन का एक-तिहाई भाग किसी संवैधानिक संशोधन के विरुद्ध मत देकर उसे पराजित कर सकता है। यदि एक-चौथाई भाग उसके विरोध में मत दे और दूसरा (एक चौथाई) मतदान में भाग न ले तो सम्बन्धित संशोधन फिर रुक सकता है। इसके अतिरिक्त संघीय धाराओ से सम्बन्धित किसी संशोधन के लिए न केवल यह आवश्यक है कि उसे प्रत्येक सदन में पूर्ण बहुमत (Absolute majority) व मतदान करने के लिए उपस्थित सदस्यो का दो-तिहाई मत ही मिले बल्कि उसको भाग अ व भाग ब * राज्यों में से आधे राज्यो के विधान मंडलों की स्वीकृति भी मिले।

---

* ये वर्गीकरण अब संविधान के संशोधन द्वारा समाप्त कर दिये गए हैं। अब भारतीय संघ को केवल दो इकाइयाँ हैं—राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेश, परन्तु इस परिवर्तन का लेखक की मुख्य धारणा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भारतीय संविधान को अनमनीयता केवल जटिल संशोधन–प्रक्रिया से ही नहीं मिलती बल्कि सविधान की लम्बाई व विस्तार से भी मिलती है। भारतीय संविधान में ३६५ धाराएँ तथा ८ अनुसूचियाँ है। पूरा संविधान २५१ अठपेजी पृष्ठो (Octavo pages) का स्थान घेरता है। अनिवार्यतः यह विश्व का सर्वाधिक लम्बा और विस्तृत संविधान है। इसके अनेक कारण खोजे जा सकते हैं।

१. यह एक संघीय सविधान है जिसमें मात्र केन्द्र के संविधान का ही वर्णन नही है बल्कि राज्यों के सविधान का भी वर्णन किया गया है। भाग ४, जिसमें ८६ धाराएँ हैं, यथार्थ मे भाग 'अ' के राज्यों के लिए एक मानक सविधान है जिसको न संबधित विधान मडल और न ससद् ही संशोधित कर सकते हैं। भाग VII जिसमें मात्र एक धारा है, भाग VI को भाग 'ब' के राज्यों में भी लागू करता है। भाग VIII,IX तथा X जिनमें ६ धाराएँ है, भाग 'स' के राज्यों पर लागू होते हैं और पांचवी व छठी अनुसूचियों का निर्माण करते है।

२. केन्द्र तथा राज्यों के मध्य सम्बन्ध असामान्य रूप से जटिल हैं। भाग XI में १९ उप-भाग है और सातवी अनुसूची उसी मे समाहित है लेकिन वित्तीय सम्बन्धों की भाग XII के अन्तर्गत व्याख्या की गई है जिसमे ३७ धाराएँ हैं।

३. संविधान सभा ने न केवल २४ धाराओं[3] से युक्त एक अधिकार-बिल (Bill of Rights) को संविधान में स्थान देना ही उचित समझा बल्कि उसने राज्य-नीति के निदेशक-सिद्धान्तों को भी स्थान दिया, जिसमें १६ धाराएँ हैं।

४. कुछ विषयों जैसे न्यायिक अधिकारियों के संगठन को, जिन्हें साधारण विधान के माध्यम से प्रभावी बनाया जा सकता था, भी सविधान में स्थान दिया गया है। केन्द्रीय न्यायपालिका से सबधित २४ धाराएँ हैं और राज्यों की न्याय-पालिकाओं से सम्बन्धित अन्य २४ धाराएँ भी हैं।

५. भारत की अपनी कुछ ऐसी विचित्र समस्याएँ हैं, जिनके विषय में संविधान सभा की यह राय थी कि उनके संबंध मे निश्चित संवैधानिक अधिनियमन (Enactment) की आवश्यकता थी। इस श्रेणी में लोक सेवाएँ (जिनके सम्बन्ध मे भाग XIV–16 धाराओं में उल्लेख किया गया है), विशिष्ट वर्ग जैसे एंग्लो-इंडियन, अनुसूचित जातियाँ व जनजातियाँ (इनके सम्बन्ध में देखें भागXVI–१३ धाराएँ) और सरकारी भाषाएँ (संविधान का भाग XVIII–९ धाराएँ तथा एक अनुसूची।)

---

२ १ सितम्बर १९५१ के संशोधन तक। इसमे ३९७ धाराएँ तथा ९ अनुसूचियाँ हैं, जो कुल २५४ पृष्ठों को घेरते हैं।

३ अब २६ धाराएँ व १ अनुसूची

६. अंशतः संघीय व्यवस्था व अंशतः अधिकारों से संबंधित विस को स्थान देने के कारण यह आवश्यक समझा गया कि ६ धाराओं में संबंधित संकटकालीन व्यवस्थाओं को भी स्थान दिया जाए।

द्विरावृत्ति (Duplication) को यदि ध्यान में रखा जाए तो उक्त सूची में २६० धाराएँ व ४ अनुसूचियाँ ⁴ तथा मोटे तौर पर सम्पूर्ण संविधान का दो-तिहाई भाग आता है।

नमनीयता को एक गुण व अनमनीयता को एक दोष माना जाता है। क्योंकि संविधान-निर्माताओं को ऐसी दूर-दृष्टि प्राप्त नहीं होती जिससे वे उन स्थितियों व समस्याओं को देख सकें जिनको संविधान के क्रियान्वयन के समय बाधा बनने की संभावना होती है। उनके पास भविष्यवाणी की शक्ति नहीं होती। जब अमेरिका के संविधान का निर्माण किया गया उस समय निर्माताओं के लिए यह आभास असम्भव था कि राज्यों के मध्य व्यापार रेलवे, मोटर यातायात तथा हवाई जहाज से होगा। हालीवुड व दूरदर्शन (Television) का विचार किए बिना अधिकारों के बिल का प्रारूप तैयार किया गया था। इसी प्रकार विचारों में परिवर्तन भी कम क्रांतिकारी नहीं है। अमेरिकी जीवन-पद्धति इस पीढ़ी की स्थितियों व इतिहास की उपज है। अमेरिकी संसद ने एशिया व यूरोप से संबंधित नीतियों की दिशा में वह महत्ता उपलब्ध की है जिसकी तेरह कॉलोनी में कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था।

एक संविधान मात्र अपने निर्माणकाल के वातावरण में ही काम नहीं करता वरन् उसके शताब्दियों बाद तक व्यवहृत होता है। उसमें अनिवार्यतः नई स्थितियों के अनुरूप रूपान्तर की क्षमता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अब सरकार व संसद् का वह निष्क्रिय कार्य ही नहीं रहा जिसके अन्तर्गत उसे विविध प्रतिस्पर्द्धी हितों में सामंजस्य एवं आर्थिक विकास में योगदान करना है। किसी संगठन की प्रत्येक संवैधानिक व्यवस्था अपने कार्यों के प्रति स्वयं एक बाधा है चाहे यह अपनी सदस्यता निर्धारित करे या प्रक्रिया। यह तथ्य, कि इस प्रकार की बाधा आज की एक आवश्यकता है, यह नहीं दर्शाता कि अब से एक शताब्दी बाद भी स्थिति यथावत् रहेगी। वे विचार जिन पर किसी पीढ़ी के अन्तर्गत कोई संविधान आधारित होता है भविष्य में अप्रासंगिक हो सकते हैं। कोई भी आज शक्ति के पृथक्करण की अपथ्यदायी अक्षमता को नहीं स्वीकारेगा जिस प्रकार कि चिकित्सा (मेडिसिन) की अतीत की समझ व आज की समझ में अत्यधिक अन्तर दिखाई देगा।

अतः संविधान निर्माताओं के लिए एक स्वर्णिम नियम यह है कि इस प्रकार की कोई भी व्यवस्था ग्रहण नहीं की जाए जिसे सहजतापूर्वक छोड़ा जा सकता हो। कोई व्यवस्था वांछनीय हो, इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उसे संविधान में स्थान दिया जाए। इसे पर्याप्त सुविधापूर्वक साधारण विधान के माध्यम से निर्मित किया जा सकता है। प्रश्न यह है कि क्या यह वांछनीय है कि संबंधित व्यवस्था को भावी पीढ़ियों के लिए अनिवार्य बना दिया जाए? इस प्रश्न का समुचित उत्तर कोई नहीं दे सकता।

---

४ संशोधन के उपरांत अब २६२ धाराएँ व ५ अनुसूचियाँ

यह स्पष्ट होगा कि समस्या के दो पक्ष हैं। यदि कोई संविधान सहजता से संशोधित किया जा सके तो इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं है कि इसमें संशोधन की जाने वाली व्यवस्थाएँ समाहित करली जाएँ। इसके विपरीत, यदि वह सहजता से न बदला जा सके तो उसे यथासंभव छोटा व सरल होना चाहिए। संविधान सभा ने एक ऐसा लम्बा व जटिल दस्तावेज़ प्रस्तुत किया है जिसमें सरलता से संशोधन नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत प्रारूप में कई व्यवस्थाएँ ऐसी हैं जिन्हें संवैधानिक संरक्षण की आवश्यकता नहीं थी। उदाहरण के लिए धारा २२४, जिसमें एक अवकाशप्राप्त न्यायाधीश को उच्च न्यायालय में बैठने का अधिकार दिया गया है। क्या यह व्यवस्था इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उसे संवैधानिक संरक्षण दिया जाता और उसमें तब तक कोई संशोधन नहीं किया जाता जब तक कि उसे केन्द्रीय संसद् के मतदान देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई भाग की स्वीकृति नहीं मिल जाती ?

इस प्रश्न पर विचार किया जाना आवश्यक है कि संविधान सभा ने इस उद्देश्य से प्रयास क्यों नहीं किया कि संविधान को जितना संभव हो उतना छोटा और सरल बनाया जाए। इसका उत्तर संभवतः ब्रिटिश आधिपत्य काल के अन्तर्गत भारतीय संवैधानिक इतिहास से प्राप्त होगा। संविधान मुख्यतः १६३५ के भारतीय अधिनियम से व्युत्पन्न हुआ है। इसकी अनेक व्यवस्थाएँ पूर्णतः ब्रिटेन की संसद् द्वारा पारित उक्त अधिनियम से ले ली गई थीं। ब्रिटेन की संसद् द्वारा पारित यह सर्वाधिक लम्बा नियम था और उसका मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश सरकारी पदाधिकारियों से भारतीय राजनीतिज्ञों को विविध बचावों के अधीन शक्ति हस्तांतरित करना था। अतः इसे एक नए संघीय विधान मंडल का निर्माण करना था और राज्यों से नए सम्बन्ध स्थापित करने थे। भारत सरकार की प्रवृत्ति तानाशाही रही है जिसकी शक्तियाँ पहले ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के हित में थी। १६३५ में समस्या सरकार की शक्ति के पुनर्वितरण की थीं और यह गोलमेज कांग्रेस तथा ब्रिटेन की संसद् द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार होना था। एक संवैधानिक व्यवस्था के विषयों तथा केवल प्रशासनिक अथवा न्यायिक प्रकार के विषयों में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं किया गया था। १६३५ का अधिनियम संसद् का एक साधारण विधान था जिसका उद्देश्य भारत में लागू होने वाले ब्रिटिश कानून के अंशों में संशोधन करना था। इसमें डॉग्स एक्ट के अनुसार उसी संसद् के अनुवर्ती (Subsequent) कानून का एक भाग भी था क्योंकि यह ब्रिटेन की भारत पर निर्भरता की व्यवस्था को नियमित भी करता था। नए संविधान का बिल्कुल नवीन स्वरूप है। यह मौलिक कानून है जिसमें साधारण कानून की भाँति परिवर्तन नहीं किया जा सकता। अतः संविधान सभा के लिए ब्रिटिश संसद् के विपरीत, यह निर्णय लेना आवश्यक था कि किन कानूनों को मौलिक कानून के रूप में निर्मित किया जाए और किन्हें साधारण कानून के रूप में। ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान सभा ने गम्भीरता-पूर्वक यह कार्य नहीं किया। उसने स्वयं से बिल्कुल अन्य प्रश्न किया : स्वतन्त्र भारत में कौन से कानून वांछनीय हैं ?

भारतीय संविधान के व्यावर्तन धर्मी(exclusive) न होकर समावेश धर्मी (inclusive)

होने का दूसरा कारण वह विशेषता है जो अन्य देशों के साथ-साथ भारत से भी सम्बन्धित है लेकिन जिसका भारत के संदर्भ में विशेष महत्व था। अपरिहार्य रूप से प्रत्येक संविधान का अपना एक निश्चित समय होता है। निकट अतीत के विवादों का विचारों पर प्रभुत्व होता है जबकि भविष्य संबंधी विवादों का प्रभाव अज्ञात रहता है। यदि हम स्वयं से यह प्रश्न पूछें कि वे क्या विवाद थे जिन्होंने संविधान सभा का मानस तैयार किया, तब हम यह जान सकेंगे कि क्यों कुछ निश्चित अवैधानिक समस्याओं का विस्तार से वर्णन किया गया जबकि कुछ मात्र इंगित ही की गई।

१. भारत ने एक लम्बे विवाद के पश्चात् स्वतन्त्रता प्राप्त की। यह विवाद भारतीय पक्ष के नेताओं तथा सरकारी अधिकारियों के बीच का था। भारतीय नेता पीढ़ियों से सरकार के विरुद्ध थे। उनमें से अनेकों ने कारावास का दण्ड भेला। क्योंकि कानून इस व्यवस्था का माध्यम था इसलिए सम्भव है कि इस अनुभव ने उन्हें समस्त कानूनों के प्रति शंकालु बना दिया हो, अराजकतावादी सिद्धान्तों का समर्थक बना दिया हो या कम से कम उनमें यह विश्वास उत्पन्न कर दिया हो कि कानून और स्वतन्त्रता में असंगति है। वस्तुतः इसका एक विपरीत परिणाम प्रतीत हुआ और वह यह कि सरकार की शक्तियाँ कानून द्वारा कठोरता से सीमित होनी चाहिए। यद्यपि सत्ताप्राप्त सरकारें उत्तरदायी थीं लेकिन भारतीय नेताओं की स्मृति में अनुत्तरदायी सरकारों का अनुभव अभी शेष बना हुआ था। ब्रिटेन का यह अनुभव रहा है कि जनमत उत्तरदायी सरकार को नियंत्रित करता है लेकिन भारत को इसका अनुभव नहीं मिला। फलतः संविधान सभा ने बिना अपने सिद्धान्तों को सुस्पष्टता दिए, यह कल्पना की कि सरकार को कठोरता से कानूनों द्वारा नियमित होना चाहिए।

२. भारत को स्वाधीनता न दिए जाने का विषय मुख्यतः इस धारणा पर आधारित था कि भारतीय धर्म जाति, वर्ण तथा भाषाई आधारों पर इतने विभक्त हैं कि यहाँ लोकतन्त्र सुचारु रूप से नहीं चल सकता। भारतीय जनमत इस धारणा की पुष्टि नहीं कर सकता था और उसने ऐसा नहीं किया। इसके विपरीत उसने इस बात पर बल दिया कि ब्रिटिश शासकों द्वारा विविधता के इन तत्वों को यदि प्रोत्साहन नहीं दिया गया तो कम से कम खींचतान कर प्रस्तुत किया गया है और इसका उद्देश्य ब्रिटिश शासक को सत्तारूढ़ रखना है। यद्यपि संविधान में ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जो साम्प्रदायिक समस्या के अस्तित्व को मान्यता देती हैं लेकिन वे न बहुसंख्य हैं और न महत्वपूर्ण। वास्तव में, भारतीय संविधान मुख्यतः साम्प्रदायिकता को कम करता है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि श्रीलंका में ऐतिहासिक कानूनों के फलस्वरूप साम्प्रदायिकता का वातावरण भारत की अपेक्षा कम था लेकिन फिर भी वहाँ के संविधान के अन्तर्गत साम्प्रदायिक समस्याओं को अधिक मान्यता दी गई है। साम्प्रदायिकता सम्बन्धी तर्क के प्रति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिकृत उत्तर यह था कि यह समस्या मात्र मूल स्वतन्त्रताओं से सम्बन्धित है। साम्प्रदायिकता राजनीति के संदर्भ में अप्रासंगिक है और ऐसा होना भी चाहिए। यह एक सांस्कृतिक विभेद है और व्यक्ति को उसकी स्वतन्त्रता देने के पश्चात् इसका समाधान स्वयमेव हो जाएगा। अतः

समस्या का निदान सरकार की शक्तियों को सीमित करने में है न कि साम्प्रदायिकता को कानूनी अस्तित्व देने में।

१६४६ तक ब्रिटेन ने भारत का यह तर्क स्वीकार कर लिया था। समस्या के एक समाधान को पाने की उत्सुकता में, जो हिन्दू व मुसलमानों दोनो को सतुष्ट करे, ब्रिटिश सरकार ने मूल स्वतन्त्रताओं के विचार का आश्रय लिया। हिन्दू-बहुसख्यक क्षेत्रो मे मुस्लिम वर्ग को अधिकार-पत्र द्वारा संरक्षण दिया गया। मुस्लिम बहुसंख्य क्षेत्रो में हिन्दुओ के लिए भी समान संरक्षण की व्यवस्था थी। अत १६४६ की संविधान सभा ने एक समिति की स्थापना की और इससे उत्पन्न व्यवस्था को १६४७ की सविधान सभा मे भी स्थान दिया गया।

(३) ब्रिटिश शासन का एक मुख्य प्रभाव यह पडा कि मुख्यतः जाति पर आधारित एक पूर्वी समाज-व्यवस्था पर पश्चिमी वर्ग-व्यवस्था का आरोपण हुआ। यदि भारत स्वय को पश्चिमी दुनियां के अनुरूप ढाल लेता तो संभवतः जाति-व्यवस्था क्रमशः परिवर्तित हो गई होती। लेकिन पश्चिमी विचारों के आरोपण ने एक नई सामाजिक समस्या उत्पन्न की जिसके परिणाम स्वरूप एक वर्ग-विभाजन परिलक्षित हुआ जो कि एक भाषा विभाजन भी था। इस विषय पर अभिव्यक्ति कुछ सकोच से दी जा रही है क्योंकि यह प्रवृत्ति भारत की अपेक्षा श्रीलका मे संभवत अधिक विद्यमान है और इसलिए लेखक इसको विस्तार से देखने की प्रवृत्ति रखता है। इस प्रवृत्ति को सामाजिक समस्या से अधिक एक भाषाई-समस्या के सदर्भ में देखा परखा जाता है। महात्मा गाधी ने निश्चित रूप से इसे एक सामाजिक समस्या माना है लेकिन औद्योगीकरण के परित्याग का उनका उपाय भारतीय जनमत ने अस्वीकार कर दिया है। अतः सविधान मे यह एक भाषा-समस्या के रूप में प्रकट होती है और भारतीय अ ग्रेजी भाषियो को संपन्न वर्ग से जोडा जाता है। इस स्थिति के कारण यह एक अधिकाधिक जटिल समस्या है। एक ओर अ ग्रेजी भाषा ने राष्ट्रीय आंदोलन को एक आयाम दिया है और राजनीति मे प्रवेशार्थी नौसिखिये छात्र बर्क और जॉन स्टुअर्ट मिल को भाषा में तुतलाते है और दूसरी ओर अंग्रेजी भाषा न केवल एक वर्ग विशेष की प्रतीक ही है बल्कि वह ब्रिटिश शासन का अवशेष भी मानी जाती है। इसलिए साधारण कानून के स्थान पर सवैधानिक कानून की जटिल भाषायी व्यवस्थाओ की आवश्यकता पड़ी।

(४) वर्ग-व्यवस्था मूलतः एक आर्थिक समस्या है न कि भाषायी समस्या। यह भारत मे उतनी ही गम्भीर है जितनी कि पूर्वी यूरोप मे क्योंकि भारत मे अधिकाश ग्रामीण जनसख्या है जो अत्यधिक दरिद्र स्थिति मे है और एक अल्पसख्यक शहरी मध्यम वर्ग है। यह सही नही है कि भारतीय किसान को मात्र बंधनो से ही मुक्त होना है। वह अपनी भूमि से भी वचित हो सकता है और भूमि से वचित होने का अर्थ है वह स्वय से और अपने परिवार से भी वंचित हो जाए। इसके बावजूद पश्चिम का वर्ग-संघर्ष यहाँ विद्यमान है और गाँवों में प्रत्यक्षतः विद्यमान न होकर भी यह शहर में गम्भीर रूप में प्रकट होता है। अपरिहार्य रूप से कुछ भारतीय राजनीतिज्ञो ने पश्चिम के समष्टिवादी (*Collectivist*) विचारो मे इस समस्या का निदान ढूंढा है। आवश्यक रूप से भारतीय संविधान

एक व्यक्तिपरक दस्तावेज है। इसके मसीहा बर्क, मिल व डाइसी हैं लेकिन फिर भी संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने समष्टिवादी विचारों के संदर्भ में समस्या पर ध्यान दिया। परिणामस्वरूप एक विचित्र द्विभाजन (dichotomy) प्रकट होता है। एक ओर स्वतन्त्रता के हित में उन्नीसवी शताब्दी के समष्टिवाद ने सरकार की शक्तियों को सीमित करने का प्रयास किया है और दूसरी ओर बीसवीं शताब्दी के समष्टिवाद ने सरकार की शक्तियों को सुदृढ करने का प्रयास किया है जिससे कि राज्य आर्थिक जीवन को नियमित कर सके और स्वतन्त्रता को सीमित करे। इन स्थितियों में समझौता और जटिलता अपरिहार्य थे।

(५) ब्रिटिश भारत का एक प्रमुख विवाद यह था कि एक ही अधिकारी प्रशासकीय व न्यायिक कार्य करते थे। कार्यों में विभाजन के पक्ष-विपक्ष में तर्क दिए जा सकते हैं और यह एक तथ्य है कि ब्रिटेन में ऐसा विभाजन संभव नहीं हो सका है। यद्यपि मॉन्टेस्क्यू को शक्तियों के पृथक्करण का श्रेय दिया जाता है लेकिन उसने भी कार्यों का ऐसा विभाजन नहीं किया। यह पर्याप्त रूप से सही है कि शक्तियों का केन्द्रीकरण स्वतन्त्रता के लिए एक खतरा है और मॉन्टेस्क्यू ने इस अभिव्यक्ति से अधिक इस दिशा में कुछ नहीं किया। मॉन्टेस्क्यू के दिमाग में फ्रांसीसी साम्राज्य का अत्यधिक केन्द्रीकृत प्रशासन था न कि इङ्गलैंड की न्यायप्रिय व्यवस्था। शासन का फ्रांसीसी प्रतिमान किसी भी अर्थ में तानाशाही युक्त नहीं था और यह प्रशासनिक व न्यायिक विषयों का मिश्रण भलीभाँति दर्शाता था। भारत में स्थानीय स्तर से लेकर कलकत्ता और दिल्ली तक तानाशाही का खतरा व्याप्त था। भारत की व्यापकता और इसकी सम्प्रेषण-व्यवस्था (Communication-system) की क्षीणता के कारण जिलाधीश वस्तुतः एक तानाशाह था जिसका शासक हितकारी हो भी सकता था और नहीं भी। किसी भी स्थिति में उसे स्थानीय कांग्रेसी राजनीतिज्ञ की सहानुभूति काफी कम मात्रा में प्राप्त होती थी।

अतः शक्ति के पृथक्करण के विचार की भारत में एक नवीन व्याख्या हुई। इसके लिए मात्र उच्चतर न्यायालयों की स्वतन्त्रता ही आवश्यक नहीं है बल्कि स्थानीय कार्यों में विशिष्टीकरण भी आवश्यक है। निम्न स्तरों पर भी न्यायिक प्रशासन संवैधानिक महत्त्व का एक विषय बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान की न्यायिक धाराओं की जटिलता इस सिद्धांत के कारण है कि न्यायिक प्रशासन इतना महत्त्वपूर्ण है कि उससे अनिवार्यतः संवैधानिक कानून द्वारा निबटा जाना चाहिए न कि साधारण कानून द्वारा।

इस संदर्भ में संविधान सभा की एक विशेषता पर ध्यान दिया जाना चाहिए जो काफी विचित्र है। मुकदमेबाजी भारत का एक प्रमुख व्यवसाय है। इसके अतिरिक्त इस व्यवसाय में प्रवेश भी अत्यधिक सहज रहा है। एक डाक्टर को वॉर्ड की देखभाल करनी होती है, अपना कार्य सीखना होता है, एक एकाउन्टेंट को एप्रेन्टिसशिप में काम करना होता है, एक व्यापारी को दफ्तर व फैक्टरी में अपना काम सीखना होता है जबकि एक वकील को मात्र कॉलेज में प्रवेश ही लेना होता है। जिन स्थानों पर चेम्बर में अध्ययन अनिवार्य है, वहाँ क्षमता पर ध्यान नही दिया जाता। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि कानूनी शिक्षा को

राजनीति से पर्याप्त महानुभूतिपूर्वक जोडा जा सकता है। इसलिए एक वकील-राजनीतिज्ञ ने जितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका भारत मे निभाई है, उतनी विश्व के किसी भाग में नही निभाई। यह स्थिति खतरे से पूर्ण है क्योंकि अक्सर एक वकील-राजनीतिज्ञ न अच्छा वकील होता है और न अच्छा राजनीतिज्ञ ही। यह एक इतिहास का विषय है कि क्या संविधान सभा के वकील राजनीतिज्ञ सदस्यों ने अमूल्य योगदान दिया है या नही, लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस स्थिति ने संविधान की जटिलताओं मे वृद्धि की है। यह भी द्रष्टव्य है कि संविधान पर संवैधानिक कानून की दृष्टि का प्रावल्य रहा है जिसे अब अधिकांश न्यायविद् पुराना मानने लगे हैं। यह दृष्टि डाइसी के कृतित्व पर आधारित है। डाइसी निस्संदेह इङ्गलैंड द्वारा प्रस्तुत किये गए योग्यतम् न्याय-शास्त्रियो मे से एक है क्योंकि उन्हें सिद्धांतों को सरलीकृत कर प्रतिपादित करने की दक्षता प्राप्त थी। लेकिन यह संदेहास्पद है कि यह दृष्टि बीसवी सदी मे भी संविधान निर्माताओं के लिए एक उपयुक्त निर्देशक हो सकती है।

इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान पर संवैधानिक न्यायशास्त्रियो की नई पीढ़ी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। शिक्षा-बोर्ड बनाम राइस (१६११) तथा स्थानीय सरकारी बोर्ड बनाम आर्लिज (१६१५) के परिणामस्वरूप डायसी स्वयं इस सम्बन्ध मे शंकालु हो गए थे कि उनका विश्लेषण आधुनिक संवैधानिक कानून के अनुकूल है या नहीं। द्वितीय युद्धोत्तर पीढी को यह शिक्षा दी गई कि डाइसी के सिद्धान्तो में कुछ हेर-फेर आवश्यक है। जब यह पीढी पर्याप्त रूप मे इतनी प्रौढ़ हुई कि वह अपने मत को अभिव्यक्त कर सके तब उसने इन सिद्धान्तो मे अपवादो व शर्तों को जोड़ने के अतिरिक्त भी काफी कुछ किया। इसने संवैधानिक कानून के उन क्षेत्रों का अध्ययन प्रारम किया जिनकी डाइसी ने उपेक्षा की थी और साथ ही प्रशासकीय कानून के महाद्वीपीय विचार (Continental concept) पर भी ध्यान देना शुरू कर दिया। जीजे (Jeze) के अनुसार डाइसी ने इसे गलत समझा था। इस विचार पर ध्यान देने के पश्चात् उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि डाइसी की धारणा के प्रतिकूल प्रशासनिक कानून एक निरन्तर विकासमान विचार है। डाइसी के समान वे भी महाद्वीपीय प्रशासकीय विचार मे रुचि रखते थे। लेकिन उनके प्रतिकूल उनकी इंग्लिश कानून के तुलनीय नियमों में भी रुचि थी। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि भारतीय न्यायविदो ने प्रशासकीय कानून के नए दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया, लेकिन उनके संदर्भ मे यह कहा जा सकता है कि निश्चित रूप से उन विशेषाधिकारी याचिकाओ (Prerogative Writs) के प्रति एक नवीन आग्रह था जो डाइसी के समय अविद्यमान थी। यद्यपि कोई अंग्रेज न्यायशास्त्री विशेषाधिकारी याचिकाओं को संविधान मे स्थान नही देता लेकिन भारतीय संविधान-सभा ने ऐसा ही किया।

लेकिन विविध घटकों ने मिलकर भारत को एक अत्यधिक जटिल संविधान प्रदान किया है। प्रत्येक संवैधानिक न्यायविद् को इस तथ्य पर धैर्यपूर्वक दृष्टिपात करना चाहिए कि उनके व्यवसाय को प्रतिष्ठित किया गया है। लेकिन संविधान सरकार के सुचारु

क्रियान्वयन की प्रक्रिया निर्धारित करने के लिए होते है न कि संवैधानिक न्यायविदों का पारिश्रमिक जुटाने के लिए।

संविधान से एक उल्लेखनीय लोप (ommission) पर ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि उससे उपरोक्त विश्लेषण का उदाहरण प्राप्त होता है। अपने पूर्ववर्ती अधिनियमों की ही भांति १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने साम्प्रदायिकता की शक्ति की कल्पना की और इसलिए उसने सीटो के वितरण से सम्बन्धित विस्तृत नियमों की व्यवस्था की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का खण्डन किया। इसीलिए नया सविधान भाग XVI के अंतर्गत अनुसूचित जातियों, जनजातियो एव एंग्लो-इंडियन समुदाय के लिए की गई व्यवस्थाओं के अतिरिक्त, अपने प्रारूप में साम्प्रदायिक समस्या की चर्चा नही करता। धारा ३२६ द्वारा वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गई है और धारा ८१ के अन्तर्गत निर्वाचन-क्षेत्र के आकार संबंधी चर्चा की गई है। लेकिन निर्वाचन क्षेत्रो का सीमा-निर्धारण धारा ३२७ के अनुसार किया गया है। यह अत्यधिक विलक्षण बात है, कि किसी ने भी इसे विशेष सवैंधानिक महत्त्व का विषय नहीं माना है। ब्रिटेन मे यह कार्य साधारण कानून द्वारा होता है, लेकिन ब्रिटेन अपने राजनीतिज्ञों पर विश्वास करने मे लगभग अनूठा है।

ब्रिटेन मे मूलभूत राजनैतिक विभाजन श्रमिक वर्गों व वेतनभोगी वर्गों के बीच है। अत्यधिक औद्योगिक विकास के कारण बहुसंख्यक मध्यम-वर्ग शक्ति सतुलक का कार्य करता है। चालू हवा दक्षिण-पश्चिम में होने के कारण आबादी वाले क्षेत्र पश्चिम में हैं और औद्योगिक क्षेत्र पूर्व मे है। परिणामस्वरूप यदि किसी छोटे शहर में दो निर्वाचन क्षेत्र हों तो पूर्व व पश्चिम का यह विभाजन सामान्यतः एक मजदूर दल के सदस्य व एक अनुदार (Conservative) दल के सदस्य को विजयी करेगा। लेकिन यदि यह विभाजन उत्तर व दक्षिण के रूप मे होगा तो दोनो स्थान अनिश्चित रहेंगे? जिस प्रकार एक पेंडुलम इधर-उधर घूमता है उसी प्रकार दोनो निर्वाचन क्षेत्र भी बारी-बारी से मजदूर व अनुदार दल को विजयी करेंगे।

यह सहज उदाहरण सीमा-निर्धारण के राजनैतिक महत्व को दर्शाता है। भारत मे मात्र वर्ग के आधार पर ही विभाजन नही होता (वर्ग भी अंग्रेजी शिक्षा व अन्य पश्चिमी परम्पराओ का परिणाम है) भारत मे धर्म, नस्ल, जाति, व भाषा के आधार पर भी विभाजन परिलक्षित होता है। अत सीमा-निर्धारण एक अत्यधिक गम्भीर कार्य है जिसमें निंदा की अत्यधिक सम्भावनाएँ निहित हैं। इसके बावजूद संविधान सभा ने इस कार्य को तो साधारण कानून के सुपुर्द किया जिसे साधारण बहुमत द्वारा पारित किया जाता है जबकि उच्च न्यायालय के एक अवकाश प्राप्त न्यायाधीश के बेंच में फिर से बैठने के लिए एक सवैंधानिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

इसके अतिरिक्त एकल-सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था का प्रभाव अधिकतर अस्तित्व-प्राप्त बहुमत को प्राथमिकता देता है। ब्रिटेन मे सफल बहुमत के प्रतिनिधित्व में वृद्धि हो रही है। एशिया में इस बात की आशंका है कि मतदान साम्प्रदायिक आधारो पर होगा

और परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक अपर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व पाएँगे। श्रीलंका ने अपने संविधान द्वारा इस समस्या से बचाव किया, जबकि भारत ने प्रकट रूप में इस समस्या को महत्त्वहीन समझा।

Further Readings

1. Constitution Amendment in India, A brief study, New Delhi, Lok Sabha Secretariat, 1965, pp. 1-102.

2. *Gajendragadkar, P.B.* : The Indian Parliament and the Fundamental Rights, Calcutta, Eastern law House 1972 chs. III, IV & VII pp. 68-106, pp. 106-127 and pp. 157-183.

१०

संसदीय सरकार

यह सामान्यतः विदित तथ्य है कि भारत मे संविधान निर्माताओं द्वारा संसदीय सरकार का विकास ब्रिटिश प्रतिमान के आधार पर किया गया था। अतः भारत मे संसदीय सरकार का सरचनात्मक स्वरूप कई अर्थों में ग्रेट ब्रिटेन के संसदीय स्वरूप के समान है। इसके बावजूद किसी भी एक देश की सरकार का कार्यशील व व्यावहारिक स्वरूप किसी दूसरे देश में आरोपित नही किया जा सकता। अतः यह आश्चर्यजनक नही होना चाहिए कि भारत में संसदीय सरकार का व्यावहारिक रूप कई महत्वपूर्ण अर्थों में ब्रिटिश रूप से भिन्न है।

संसदीय सरकार से सम्बन्धित अपने अध्याय में ए० एच० हेनसन एवं जेनेट डगलस ने संसदीय सरकार के सरचनात्मक, कार्यशील एवं व्यवहारजन्य आयामों से सम्बन्धित सारगर्भित अन्तर्दृष्टि प्रदान की है, जिन्हें हम उनकी कृति 'इंडियाज डेमोक्रेसी (देहली, विकास, १९७२, पृ० ९४–१११) से उद्धृत कर रहे हैं।

सम्पादक

भारत का यह दृढ विश्वास है कि सहमति के उद्देश्य से किया गया विचारविमर्श मतभेदो की समाप्ति का एकमात्र व्यावहारिक एवं आदर्श समाधान है। संघर्ष के प्रति अरुचि वस्तुतः शक्ति में सदेह से सम्बन्धित है। पारस्परिक रूप से शक्ति के अधिकार व उसके प्रयोग के समस्त अवसर उन लोगों के लिए सुरक्षित थे जो जाति-स्तर से ऊँचे माने जाते थे और जिनको उनकी इस स्थिति से शक्ति स्वतः प्राप्त हो जाती थी। अतः चिंतन के परिचित प्रतिमानों ने संसदीय लोकतंत्र को उसके विरोधी व प्रतियोगी मानदण्डो के साथ वैधता दिलाने मे बहुत कम योगदान दिया है। इसके अतिरिक्त संसदीय व्यवसायियों को भी सामाजिक दृष्टि से उच्च पद अथवा प्रतिष्ठा दिलाने के भी अपर्याप्त प्रयास हुए है और उन्हें अन्तर्निष्ठ रूप से आत्म-तोषी और अपनी जनता की कीमत पर परोपजीवी (parasitic) मानने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

ब्रिटिश राज ने भारतीय समाज के कम से कम उच्चतर वर्गों के इन पारस्परिक विश्वासों को तोड़ा और उनमे उल्लेखनीय ढंग से परिवर्तन किए। समाज के एक विशिष्ट वर्ग

ने उन आयातित पाश्चात्य संस्थाओं के साथ भारत में उपस्थित हुई थी। इन संस्थाओं में से एक व्यवस्थापिका भी थी जो भारतीयों की दृष्टि में अत्यधिक श्रेष्ठ थी। इसने १८३३ में तब प्रथम प्रवेश पाया जब गवर्नर-जनरल की परिषद् के व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्यों को कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों से पृथक् देखा गया। १८६१ के भारतीय काउन्सिल्स एक्ट के पारित होने के पश्चात् तथाकथित विधान-परिषदों ने केन्द्रीय व प्रान्तीय—दोनों स्तरों पर क्रमशः अपने कार्यों का प्रसार किया और बड़ी सावधानी से देशी लोगों को शासन में भाग लेने की अनुमति प्रदान की। यद्यपि वाइसराय व गवर्नर जनरलों को निषेधाधिकार प्राप्त था किन्तु फिर भी इन परिषदों की वृद्धि की अनुमति दी गई और १९०९ के मोर्ले-मिन्टो सुधारों द्वारा प्रान्तीय विधान परिषदों को गैर-सरकारी, यद्यपि अधिकांशतः नामांकित सदस्यों का बहुमत मिला और केन्द्रीय विधान परिषद् जिसके लिए व्यवस्थापन के अतिरिक्त अन्य सभी कुछ निषिद्ध था, का विस्तार किया गया।

इसके बावजूद एक लम्बे समय तक ब्रिटिश सरकार की यह मान्यता थी कि भारत में पूर्ण संसदीय व्यवस्था अनुपयुक्त है। १९०९ की मोर्ले-मिंटो योजना के सम्बन्ध में लॉर्ड सभा में बोलते हुए लॉर्ड मोर्ले ने कहा—"यदि यह कहा जा सके कि सुधारों के इस अध्याय ने भारत में प्रत्यक्षतः आवश्यक रूप से संसदीय व्यवस्था की स्थापना की है तो मेरा इससे कोई सरोकार नही होगा।"

फिर भी, प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों को प्रस्तुत करते हुए ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार किया कि "भारत में प्रगतिशील उत्तरदायी सरकार की स्थापना के उद्देश्य से स्वशासित संस्थाओं का 'क्रमिक विकास' आज की एक प्रासंगिक मांग है। इन सुधारों द्वारा सभी परिषदों को व्यापक किया गया, उन्हें और अधिक प्रतिनिध्यात्मक बनाया गया, प्रान्तीय विधानमंडलों को राष्ट्र-निर्माण की शक्तियाँ सौंपी गई और उनके लिए राजस्व के पृथक् स्रोत निर्धारित किये गए। यह सही है कि शक्तियों के इस हस्तांतरण पर विविध रक्षात्मक उपायों की बाड़ लगा दी गई थी और इसी कारण कांग्रेस ने विवशतः इन सुधारों की निंदा करते हुए उन्हें छल-कपट पूर्ण बताया। इसके बावजूद इसके सकारात्मक प्रभावों में से एक प्रमुख यह था कि १९१९ व १९३५ के बीच हजारों भारतीयों ने केन्द्र व प्रान्तों में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका सम्बन्धी अनुभव अर्जित किया।

इसके बाद १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की बारी आई जिसने प्रान्तों में द्वैध-शासन समाप्त कर दिया और कुछ अपवादों को छोड़कर सभी प्रान्तीय विषय मंत्रिमंडलों को हस्तांतरित कर दिये गए। ये मंत्रिमंडल उन विधानमंडलों के प्रति उत्तरदायी थे जो व्यापक आधार पर मताधिकार द्वारा निर्वाचित हुए थे। यद्यपि केन्द्र में कोई उत्तरदायी सरकार नही थी और कांग्रेस को प्रान्तीय सुधार भी 'बन्धन का एक अध्याय' प्रतीत होते थे, फिर भी ब्रिटिश राजनीतिज्ञ निश्चयात्मक रूप से यह तर्क दे सकते थे कि 'राजनैतिक गुरुत्व के केन्द्र' का भारत की ओर झुकाव हो रहा था। प्रो० मॉरिस जोन्स ने सही कहा है कि 'दासता के संविधान'(slave Constitution)ने प्रान्तों के अनेको राजनीतिज्ञों को व्य-

स्थापिका सम्बन्धी अनुभव प्रदान किया, शक्ति के हस्तांतरण के लिए सभी सम्बन्धी व्यक्तियों को तैयार किया, लोकप्रिय उत्तरदायी सरकारों की स्थापना की और उन समस्त स्थलों पर इसने अनुभव प्रदान किया, जहाँ इसकी आवश्यकता थी। अतः ब्रिटेन को भारत में प्रतिनिध्यात्मक संसदीय सरकार सम्बन्धी अनुभव प्रदान करने का श्रेय देना असंगत नही होगा।

इस प्रकार संविधान सभा में बैठे अधिकाश प्रतिनिधियों ने 'ब्रिटिश संविधान की भावना' को अंगीकृत किया। लेकिन क्या भारतीय परिवेश में संसदीय सरकार उपयुक्त थी? क्या वह शिक्षा के अभाव, विशिष्ट वर्ग व जनसाधारण के मध्य व्याप्त स्तर-भेद और देश के विविध धार्मिक, भाषायी तथा साम्प्रदायिक गुटों में विभाजन की पृष्ठभूमि में सफलीभूत हो सकती थी? संविधान सभा में कांग्रेस बहुमत का इस विषय मे निश्चित मत था कि समस्त विसगतियों के बावजूद संसदीय सरकार ही शासन का एक मात्र ऐसा विकल्प था जिस पर विचार विमर्श किया जा सकता था। अन्य विकल्प क्या थे? गांधी ने संसद् को एक ऐसा वेश्या की संज्ञा दी थी और गांधीवादी एक ऐसी शासन व्यवस्था पर बल दे रहे थे जो देशी परम्पराओं के अधिक निकट हो। 'ग्राम गणतन्त्र' पर आधारित उनकी विकेन्द्रित व्यवस्था इतनी अस्पष्ट थी कि उस पर विचार-विमर्श नहीं हो सकता था। इसके विपरीत, संविधान सभा के अन्य सदस्यों का यह विश्वास था कि केवल एक सशक्त राष्ट्रीय कार्यपालिका व व्यवस्थापिका की स्वतन्त्रता ही स्थायित्व व विकास के लिए पर्याप्त शक्ति प्रदान कर सकती थी। अधिकाश प्रतिनिधियों ने ब्रिटिश पूर्वग्रह के अनुसार अमेरिकी अध्यक्षीय शासन व्यवस्था का विरोध किया। ब्रिटिश शासन व्यवस्था के पक्ष में सर्वाधिक प्रबल तर्क यह दिया जाता था कि भारत कुछ अंशों में इससे परिचित हो गया था, जैसाकि स्वयं के० एम० मुंशी ने कहा, "इस समूचे अनुभव के पश्चात् हम इन परम्पराओं का परित्याग क्यों करें............और क्यों एक अभिनव प्रयोग करें?" (स्वतन्त्र अनुवाद)

अतः वेस्टमिंस्टर के प्रतिमानो को सामान्य समर्थन प्राप्त हुआ। इसके अन्तर्गत केन्द्र मे एक मन्त्रिपरिषद् की व्यवस्था थी जो एक द्विसदनीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थी। इस व्यवस्थापिका मे एक अप्रत्यक्ष निर्वाचित राज्य सभा थी और एक प्रत्यक्षतः निर्वाचित सदन—लोकसभा। इन दोनों सदनो को अपनी 'शक्तियाँ, विशेषाधिकार तथा स्वतन्त्रता' परिभाषित करने का अधिकार था। ऐसी परिभाषा की प्राप्ति तक उन्हें 'ब्रिटिश ससद की कॉमन सभा के अनुरूप कार्य करना था।' 'साधारण' विधेयक किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता था। और उन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति से पूर्व सदन द्वारा पारित करना होता था। परन्तु ब्रिटेन की ही भांति वित्तीय विधेयक मात्र निचले सदन मे ही प्रस्तुत किए जा सकते थे। उच्च सदन उन पर विचार कर सकता था लेकिन उन्हें अस्वीकृत करना उसके अधिकार-क्षेत्र मे नही था। राज्यो के विधान मडलो के लिए भी समान व्यवस्थाएँ थी सिवाय इसके कि उनके संदर्भ मे द्विसदन का सिद्धान्त ऐच्छिक बना दिया गया था।

लोकसभा को संवैधानिक रूप से वर्ष में दो बार बुलाना आवश्यक है। इसके सत्र का प्रारम्भ राष्ट्रपति के अभिभाषण द्वारा उसी प्रकार होता है जिस प्रकार ब्रिटिश संसद् का

सम्राट के अभिभाषण से होता है। कॉमनसभा की ही भाँति इसके विविध नियम भी निर्धारित किए गए हैं। दैनिक बैठक का प्रारम्भ प्रश्न काल से होता है जिसके अन्तर्गत विविध विषयों पर मंत्रियों से प्रश्न किए जाते हैं। ब्रिटेनवासी इस प्रक्रिया के इतने अभ्यस्त हैं कि सर एंटनी ईडन को यह कहना पड़ा कि वह लोकसभा में जितना अपनापन अनुभव करते थे उतना चास्टॅ लिया की समद् में नहीं। ब्रिटेन की ही भाँति यहाँ भी प्रश्न-काल के दौरान साधारण सदस्यों को सरकारी कार्यों व निर्णयों के मूल्यांकन का अवसर मिलता है और मंत्रियों को अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने या घटाने का। सभी प्रश्नों को अनिवार्यतः अग्रिम रूप से दस दिन पूर्व संसदीय सचिवालय को प्रस्तुत करना होता है और लोकसभा का अध्यक्ष प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों के अनुरूप प्राथमिकता-क्रम निर्धारित करते हुए उन्हें अपनी स्वीकृति प्रदान करता है। प्रश्नकाल में प्राप्य अवसरों का उनकी सम्पूर्णता में उपयोग किया जाता है। प्रतिदिन बीस से पच्चीस तक प्रश्न पूछे जाते हैं। प्रथम निर्वाचित संसद् में कुल ८७६७२ प्रश्न सचिवालय में किये गए।

संसद् का अधिकांश समय मंत्रिमंडल व उसकी संसदीय मामलों की समिति द्वारा लिये गए निर्णयों पर आधारित सरकारी काम-काज में ही व्यतीत होता है (संसदीय मामलों की समिति का अध्यक्ष मुख्य सचेतक होता है) लेकिन कुछ अंशों में लोकसभा का समय निर्धारण कार्यवाही से संबंधित एक सलाहकार समिति द्वारा नियंत्रित होता है जिसका सभापति लोकसभा का अध्यक्ष होता है।

व्यवस्थापन की तीन अवस्थाएँ हैं (१) प्रस्तुतीकरण (२) विचार-विमर्श व (३) स्वीकृति, जो मोटे तौर पर निम्न से संबंधित होती हैं (अ) कॉमन सभा अथवा निचले सदन में प्रथम वाचन, (ब) द्वितीय वाचन, समिति तथा प्रतिवेदन अवस्थाएँ तथा (स) तृतीय वाचन। द्वितीय अवस्था में इस बात की व्यवस्था होती है कि प्रस्ताव को किसी प्रवर समिति के सुपुर्द कर दिया जाए। लोकसभा व कॉमन सभा के मध्य एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि लोक सभा में स्थायी समितियों व सम्पूर्ण सदन की समितियों (Committees of the whole house) का अभाव है। इसके स्थान पर भारत में तदर्थ प्रवर समितियों की व्यवस्था है, यद्यपि बहुत कम प्रस्ताव उनके विचारार्थ पेश किए जाते हैं। इन प्रवर समितियों का आकार बीस से पच्चीस सदस्यों तक स्थिर है। इन समितियों की सदस्य-संख्या का निर्धारण मुख्य सचेतक व लोक सभा अध्यक्ष द्वारा सदन के राजनैतिक दल के सतुलन को ध्यान में रख कर किया जाता है। किसी भी प्रस्ताव से संबंधित मंत्री इन बैठकों में भाग नहीं लेता। इन प्रस्तावों के साथ वे याचिकाएँ भी दिखाई जाती हैं जिनका उनमें उल्लेख होता है। व्यय के अधिकार प्रदान करने वाले किसी भी प्रस्ताव के साथ एक वित्तीय ज्ञापन भी भेजा जाना चाहिए। व्यवहार में, विघटित विपक्ष के कारण प्रत्येक प्रस्ताव में अनेक संशोधन प्रस्तुत किए जाते हैं जिनमें से अधिकांश अध्यक्ष द्वारा स्वीकार कर लिए जाते हैं। तृतीय अवस्था के उपरांत एक प्रस्ताव पारित होकर दूसरे सदन में पहुँचता है, जहाँ इसी प्रकार की प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है। दोनों सदनों में

गतिरोध की स्थिति में राष्ट्रपति को अध्यक्ष के परामर्श से अनिवार्यतः एक संयुक्त बैठक बुलानी होती है।

विधेयकों और प्रस्तावों पर विचार-विमर्श सामान्यतः सरकारी पहलू पर आधारित होता है लेकिन अविश्वास प्रस्ताव भी विचारार्थ प्रस्तुत किए जा सकते हैं। ऐसे प्रस्तावों के लिए पूर्व-आवश्यकता के रूप में कम से कम पचास सदस्यों का समर्थन आवश्यक है। ब्रिटेन की ही भाँति तात्कालिक सार्वजनिक महत्व के किसी भी विषय पर विचार विमर्श के लिए स्थगन प्रस्ताव लाया जा सकता है लेकिन अध्यक्ष ऐसे प्रस्तावों को स्वीकृति देने में स्पष्टतः अनिच्छा प्रदर्शित करता है और उनसे संबधित नियमों का बड़ी कड़ाई से पालन करता है। ब्रिटिश संसद् के उदाहरणों से भिन्न भारतीय संसद् की एक महत्वपूर्ण कार्य-विधि और भी है जिसके अन्तर्गत अल्प अवधि के लिए सार्वजनिक महत्व के विषयों पर चर्चा की व्यवस्था होती है। इसके लिए किसी पूर्व सूचना की आवश्यकता नहीं होती, मात्र अध्यक्ष की अनुमति ही पर्याप्त होती है। प्रत्येक शुक्रवार को गैरसरकारी काम-काज के लिए ढाई घंटे सुरक्षित होते है जिसके माध्यम से सदस्यों के निजी प्रस्तावों अथवा विधेयकों पर विचार विमर्श होता है। लोकसभा अध्यक्ष व सदन के नेता के बीच मंत्रणा के पश्चात् गैर-सरकारी काम-काज के लिए किसी अतिरिक्त दिन की भी व्यवस्था हो सकती है। अल्प सूचना पर आधारित प्रश्नों, (जिनके लिए मंत्रियो की स्वीकृति आवश्यक होती है) तथा बुधवार व शुक्रवार को विचार विमर्श के लिए नियत आधा घंटा निजी सदस्यों को पहल का अतिरिक्त अवसर प्रदान करता है।

केन्द्रीय संसद के मूल वित्तीय कार्य इतने महत्वपूर्ण समझे गए कि उन्हें संविधान में स्थान दिया गया। अत. बिना संसद् की अनुमति के न तो कोई कर लगाया जा सकता है और न संचित निधि से कोई राशि व्यय ही की जा सकती है। कर व व्यय संबंधी प्रस्ताव कार्यपालिका का परमाधिकार है और संसद् को किसी भी स्थिति में इस क्षेत्र में पहल का अधिकार नहीं है। वित्तीय प्रस्ताव राज्य सभा के पास मात्र इसीलिए भेजे जाते हैं ताकि वह उनके संबध में अपने सुझाव दे सके। यदि चौदह दिन की निर्धारित अवधि में वह इन प्रस्तावो को वापिस नहीं लौटती तो भी उन्हें पारित मान लिया जाता है। फरवरी के मध्य में प्रस्तुत किए जाने वाले भारतीय बजट में व्यय संबंधी अनुमान व कर-प्रस्ताव समाहित होते हैं। इसके प्रस्तुतीकरण के पश्चात् सामान्य विचार-विमर्श से पहले इसके संबंध में मर्यादित निर्णय के लिए कुछ दिन नियत किए जाते हैं। इसके पश्चात् अनुदान संबंधी माँगें प्रस्तुत की जाती है। प्रत्येक अनुदान पर पृथक् रूप से चर्चा की जाती है और वह 'कटौती' प्रस्ताव के अधीन होता है (जिसमें सामान्यतः १०० रु० की एक औपचारिक कटौती की व्यवस्था होती है)। इससे ब्रिटिश कॉमन सभा की ही भाँति लोकसभा को अनुमानो से इतर बहस का अवसर प्राप्त होता है। सत्तारूढ दल के सदस्यों को कटौती के लिए हतोत्साहित किया जाता है लेकिन विपक्षी सदस्य इन अवसरों का पूरा लाभ उठाते हैं, विशेष रूप से तब-जब उन्हे यह शिकायत होती है कि उनके राज्यों अथवा निर्वाचन क्षेत्रों की आवश्यकताओं की उपेक्षा हुई है। ब्रिटिश संसद् सदस्यो की ही परिचित

एक अन्य प्रक्रिया-वित्तीय राशि पर मतदान-द्वारा नए वित्तीय-वर्ष के प्रारम्भ के बाद बजट पर विचार होता है। अक्सर यह विचार-विमर्श जून अथवा जुलाई माह तक भी खिंच जाता है। अनुदान संबंधी सभी माँगों पर बहस के उपरात एक विनियोजन (Appropriation) विधेयक प्रस्तुत किया जाता है और उसके लिए समान विधान-प्रक्रिया अपनाई जाती है। एक अनुवर्ती वित्तीय विधेयक जिससे करों मे वृद्धि स्वीकृत की जाती है, को उसके प्रस्तुतीकरण से ही पारित मान लिया जाता है। यह प्रक्रिया भी ब्रिटिश संसद् सदस्यों द्वारा अपनायी जाने वाली रीति के अनुरूप ग्रहण की जाती है। यदि इसके बाद उसमे संशोधन स्वीकृत होते है तो मौलिक व्यवस्था के अन्तर्गत संचित धनराशि को उसके देने वालों को लौटाना पडता है।

लोकसभा की समितियो के दो उद्देश्य है: सदन की कार्यवाही को सुविधाजनक बनाना तथा सरकारी गतिविधियो पर अंकुश रखना। पहले प्रकार के अन्तर्गत निम्न समितियाँ आती हैं, नियम समिति (Rules Committee) याचिकाओ सम्बन्धी समिति (Committee on petitions) कार्य-सलाहकारी समिति (Business Advisory Committee) निजी सदस्यों के प्रस्तावो व विधेयकों से सम्बन्धित समिति, विशेषाधिकार समिति (Priviliges Committee) सामान्य उद्देश्यो से सम्बन्धित समिति, सदन समिति (a House Committee) व एक पुस्तकालय समिति। ये समितियाँ सदन के सुचारू संचालन की व्यवस्था करती है लेकिन विविध संवीक्षण (Scrutiny) समितियों की तुलना मे इनके प्रति आकर्षण कम होता है।

इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समिति है जन लेखा समिति (P.A.C.) जिसका दायित्व उन सभी लेखा प्रस्तावो की जाँच करना होता है, जो सदन सरकारी व्यय के लिए अनुमोदित करता है। इसके अतिरिक्त वह वार्षिक वित्तीय लेखा-जोखा अथवा अन्य किसी ऐसे विषय पर भी विचार कर सकता है। इसको यह भी अधिकार प्राप्त है कि यह राज्य निगमो के आय-व्यय की भी परीक्षा करे। सारांश में, इसको उन समस्त पूर्ण व अर्द्ध-स्वायत्तता प्राप्त परिषदो की परीक्षा करने का अधिकार प्राप्त है जिनके सम्बन्ध में ऑडिटर जनरल और कॉम्पट्रालर को अधिकार प्राप्त है। लोकसभा के पन्द्रह सदस्य, जो इस जन लेखा समिति के लिए निर्वाचित होते हैं, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर समिति में स्थान पाते है। शेष सात सदस्य राज्य सभा द्वारा नामांकित किए जाते है। इसके अध्यक्ष का चयन लोकसभा-अध्यक्ष करता है। सार्वजनिक धनराशि के संरक्षक की अपनी भूमिका के प्रति अत्यधिक सजग होते हुए भी यह अपनी जांच-पडताल मे आशंकित रही है, यद्यपि राजनैतिक एव तकनीकी विषयों में अंतर करने में अक्सर कठिनाई महसूस होती है। इसको मिली अधिकांश प्रतिष्ठा इसके द्वारा प्रकाशित प्रतिवेदनो पर आधारित है। कानूनी नहीं तो कम से कम एक अभिसमय द्वारा वित्त-मन्त्री को यथासंभव इसकी सिफारिशें क्रियान्वित करनी होती है और समिति को अपने द्वारा उठाए गए कदमों से सूचित करना होता है। संसद् जन-लेखा समिति के प्रतिवेदनों पर कभी-कभी ही विचार करती है, वह भी तब जब कार्यपालिका द्वारा उसकी महत्त्वपूर्ण सिफारिशों पर ध्यान नहीं दिया जाता। समिति के

कार्यों की समीक्षा करते हुए प्रोफेसर मॉरिस जोन्स का कहना है कि "इसकी उपस्थिति मात्र ही सरकारी अधिकारियों को इस बात की याद दिलाती है कि उनके कार्य संसद् की समीक्षा के अधीन हैं।"

जन लेखा समिति का परिवर्तित अहं (alter ego) प्राकलन समिति (the Estimates Committee) पहले अपनी समकक्ष ब्रिटिश समिति की ही भांति थी। यह माना जाता था कि यह समिति सम्भवत. विश्राम के प्रति अत्यधिक जिज्ञासु है और इसलिए कार्यपालिका इसे संशय की दृष्टि से देखती थी। यह ऐसे वार्षिक प्राकलनों का परीक्षण करती है जो इसके अनुसार उपयुक्त हैं और उनमे समाहित नीतियों के अनुरूप अर्थ नीतियाँ प्रस्तावित करना भी इसी समिति का दायित्व है। यद्यपि इसे नीति संबंधी विषयों पर चर्चा करने का अधिकार नही प्राप्त है परन्तु लोकसभा-अध्यक्ष की अनुमति से इसने अपनी सदर्भ शर्तों की अत्यन्त उदार व्याख्या की है और इस प्रकार ब्रिटिश प्राकलन समिति के समान कार्य किया है। वित्तमंत्री के लिए आवश्यक है कि वह वार्षिक बजट का निर्माण करते हुए इस समिति के सुझावों पर ध्यान दे। ससद् में अनुदान सम्बन्धी मांगों पर मतदान करते समय समिति का प्रतिवेदन उपलब्ध रहता है। इसके सदस्य लोकसभा द्वारा निर्वाचित होते हैं और उनके कार्य की सामान्य पद्धति यह होती है कि वे परीक्षण के लिए कुछ निश्चित विभागो व विषयों को चुन लेते हैं। जन लेखा समिति एवं प्राकलन समिति ने सयुक्त रूप से, विशेषतः कॉंग्रेस प्रभुत्व काल मे विपक्ष की भूमिका का निर्वाह किया हैं।

यद्यपि दोनो समितियों को सार्वजनिक तथा वाणिज्य सम्बन्धी अन्य एजेन्सियों की जाँच-पडताल का अधिकार था, लेकिन इस क्षेत्र में उनका कार्य अनियमित और अप्रभावी रहा हैं। इसके निराकरण स्वरूप सार्वजनिक उद्योगों से सम्बन्धित एक समिति का गठन किया गया है। लोकसभा से दस व राज्य सभा से पाँच सदस्यों वाली यह समिति कॉम्प्ट्रोलर व ऑडिटर जनरल की रिपोर्ट समेत कुछ संकलित लोक उद्योगों की रिपोर्ट का परीक्षण करती है और यह जाँच करती है कि क्या उनका प्रबन्ध कुशल व्यावसायिक सिद्धान्तों के अनुरुप ही रहा है। यद्यपि इस समिति की जाँच-पड़ताल सतही होती है, और राष्ट्रीयकृत ब्रिटिश उद्योगों की तुलना मे इसके प्रतिवेदन असम्बद्ध होते हैं फिर भी इसने एक अमेरिकी आलोचक की इस मांग की संतुष्टि के लिए अत्यधिक कार्य किया है कि 'सरकार की शीर्षक हीन चौथी शाखा' को संसदीय संवीक्षा से नहीं बचना चाहिए।

लोकसभा की अन्य महत्त्वपूर्ण समितियों मे अधीनस्य (subordinate) व्यवस्थापन से सम्बन्धित समिति उल्लेखनीय है। यह इस बात की जाँच करती है कि संसद् द्वारा सरकार को हस्तातरित शक्तियों का सरकार द्वारा सही उपयोग हुआ है या नहीं। यह कार्य हस्तांतरित व्यवस्थापन से सम्बन्धित ब्रिटश प्रवर समिति के कार्यों से मिलता जुलता है। ब्रिटेन से नितान्त अतुलनीय एक समिति है—सरकारी आश्वासनों से सम्बन्धित समिति जो सरकारी आश्वासनों की जाँच करती है और उनके क्रियान्वयन के सम्बन्ध मे सदन को सूचित करती है।

यदि लोक सभा के कार्यों का यह विवरण ब्रिटिश शासन के विद्यार्थियों को परिचित

लगता है तो इसके कुछ स्वतः स्पष्ट कारण हैं। ऊपरी आवरण समान प्रतीत होने पर भी अन्तर्निहित तत्त्व काफ़ी असमान हैं क्योंकि भारतीय संसद् जिस राजनैतिक वातावरण मे कार्य करती है वह ब्रिटेन से काफी पृथक् है। उसके सदस्यों की अपनी अलग भारतीय पूर्व-धारणाएँ तथा पृष्ठ भूमि है और भारतीय दल-व्यवस्था की विशेषताएँ ब्रिटिश द्विदलीय व्यवस्था की उन विशेषताओं से भिन्न हैं जो कॉमन सभा को उसका वैशिष्ट्य व उत्तेजक आकर्षण प्रदान करती हैं। इसके बावजूद भारतीय ससद् सदस्यों का ब्रिटेन के प्रकार की ससदीय प्रक्रिया से लगाव अत्यधिक प्रबल है। वास्तव मे, कभी-कभी तो उनकी इस अनुकरण-शीलता का अनावश्यक विस्तार हो जाता है।

ऊपरी सदन को निचले सदन की प्रतिष्ठा-कभी नही मिली। दूसरे सदन के निर्माण से सम्बन्धित प्रस्ताव पर संविधान सभा में बहुत कम चर्चा हुई और ऐसा आभास हुआ कि एक सदस्य के इस दृष्टिकोण पर मैतक्य था कि "आखिरकार-किसी व्यापक औचित्य की आवश्यकता नही है। 'इसका उद्देश्य क्या है? यद्यपि कल्पना यह की जाती है कि यह राज्यों के अधिकारों का रक्षक नही हो पाता क्योंकि अपनी राजनैतिक सामाजिक संरचना में यह लोकसभा से बहुत कम पृथक् है। व्यवहार में इसके राजनीतिज्ञो की ऐमी सभा बनने की प्रवृत्ति है जिन्हे दल 'ऊपर ठेलने' की इच्छा रखते है। एक 'द्वितीय विचार' वाले सदन के रुप में इसकी कुछ उपयोगिता हो सकती है लेकिन इसका दलीय संगठन निचले सदन के इतना समान है कि इसके विचार बहुत कम गहन मौलिकता दर्शाते है। इन और इनके अतिरिक्त अन्य कारणों से ऊपरी सदन की पर्याप्त आलोचना हुई है। के० वी० राव ऊपरी सदन के व्यवस्थापन में बाधा डालने व कार्यपालिका को उलझाने से सम्बन्धित इसकी शक्ति के आलोचक हैं। वह संकटकालीन घोषणा की स्वीकृति के सम्बन्ध में इसके समान अधिकार के भी आलोचक है। इसके अतिरिक्त किसी राज्य के विषय को समवर्ती विषय बनाने की राज्य सभा की एकमात्र सत्ता का भी वह विरोध करते हैं। उनके अनुसार"यह एक फ्रैंकेन्स्टीन* (भस्मासुर) है और इसको समूचे देश में खुल-खेलने की छूट नही देनी चाहिए। इसका सर्वाधिक बुरा पक्ष यह है कि जब तक स्वयं इसकी स्वीकृति न हो, इसकी शक्तियो मे कटौती नही की जा सकती चाहे इसके लिए दो-तिहाई बहुमत ही हल क्यों न हो।" (श्रीमती गांधी जिन्होंने यह पंक्तियां लिखते समय तक राज्य सभा मे राजाओं के प्रिवीपर्स व विशेषाधिकारो को हटाने से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विधेयक पर हार का सामना कर लिया था, निस्सदेह इस धारणा से सहमत होंगी)। लेकिन आगे चलकर राव इसे एक कारुणिक व प्रभावशून्य रचना के रूप में प्रस्तुत करते है। उनका कहना है कि "यह एक आज्ञाधीन, उपेक्षित सदन रहा है—जनता द्वारा उपेक्षित, अपने मंत्रियों द्वारा उपेक्षित, और स्वयं अपने सदस्यों द्वारा उपेक्षित।" यह सही है कि कई अवसरों पर तो किसी भी मंत्री द्वारा इस सदन की बैठक मे भाग नही लिया गया है और इसके सत्र व बैठकें कोरम के

---

* फ्रैंकेंस्टीन मैरी शैली का एक चरित्र है जिसने एक दैत्य का रूप धारण कर अपने स्वामी को मार डाला। सामान्यतः वह प्रत्येक वस्तु जो अपने निर्माता का अहित करे, फ्रैंकेंस्टीन कहलाती है।

अभाव से अधूरी छोड़नी पड़ी हैं। अधिक से अधिक इसने एक ऐसे देश में कुछ अतिरिक्त रोजगार उपलब्ध कराए हैं जहाँ रोजगार की माँगें उसकी पूर्ति क्षमता को पार कर जाती हैं। इसकी तुलनात्मक अनुपयोगिता को ध्यान में रखते हुए इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि मात्र आधे राज्यों ने ही द्विसदनीय व्यवस्था को अंगीकार किया और बम्बई के पुराने राज्य ने अपने यहाँ के दूसरे सदन को समाप्त कर दिया। ऐसा करते समय मुश्किल से नाम मात्र का ही विरोध हुआ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से संसद्-सदस्यों की विशेषताएँ कुछ अर्थों में परिवर्तित हुई हैं और कुछ में उन्हें स्थायित्व प्राप्त हुआ है। जातिगत अर्थों में ब्राह्मणों का अभी भी लोकसभा पर प्रभुत्व है जबकि शूद्र, जो कि कुल जनसंख्या के ५० प्रतिशत से अधिक हैं, मात्र १०% स्थान प्राप्त कर सके हैं। लेकिन शैक्षणिक पृष्ठभूमि में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है, विदेशी शिक्षा प्राप्त सदस्यों के अनुपात में कमी हुई है। अन्तरिम संसद् के १२ प्रतिशत अनुपात से घटकर तृतीय संसद् में इसका अनुपात ६ प्रतिशत रह गया है, मैट्रिक्युलेट से अधिक शिक्षा प्राप्त सदस्यों का अनुपात ४ प्रतिशत से बढ़कर ६ प्रतिशत हो गया है लेकिन निरक्षरों की मात्रा बहुत कम है। ग्रेजुएट शिक्षा प्राप्त सदस्य कुल सदस्य-संख्या का ६० प्रतिशत हैं। एक व्यावसायिक वर्गीकरण से यह ज्ञात होता है कि कृषकों के अनुपात में नाटकीय वृद्धि हुई है (६ से २२ प्रतिशत)। इसके अतिरिक्त व्यापारी वर्ग भी ८ से १२ प्रतिशत बढ़ा है। कृषकों की वृद्धि की प्रस्तुत संख्या भ्रामक है क्योंकि यद्यपि २२ प्रतिशत सदस्यों ने कृषि को अपना व्यवसाय बताया है, फिर भी कुल संसद् सदस्यों में से कम से कम आधे सदस्य अपनी आय का आधा भाग कृषि से पाते हैं। लगभग ७० प्रतिशत सदस्यों की कृषि में किसी न किसी रूप में रुचि है। व्यवसायों के प्रतिनिधित्व में अनुकूल कमी हुई है। वकीलों का अनुपात साढ़े तैंतीस से २०% रह गया है, साथ ही अध्यापकों व पत्रकारों की संख्या भी कम हुई है। यह अपेक्षित ही है कि सदन परिपक्व हो रहा है और पहले की अपेक्षा अब सदस्य उतने अनुभवहीन नहीं हैं क्योंकि राज्य विधान मण्डलों का अनुभव प्राप्त कर संसद् में आने वाले सदस्यों का अनुपात २६ से बढ़कर ३४ प्रतिशत हो गया है। कुल मिलाकर संसद् यद्यपि जनसंख्या का पूर्ण 'प्रतिनिधित्व' नहीं करती लेकिन इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की प्रवृत्ति अवश्य दृष्टिगत होती है।

संसद् सदस्यों का उनके संसदीय दायित्वों के प्रति क्या दृष्टिकोण है? पर्यवेक्षकों द्वारा प्रायः इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है कि संसद् में सही अर्थों में मात्र पचास अथवा उससे कुछ अधिक सक्रिय सदस्य ही है, बाकी सभी उदासीन अथवा निष्क्रिय हैं। इस संदर्भ में एक मात्र औपचारिकता अध्ययन हेनरी सी० कार्टे द्वारा किया गया है। भेंट-वार्ताओं के उद्देश्य से १८७ संसद् सदस्यों के एक यादृच्छिक (random) सेम्पल का प्रयोग करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ७७ सदस्य प्रभावशाली थे तथा ८८ सदस्यों के अपने निर्वाचकों से निकट सम्पर्क थे। इस सेम्पल में प्रत्येक चार सदस्यों में से १, जिनका कांग्रेस व विपक्षी दलों में समान अनुपात था, प्रभावशाली व निर्वाचकोन्मुख दोनों थे।

जब तक कांग्रेस (अथवा इसके संबंध मे श्रीमती गांधी का पक्ष) सत्ता मे है, तब तक उसके सदस्य प्रभावशाली रहेंगे और यह प्रभाव न तो सदन मे और न ही समिति मे उनकी गतिविधियों पर निर्भर रहेगा। वे कांग्रेस संसदीय दल की बैठक मे अपनी आवाज उठा सकते है और नेतृत्त्व के सम्मुख प्रत्यक्षतः अपने सुझाव अथवा शिकायतें प्रस्तुत कर सकते हैं। ये बैठकें प्रतिमाह कम से कम एक बार अवश्य होती हैं और पचास सदस्यों के आग्रह पर यह बैठक किसी भी समय बुलाई जा सकती है। लेकिन इस ससदीय दल के आकार ने इन बैठको को पूरी जाँच पड़ताल के लिए अनुपयुक्त बना दिया है और लम्बे विचार विमर्श नही हो पाते। इसके निदान स्वरूप एक लघुत्तर सामान्य परिषद् का निर्माण किया गया है जिसमें दल के कांग्रेसियों द्वारा अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित किया जाता है। इसके अतिरिक्त ससदीय दल की एक कार्यकारिणी समिति भी है जिसके ११ पदाधिकारी तथा २१ निर्वाचित सदस्य है। इनमे से पन्द्रह सामान्य सभा द्वारा चुने जाते हैं और छः परिषद् द्वारा। केन्द्रीय संसदीय दल के सविधान में यह व्यवस्था है कि सभी महत्त्वपूर्ण विधेयक पहले दल की कार्यकारिणी समिति मे प्रस्तुत किए जाएँगे तदुपरांत उन पर संसद् मे विचार होगा। दल की अनेक विषय-समितियाँ भी है जो विविध नीतियों से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक संसद् सदस्य इनमे से एक अथवा दो मे काम करता है। उनका उद्देश्य सरकार और दल के मध्य अन्तर को पाटना है और सदस्यों को इस बात के लिए प्रोत्साहित करना है कि वे अपनी विशेषीकृत रुचियों में अभिवृद्धि कर सकें।

संसद् के विपक्षी दल इस प्रकार की जटिल ससदीय सरचनाओं का विकास नही कर सके है। वास्तव में उनमे से कुछ दल उनके संगठन पक्ष द्वारा शासित होते हैं। अभी हाल ही तक, किसी भी विपक्षी दल को सदन का वह महत्त्वपूर्ण १०% स्थान प्राप्त नही था जिससे कि उन्हे अधिकृत विपक्षी दल की संज्ञा दी जा सकती। यह स्थिति हानिप्रद रही है क्योंकि अधिकृत विपक्ष कुछ विशेष सुविधाओं का अधिकारी होता है जैसे संसद् भवन मे कमरे का प्रयोग और सरकारी समारोहों में प्रतिनिधित्व का अधिकार। इसके बावजूद विपक्षी शक्तियाँ उतनी शक्तिहीन नही हैं जितनी कि वे प्रतीत होती है क्योंकि संसदीय अवधि की मांग व समान नीतियों व वक्ताओ के प्रश्न को लेकर उनमे एकजुट होकर काम करने की प्रवृत्ति रहती है। मुकर्जी (श्यामा प्रसाद) का लोकतान्त्रिक राष्ट्रीय दल इन गुटों मे सर्वाधिक सफल था। इसे जनसंघ, गणतन्त्र परिषद्, हिन्दू महासभा, अकाली-दल, तमिलनाडु टॉयलर्स पार्टी तथा कॉमनवेल्थ पार्टी व इसके अतिरिक्त सात निर्दलीय सदस्यों तथा आश्चर्यजनक रूप से फारवर्ड ब्लॉक के एक सदस्य का भी समर्थन प्राप्त था (फॉरवर्ड ब्लॉक पश्चिम बंगाल पर आधारित एक अति-क्रांतिकारी दल है)। यह गुट परस्पर विचार विमर्श करता था, समान रणनीति आयोजित करता था, अधिकृत प्रतिनिधियो का निर्वाचन करता था तथा अपने सदस्यों को दल के 'विप' (सचेतक) द्वारा अनुशासित करने का प्रयास भी करता था। लेकिन मुकर्जी की मृत्यु के पश्चात् यह उतना अनुशासित नही रहा और कालांतर से समाप्त हो गया। पुरानी कांग्रेस (संगठन कांग्रेस), जनसंघ, तथा स्वतंत्र दल द्वारा श्रीमती इन्दिरा गांधी के सत्तारूढ़ कांग्रेस के

विरुद्ध हाल ही में किया गया महागठबन्धन सीमित सफलता ही प्राप्त कर सका क्योंकि इसमें सम्मिलित साझेदारों के पारस्परिक मतभेद विद्यमान थे।

विकासशील देशों में लोकतान्त्रिक संविधानों के साथ विपक्षी दलों की भूमिका स्पष्ट-वादी नहीं होती। प्रजा समाजवादी दल के भूतपूर्व नेता अशोक मेहता का यह विचार था कि संसदीय लोकतन्त्र की सामान्य पूर्वकल्पना के विपरीत "यह अभिधारणा कि विपक्ष का दायित्व विरोध करना ही है, आर्थिक विकास को कठिन बना देगा।" उन्होंने यह सुझाव दिया कि एक दीर्घकाल की संसदीय लोकतन्त्र की सामान्य पूर्वकल्पना के विपरीत व्यापक आधार वाली सरकार को प्रायः बदलती रहने वाली सरकार का स्थान लेना चाहिए। उनके अनुसार "जन-स्वतन्त्रताओं की रक्षा करना वांछनीय है लेकिन सुनिश्चित आलोचना करने वाला विपक्ष मात्र उन परस्पर विरोधी गुटों तक ही सीमित रह जाएगा जो राज्य के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध होंगे।" अशोक मेहता के इस विचार का उनके दल के कुछ ही सदस्यों ने कभी समर्थन किया होगा लेकिन आज ऐसा प्रतीत होता है कि उसे व्यावहारिक मान्यता मिलने लगी है। कुछ दल जैसे भारतीय साम्यवादी दल, मार्क्सवादी साम्यवादी दल, प्रजासमाजवादी दल तथा द्र० मु० क० अपनी संसदीय नीतियों को पुनर्निर्धारित कर रहे हैं और उनका प्रयास श्रीमती गांधी की सरकार को पराजय से बचाना है।

कांग्रेस दल के स्वर्णिम प्रभुत्व-काल में भी लोकसभा में विपक्षी दल निष्प्रभावी नहीं थे। कृष्ण मेनन् ने यह विश्वास व्यक्त किया है कि नेहरू विपक्ष के प्रति जितने संवेदनशील थे उतना विश्व का कोई अन्य प्रधान मंत्री नहीं है। यह भी महत्वपूर्ण है कि अपने कुछ मंत्रियों के विपरीत, नेहरू ने मुश्किल से ही संसद की कोई ऐसी बैठक छोड़ी होगी जिसके लिए वे सहज उपलब्ध हो सकते थे। इसके विपरीत प्रत्येक विपक्षी दल के कांग्रेस के भीतर ही कुछ समर्थन के पक्ष (point'd appui) होते हैं और उनके सत्ताधारी गुट के प्रति-द्वन्द्वियों से लम्बे, घनिष्ठ संबंध रहे हैं। रजनी कोठारी ने लिखा है, "कांग्रेस के अन्तः संचालन को निर्मित करने की विपक्षी दलों की यह भूमिका भारतीय व्यवस्था की एक विचित्र विशेषता है। इससे उसी दल को सत्तारूढ़ रहने का अवसर मिलता है क्योंकि परवर्ती दल संसद् व सरकारी कार्यकर्ताओं की दृष्टि से सतत् परिवर्तित होता रहता है।" इस बात पर भी अनिवार्यतः ध्यान दिया जाना चाहिए कि विपक्षी सदस्यों की कम संख्या से उत्पन्न अभाव की पूर्ति काफी अंशों में इसके नेताओं के गुणों से हो जाती है। कुशल संसदविद् के रूप में उन्होंने अनवरत रूप से सभी संभावित प्रश्नों पर सरकार को आड़े हाथों लिया है। फलस्वरूप कांग्रेस विपक्ष की कभी भी उपेक्षा नहीं कर सकी है। लेकिन कांग्रेस विभाजन (१९६९) से पूर्व विपक्षी सदस्य संसद् में अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से अपनी कम संख्या के अभाव की बहुत ही अपर्याप्त रूप से पूर्ति कर पाते थे। सन् १९६७–७१ के काल में, जबकि सरकार की लोकसभा और देश दोनों स्थानों पर उतनी प्रभुतापूर्ण स्थिति नहीं थी, उस समय विपक्ष को विघटन के समकक्ष देखने की प्रवृत्ति किसी भी अर्थ में अविद्यमान नहीं रही।

जैसाकि विदित है कि भारत की संसदीय लोकतांत्रिक सरकार ब्रिटिश प्रतिमान के काफी समान है लेकिन इस व्यवस्था मे एक ऐसा तत्त्व है जो ब्रिटेन में कहीं नहीं है। व्यवस्था मे निहित यह तत्व है—भारत का राष्ट्रपति। यह राष्ट्रपति न तो एक सवैधानिक सम्राट के समान है और न ही कम से कम वर्तमान में किसी सक्रिय राजनीतिज्ञ के। तब यह क्या है और क्या बनने की क्षमता रखता है ? नेहरू ने संविधान सभा को बताया :

"हम सरकार के मंत्रि पक्ष पर बल देना चाहते हैं अर्थात् वास्तविक शक्ति मंत्रिमण्डल व व्यवस्थापिका में निहित है, राष्ट्रपति में नही। साथ ही हम यह भी नही चाहते कि फ्रांसीसी राष्ट्रपति की ही भांति हमारा राष्ट्रपति भी केवल नाम मात्र का अध्यक्ष ही रह जाए।* हम यह नही चाहते कि उसके पास किसी प्रकार की वास्तविक शक्तियां हों लेकिन फिर भी हमने उसकी स्थिति को सत्ता व प्रतिष्ठा प्रदान की है।"

यह कथन अस्पष्टता से भरा है और स्वयं संविधान भी इस सम्बन्ध में कम अस्पष्ट नही है। सिद्धान्ततः राष्ट्रपति को व्यापक शक्ति प्राप्त है। वह प्रधानमंत्री व मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति करता है, लोकसभा की बैठकें बुलाता है और उसे भंग करता है, सभी केन्द्रीय व्यवस्थापनों को अपनी स्वीकृति देता है, उसे राज्य व्यवस्थापन के प्रति विशेषाधिकार प्राप्त है, वह अध्यादेश जारी कर सकता है तथा संविधान मे निहित समस्त व्यवस्थाओं के अनुरूप संकट काल की घोषणा कर सकता है। इसके बावजूद उसके संदर्भ में अनिश्चितता व्याप्त है। क्या प्रधानमंत्री की नियुक्ति करने का उसका अधिकार उसे प्रधानमंत्री को पदमुक्त करने का अधिकार भी देता है ? क्या वह स्वयं अपनी पहल से किसी भी व्यवस्थापन को अस्वीकृत कर सकता है ? क्या वह अनिवार्यतः ऐसे मंत्रिमंडल को बर्खास्त करे जिसकी व्यवस्थापिका में हार हो गई हो ? अधिक महत्वपूर्ण रूप से, क्या यह आवश्यक है कि वह मंत्रिपरिषद् की सलाह पर ही कार्य करे ? प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद, जिन्होंने यद्यपि अपनी शक्तियों के प्रति उन्नत दृष्टिकोण अपनाया, लेकिन व्यवहार में उन्होंने भी ब्रिटिश राजतन्त्र मे निहित 'प्रोत्साहन, सलाह व चेतावनी' के अधिकार के परे कोई कार्य नही किया। नेहरू से उनके विवाद (जैसे हिन्दू कोड बिल सम्बन्धी विवाद) सदा नेहरू के पक्ष में ही समाप्त होते थे। १९६० में जब प्रसाद ने अपनी शक्तियों के संदर्भ में एक कानूनी समीक्षा का आग्रह किया तो उस सम्बन्ध में तदुपरांत प्रस्तुत मत विभाजित थे। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय ने अपना मत दे दिया था कि भारतीय राष्ट्रपतित्व ब्रिटिश सम्राट पर आधारित था लेकिन फिर भी कुछ न्यायशास्त्री ऐसे थे जिनकी दृष्टि मे राष्ट्रपति को अपनी निजी (सम्यागत) शक्तियां प्राप्त थीं। महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक प्रश्न यह है कि क्या कोई भी राष्ट्रपति व्यवहार में इन कथित शक्तियों का प्रयोग कर सकता है ? सिंडीकेट ने जब श्रीमती गांधी के राजनैतिक विरोधी संजीव रेड्डी को राष्ट्रपति पद के लिए अपना उम्मीदवार घोषित किया ताकि वह डा० जाकिरहुसैन का स्थान ले सकें,

---

* यहाँ संकेत फ्रांस के पांचवे गणतन्त्रीय संविधान के प्रति नहीं है जिसके अन्तर्गत राष्ट्रपति अत्यधिक शक्तिशाली है। यह कथन इसके पूर्व की स्थितियों की ओर इंगित करता है।

तो श्रीमती गांधी का आतंक यह दर्शाता है कि यह प्रश्न तात्कालिक महत्त्व का हो सकता है। इसके अतिरिक्त संविधान द्वारा निर्धारित की गई राष्ट्रपति के निर्वाचन की पद्धति के फलस्वरूप अनेक उलझनपूर्ण समस्याएँ उपस्थित हो सकती थीं। संसद् सदस्यों व राज्य विधान मंडल के सदस्यो के मतों मे अन्तर व साथ ही एकल सकलित मत नियम (Single transferable vote rule) से यह संभव है कि राष्ट्रपति उस दल के उम्मीदवार के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति बन जाए जिसे संसद् में बहुमत प्राप्त हो। विशेषतः तब जब राष्ट्रपति का कार्यकाल ससद् के कार्यकाल के साथ न चलता हो (यानि उसके अतिरिक्त हो)। वर्तमान बहु-दलीय व्यवस्था में निर्वाचन की यह पद्धति पर्याप्त राजनैतिक महत्त्व रखती है।

राज्यों में संसदीय सरकार का क्या स्वरूप है? सार रूप मे यह नई दिल्ली की व्यवस्था से बहुत कम भिन्न है लेकिन राज्यों के विधान मंडलों की सामाजिक रचना लोक-सभा से काफी भिन्न है। "एक नेता को खरोंचो और तुम उसे एक जमीदार पाओगे" यह उड़ीसा की एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है जो आम तौर से सभी जगह लागू होती है। राज्य के विधानमंडलों का अपेक्षाकृत अधिक ग्रामीण क्षेत्रीय तथा प्रान्तीय वातावरण है। वहाँ शैक्षणिक स्तर निम्नतर है और असंसदीय व्यवहार अधिक देखने में आता है। पहले इस सब का कारण राज्य विधानमंडलों की अनुभवहीनता बताया जाता था और इसलिए जो विधायक सरकार बनाते अथवा उखाड़ते थे उनमे अपेक्षाकृत अधिक अस्थिरता थी और वे भ्रष्टाचारी भी थे। ऐसा कहा जाता था कि समय से प्राप्त अनुभव राज्य विधान मंडल के सदस्यों को भी ससद् सदस्यों की ही भांति सम्भ्रान्त बना देगा। १९६७ के पश्चात् अब इस प्रकार के आत्मसतुष्ट आशावाद के लिए बहुत कम आधार शेष रहा है। प्रत्यक्षतः संयुक्त मोर्चों ने राजनैतिक उत्तरदायित्व के विकास के लिए आदर्श वातावरण का निर्माण नहीं किया है, किन्तु कुछ प्रेक्षकों का यह अनुमान है कि यदि एक औसत विधायक अधिक गम्भीर व जनवादी रुझान प्रदर्शित करता तो ये सयुक्त मोर्चे अधिक स्थाई व सफल हो सकते थे। वर्तमान स्थिति में प्रत्येक विधायक प्रो० पॉल ब्रास के शब्दों में "एक 'क्षमतावान् ब्लैकमेलर बन गया है। इसका सहज परिणाम यह हुआ है कि राज्य केबिनेट का आकार क्या हो इसका कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है और वह बहुमत प्राप्त दल के बहुमत का प्रतिलोमानुपाती (Inverse ratio) बन गया है।" चौथे आम चुनावों के बाद से राज्य विधानमडलों के ३५०० विधायक (कुल संख्या के १४ प्रतिशत) दल-परिवर्तन कर चुके है। हरियाणा १९६७ के चुनावो के बाद की स्थितियों का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। चुनाव के बाद ८१ सदस्यो मे से कांग्रेस को ४८ सदस्यों का समर्थन प्राप्त था लेकिन फिर भी एक सप्ताह सत्तारूढ रहने के बाद भगवत दयाल मंत्रिमंडल की पराजय हो गई। इसका कारण यह था कि दल के सदस्यो ने इस आधार पर दल त्याग कर दिया क्योंकि दल के ही एक दूसरे गुट के नेता को मंत्रिमंडल मे स्थान नहीं दिया गया था। विपक्षी तत्त्वों के समर्थन मे दल छोड़ने वाले सदस्यों ने एक नई पार्टी का गठन कर लिया। यह नया दल था हरियाणा कांग्रेस जिसके नेता राव वीरेन्द्र सिंह ने संयुक्त सरकार बनाई। शीघ्र ही उन्हें भी सरकार व दल—दोनो से उस स्थिति में त्यागपत्र देना पड़ा जब देवीलाल ...

उन्हें समर्थन न देने की धमकी दी। एक नए दल विशाल हरियाणा पार्टी का नेतृत्व संभालने के उपरान्त राव वीरेन्द्र सिंह पुनः मुख्यमन्त्री बने और तत्काल ही वोट खरीदने की रंगरेली में लग गये और वास्तव में मंत्रिपद की नीलामी होने लगी। अंततः नौ महीनों की अराजकता के उपरान्त राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा। कुल ८१ सदस्यों में से ६४ ने यहां दल-परिवर्तन किया था २० सदस्यों ने दो बार, ३ ने तीन बार, २ ने चार बार और १ ने कम से कम पांच बार। मध्यावधि चुनावों ने अल्पकाल के लिए कांग्रेस को बहुमत प्रदान किया, जो कि एक कांग्रेसी नेता द्वारा १५ सदस्यों के साथ दल त्यागने से समाप्त हो गया। इसके बाद बहुमत सिद्धि के लिए भागीरथ प्रयास किए जाते रहे, जिसके अन्तर्गत एक मन्त्री ने कुछ ही घंटों के दौरान दो बार दल बदला। मन्त्री को मन्त्री-पद देकर और अन्य अनेक विधियों से मुख्यमंत्री अपना राजनैतिक भविष्य सुरक्षित रख सके। मंत्रिमंडल व उसके क्षीण बहुमत की रक्षा के लिए उन्होंने चालू अधिवेशन के दौरान ही जबर्दस्ती बजट पारित करवाने का निर्णय लिया। इसने विपक्ष को सदन की कार्यवाही का बहिष्कार करने के लिए बाध्य किया और परिणामस्वरूप १०० मिनट की अवधि में २१ विधेयक पारित हो गये। इस पहेली से विस्मित होकर लोकसभा के सदस्यों ने एक निजी सदस्य के प्रस्ताव को पारित कर एक जांच समिति बैठाने का निर्णय लिया। इसने प्रवासी राजनीति (*migratory politics*) पर रोक लगाने से सम्बन्धित विविध सुझावों जैसे दल-बदल निषेध का कानून बनाने पर विचार किया, उनमें से कुछ सुझावों को अस्वीकृत किया और अंततः यह सिफारिश की कि केबिनेट के आकार को सीमित किया जाए और दल परिवर्तन करने वाले सदस्यों को एक निश्चित अवधि तक के लिए कोई राजनैतिक प्रतिष्ठा अथवा लाभ का पद नहीं दिया जाए। इन सुझावों को क्रियान्वित नहीं किया गया।

कांग्रेस विभाजन से पूर्व ही कुछ टिप्पणीकार यह भविष्यवाणी कर रहे थे कि हरियाणा द्वारा प्रदर्शित अराजकता अपरिहार्य रूप से केन्द्र में भी व्याप्त होगी और नई दिल्ली की घटनाएँ उनके मत की पुष्टि करती प्रतीत होती थी। अगस्त १९६९ में श्रीमती गांधी ने यह आवश्यक समझा कि लोक सभा को उसके अव्यवस्थित व्यवहार के लिए प्रताड़ित किया जाना चाहिए। 'दि टाइम्स' में लिखते हुए पीटर हेज़लहर्स्ट ने यह विचार रखा कि "अव्यवस्था का वह दृश्य जिसने श्रीमती गांधी को हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य किया, लोकसभा में आए दिन की बात हो गया था। सदन में देर तक केवल आक्रोशपूर्ण वातावरण में ही विचार-विमर्श करना पड़ता था। प्रायः १० सदस्य एकसाथ बोलते रहते थे, निर्धारित प्रश्नों में से एक या दो प्रश्नों के ही उत्तर दिए जाते थे और लोक सभा के अध्यक्ष की लगभग पूर्ण उपेक्षा की जाती थी।" ऐसा व्यवहार उस सभ्य मंत्रिमण्डल के लिए ऐसे अपशकुन का सूचक था जिसकी कुछ लोगों ने अगले चुनावों के बाद केन्द्र में कल्पना की थी। १९७१ के चुनावों में श्रीमती गांधी की कांग्रेस की भारी विजय के बावजूद इसमें संदेह है कि संसदीय मर्यादा पूर्णतः स्थापित हो सकेगी। अधिकांशतः यह इस बात पर निर्भर करेगा कि श्रीमती गांधी का बहुमत कितना अनुशासित है और विपक्षी

दल अपनी कुंठाओं की अभिव्यक्ति के लिए किस सीमा तक उत्तर दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्र की नई संसदीय स्थिति राज्यों में भी परिलक्षित होगी यह आवश्यक नहीं है। इसके बावजूद यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संसदीय सरकार के कुशल संचालन में जो अवरोध विद्यमान थे वे उल्लेखनीय रूप से घट जाएंगे। यह भी कल्पना अन्यथा न होगी कि संसद्वाद की इक्कीस वर्षीय परम्पराओं ने देश को एक नया जीवन प्रदान किया है।

Further Readings

1. *Appadorai, A* : **op. cit. ch. V p p. 46-81.**
2. *Gadgil, N. V.* : **Government From Inside,** Meerut, Meenakshi Prakashan, 1968. ch. VI and Epilogue pp. 138-172, and p p. I98 (respectively)
3. *Myrdal, Gunnar* : Asian Drama : An Inquiry into the poverty of Nations/Vol. I Penguin, 1968,n pp. 257-305.

भाग ४

राजनैतिक व्यवस्था के दार्शनिक आधार : मूल अधिकार एवं राज्य नीति के निदेशक सिद्धांत

१२

मूल अधिकार एवं राज्यनीति के निदेशक सिद्धांत

भारत अपने स्वाधीनता आन्दोलन–काल से ही 'पूर्ण स्वराज्य' के आदर्श से प्रतिबद्ध था। अतः स्वाभाविकतः स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वह मात्र राजनैतिक लोकतंत्र से ही संतुष्ट नहीं हुआ और उसमें सामाजिक-आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना की भी आंकाक्षा प्रकट हुई। जब संविधान निर्माताओं ने इसके लिए प्रयास किए तो उन्होंने यह यथार्थ स्वीकार किया कि यद्यपि वे राजनैतिक लोकतंत्र तुरन्त प्राप्त कर सकते हैं परन्तु सामाजिक-आर्थिक लोकतंत्र का प्रतिमान उन्हें विकसित करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, देश का कटु सामाजिक-आर्थिक यथार्थ उन्हे काम देने के अधिकार को एक मूल अधिकार नही बनाने देगा या कांग्रेस की समर्थन-सरचना का ऐसा स्वरूप होगा जो समाजवाद से सीधी प्रतिबद्धता नही स्थापित करने देगा। अतः सविधान निर्माताओं ने संविधान की प्रस्तावना में 'पूर्ण स्वराज्य' के आदर्श से प्रतिबद्धता दिखाई, एवम् उन्होंने भावी शासकों से न्याय के सभी पक्षों–सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक पर बल देने का आग्रह किया। लेकिन एक यथार्थवादी रणनीति के द्वारा उन्होंने प्रारम्भ में मूल अधिकारों के रूप में राजनैतिक लोकतंत्र प्रदान किया। ये मूल अधिकार किसी भी न्यायालय में प्रवर्तनीय थे। जहाँ तक सामाजिक-आर्थिक लोकतंत्र का प्रश्न है, उन्होंने यह स्वीकार किया कि यह भी मूल महत्त्व का विषय है और इसलिए सभी स्तरों पर शासकों को राज्यनीति के निदेशक सिद्धांतों का उत्साह से पालन करना चाहिए। इन निदेशक सिद्धान्तो में सामाजिक-आर्थिक लोकतंत्र के आदर्श को मूर्तरूप प्रदान किया गया था। परन्तु ये निदेशक सिद्धांत किसी भी न्यायालय में प्रवर्तनीय नही थे यद्यपि उनके मूल अधिकारों के समान महत्त्वशाली होने के तथ्य में बिल्कुल भी संदेह नही था, यहाँ तक कि संविधान सभा मे विषय से सम्बन्धित उपसमिति ने इन दोनों को ही अधिकार माना था। इस व्यवस्था ने कानूनी विवाद का रूप ले लिया है और उच्चतम् न्यायालय के अस्थिर

मतो ने इस संबंध में और भी अधिक भ्रांतियों को जन्म दिया है कि मूल अधिकारों व निदेशक सिद्धान्तो के मध्य क्या सम्बन्ध हो। वास्तव में गोलकनाथ के मुकद्दमे के बाद से ही संसद् व न्यायपालिका पारस्परिक संघर्ष की अवस्था में रहे हैं। इस मुकद्दमे मे उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद् मूल अधिकारों मे संशोधन नही कर सकती। निहितार्थ यह था कि वह उन निदेशक सिद्धान्तों को भी क्रियान्वित नहीं कर सकती जिनमे एक न्यायपूर्ण सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था निहित है और जिसे प्राप्त करने के लिए कम से कम सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार में संशोधन करना आवश्यक है। यह संकट कम से कम कुछ समय के लिए टल सा गया है क्योंकि सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार में संशोधन के द्वारा धारा ३१ (सी) को जोड़ लिया गया है। इस धारा में यह व्यवस्था है कि उन कानूनो व कार्यकारी आदेशों को, जिनसे निदेशक सिद्धान्तों की क्रियान्विति होती हो, इस आधार पर न्यायालय में चुनौती नहीं दी जाएगी कि उनमें व मूल अधिकारों मे संघर्ष है। यह निर्णय उच्चतम् न्यायालय ने अपने हाल के निर्णय में केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य के मुकद्दमे पर दिया है।

निम्नलिखित दोनों लेख : (१) पी० बी० मुकर्जी, मूल अधिकार और संवैधानिक संशोधन (लोकतंत्र समीक्षा, वर्ष ४ अंक ४, अक्टूबर-दिसम्बर १९७२, पृ १०-२३ तथा (२) एच० एम० सीरवई : डाइरेक्टिव प्रिंसिपल्स ऑफ स्टेट पॉलिसी (श्री जजमेंट्स श्री अमेंडमेंट्स श्री सुपरसेशन्स.सुप्रीम कोर्ट डिसिशन्स इन ए करेक्ट पर्सपेक्टिव, सोसायटी फॉर डेमोक्रेसी, १९७३, पृ० सं०११-२८) मूल अधिकारों व निदेशक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अर्थपूर्ण विवेचन प्रदान करते हैं और उनके अन्तःसम्बन्धो की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।)

सम्पादक

मूल अधिकार और संवैधानिक संशोधन

पी० बी० मुकर्जी

हाल ही के वर्षों मे भारतीय संविधान के अन्तर्गत मूल अधिकारों की समस्या ने महत्त्वपूर्ण और विवादग्रस्त रूप धारण कर लिया है। हम विश्व के विभिन्न भागो के संवैधानिक विधि के इतिहास से अनेक उदाहरण दे सकते हैं कि किस प्रकार नागरिक की रक्षा के लिए साधारण विधान पर आश्रित न रहकर मूल अधिकारों का निर्माण किया गया और इस बारे में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

कनाडा के संविधान में केथोलिक धर्मावलम्बियों के अल्पसंख्यक अधिकारों की रक्षा के लिए अधिकार उपबन्ध हैं और आॅस्ट्रेलिया के संविधान में धार्मिक स्वतन्त्रता तथा उसके स्वतन्त्र प्रयोग की जो व्यवस्था है उन्हें इस विषय में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्य विषयों में कनाडा और आॅस्ट्रेलिया दोनों ने इस ब्रिटिश सिद्धान्त का अनुसरण किया है कि संविधान मे दिए जाने वाले मूल अधिकारों

को अलिखित ही रहने दिया जाए। परन्तु इस समय कनाडा में वातावरण परिवर्तन के अधिक अनुकूल है।

१९६० से कुछ समय पहले कनाडा में यह तीव्र भावना व्याप्त थी कि संवैधानिक और मूल स्वतन्त्रताओं के विषय में दी गई गारंटियाँ तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में पर्याप्त नही कही जा सकतीं। इन घटनाओं में उल्लेखनीय हैं : (१) क्वेबैक का "पैडलॉक लॉ" (१९३७) जिसका उद्देश्य साम्यवाद पर नियंत्रण स्थापित करना था और जो नागरिकों के वाक्-स्वातंत्र्य तथा अन्य अधिकारों पर भी नियंत्रण स्थापित करता था, (२) क्वेबैक मे (१९४९–५३ में) जहोवा के अनुयायियों[1] का उत्पीड़न, जिसमें उन्हें उनकी धार्मिक स्वतंत्रता से वंचित कर दिया गया, (३) १९३७ में पुर्नस्थापित अल्बर्टा का समाचार पत्रों से सम्बन्धित विधेयक (प्रेस बिल), जिसके माध्यम से समाचार पत्रों पर नियंत्रण का प्रयास किया गया था तथापि इस विधेयक को बाद में अवैध घोषित कर दिया गया था, (४) जापानी वंश के कनाडा नागरिकों को (१९४५–४६) निर्वासित करने की धमकी, (५) १९४६ में गुप्तचरों की तलाश की आड़ मे नागरिकों को मनमाने तौर पर गिरफतार करना, उन्हें बन्दी बनाए रखना और उनसे पूछताछ करना। इन घटनाओ से पता चलता है कि नागरिकों के व्यक्तिगत अधिकारों और उनकी स्वतन्त्रताओं को कितना गम्भीर खतरा था और इन घटनाओं के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनमे से कोई भी घटना गत विश्व युद्ध के दौरान नहीं घटी।[2]

न्यायालयों द्वारा विभिन्न विधियों को 'शक्ति बाह्य' घोषित करने की शक्ति को कनाडा में इतनी अधिक महत्ता कभी भी प्रदान नहीं की गई है जितनी कि अमेरिका में। इसका कारण यह है कि ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम (ब्रिटिश नॉर्थ अमेरिकन एक्ट) में सरकार की शक्तियों पर ऐसी बहुत ही कम सीमाएँ आरोपित की गई हैं जिनसे संविधान के संदर्भ में संविधियों (statutes) की वैधता की परीक्षा की जा सकती है। कनाडा के जिस अधिकार पत्र (बिल ऑफ राइट्स) का १९६० मे अधिनियमन किया गया था, वह स्वयं में संसद् द्वारा पारित एक सामान्य अधिनियम था। और इसमें संसद् की शक्तियों पर कोई मूल सीमाएँ आरोपित नहीं की गई थीं। भारत में संविधान में गारंटी किये गए मूल अधिकारों में और संसदीय संविधि द्वारा इन अधिकारों की संवैधानिक मान्यता में यही सबसे बड़ा उल्लेखनीय अन्तर है। ब्रिटिश उत्तरी अमेरिकी अधिनियम में जो संवैधानिक गारंटियाँ दी गई हैं, उनका उद्देश्य तो कनाडा में रोमन केथोलिक धर्म के अनुयायियों के

---

१ १९ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थापित एक धार्मिक संप्रदाय, जिसके अनुयायी सक्रिय रूप से मसीही धर्म का प्रचार करते हैं, उनका यह विश्वास है कि पृथ्वी पर शीघ्र ही ईश्वरीय राज्य की स्थापना होने वाली है। ये लोग युद्ध के कट्टर विरोधी हैं और अंतरात्मा के मामलों में संगठित शासन की सत्ता के भी विरुद्ध हैं।

२ इस सम्बन्ध में देखिए डॉसन कृत "द गवर्नमेंट ऑफ् कनाडा" पांचवा संस्करण, १९७० पृ० ७०–५.

और क्वेबैक में अंग्रेज प्रोटेस्टैन्टों के मताधिकार की रक्षा करना है। अंग्रेजी प्रथा का अनुसरण करते हुए . कनाडा की संविधियों मे नागरिकों के अन्य अधिकारों को सुरक्षित रहने दिया गया है, यद्यपि उन्हें विभिन्न विशेष संविधियों और देश की सामान्य विधि के अन्तर्गत संरक्षण प्रदान किया जाता है। इस आशय का प्रस्ताव किया गया है कि कनाडा की संघीय सरकार संविधान में दी गई लिखित गारंटियों का काफ़ी अधिक विस्तार करना चाहती है।[३]

मूल अधिकारों की संरचना के विषय में अनेक विचार प्रचलित हैं। एक तो यह है कि इस विश्वास पर उन्हें अलिखित रहने दिया जाए कि समय-समय पर उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों के अनुसार उन्हें देश की सामान्य विधि अथवा साधारण विधियों से नियमित अथवा सीमित किया जा सकता है। यह तो एक विशुद्ध ब्रिटिश दृष्टिकोण है। जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और विधि की विहित प्रक्रिया के विषय में आयरिश स्वशासन विधेयक में १८९३ मे ग्लैस्टन ने जिस धारा को सम्मिलित किया था, उसके श्री एस्क्विथ द्वारा किये गए सुविख्यात विरोध में इस विशेष विचारधारा का सार आ जाता है। इस विचारधारा के अनुसार यदि हम मूल अधिकारों का निरूपण "विधि का समान संरक्षण" और "उचित प्रतिकार" जैसे सामान्य पदों के माध्यम से करते हैं तो इसके परिणामस्वरूप व्यर्थ मुकद्दमे बाजी को प्रश्रय मिलता है और निर्णयों में अव्यवस्था आ जाती है।

इस सम्बन्ध में व्याप्त दूसरा दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत है। इसके अनुसार मूल अधिकारों का निर्माण सर्वथा सामान्य शब्दों में किया जाना चाहिए और इन मूल अधिकारों के क्षेत्र अथवा प्रयोग को कम करने या बढ़ाने का कार्य न्यायालयों की व्याख्या पर छोड़ दिया जाना चाहिए। अमेरिकी संविधान मूलतः इसी योजना पर तैयार किया गया है। इसकी आलोचना में अक्सर यह कहा जाता है कि अमेरिकी संविधान में इस प्रकार के अस्पष्ट अधिकार पत्र होने के कारण उच्चतम् न्यायालयों ने विधानमंडल के तीसरे सदन का रूप धारण कर लिया है।

इस क्षेत्र में व्याप्त तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार मूल अधिकारों का निर्माण कर उन्हें विधि के अधीन तो अवश्य रखना चाहिए परन्तु इसका तो वस्तुतः यह अर्थ है कि इन अधिकारो से सम्बन्धित विधियाँ और संविधियाँ न्यायालयों की वाद योग्यता के अधीन नही हैं। कुछ यूरोपीय देशो में इसी विचार को स्वीकार कर इसे व्यवहार में रूपांतरित किया जा रहा है।

चौथे दृष्टिकोण के अनुसार मूल अधिकारों की सामान्य शब्दों में अभिव्यक्ति तो अवश्य होनी चाहिए परन्तु इसके साथ ही संविधान में इस सम्बन्ध मे उन अपवादों और तत्सम्बन्धी मार्गदर्शक बिन्दुओं का समावेश कर दिया जाना चाहिए जिनके अधीन इन अधिकारो का उल्लंघन किया जा सकता है। भारतीय संविधान मे इसी योजना का अनुसरण किया गया है। भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के अध्याय मे जो सीमाएँ और निर्बन्धन

३ देखिए क्लिर्डो, 'द कांस्टीट्यूशन ऑफ द पीपल्स ऑफ कनाडा' पृ० १४-२१

दिये गए हैं, उन्हें संवैधानिक विधि के क्षेत्र में लोकहित के आधार पर तर्कसंगत स्वीकार किया गया है।

मूल अधिकार और निदेशक सिद्धान्त :

मूल अधिकारों और संविधान में संशोधन के प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि कुछ प्रारम्भिक विचार अभिव्यक्त किए जाएं। इनका सम्बन्ध भारत के संविधान के भाग चार में दिये गए राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों से है, और ये संविधान के अनुच्छेद ३६ से ५१ तक व्याप्त हैं। इनमें कई प्रकार के अधिकार दिये गए हैं जैसे अनुच्छेद ४१ में काम पाने का अधिकार और कुछ परिस्थितियों में सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने का अधिकार, अनुच्छेद ४२ में काम करने की उचित और मानवीय परिस्थितियों और प्रसूति-काल में राहत की व्यवस्था, अनुच्छेद ५० में कार्यपालिका और न्यायपालिका का पृथक्करण और नागरिकों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने की दिशा में राज्य के कर्त्तव्य आदि। इनमें उदाहरण के लिए संविधान के अनुच्छेद ३९ में, कुछ नीति सम्बन्धी सिद्धान्तों का समावेश भी किया गया है, जैसे आजीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार, सर्वोत्तम रूप से सामूहिक हित साधन के लिए समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण, आर्थिक व्यवस्था का इस प्रकार संचालन जिससे कि धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रीकरण न हो, पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन और शैशव और किशोरावस्था के शोषण तथा नैतिक और आर्थिक पतन के विरुद्ध संरक्षण करने की व्यवस्थाएं आदि।

संविधान के इस भाग में 'कर्त्तव्य' और 'अधिकार' दोनों शब्द उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए संविधान के अनुच्छेद ४१ में किन्हीं परिस्थितियों में काम पाने, शिक्षा और सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने के अधिकार का उल्लेख किया गया है जबकि अनुच्छेद ४७ में राज्य के इस कर्त्तव्य का उल्लेख किया गया है कि वह अपने नागरिकों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाएगा। अधिकार और कर्त्तव्य के बीच के इस भेद के कई महत्त्वपूर्ण संवैधानिक परिणाम हो सकते हैं।

राज्य नीति के निदेशिक सिद्धान्तों का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण संविधान के अनुच्छेद ३७ में दिया गया है जिसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि कोई भी न्यायालय इन निदेशक सिद्धान्तों को क्रियान्वित नहीं कर सकेगा। परन्तु इतने से ही इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता कि इन निदेशक सिद्धान्तों का कोई मूल्य नहीं है अथवा वे सुन्दर कल्पना और आकांक्षाएं मात्र हैं। संविधान के उसी अनुच्छेद ३७ में स्पष्ट रूप से यह अभिव्यक्त किया गया है कि राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त देश के शासन में मूलभूत हैं और राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि वह विधि-निर्माण करते समय इन तत्त्वों का प्रयोग करे।

यद्यपि कई संविधानों में ऐसे अधिकार-पत्र अथवा मूल अधिकारों की व्यवस्था की गई है जो वाद-योग्य हैं जिन्हें और न्यायालयों द्वारा क्रियान्वित किया जा सकता है, परन्तु कई संविधानों में ऐसे निदेशक सिद्धान्तों की भी व्यवस्था की गई है जिन्हें किसी देश के शासन में

मूलभूत सिद्धान्त समझा जाता है। साथ ही संविधान में यह व्यवस्था भी है कि विधि निर्माण के समय इन आधारभूत सिद्धान्तों का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य नहीं है। इस विषय मे भारतीय सविधान मे आयरिश सविधान का अनुकरण किया गया है। इनकी उपयोगिता इस तथ्य मे निहित है कि यद्यपि इन्हें किसी भी न्यायालय द्वारा अनिवार्यता प्रदान नही की जा सकती परन्तु क्योंकि वे देश के शासन में मूलभूत सिद्धान्त हैं अतः देश के शासन और प्रशासन मे राज्य को इनका उपयोग करना चाहिए और साथ ही देश के लिए विधि का निर्माण करते समय इन सिद्धान्तो का प्रयोग करना चाहिए।

राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों का यदि देश के शासन में मूलभूत महत्व है और यदि यह राज्य का कर्त्तव्य माना जाएगा कि वह विधि निर्माण कार्य से इन सिद्धान्तों का प्रयोग करे, तो प्रश्न यह उठता है कि इनको कार्यान्वित कौन करेगा और यदि इन बुनियादी सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप नही प्रदान किया जाता तो इसका परिणाम क्या होगा? दूसरे शब्दो मे, यदि ये निदेशक सिद्धान्त देश के शासन में मूलभूत नही समझे जाते हैं और राज्य यदि विधि-निर्माण कार्य मे इन सिद्धान्तों का प्रयोग नहीं करता तो सविधान के अनुच्छेद ३७ में ऐसे उपबन्धो के होने का क्या संवैधानिक और कानूनी प्रभाव होगा? इन निदेशों को कार्य रूप मे परिणत करने का उत्तरदायित्व किसका है और उल्लंघन किए जाने का क्या परिणाम होगा?

यहां यह बात ध्यान मे रखना रुचिकर होगा कि संविधान के निर्माण से पूर्व मूल अधिकारो के सम्बन्ध मे जो उपसमिति स्थापित की गई थी, उसने संविधान में राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों को सम्मिलित किए जाने की सिफारिश की थी। वस्तुतः उपसमिति के प्रारूप में जो कुछ कहा गया था, वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है:

"हमने मूल अधिकारो को दो वर्गों मे विभाजित करने का प्रयास किया है, (१) वाद सापेक्ष अधिकार, अर्थात् ऐसे अधिकार जिन्हें कानूनी कार्यवाही द्वारा औपचारिक रूप से बलपूर्वक क्रियान्वित किया जा सकता है, और (२) वाद-निरपेक्ष अधिकार अर्थात् ऐसे अधिकार जिन्हें कानूनी कार्यवाही द्वारा क्रियान्वित नही किया जा सकता।"

इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि निर्माताओ का उद्देश्य निदेशक सिद्धान्तों को भी मूल अधिकारो का ही एक वर्ग समझना था। परन्तु इसी मान्यता के अनुसार ये द्वितीय श्रेणी के मूल अधिकार है जो वादयोग्य (Justiciable) नहीं हैं और उन्हें विधि न्यायालयो द्वारा अनिवार्यता प्रदान नही की जा सकती।

इस सम्बन्ध मे एक विचार तो यह है कि यदि इन निदेशक सिद्धान्तों का अतिक्रमण करते हुए कोई विधेयक संसद् अथवा राज्य विधान सभा में प्रस्तुत किया जाता है तो, स्थिति के अनुसार राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल इसी आधार पर ऐसे विधेयक के विषय में स्वीकृति प्रदान करने से इन्कार कर सकते हैं। हो सकता है कि ऐसे विधेयक के पारित किए जाने पर विधि न्यायालय उसे अवैध घोषित न कर सके। अनेक ऐसे मामलों में

उच्चतम्[४] न्यायालय का दृष्टिकोण यह रहा है कि "निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों के अनुषंगी बन कर रहना है।" परन्तु समस्या तो यथावत् रहती है कि इसका निर्णायक कौन होगा कि वे इनके अनुरूप और अनुषंगी हैं अथवा नहीं ?

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार राज्य नीति के सिद्धान्तों के अनुच्छेद ३७ को आदेशात्मक न समझकर निदेशात्मक समझा जाना चाहिए। भारत में संवैधानिक विधि और इसके विकास की वर्तमान अवस्था से यह स्पष्ट है कि मूल अधिकारों और राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तो के सम्मिश्रण का प्रयास किया जा रहा है। यह सम्मिश्रण निम्नलिखित दिशा में हो रहा है। सर्वप्रथम, संविधान के किसी अंश की रचना अथवा व्याख्या के विषय में यदि कभी अस्पष्टता अथवा कोई सन्देह हो, तो निदेशक सिद्धान्तो की इस दृष्टि से विवेचना की जाती है कि जो व्याख्या उनके अनुरूप हैं उसी का समर्थन किया जाए। अर्थात् निदेशक सिद्धान्त संविधान और इसके उपबन्धो की व्याख्या के लिए मूल नियमों की व्यवस्था करते है। दूसरे, संविधान के कुछ उपबन्धों और संविधान की योजना को समझाने के लिए निदेशक सिद्धान्त अच्छे मार्गदर्शक सिद्ध हो सकते हैं। निदेशक सिद्धान्त व्यवस्थापन के लिए सामान्य मार्गदर्शक धाराओं का संकेत करने वाले व्यापक निदेशक तन्त्र का कार्य करते है। वस्तुतः संविधान के अनुच्छेद १४ के अनुसार विधि के अधीन समान संरक्षण और विधि के समक्ष समता के जटिल विषय के सम्बन्ध मे निदेशक सिद्धान्त वर्गीकरण का एक युक्तिसंगत आधार प्रस्तुत करते है। तीसरे, मूल अधिकारों पर निबन्धों की युक्तिसंगतता के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का निर्णय निदेशक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में किया जा सकता है।[५] इसमे अनुच्छेद १९ के अधीन मद्यनिषेध सम्बन्धी विधि के उपबन्धो पर अनुच्छेद ४७ के प्रकाश मे विचार किया गया था। चौथे, अनुच्छेद १९ के अधीन सार्वजनिक लाभ और सार्वजनिक हित के प्रस्ताव निदेशक तत्त्वों के निर्देश से प्रभावित हुए है। यह बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह[६] के मामले से स्पष्ट है। इसमे जमीदारी उन्मूलन कानून को अनुच्छेद ३१ के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत रखने के लिए सार्वजनिक हित के विषय में चर्चा अनुच्छेद ३९ के प्रकाश में की गई थी। इसके द्वारा यह मापदण्ड निर्धारित किया गया था कि जिस विधि का उद्देश्य निदेशक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करना है, उसे सार्वजनिक हित मे समझा जा सकता है।

इस सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए है कि भारतीय संविधान के आधीन निदेशक सिद्धान्तों और मूल अधिकारो का अपना-अपना क्षेत्र विशेष क्या है ? इस सम्बन्ध में मोटे तौर पर इन सिद्धान्तो का पालन किया जाना चाहिए : (१) मूल अधिकारों और निदेशक

---

४ चम्पाकम दोराय राजन (ए आई आर. १९५८, एस सी. २२६), एच. एम. कुरेशी बनाम बिहार राज्य (ए. आई. आर.-१९५८, एस. सी. ७३१) और केरल शिक्षा विधेयक (ए. आई. आर. १९५८ एस. सी. ६४६)।

५ बम्बई राज्य बनाम पी. एन. बलसारा (ए. आई आर. १९५१, एस. सी. ३१८)।

६ ए. आई. आर १९५२, एस. सी. २५२.

सिद्धान्तों में विरोध की स्थिति में प्राथमिकता मूल अधिकार को ही प्रदान की जाएगी। इस विषय में मद्रास राज्य बनाम चम्पाकम दोराय राजन,[७] का मामला उल्लिखित है, जिसमे अनुच्छेद २६ और अनुच्छेद ४६ के विरोध की चर्चा की गई है (२) जहाँ निदेशक सिद्धान्तों का मूल अधिकारों से कोई विरोध नहीं है, वहाँ इनका प्रयोग मूल अधिकारों के पूरक रूप में और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए व्याख्या के रूप मे प्रयोग किया जा सकता है।

भारतीय सविधान के मूल अधिकारो के विषय मे एक और महत्वपूर्ण लक्ष्य संविधान के अनुच्छेद ३२ में उल्लिखित है जिसमें यह कहा गया है कि मूल अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए उच्चतम् न्यायालय को समुचित कार्रवाइयों द्वारा प्रचलित कराने का अधिकार दिया जाता है। संविधान के अनुच्छेद ३२, जो स्वयं में एक मूल अधिकार है, के अतिरिक्त एक अन्य सहायक संवैधानिक उपबन्ध अनुच्छेद २२६ में दिया गया है। यह मूल अधिकार नही है–जिसमे उच्च न्यायालयों को इसी प्रकार के रिट, आदेश अथवा निर्देश जारी करने की शक्ति प्रदान की गई है, ताकि मूल अधिकारों को ही प्रर्वातित कराया जा सके। उच्च न्यायालय अन्य उद्देश्यों के लिए भी इस प्रकार के रिट, आदेश अथवा निर्देश जारी कर सकते हैं।

मूल अधिकारों का प्रवर्तन कराने के लिए न्यायालयों का प्रयोग :

सर अलादि कृष्णस्वामी अय्यर भारतीय संविधान के निर्माताओं में से प्रमुख थे। "संविधान और मूल अधिकार" विषय पर अपने श्रीनिवास शास्त्री स्मारक व्याख्यान में उन्होने निम्नलिखित भविष्यवाणी की :

"त्वरित और प्रभावी उपायों की व्याख्या करने वाले ये अनुच्छेद राज्य के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे अथवा नागरिकों के लिए, यह बहुत सीमा तक इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि इनका उपयोग वास्तविक कष्टों को दूर करने के लिए किया जाएगा या नागरिकों द्वारा इनका दुरुपयोग किया जाएगा, और क्या न्यायालय साधारण मामलों में भी न्यायालयों की शक्ति का आह्वान करने के लिए नागरिकों को प्रोत्साहन देंगे। आशा की जाती है कि जब न्यायालयों के निर्णय द्वारा इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए कुछ सिद्धान्तो का निर्धारण कर लिया जाएगा तो इस प्रक्रिया और इस अध्याय मे उल्लिखित व्यवस्थाओं के दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति पर स्वयं ही अंकुश लग जाएगा।"

---

७ इस विषय में विजय कॉटन मिलस बनाम अजमेर राज्य, (ए. आई. आर. (१९५५) एस. सी. ३३) देखिए, जिसमे अनुच्छेद ४३ के अनुच्छेद ११ (१) (६) पर प्रभाव की चर्चा की गई है। साथ ही एम. एच. कुरेशी बनाम बिहार राज्य एम, आई. आर. (१९५८) एस सी. ७३१ का मामला भी देखिए, जिसमे अनुच्छेद ४८ और अनुच्छेद १९ (१) (६) के अंत. सम्बन्धो की चर्चा की गई है। इन दो मामलो के अलावा बम्बई राज्य बनाम बलसारा, (ए. आई० आर. १९५१ (एस. सी. ३१८) का मुक्द्दमा भी देखिए, जिसमें निदेशक सिद्धान्तों का इस्तेमाल दूसरी सूची की ३१ वीं मद की व्याख्या करने के लिए किया गया है।

कहना मुश्किल है कि अनुवर्ती वर्षों में सर अलादि कृष्ण अय्यर की आशाएँ सही सिद्ध हुई हैं अथवा नहीं। इस बीच न्यायालयों ने ऐसे महान् निर्णय उद्घोषित किए हैं जिनसे मूल अधिकारों के प्रयोजन और अन्त वस्तु को सार्थकता प्रदान की गई है। इसके साथ ही विधि प्रतिवेदनों (लॉ रिपोर्ट्स) मे ऐसे असंख्य उदाहरण उल्लिखित हैं जहाँ साधारण बातों के लिए न्यायालयो का परिचालन किया गया है। कुछ अंशों मे इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग हुआ है परन्तु मूल अधिकारों के विषय मे संवैधानिक विधि का यह भी दायित्व है कि कही इनसे मुकद्दमेबाजी को अत्यधिक प्रोत्साहन न मिलने लगे।

भारतीय संविधान और अमेरिकी विहित प्रक्रिया :

भारतीय संविधान में उल्लिखित मूल अधिकारों के विषय मे चर्चा करते समय भारतीय अधिकार पत्र पर अमेरिकी विहित प्रक्रिया की धारा के प्रभाव के विषय में चर्चा करना समीचीन होगा। कहा गया है कि अमेरिकी प्रकार की विहित प्रक्रिया की धारा का भारतीय संविधान में जान-बूझकर प्रयोग नही किया गया था। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने यह विचार अपनाया कि अमेरिकी उदाहरण भारत के व्यापक हितों, उसकी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों और अन्य विभिन्न क्षेत्रों मे प्रयोग करने की आवश्यकता के अधिक अनुकूल नही है। इस सदर्भ मे उन्होंने यह सोचा कि संसद् अथवा राज्यों द्वारा निर्मित विधियों के विषय मे भारतीय उच्चतम् न्यायालय को एक अनुभवी सलाहकार का स्थान प्रदान करना कोई बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नही होगा। अत एक प्रकार के समझौते का मार्ग अपनाया गया और न्यायालयों को यह शक्ति प्रदान की गई थी कि वे सार्वजनिक हित के युक्तिसंगत निर्बन्धों की कसौटी पर प्रत्येक विधायी कार्य की परीक्षा करें। इससे कोई भी तात्विक अन्तर पड़ा है अथवा नहीं, यह निर्धारित करना अभी शेष है।[८] भारत के न्यायालयों के निर्णयों के विषय में लेखक का यह दृष्टिकोण है कि मूल अधिकारों की व्याख्या करते समय अमेरिकी "विधि की विहित प्रक्रिया" और 'तर्कसंगत निर्बन्धों' और 'सार्वजनिक हित' की भारतीय सकल्पना में भेद करने का जो प्रयास किया गया है वह किसी मूर्त सिद्धांत के रूप में स्पष्ट होकर सामने नही आया है। विधि की "विहित प्रक्रिया" से भेद करते समय उत्पन्न यह अस्पष्ट और क्षीण द्वन्द्व कृत्रिम है और खींचतान कर लाया गया प्रतीत होता है। शायद यही मूल अधिकारों के अपवाद के विशिष्ट प्रतिमान के लिए उत्तरदायी है। इसकी एक आलोचना यह भी की जाती है कि भारतीय संविधान में मूल अधिकारों की जो रूपरेखा तैयार की गई है, उसे तो उन अपवादों ने ही नष्टप्राय कर दिया है जिन्हें उनके साथ सम्मलित किया गया है। यह स्वयं में एक विकट समस्या है कि

---

८ इस सम्बन्ध मे ए के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य, ए आई आर १९५०, एस सी २७ के मुकद्दमे का निर्णय और न्यायाधिपति फ़ज़ल अली के विमम्मति पूर्ण विचार द्रष्टव्य हैं। न्यायाधीशो के बहुमतो का विचार था कि "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" और "विधि की विहित प्रक्रिया" की अमेरिकी सकल्पना को समान स्तर पर नही रखा जा सकता है। इस सम्बन्ध मे सूरजमल बनाम आई. टी. सी. ए. आई. आर. (१९६१) कलकत्ता ३७८ का मुकदमा भी देखिए।

इन मूल अधिकारों को असंख्य अपवादों के प्रकाश में पढ़ा जाना चाहिए अथवा इन अपवादों को मूल अधिकारों के प्रकाश में। मूल अधिकारों को स्वीकार कर इनकी संविधान में व्यवस्था करने के बाद इन्हें कई अपवादों में लाद देने का परिणाम बुरा होगा। इसके परिणामस्वरूप हमारी संवैधानिक व्यवस्था में असंगति और अस्थिरता आ सकती है तथा यह कभी भी भरभरा कर गिर सकती है। वस्तुतः ऐसी योजनाओं का वास्तव में पतन हुआ है, यह संविधियों की उस प्रभावी सूची से पता चला है जिन्हें संविधान के अनुच्छेद ३१ ख के अधीन दी गई ९ वीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया है। यहाँ असंवैधानिक संविधियों को संवैधानिक स्थिति प्रदान की जा रही है और इस प्रकार की संविधियों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। आज इनकी संख्या बढ़कर ६४ हो गई है।

मूल अधिकारों का संवैधानिक संशोधन :

भारतीय संविधान के अधीन संसद् द्वारा संविधान में संशोधन करने के अधिकार के कारण कई महत्त्वपूर्ण विवाद उत्पन्न हुए हैं—विशेषकर मूल अधिकारों के संबंध में। संविधान देश की सर्वोच्च विधि है और उस अर्थ में इसमें संशोधन करने की शक्ति विधायी शक्ति के अन्तर्गत आती है। संविधान में संशोधन करना भारत में एक महत्त्वपूर्ण समस्या का रूप धारण कर चुका है। ब्रिटिश संसद् तो एक विधायी संस्था होने के साथ-साथ एक संवैधानिक संस्था भी है और इस कारण वह संवैधानिक विधियों को उतनी ही सरलता से पारित कर सकती है जितनी सरलता से सामान्य संविधियों अथवा विधियों को, परन्तु इस दृष्टि से भारतीय संसद् और राज्य विधान सभाएँ विभिन्न आधारों पर स्थित हैं और उनकी संविधि अथवा विधि-निर्माण शक्ति और संविधान में संशोधन करने की शक्ति एकसमान नहीं समझी जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं है कि संविधान में संशोधन की व्यवस्था की गई है, परन्तु कुछ अपवादों को छोड़कर इस प्रकार के संशोधन उसी विधि से पारित नहीं किए जा सकते हैं जिस प्रकार से कि सामान्य विधियाँ, और इनके लिए विशेष प्रक्रिया का अनुसरण करना पड़ता है जिसे संविधान के अनुच्छेद ३६८ में दिया गया है। अतः भारतीय संविधान में जिस संसद् की व्यवस्था की गई है, उसे उस अर्थ में संविधान संस्था नहीं समझा जा सकता जिस अर्थ में ब्रिटिश संसद् को समझा जाता है। परन्तु साथ ही, भारतीय संसद् एक विधि और संविधान निर्मातृ संस्था है, यद्यपि इन दोनों क्षेत्रों में इसकी अलग अलग प्रक्रिया है।

संविधान में संशोधन का कार्य भारतीय संसद् की विधायी शक्तियों के अन्तर्गत आता है और कुछ विशिष्ट मामलों में विधायी शक्तियों के अन्तर्गत संशोधन प्रक्रिया विधेयक पारित करने की सामान्य विधायन प्रक्रिया से भिन्न है। फिर भी कुछ मोटे और मुख्य विषयों में इनमें बहुत हद तक समानता भी है। संविधान में संशोधन करने के लिए संसद् के दोनों सदनों में से किसी भी एक में उस उद्देश्य से विधेयक पुनः प्रस्तुत किया जाता है। संविधान में संशोधन की प्रक्रिया के लिए प्रस्तावना की पहली प्रारम्भिक अवस्था यही होती है। दूसरी अवस्था तब आती है जबकि विधेयक प्रत्येक सदन में से आधे से अधिक सदस्यों और उपस्थित व मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई सदस्यों के समर्थन से

पारित हो जाता है। तीसरी अवस्था उस समय आती है जबकि इस प्रकार से पारित विधेयक को राष्ट्रपति की सहमति मिल जाती है। तब संविधान विधेयक की शर्तों के अनुसार संशोधित हो जाता है।

परन्तु इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण शर्त को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए। संशोधन के पाँच विशिष्ट वर्गों में ऐसे संशोधनों के लिए आधे से अधिक राज्यों के अनुसमर्थन की भी आवश्यकता है। राज्यों द्वारा इस आशय के प्रस्ताव अपने विधान मंडलों में राष्ट्रपति की सहमति के लिए संशोधन विधेयक को भेजने से पूर्व पारित किए जाने चाहिएं। संवैधानिक संशोधन के महत्त्व को देखते हुए दो तिहाई राज्यों का समर्थन अधिक उपयुक्त होगा और संविधान के अनुच्छेद ३६८ के प्रारम्भिक पैराग्राफ में दिये गए संसद् में मतदान से अधिक अनुरूप होगा।

संविधान में संशोधन के पाँच विशेष वर्ग जिनके लिए राज्यों के अनुसमर्थन की विशेष प्रक्रिया की व्यवस्था की गई है, इस प्रकार हैं—

१. (क) संविधान का अनुच्छेद ५४, जिसमें राष्ट्रपति के निर्वाचन की व्यवस्था की गई है;
   (ख) संविधान का अनुच्छेद ५५, जिसमें राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि की व्यवस्था की गई है,
   (ग) संविधान का अनुच्छेद ७३ जिसमें संघ की कार्यकारी शक्तियों की सीमा की व्यवस्था की गई है,
   (घ) अनुच्छेद २४१ जिसका सम्बन्ध उच्च न्यायालयों और संघ शासित राज्य क्षेत्रों से है।
२. (क) संघ न्यायपालिका के अनुच्छेद—संविधान का भाग ५ के अध्याय ४ अनुच्छेद १२४-१४७.
   (ख) राज्य न्यायपालिका के अनुच्छेद—संविधान के भाग ६ के अध्याय ५ अनुच्छेद २१४–२५१.
   (ग) विधायी शक्तियों के विभाजन से सम्बन्धित विधायी सम्बन्धों से अनुच्छेद—भारतीय संविधान के भाग XI के पहले अध्याय के अनुच्छेद २४५–२५५.
३. भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची की विधायी सूचियों में से किसी में,
४. संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व में, तथा
५. संविधान के संशोधन से सम्बन्धित इस अनुच्छेद के उपबन्धों में संशोधन।

भारतीय संविधान के संशोधन से सम्बन्धित अनुच्छेद ३६८ का स्पष्ट दोष यह प्रतीत होता है कि प्रकट रूप से मूल अधिकारों का संशोधन राज्यों के अनुसमर्थन के बिना ही किया जा सकता है और इस प्रकार वे संसदीय बहुमत पर निर्भर हैं, यद्यपि वे संविधान द्वारा दिये गये ऐसे अधिकार हैं जिनके प्रति प्रत्येक नागरिक और राज्य सर्वोपरि[illegible]

प्रतिबद्ध हैं। अब इस विषय पर चर्चा की जाएगी कि किस प्रकार उच्चतम न्यायालय ने गोलकनाथ के मामले[९] मे इस स्थिति का सामना किया है ?

दूसरे, संसद् और राज्य विधान मण्डलों को संविधान सभाएँ बनाए रखने में सदैव एक खतरा भी है—वह खतरा है (१) संशोधन मे सुविधा अधिक होने से संविधान में बहुत अधिक संशोधन किए जाएँगे जिससे सदैव अनिश्चितता और असुरक्षा का वातावरण व्याप्त रहेगा, और (२) संसद और राज्य विधान सभाओं के सामान्यतः चुने हुए प्रतिनिधियों को संविधान मे संशोधन करने का कोई विशेष सामान्य अथवा अभीष्ट आदेश प्राप्त नहीं होता है। वे जब संविधान मे एक के बाद एक संशोधन करते जाते हैं तो संविधान दलगत राजनीति की बिसात पर एक मुहरा मात्र बनकर रह जाता है। संविधान को दलीय राजनीति से ऊपर रहना चाहिए। जब संसद् अथवा राज्य विधानसभाओं को बिना किसी विवाद के संविधान सभाओं का रूप दिया जा सकता है, तो बड़ी आसानी से उनका स्वरूप परिवर्तित किया जा सकता है। परन्तु इससे उत्पन्न प्रत्यक्ष अथवा अवचेतन वातावरण संविधान की पवित्रता के प्रतिकूल होता है।

इसके व्यावहारिक परिणाम भारतीय संविधान में अब तक किये गए संशोधनों के रूप में देखे जा सकते हैं। पिछले २० वर्षों में संविधान में १८ से भी अधिक बार संशोधन किया जा चुका है। व्यावहारिक रूप से यह संशोधन प्रतिवर्ष निकलता है। अपने सीतलवाड व्याख्यानों मे लेखक ने भारत के संविधान की महत्वपूर्ण समस्याओं का विस्तार से विश्लेषण किया है।

इस अवस्था में यह उपयुक्त होगा कि संवैधानिक संशोधन के क्रम मे उस नई समस्या का ध्यान रखा जाए, जिसे आई० सी० गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मुकद्दमे में दिये गए उच्चतम न्यायालय के निर्णय ने प्रस्तुत किया है। इस निर्णय का आधारभूत वाक्य यह है कि संशोधन करने की शक्ति संसद् की सामान्य विधायी शक्ति मे निहित है। इस बुनियादी आधार वाक्य के प्रकाश में संवैधानिक संशोधन को भी संविधान के अनुच्छेद १३ (२) में दिये गए पद 'विधि' के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। उच्चतम न्यायालय के न्यायधीशो का बहुमत इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि संविधान के अनुच्छेद ३६८ का संबंध केवल प्रक्रिया से है। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा दिये गए निर्णय से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि संविधान के मूलभूत स्वरूप में कोई संशोधन नही किया जा सकता बल्कि संशोधन के माध्यम से केवल ऐसे परिवर्तन किए जा सकते हैं जो संविधान के बुनियादी ढाचे के अन्तर्गत आते हैं।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के बहुमत द्वारा दिया गया निर्णय इस सिद्धान्त और दर्शन पर प्रतिष्ठापित हुआ प्रतीत होता है कि मूल अधिकारों के विषय मे संविधान में कोई संशोधन नहीं किया जा सकता। शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ[१०] के मुकद्दमे

---

९ ए आई. आर. (१९६७) एस. सी. १६४८

१० ए. आई. आर. (१९५१) एस. सी. ४५८

में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गए पिछले निर्णय की कटु आलोचना करते हुए प्रधान न्यायाधिपति सुब्बाराव ने इस आधार पर उस निर्णय की तर्कविहीनता पर आश्चर्य प्रकट किया कि समस्त संसद् किसी एक मूल अधिकार में एकमत से न तो संक्षेपण कर सकती है और न ही उसे वापिस ले सकती है। परन्तु सभी मूल अधिकारों को समाप्त करने के लिए संसद् के केवल दो तिहाई बहुमत की आवश्यकता है। इस प्रकार के वक्तव्य से एक महत्त्वपूर्ण समस्या उत्पन्न होती है। यदि संविधान में यह कहा गया है, तो क्या उच्चतम न्यायालय के लिए उपयुक्त है कि वह इस प्रश्न की युक्ति विहीनता का विवेचन करने के लिए बैठे ?

इस सम्बन्ध में कहना होगा कि यह तर्कसंगतता अथवा तर्कविहीनता का प्रश्न पूर्ण रूप से सार्थक नहीं है। बहुमत के निर्णय में और विशेषकर न्यायधिपति वांचू के विसम्मति निर्णय में यह कहा गया है कि शंकरीप्रसाद के निर्णय में संविधान के अधीन संसद् की संशोधन संबंधी शक्तियों के क्षेत्र-विस्तार का सही मूल्यांकन किया गया है। यदि संसद् को यह शक्ति प्राप्त नहीं है कि वह सातवीं अनुसूची की तीसरी सूची में दिये गए विषयों के बारे में प्रस्ताव ला सके, तो यह उस प्रकार से संविधान में संशोधन कर पाने में कभी भी सक्षम नहीं हो पाएगी जिससे कि संकटकालीन स्थिति को छोड़कर अन्य समय में राज्य सूची और समवर्ती सूची में परिगणित विषयों को केन्द्रीय सूची में अन्तरित कर सके। न्यायाधिपति वांचू ने उच्चतम न्यायालय के बहुमत के इस निर्णय के आधार वाक्य की ओर संकेत करके कि संविधान में संशोधन करने की शक्ति संविधान के अनुच्छेद ३४८ के आधीन संसद् की अवशिष्ट विधायिनी शक्तियों में दी गई है, इसलिए आलोचना की क्योंकि मूलतः संविधान निर्माताओं का उद्देश्य यह था कि अवशिष्ट शक्तियाँ राज्य विधान सभाओं में निहित होनी चाहिए, और यदि संविधान में इन उद्देश्यों को कार्यरूप दिया गया होता, तो यह तर्क कर पाना असम्भव हो जाता कि राज्य को इन अवशिष्ट शक्तियों में संविधान में संशोधन करने की शक्ति भी शामिल हैं।

गोलकनाथ के मुकद्दमें में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गए निर्णय से कई समस्याएँ खड़ी हो गई हैं। सबसे पहले, इस सांविधिक विवाद ने कि संविधान के अनुच्छेद १३ (२) के अन्तर्गत आए पद 'विधि' में संवैधानिक संशोधन संबंधी विधायन भी शामिल है, संविधान के अनुच्छेद ३६८ की प्रशंसनीय, तर्कसंगत व उपयुक्त व्याख्या के मार्ग में बाधा पहुंचाई यद्यपि इसका इस समस्या के लिए अत्यधिक महत्त्व था। इस तथ्य में सदेह नहीं है कि धारा ३६८ के हाशिए में दी गई टिप्पणी में इसे संविधान में संशोधन के लिए प्रक्रिया का निर्धारक कहा गया है। परन्तु संविधि के समान सविधान का निर्णायक रूप से प्रवर्तन हाशिए में दी गई टिप्पणियों के आधार पर नहीं किया जा सकता है। यहाँ यह भी निवेदन करना अनुपयुक्त नहीं होगा कि स्वयं धारा ३६८ में दिखाने के लिए अन्तर्निहित प्रभाव है कि यह संविधान में संशोधन के लिए प्रक्रिया ही नहीं है, बल्कि संविधान संशोधन की उद्घोषणा भी है। उसमें स्पष्ट भाषा और अभिव्यक्तियाँ इस्तेमाल की गई हैं, [यथा, (१) "संविधान विधेयक के निर्बन्धों के अनुसार संशोधित हो जाएगा," (२) 'बशर्ते कि

यदि ऐसा कोई संशोधन–कोई परिवर्तन करना चाहता है' और (३) 'संशोधन का अनुमर्थन भी अपेक्षित होगा।']

इन तीनों अभिव्यक्तियो का यह अर्थ है कि संविधान की धारा ३६८ संशोधन के लिए प्रक्रिया और शक्ति दोनो का स्रोत है। संविधान की अभिव्यक्ति और निहित रचना के विषय में यदि बहुमत का निर्णय सिद्धान्त रूप में सही है, तो यह स्वीकार करना उचित होगा कि कोई भी सविधान उस समय संविधान में संशोधन करने के लिए विस्तृत और ब्योरेवार प्रक्रिया का विधान नही करेगा जबकि संविधान मे संशोधन की शक्ति का कही अस्तित्व होगा। उस प्रसग मे सशोधन करने की शक्ति आवश्यक रूप से निहित ही समझी जाएगी। इस विषय में यह अभिव्यक्ति प्रासंगिक है कि ऐसा समझना भी आवश्यक नही है, क्योकि सविधान मे सशोधन करने की शक्ति सुव्यक्त रूप से उन तीनो अभिव्यक्तियो में दी गई है, जिनको ऊपर उद्धृत किया गया है।

दूसरे, बहुमत के निर्णय मे प्रस्तुत किये गए इस प्रस्ताव से कि संसद् द्वारा सविधान सभा का आह्वान किया जा सकता है, जैसाकि न्यायाधिपति हिदायतुल्ला ने सुझाव दिया है, एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई है। ससद् के पास ऐसा कौनसा कानूनी अथवा सवैधानिक अधिकार है जिसके आधार पर वह सविधान सभा का आह्वान कर सकती है। भारत के सविधान मे इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं की गई है जिसके अधीन ससद् को यह अधिकार अथवा शक्ति प्रदान की गई हो कि वह किन्ही परिस्थितियों में अथवा निर्बन्धों के अधीन संविधान सभा का आह्वान कर सके। संसद् स्वयं संविधान की सृष्टि है। यदि सविधान मे ही सविधान सभा का उपबन्ध नही है, तो भारत के लोग ही अपने आपको कोई संविधान अर्पित कर सकते हैं। यदि बहुमत के निर्णय को सही स्वीकार कर लिया जाय तो यह बात और भी अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है कि संविधान में इसके संशोधन की व्यवस्था नही की गई है। ऐसा प्रस्ताव तो बहुमत के निर्णय के आधार पर ही परस्पर विरोधी प्रतीत होता है। संवैधानिक प्रयोगों के विश्व इतिहास के पन्ने पलटने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि ऐसे संदर्भ में लोग सविधान के निर्माण के लिए लोकप्रिय और प्रतिनिधि-सम्मेलन को आयोजित करते हैं जिसका सम्मेलन द्वारा किये हुए प्रतिनिधित्व के आधार पर सगठन किया जाता है। क्रांति के मार्ग से भिन्न सविधान के निर्माण अथवा सशोधन की वह संविधानेतर विधि है, जो संवैधानिक विधि के क्षेत्र की अपेक्षा राजनीति के क्षेत्र में अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

इस निर्णय से जो तीसरी समस्या उत्पन्न होती है, वह भारतीय संविधान के "बुनियादी ढाँचे" और उस "ढाँचे के भीतर रहते हुए सविधान मे किए जाने वाले परिवर्तन परिवर्द्धन" में भेद करने के प्रयास की है—बहुमत के निर्णय मे इन दोनो मे भेद करने का प्रयास किया गया है। यहाँ भी संविधान का अनुच्छेद ३६८ हमारे लिए मार्गदर्शक का कार्य करता है। अनुच्छेद ३६८ का पहला पैरा "इस सविधान के संशोधन" की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति से आरम्भ होता है। दूसरे पैरा में उप-पैरा (क), (ख), (ग), और (ङ), में उल्लिखित पाँच विभिन्न वर्गों के संशोधन के लिए अपवाद निश्चित किये गए हैं जिनके लिए राज्यो

की विधान सभाओं के अनुसमर्थन की अपेक्षा होगी। अतः संविधान के बुनियादी और गैर-बुनियादी उपबन्धों के आधार पर अन्य किसी प्रकार का भेद न्यायोचित प्रतीत नहीं होता। चौथी और अन्तिम समस्या यह है कि संविधान मे जिन अधिकारों को 'मूल' कहा गया है, उन्हें इसी विश्लेषण के आधार पर संविधान की पहुँच के बाहर नहीं समझा जा सकता। मूल अधिकार तो संविधान की ही देन है। संविधान ने जो कुछ दिया है, तथ्यत यह अर्थ नहीं है कि इनमें संवैधानिक दृष्टि से कभी भी परिवर्तन नही किया जा सकता है। जिस संविधान में सवैधानिक विधि से सशोधन नही किया जा सकता, वह तो क्रान्ति के लिए खुला निमन्त्रण है। संविधान की ऐसी व्याख्या का, जिससे कि संविधान में संशोधन असम्भव हो जाए, तभी आश्रय लिया जाना चाहिए, जबकि उसकी अन्य सभी व्याख्याएँ निष्फल हो चुकी हों जैसाकि इस मामले में नहीं था। यदि संविधान मे बड़ी आसानी से संशोधन किया जा सकता है, तो उससे अनिश्चितता-असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। परिवर्तनीय संविधान और सुगमता से परिवर्तनीय संविधान की इन दोनों चरम स्थितियों के बीच भारतीय संविधान की धारा ३६८ में ऐसे मध्यम मार्ग को अपनाने का प्रयास किया गया है जिसमे संविधान में संशोधन न तो आसानी से किया जा सकता है और न कठिनाई से। इस प्रक्रिया के अपने कुछ दोष हैं जिनकी ओर लेखक ने भारतीय संविधान की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त करते हुए सीतलवाड व्याख्यान मे संकेत किया है। किसी भी प्रकार से इन दोषों का निवारण किया जाना चाहिए। परन्तु विचारणीय यह है कि संविधान में कही यह दोष तो नहीं है कि मूल अधिकारों मे संशोधन करने का ही अधिकार न हो। उस दृष्टिकोण से पवित्र मूल अधिकारों की व्यवस्था का विचार ही सविधान के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

प्रस्तुत लेख मे निर्णय के इस सिद्धान्त के विषय में चर्चा करना आवश्यक होगा जिसमें उच्चतम न्यायालय ने अपने विगत पूर्वोदाहरणों (निर्णयों) के भविष्य प्रभावी प्रति-आदेशन के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया है। फिर भी एक बात स्पष्ट है। यदि भारत के संविधान की व्याख्या के विषय में उच्चतम न्यायालय के पूर्वोदाहरणों को विशेषकर मूल अधिकारो और संवैधानिक संशोधनों को परवर्ती निर्णयों से प्रत्यादिष्ट किया जाता है, तो एक बात स्पष्ट होनी चाहिए कि यदि विगत पूर्वोदाहरण को प्रत्यादिष्ट करना मतैक्य के आधार पर नही हो पाता तो इसके समर्थन में पूर्ण और स्पष्ट बहुमत तो होना ही चाहिए। गोलकनाथ के मामले में दिया गया निर्णय हमारे सामने एक असमंजसपूर्ण स्थिति प्रस्तुत करता है। इस मामले के निर्णय के लिए ग्यारह न्यायाधीशों का न्यायपीठ बनाया गया। निर्णय के पक्ष में बहुमत मे छः न्यायाधीश थे—प्रधान न्यायाधिपति सुब्बाराव, हिदायतुल्ला, न्यायाधिपति शाह, सीकरी, शैलट और वैद्यलिंगम। इसके विरोध में अल्पमत में पांच न्यायाधीश थे—न्यायाधिपति वांचू, रामास्वामी, बचावत, मित्तर और भार्गव। इसका परिणाम यह हुआ कि पाँच के मुकाबले में छः मतों से उच्चतम न्यायालय ने ऐसी महत्त्वपूर्ण संवैधानिक समस्या का समाधान कर लिया कि इस विषय पर संविधान व्यावहारिक रूप से असंशोधनीय होकर रह गया है और उस प्रयोजन के लिए पिछले पूर्वोदाहरणों को प्रत्यादिष्ट किया

जा सकता है। किसी देश के संविधान को इस प्रकार के सांयोगिक मत पर तो निर्भर नहीं होना चाहिए। यदि संविधान की धारा ३६८ मे सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत में उस सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत और भारत के आधे से अधिक राज्यों के अनुसमर्थन की व्यवस्था की गई है, तो स्पष्टतः इस बात का कोई कारण नहीं है कि उच्च न्यायालय के ही न्यायाधीश को संविधान में इस प्रकार से अव्यवस्था उत्पन्न करने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाए। यह सुझाव दिया गया है कि यदि सवैधानिक विधि के मत को गत पूर्वोदाहरणों के परवर्ती निर्णयों मे प्रत्यादिष्ट किया जाना है, तो इस प्रकार का प्रत्यादेश या तो एकमत से किया जाना चाहिए अथवा उसके पक्ष में उस प्रश्न का निर्णय करने वाले तीन-चौथाई न्यायाधीश होने चाहिए। यदि आवश्यकता हो, तो संविधान में संशोधन कर इस आशय की व्यवस्था की जा सकती है। व्यक्तिगत रूप से लेखक का यह विचार है कि यदि कभी ऐसा प्रश्न विचारणीय हो, तो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश न्यायपीठ मे हों और वे या तो सर्वसम्मति से उस प्रश्न का निर्णय करें अथवा तीन-चौथाई बहुमत से।

राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त

एच० एम० सीरवई

प्रस्तुत लेख में चौबीसवें, पच्चीसवे और उन्तीसवें संवैधानिक संशोधनों पर उच्चतम न्यायालय के निर्णय से उत्पन्न विवादों अथवा उक्त निर्णयों में राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों के संदर्भ में अपनाये गए दृष्टिकोण पर चर्चा नही की जा रही है। अपवादस्वरूप यह अवश्य स्पष्ट किया जा रहा है कि धारा ३१ सी का वह क्रियात्मक भाग, जो धारा ३६ व उपधारा बी तथा सी में निहित राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों को धारा १४, १६ व ३१ की तुलना में प्राथमिकता देता है, ७–६ के बहुमत से वैध घोषित किया गया है, यद्यपि वह उपवन्ध (proviso) जिसके अन्तर्गत संसद् अथवा राज्य विधानमंडल की घोषणा को निर्णायक माना जाता था, ७–६ के बहुमत से अवैध घोषित किया गया है। उच्चतम न्यायालय के १३ न्यायाधीशों में से ६ का हस्ताक्षरयुक्त यह निर्णय स्पष्टतः गलत है। ऐसा इसके कथ्य के कारण नहीं है बल्कि इसने जो कुछ नही कहा है उस कारण है। यह कहना सही है कि धारा ३६८ मे प्रयुक्त शब्द संशोधन की व्याख्या करते हुए न्यायमूर्ति खन्ना ने यह कहा कि इसके अन्तर्गत सविधान के मूल ढांचे में संशोधन नही किया जा सकता अर्थात् लोकतान्त्रिक सरकार समाप्त नही की जा सकती। परिणामस्वरूप ७–६ के बहुमत से उच्चतम न्यायालय ने यह स्थिति स्वीकार करली जो कि न्यायालय के आदेश का दूसरा भाग है। न्यायमूर्ति खन्ना सही थे या गलत यह वर्तमान चर्चा का विषय नही है, लेकिन उन्होंने निष्कर्ष संख्या ७ मे यह मत भी व्यक्त किया कि मूल अधिकारो का कोई भी भाग इस आधार पर संशोधन-प्रक्रिया से बचाव का दावा नही कर सकता–क्योकि वह उस अधिकार का सारतत्त्व अथवा मूल आधार है। संशोधन की शक्ति अपने में कुछ जोड़ने, परिवर्तित करने अथवा विविध धाराओं को रद्द करने की शक्ति भी रखेगी। निष्कर्ष संख्या ८ में उनका मत था कि सम्पत्ति का अधिकार सविधान के मूल ढांचे

का भाग नहीं है। इस प्रकार ७–६ के बहुमत से यह निर्णय भी दिया गया कि मूल अधिकारों में संशोधन हो सकता है, उनमे कुछ जोडा जा सकता है, परिवर्तित किया जा सकता है अथवा रद्द किया जा सकता है। यदि न्यायालय के आदेश में वह निष्कर्ष सम्मिलित किया जा सकता है जिससे न्यायमूर्ति खन्ना की सहमति थी, तो यह भी उतना ही आवश्यक था कि उनका वह दूसरा निष्कर्ष भी उसमे सम्मिलित किया जाता, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। लेखक का मत है कि वे चारो न्यायाधीश, जिन्होंने आदेश पर हस्ताक्षर नहीं किए, स्पष्टतः सही थे। यह आदेश इस आधार पर गलत है क्योंकि एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर सात न्यायाधीशों की सहमति थी और वह निष्कर्ष यह था कि मूल अधिकारों मे कुछ जोड़ कर, परिवर्तित कर अथवा रद्द कर संशोधन किया जा सकता है।

इस अभिव्यक्ति के पश्चात्, राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तो पर चर्चा की जा सकती है। सही चिंतन की पूर्वआवश्यकता के रूप मे संतुलन की भावना बनाए रखनी चाहिए। इधर कुछ समय से हम यह बड़ी रुचि से कहते हैं कि हमने 'पुलिस राज्य' (एक अंशतः अनुपयुक्त प्रयोग) के स्थान पर जनकल्याणकारी राज्य (welfare state) की स्थापना कर ली है। लेकिन यह सिद्धान्त कि जन-कल्याण सर्वोच्च नियम है, निश्चित रूप से उतना ही प्राचीन है जितना कि रोम निवासी, बल्कि उससे भी प्राचीन क्योंकि प्रस्तुत लेटिन उक्ति 'सेलुस पोपुलाई एस्ट सुप्रीमा लेक्स' (जनता का कल्याण सर्वोच्च नियम है) इसी भावना पर आधारित था। रोम के महानतम् अंग्रेज इतिहासज्ञ ने अपनी कृति 'डिक्लाइन एण्ड फॉल' में यह लिखा है कि रोम के इतिहास में मात्र ५७ वर्षों की अवधि ही ऐसी थी जिसमें वहाँ के शासकों ने जनता के कल्याण को सर्वोपरि रखा। वे शासक थे मार्कुस औरेलियस व उसका पिता बाकी का समय, उसके अनुसार, मानवता के दुर्भाग्य, त्रुटियों और अपराधों के वृत्तान्त का इतिहास था। इसका स्मरण करना आवश्यक है क्योंकि एडम स्मिथ, जॉन स्टुअर्ट मिल, तथा हर्बर्ट जैसे महापुरुषो ने अपने जीवनकाल के दौरान यह सब कुछ प्राप्त करने के लिए प्रयास किए जो उनकी दृष्टि में जनता के कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण थे। हमारे द्वारा अस्वीकृत अहस्तक्षेप के सिद्धान्त (laissez faire theory) ने उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त की। लेकिन उन सफलताओं ने शीघ्र ही उस व्यवस्था में निहित बुराइयों पर भी ध्यान आकर्षित कर दिया, उन्हें उभार कर प्रस्तुत कर दिया। यदि ये सिद्धान्त विफल रहे तो इसका कारण यह नही था कि जन-सेवक उनके प्रति समर्पणभाव नही रखते थे, इसका वास्तविक कारण यह है कि ये सिद्धान्त सामाजिक व राजनैतिक जीवन के यथार्थ से मेल नही खाते थे। इस संदर्भ में लेखक को अपने मित्र श्री गर्ग के राजनैतिक दर्शन का स्मरण हो आता है लेकिन तथ्य यह है कि किसी भी साम्यवादी क्रान्तिकारी ने इस सिद्धान्त के महत्त्व को कम नही किया बल्कि ऐसा एक शांत व गम्भीर केम्ब्रिज विद्यार्थी द्वारा किया गया जिसका नाम था जे० एम० कीन्स। कीन्स ने पूँजी, धन व रोज़गार से सम्बन्धित अपने महान् कार्य में सैद्धान्तिक रूप से यह स्थापित किया कि अनैच्छिक बेरोज़गारी (involuntary unemployment) की मात्रा काफ़ी है और

उनके इस पुस्तकीय सिद्धान्त की कालांतर में उस समय पुष्टि हुई जब अमेरिका में वह महान् आर्थिक सकट उत्पन्न हुआ जो १६२६ से लेकर १६३३–३४ तक रहा।

माल्थुस द्वारा कही गई एक बात, जिसे सुविख्यात अर्थशास्त्रियों ने मूर्खतापूर्ण अथवा बेहूदी कह कर अस्वीकार कर दिया अततः सही सिद्ध हुई। उसने यह प्रश्न किया कि सामान्यत आधिक्य की स्थिति में यदि अर्थ-व्यवस्था निष्क्रिय रही तब क्या होगा ? एडम स्मिथ की स्वत. सामंजस्य युक्त व्यवस्था विफल हो गई, विविध अनुमानों के अनुसार बेरोज़-गारी ६० लाख से बढकर १ करोड़ ३० लाख अथवा १ करोड ८० लाख तक पहुँच गई। इस आर्थिक सकट ने जो एक सबक दिया वह यह कि एक बेरोज़गार व्यक्ति को उसकी इस प्रकार की स्थिति के लिए दोषी ठहराना उचित नहीं है या यह कथन भी अवाछनीय है कि जो मेहनत करे वह इनाम पाए और जो काम न कर सके वह भूखा मरे। ऐसा इसलिए क्योंकि कई लोग ऐसे थे जिनके पास अनेक कौशल विद्यमान थे, जो काम करने योग्य थे, काम करना चाहते थे लेकिन उनके लिए कोई काम उपलब्ध नही था। इस स्थिति ने लोगों को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि अंततः यह समाज का दायित्व है कि वह उनके (जनता) लिए काम उपलब्ध करे। यदि यह अमेरिका जैसे महान देश के लिए सही है तो यह उन विकासशील देशों के लिए भी सच है जो साधन व तकनीकी क्षमता की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। संक्षेप में, यह लोककल्याणकारी राज्य (welfare state) का उद्‌भव था अर्थात् राज्य यह देखे कि वह ऐसे अवसर उपलब्ध कराता है जिनके माध्यम से लोगों को काम उपलब्ध हो सके और यदि ऐसा न हो तो राज्य तदनुरूप कार्यवाही करे। कीन्स के इस सिद्धान्त ने राज्य को प्रेरित किया कि वह निष्क्रिय अर्थ-व्यवस्था को गति प्रदान करे और जब वह गतिशील हो जाए तो वह पुनः पार्श्व में चला जाए ताकि आवश्यकतानुसार वह पुनः हस्तक्षेप कर सके।

अब हमें अनिवार्यतः इतिहास को विकृत नही करना चाहिए। क्योंकि देश ने राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत जिन सामाजिक लक्ष्यों को निर्धारित किया है, हमारी उनके प्रति आस्था है। भारत के अत्यधिक बुद्धिमान एवं लोकभावनायुक्त सपूत सर बी. एन. राव, जो एक महान् सरकारी कर्मचारी, विशिष्ट संवैधानिक न्यायविद्, कलकत्ता उच्चन्यायालय के एक न्यायाधीश व अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के एक न्यायाधीश थे, उन्होंने भारतीय संविधान के निर्माण मे काफी श्रम व समय लगाया। इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने यह कहा कि संघर्ष की स्थिति मे मूल अधिकारों की अपेक्षा निदेशक सिद्धांतों को प्रमुखता दी जानी चाहिए अन्यथा अत्यधिक उपयोगी व्यवस्थापन का उद्देश्य समाप्त हो जाएगा। यह अवश्य स्पष्ट करना चाहिए कि संविधान के अन्य निर्माताओं ने उनकी इस कुशल सलाह को नही माना और उन्होने काफी सीमित दायरे में इसे स्वीकार करते हुए धारा ३१ (४) व (६) मे उल्लेख मात्र ही किया जो भूमि सुधारो से सम्बन्धित थी। इन कथित भूमि सुधारों को लाने के लिए कांग्रेस शत प्रतिशत प्रतिबद्ध थी। बाद में घटित होने वाली घटनाओं के प्रकाश मे इतिहास-लेखन का प्रयास अप्रासंगिक है लेकिन उनकी बुद्धिमत्ता की तब पुष्टि हुई जब संविधान का प्रथम सशोधन पारित हुआ और

अनुसूची IX में धाराएँ ३१ ए एव ३१ बी जोड़ी गईं। यह प्रथम प्रयास था। इसके उपरात प्रतिफलत: संविधान के चौथे सशोधन ने अपनी सीमा का विस्तार करते हुए न केवल कृषि सुधारों को ही उसमें समाहित किया बल्कि व्यवस्थापन के माध्यम से औद्योगिक सुधारों की भी व्यवस्था की। इसमें देशी कम्पनियों की तानाशाही को नियत्रित किया गया और खानो व खनिज साधनो को नियमित किया गया। अब यह स्पष्ट है कि चाहे मूल अधिकारों को न्यायालय के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत रखा गया है और निदेशक सिद्धांतो को नहीं, फिर भी देश के शासकों का यह आशय था कि इन सामाजिक लक्ष्यों के प्रति उदासीनता न दर्शाई जाय।

जैसाकि प्रथम संशोधन के अवसर पर उच्चतम न्यायालय का यह मत था कि ससद् को सविधान मे संशोधन का अधिकार है और वह उसके किसी भी भाग को संशोधित कर सकती है, जब तक ऐसा होता है तब तक यह प्रश्न काफी अंशों में महत्त्वहीन हो जाता है कि निदेशक सिद्धात प्रमुख है या वरीयता के क्रम मे द्वितीय क्योकि ससद् ने उपयुक्त संशोधनो के माध्यम से (जैसाकि प्रथम, चौथे व सत्तरहवें सशोधनों मे हुआ) सदा निदेशक सिद्धान्तो को प्रतिष्ठित किया है। अतः सविधान निर्माताओं ने उसे प्राथमिकता दी अथवा नही, इससे सम्बन्धित समस्त विवाद अनुपयोगी होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि स्वयं कांग्रेस दल इस संबंध मे विभाजित था। हम बड़े कठिन दौर से गुज़र रहे थे। हमने सफलतापूर्वक विभाजन के परिणाम झेले तथा लोग अपनी क्षमता से अधिक और विवाद साधने के लिए उत्सुक नहीं थे।

गोलकनाथ के मामले ने एक विकट समस्या उत्पन्न कर दी। लेखक के विद्वान मित्र श्री गर्ग ने प्रसन्नतापूर्वक इस सम्बन्ध मे उसकी आलोचना का उल्लेख किया है। यह आलोचना इस मामले पर दिये गए निर्णय के ढाई माह बाद की गई थी। यद्यपि मेरे लिए यह कहना अनुपयुक्त है, फिर भी उच्चतम न्यायालय के नौ न्यायाधीशों का निर्णय न केवल मेरी आलोचना की सत्यता ही प्रमाणित करता हैं बल्कि उसके समूचे आधार की भी पुष्टि करता है। वह आधार यह था कि यह विचार कल्पनातीत है कि संशोधन शक्ति एक अवशिष्ट धारा (residuary article) में निहित हो और इस प्रकार यह एक व्यवस्थापिका सम्बन्धी शक्ति हो सकती है। लेकिन यह निर्णय देने के बाद एक ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ जिसे किसी भी संसद् द्वारा नहीं टाला जा सकता था। स्वर्गीय श्री नाथपाई ने अपने गिरते स्वास्थ्य और हृदय रोग के बावजूद इस दिशा में समर्पित प्रयास किए और संसद् की सर्वोच्चता को पुनःर्स्थापित करने संबंधी विधेयक सदन में रखा। एक बैठक स्मरणीय है जहाँ स्वर्गीय श्री नाथपाई ने यह कहा कि जब उच्चतम न्यायालय ने सर्वप्रथम १९५१ में और उसके बाद १९६५ में यह कहा कि ससद् की सशोधन शक्ति असीमित है तब उस समय तो किसी ने यह नही कहा कि देश बर्बाद हो रहा है या हो जाएगा, अब जब संसद् यह तय करने के लिए संशोधन का विकल्प चुन रही है तो कैसा शोर मनाया जा रहा है? किसी के पास इसका वास्तविक उत्तर नही था। लेकिन सत्तारूढ़ दल मे व्याप्त मतभेदों और शांतिलाल मंगलदास के मामले में न्यायालय के

निर्णय (जिसमें अधिकार की तारीख से ८ वर्ष पूर्व निर्धारित मूल्यदर को उचित बताया गया था) के कारणवश इस विधेयक को स्थगित करना पड़ा। यह थोड़ा मनोरंजक प्रतीत होता है कि कोयला निगम, चीनी निगम आदि यकायक धार्मिक स्वतन्त्रता व वैधानिक स्वतन्त्रता के प्रति उत्साही हो गए। वस्तुतः इनके मूल में सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित प्रश्न निहित थे और यह कहना व्यर्थ होगा कि उनकी योजनाओं में सम्पत्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। एक न्यायाधीश द्वारा यह सुस्पष्टतः कहा गया कि मेरी समस्त पुस्तकें सम्पत्ति के केन्द्रीकरण का प्रतिनिधित्व करती हैं। वह यह विस्मृत कर गए कि पुस्तकें मेरे कार्य का वैसा ही औजार हैं जैसे कि किसान के औजार होते हैं जो न्यायालय के आदेश के बावजूद आसक्ति से मुक्त होते हैं। लेकिन बैंक राष्ट्रीयकरण के मामले ने और उसके बाद प्रिवीपर्स के मामले ने इस समस्या को बड़े विकट रूप से प्रस्तुत किया।

अब हमें उच्चतम न्यायालय के उस निर्णय के प्रकाश में, जिसमें उसने धारा ३१ सी के कार्यकारी (operative) भाग की पुष्टि की थी, यह देखना होगा कि राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों की क्या भूमिका है ? भारत जैसी स्वतंत्र व लोकतांत्रिक व्यवस्था में हर एक को यह अधिकार है कि वह निर्भीकता से किसी भी निश्चित सरकारी नीति की आलोचना कर सकता है या उसे गलत ठहरा सकता है। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि लब्धप्रतिष्ठित न्यायविद् भी अवसर प्रस्तुत दो प्रश्नों में अंतर नहीं कर सके हैं। वे प्रश्न ये हैं—क्या संसद को मूल अधिकारों में संशोधन की शक्ति है ? और, क्या यह संसद के लिए उचित है कि वह इस शक्ति का प्रयोग करे ? प्रथम प्रश्न का उत्तर अनिवार्यतः उसकी सामर्थ्य के संदर्भ में देना होगा। द्वितीय प्रश्न के उत्तरस्वरूप यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र जनता को अपना मत व्यक्त करने का अधिकार है। यद्यपि यह कहना एक फैशन-सा हो गया है कि कोई कभी सुनता ही नहीं, किन्तु यदि सत्तरहवें संशोधन के दौरान परिवर्तनों पर ध्यान दिया जाए अथवा भूमि अधिग्रहण कानून द्वारा लाये गए परिवर्तनों को देखा जाए (जिसमें निजी कम्पनियों के लिए किये गए अधिग्रहण को छोड़ना पड़ा) तो यह ज्ञात होता है कि संसदीय प्रक्रिया अभी भी सही रूप में गतिशील है, विवेक को अभी भी सुना जा सकता है और सुना जाता है यद्यपि उसकी उपेक्षा भी की जा सकती थी।

सुविख्यात लेखकों, जैसे प्रोफेसर त्रिपाठी ने उच्चतम न्यायालय को इस बात के लिए दोषी ठहराया है कि २५ वें संशोधन से पूर्व-उसकी यह मान्यता थी कि मूल अधिकारों व निदेशक सिद्धान्तों के बीच किसी संघर्ष की स्थिति में मूल अधिकार अनिवार्यतः सुरक्षित रहने चाहिए। प्रो० त्रिपाठी जैसे विख्यात व्यक्ति के मत का सम्मान तो होना चाहिए लेकिन इन पंक्तियों के लेखक की यह धारणा है कि यह आलोचना असंगत है। इसका एक सहज उदाहरण इस प्रकार है। केरल शिक्षा विधेयक के मामले में एक धारा के अनुसार यह व्यवस्था थी कि यद्यपि अल्पसंख्यक समुदायों को विद्यालय खोलने का अधिकार था, फिर भी उन्हें इस बात का निर्देश दिया जा सकता था कि वे निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा प्रदान करें। यह निर्देश राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों पर आधारित था जिसके अनुसार

निःशुल्क व अनिवार्य प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था है। इन दोनों स्थितियों में सद्भाव कायम करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वस्तुतः दोनों में प्रत्यक्ष संघर्ष था और वह संघर्ष यह था कि यदि बिना किसी धनार्जन के प्राथमिक शिक्षा प्रदान करनी पड़ी तो अल्पसंख्यक समुदायों को दिया गया बहुमूल्य अधिकार व्यर्थ हो जाएगा। मुख्य न्यायाधीश दास का यह कथन था कि प्राथमिक शिक्षा को नि शुल्क करने की कोई आवश्यकता नही है। उन्होंने कहा कि यदि राज्य ऐसा करना चाहे तो तत्सम्बन्धी आनुपातिक राशि उन अल्पसख्यक सस्थाओं को देकर भी शिक्षा को नि शुल्क बना सकता है। अत. निदेशक सिद्धान्तो को मूल अधिकारों का उपबन्ध (proviso) मानना सही नही है क्योंकि यद्यपि राज्य नीति के निदेशक सिद्धात अन्य देशों मे शासन की दृष्टि से आधारभूत थे, उन्हें यहाँ अवादयोग्य (non-justiciable) बनाया गया। फिर भी उन्हे मूल अधिकार का उपबन्ध मानना, जो कि वादयोग्य है, उन्हे वह भावना प्रदान करना होगा जो निदेशक सिद्धान्तों का मंतव्य नही था।

एक सशोधनकारी धारा का सम्पूर्ण उद्देश्य यह होता है कि संविधान निर्माताओ द्वारा यह प्राथमिकता निर्धारित की गई थी। ठीक है, हमें हमारे समाज के संचालन का अनुभव है। पुराने मूल्य बदल रहे हैं, हमारे विचार परिवर्तित हो रहे हैं, हम एक नए दर्शन को प्रभावी बनाना चाहते हैं। आप यदि चाहें तो अल्पसख्यको के अधिकार भी ले सकते हैं। अतः ससद् द्वारा अनुत्तरदायी रूप से व्यवहार करने के स्थान पर एक उपबन्ध जुड़ा हुआ मिलेगा जिसके अनुसार अल्पसंख्यक संस्थाओं को बिना किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति देते हुए, उनके सम्पत्ति-अधिग्रहण द्वारा उन्हे शैक्षणिक अथवा किसी अन्य प्रकार की गतिविधि से वंचित नही किया जाएगा। लेकिन इस प्रकार की शक्ति अवश्य निहित है, उसका प्रयोग नही हुआ है। शक्ति का होना एक अलग बात है और उसका प्रयोग बिल्कुल दूसरी।

यदि राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तो पर ध्यान दिया जाए तो यह ज्ञात होता है कि केवल दो धाराएँ ही हैं जिनमे कानून को इंगित किया गया है। इनमें से एक धारा ४३ है जो रहने योग्य मजदूरी दर व औद्योगिक श्रम की स्थितियों से सम्बन्धित है। दूसरी धारा का एक समान नागरिक कानून संहिता से सम्बन्ध है। शेष अन्य के लिए न तो "विधि" शब्द का प्रयोग हुआ है और न उसके निहितार्थ का ही आभास होता है। इसका कारण सहज स्पष्ट है। ये निदेशक सिद्धान्त विविध राज्यों की सरकारो को सम्बन्धित किये गए थे और उनसे इन्हे लागू करने का अनुरोध किया गया था। इनमे से अनेक तो कार्यपालिका के निर्णय द्वारा क्रियान्वित किये जा सकते थे और उनके सम्बन्ध मे व्यवस्थापन की कोई आवश्यकता नही थी।

अब यह बारम्बार कहा जाता है कि एक समान नागरिक कानून संहिता राष्ट्रीय एकता के लिए अनिवार्य है। मेरे विचार से समस्या को अतिसरलीकृत कर प्रस्तुत किया जाता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। मुस्लिम कानून के वसीयती उत्तराधिकार के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि एक मुसलमान अपनी सम्पत्ति के एक-तिहाई भाग से अधिक

किसी अजनबी को तब तक नही दे सकता जब तक कि उसके उत्तराधिकारी उसको तत्सम्बन्धी अनुमति न दे दे। हिन्दू, पारसी और ईसाई वसीयती उत्तराधिकार कानून के अन्तर्गत असीमित वसीयत का अधिकार है। एक व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अपनी प्रेमिका को सौंप सकता है और फलस्वरूप उसकी पत्नी व तीन-चार बच्चे वंचित रह सकते हैं। ऐसा अन्य देशों मे भी हो चुका है और वहां इसमे बचाव के कुछ उपाय किये गए हैं। मुसलमानों ने इस सम्बन्ध मे एक-तिहाई मे अधिक की छूट नही दी है। अब एक समान नागरिक कानून संहिता मे कौन सी व्यवस्था स्वीकार की जाए—मुसलमानों की, हिन्दुओं की, पारसियों की अथवा ईसाइयो की ?

इंग्लैंड में न्यायाधीशों को यह शक्ति दी गई है कि वे प्रत्येक मामलों के औचित्य पर विचार करते हुए यह स्थिर करें कि क्या कोई वसीयत और उसमें पत्नी व बच्चों के लिए निर्धारित सम्पत्ति पूर्णतः अस्वीकार कर दी जाए और यदि नही तो उसका कौन सा भाग अस्वीकृत किया जाए, कितने अंशों में ? न्यायालयों से परिचित कोई भी व्यक्ति और स्वयं अध्यक्ष महोदय इससे सहमत होंगे कि 'विवेकाधिकार एक व्यापक शब्द है और यह प्रत्येक न्यायाधीश व न्यायालय पर पृथक् रूप से निर्भर करता है। बम्बई में एक रिट याचिका प्रस्तुत करने में छः सप्ताह का विलम्ब घातक है जबकि इलाहाबाद में इस सम्बन्ध मे अनेक माह का विलम्ब भी घातक नही है। अतः आप क्या चाहेंगे—बिना किसी विवेकाधिकार के मुसलमानों की भांति पूर्वनिर्धारित एक-तिहाई भाग या पूर्ण विवेकाधिकार ? इस प्रकार विविध समुदायों के निजी कानूनों की सर्वश्रेष्ठताओ को घटाकर, उनके स्थान पर यांत्रिक एकरूपता कायम करके एकता नही अर्जित की जा सकती। व्यवस्थापिका सम्बन्धी निर्णय में जब एक कानून अवैध अथवा अनैतिक होता है तो उसकी उपेक्षा की जाती है। हिन्दूवाद में ऐसे कानूनों की उपेक्षा की गई है और ऐसे मुस्लिम कानून भी उपेक्षा योग्य हैं। लेकिन उत्तराधिकार अथवा विरासत सम्बन्धी अधिकार मूलतः जनता से सम्बन्धित होता है। किसी एक व्यवस्था में कोई निश्चित बात अच्छी होती है तो दूसरी में कोई दूसरी बात। क्या उन दोनों को छोड़ा जा सकता है ? क्योंकि यदि जनता को विविध धर्मों के प्रति सहिष्णु बनाना है तो क्या अल्पसंख्यक वर्ग के तौर-तरीकों को छोड़ा जा सकता है ? यह एक वास्तविक और जटिल समस्या है।

लेकिन मत परिवर्तनशील है। एक पारसी होने के नाते मैं एक उदाहरण दे सकता हूँ। १८६५ में हमने व्यवस्थापिका से यह अपील की कि बहुविवाह प्रथा समाप्त की जाए। एक सौ वर्ष के उपरान्त यह हिन्दुओं के लिए भी समाप्त हो गई। जब हमने कहा कि "कृपया इस पर रोक लगाइये," तो व्यवस्थापिका ने कहा, "ठीक है, यदि आप नही चाहते तो हम इसे समाप्त कर देंगे।" इस प्रकार बहुविवाह प्रथा पर रोक लगादी गई। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है।

एक स्वतन्त्र समाज द्वारा सामयिक राजनैतिक विवादों को इतनी छूट नही दी जानी चाहिए कि वे हमारी विचारशक्ति को कुंठित करने लगें। न ही हमे उस प्रत्येक रामबाण उपाय को स्वीकार ही कर लेना चाहिए जो कि सतही तौर पर आकर्षक प्रतीत होता है।

स्वतन्त्र समाज और उन्मुक्त चिंतन, जिस पर उच्चतम न्यायालय में रिट याचिका प्रस्तुत करने वालों ने सर्वाधिक बल डाला है, का सीधा अर्थ यह है कि चिंतन प्रचलित फैशन से से दूर हो और वह 'दक्षिण' अथवा 'वाम' के इर्द-गिर्द न घूमे।

निदेशक सिद्धान्तों पर पुनः चर्चा केन्द्रित करते हुए यह जानना आवश्यक है कि वे क्या कार्य हैं जो पच्चीसवें संशोधन से पूर्व व उसके बाद उन सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए आवश्यक है ? संशोधन से पूर्व सभी श्रम सम्बन्धी व्यवस्थापन को राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों का हवाला देकर उचित ठहराया जाता था। न्यूनतम मजदूरी दर, शॉप्स एण्ड एस्टेब्लिशमेंट कानून, काम के घन्टों का नियमन, बोनस का भुगतान व अनिवार्य बोनस सभी निदेशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत इस आधार पर न्यायोचित ठहराये जाते थे कि किसी भी उस विधेयक को अनुचित नही कहा जा सकता जिसे ये निदेशक सिद्धान्त सरकारी दायित्व घोषित कर दें और जिनके प्रति सरकार से यह अपेक्षा हो कि वह उन्हें प्रभावी बनाएं।

द्वितीय, औषधि उद्देश्यों के अतिरिक्त नशाबन्दी लागू करने के लिए राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तो का दो तरह से प्रयोग हुआ। प्रथम तो 'शराब' शब्द को व्यापकतम अर्थ देने के लिए इसका प्रयोग हुआ। कोई भी वस्तु जिसमे आधा प्रतिशत भी मद्य हो और जो साधारणतः निदेशक सिद्धान्तों की दृष्टि में शराब की श्रेणी मे नही आता, उसे शराब माना गया। समान रूप से, जब राज्य सरकार ने मद्यवान् औषधियों के निर्माण पर रोक लगादी तो इस कार्य को इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया गया क्योंकि स्वय निदेशक सिद्धान्तों मे यह व्यवस्था है कि औषधिक उद्देश्यों के अतिरिक्त मद्यनिषेध लागू करना है।

उच्चतम न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत सर्वाधिक विवादास्पद मामलों मे से एक गौ-सुरक्षा से सम्बन्धित था। यह मामला विवादास्पद इसलिए था क्योंकि गाय के प्रति श्रद्धा व आस्था ने इस विषय में प्रबल धार्मिक भावनाओं को स्थान दे दिया था, अन्यथा समस्त मामला मात्र कानूनी व राजनैतिक था। निदेशक सिद्धान्तो से सम्बन्धित एक धारा में पशु-पालन की व्यवस्था है और उसी संदर्भ मे गौ-वध निषेध व अन्य दूध देने वाले जानवरों के पालन-पोषण की व्यवस्था की गई है। मेरी दृष्टि में मुख्य न्यायाधीश दास ने इस प्रकरण की उपेक्षा कर बुद्धिमानी का परिचय दिया यद्यपि उन पर निदेशक सिद्धान्तों के प्रति नासमझी का आरोप लगाया जाता है। उन्होंने ऐसा इस विधि से किया जो यद्यपि कानूनी दृष्टि से तो पूर्णतः संतोषप्रद नही था लेकिन उसके अपने परिणाम अवश्य निकले। गाय के इर्द-गिर्द एक जादुई घेरा खींच दिया गया। अपनी निर्बलता के कारण गाय जो कम मात्रा मे दूध देती थी और जिस सहज इच्छा से लोग उसको मार डालने के लिए तत्पर थे, उस स्थिति मे उसे विशेष सुरक्षा की आवश्यकता थी। इसलिए चाहे गाय की उम्र कुछ भी क्यों न हो, वह कैसी भी यातनाएँ क्यों न झेले, यह तय किया गया कि उसके वध का निषेध किया जाय। लेकिन यह सीमा गाय तक ही खींची गई। अन्य जानवर तब तक तो नही मारे जा सकते थे जब तक वे दूध दे सकते थे तदुपरांत उनका वध किया जा सकता था। यह चौंकाने वाली बात है। हम प्रारम्भिक शिक्षा पर प्रति व्यक्ति ५ रु० व्यय करते

है जबकि अनुपयोगी मवेशियों के जीवन पर हम प्रति मवेशी १९ रु० खर्च करते हैं और इसके बावजूद ये मवेशी उपयोगी तो नही ही होते बल्कि विकलांग अथवा अन्य रोग ग्रस्त और हो जाते है। अतः उन्होंने कहा कि यह हास्यास्पद है कि व्यक्तियों की इस प्रकार उपेक्षा की जाए। उनका यह आग्रह था कि अल्प धन को जिस प्रकार फिलहाल खर्च किया जा रहा है, उसका वैसा व्यय रोका जाय। द्वितीय, उन्होंने यह कहा कि भारत में खाद्य और पौष्टिक आहार की समस्या काफी गम्भीर है। गरीब लोगों के लिए प्रोटीन की सर्वाधिक मात्रा सबसे सस्ती दर पर सुअर के मांस में उपलब्ध होती है और इसलिए एक ऐसे देश में जहाँ पौष्टिक आहार का इतना अभाव हो, सुअर के मांस के प्रयोग को सहजतापूर्वक छोड़ा नही जा सकता। तृतीय, उनका यह भी कहना था कि एक बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जो बेरोजगार हैं और एक निदेशक सिद्धान्त यह भी है कि ऐसी स्थितियाँ पैदा की जाएँ जिसमें लोग कमा-खा सके। अतः न्यायाधीश दास पर आरोप लगाने के बदले आवश्यकता इस बात की है कि निदेशक सिद्धान्तों में सद्भाव स्थापित किया जाय, जैसाकि स्वयं उनका भी प्रयास था। उन्होने निदेशक सिद्धान्तों को उलझाया नहीं। उनका यह आग्रह नही था कि गाय का वध किया जाए लेकिन यह साध्य निदेशक सिद्धान्तों की बिना किसी गलत व्याख्या के उपलब्ध किया गया।

एक निदेशक सिद्धान्त का दूसरे से संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। प्रश्न यह उठता है कि ऐसी स्थिति में क्या किया जाए ? यह प्रश्न सैद्धान्तिक नही है। यह एक न्यायालय के सम्मुख उपस्थित हुआ था। एक ग्राम-पंचायत की स्थापना की गई थी। और न्यायिक शक्ति एक कार्यकारी परिषद् को सौंप दी गई थी। धारा ४० के अन्तर्गत ग्राम-पंचायत की स्थापना वैध है। इसको चुनौती दी गई क्योंकि इसका धारा ५० से टकराव था। धारा ५० में यह व्यवस्था है कि न्यायपालिका व कार्यपालिका पृथक् होनी चाहिए। इस समस्या का कैसे समाधान किया जाता ? न्यायालय ने सही रूप से इस समस्या का समाधान इस आधार पर किया कि निदेशक सिद्धान्त प्रवर्तनीय (enforceable) नही हैं। यदि उद्देश्य के अनुसार ग्राम-पंचायत की स्थापना कर दी गई और यदि व्यवस्थापिका ने उसे कार्यपालिका व न्यायपालिका दोनों की शक्तियाँ प्रदान कर दीं तो न्यायालय इसमें से किसी को भी अवैध नहीं ठहरा सकता क्योंकि ऐसा करने का अर्थ निदेशक-सिद्धान्तों को क्रियान्वित करना होगा जबकि संविधान की धारा के अनुसार वे अप्रवर्तनीय हैं। अतः एक निदेशक सिद्धान्त का दूसरे से संघर्ष हो सकता है। ऐसी स्थिति मे राज्य यह निर्णय ले सकता है कि वह पहले को क्रियान्वित करेगा, दूसरे को या किसी को भी नही। लेकिन यदि वह राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तो को बिल्कुल क्रियान्वित नही करता तो जैसाकि डा० अम्बेडकर ने कहा था कि अगले चुनावों मे जनता चुनाव में खड़े उम्मीदवारों से यह प्रश्न करेगी कि "आपने संविधान में तो यह सब अच्छी बातें कही हैं लेकिन आपने उनके विषय में क्या किया ?" अतः यह अंकुश राजनैतिक व नैतिक था न कि कानूनी।

चारों अंतरों के माध्यम से उच्चतम न्यायालय के निर्णयों ने राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों व मूल अधिकारो के सम्बन्धो के स्वरूप के प्रश्न की उपेक्षा कर दी।

वजवेलु के मुकद्दमें में एक संवैधानिक बैंच के अध्यक्ष पद से निर्णय देते हुए न्यायमूर्ति श्री सुब्बाराव ने यह मत व्यक्त किया कि क्षतिपूर्ति की पर्याप्तता के विषय से सम्बन्धित विवाद मे नहीं पडा जाएगा। उन्होंने कहा कि चौथे संशोधन से पूर्व व उसके पश्चात् क्षतिपूर्ति का वही आशय है लेकिन उसकी तार्किक परिणति को प्रभावी बनाने का अर्थ संशोधन को रद्द करना होगा। अत. क्षतिपूर्ति की अपर्याप्तता से सम्बन्धित कानून को नहीं बल्कि धारा १४ पर आधारित कानून को अवैध घोषित कर दिया गया।

यद्यपि कानून रद्द कर दिया गया लेकिन लोग जो अपनी इच्छा के प्रति पूर्णतः आश्वस्त होते हैं, अन्ततः उसी पर अटल रहते हैं। अत, न्यायमूर्ति सुब्बाराव व शेलट ने वजवेलु के मुकद्दमें से सम्बन्धित निर्णय की अवहेलना करते हुए मेटल कॉरपोरेशन के मामले में यह मत व्यक्त किया कि किसी भी व्यय का पूर्ण मूल्य प्रदान किया जाना चाहिए। शांतिलाल मगलदास के मामले मे पूर्व निर्णयों का विशद विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए न्यायमूर्ति श्री शाह ने कहा कि ये निर्णय निदेशक सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के मार्ग में जटिल व्यवधान उपस्थित करते है। पूर्ण क्षतिपूर्ति के प्रति उनके अटल आग्रह का अर्थ यह है कि ये क्षतिपूर्ति की अदायगी के लिए मात्र कानून अथवा सिद्धान्तो का निर्धारण ही करना चाहते हैं। कानून के अन्तर्गत यह नही कहा जा सकता कि अमुक व्यक्ति के लाल बाल हैं इसलिए उसे उसके मूल्य का तीन गुना ही मिलेगा। वस्तुत. उचितकानून तैयार करना होता है जबकि इस संदर्भ मे क्षतिपूर्ति निर्धारित करने का कोई निश्चित कानून ही नही है। इस प्रकार इस विवाद पर विराम लगा दिया गया।

बैंक राष्ट्रीयकरण के मामले ने इस विवाद को पुनः प्रस्तुत कर दिया। अपने अतिरिक्त न्यायिक निर्णय मे न्यायमूर्ति श्री हेगडे ने यह कहा कि उच्चतम न्यायालय के वे निर्णय गलत है जिसमे यह आग्रह है कि मूल अधिकार निदेशक सिद्धान्तों की अवहेलना करते है। बिना तथ्यों का उल्लेख किए, अपने निर्णय मे श्री हेगडे ने यह कहा कि मूल अधिकार व निदेशक सिद्धान्त साथ-साथ चलते है। यदि उक्त निर्णय पर ध्यान दिया जाए तो इस तथ्य के अतिरिक्त कि निदेशक सिद्धान्तों पर क्या बीती, यह ज्ञात होता है कि इस मामले में एकमात्र तर्क यह प्रस्तुत किया गया कि धारा १४ के अन्तर्गत कानून बुरा था क्योकि उसमें दो प्रक्रियाएँ निहित थी जिनमे एक कठोरतर थी, कानून ने निरकुश शक्ति प्रदान की थी और यदि धारा १४ के अन्तर्गत कोई निरकुश शक्ति है तो धारा १६ (जी) के अन्तर्गत स्वतः होगी। अतः निदेशक सिद्धान्तों से सम्बन्धित प्रश्न ही कभी नही उठा। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय द्वारा यह निर्णय दिया गया है कि निदेशक सिद्धान्त व मूल अधिकार साथ-साथ चलते है और अपनी व्याख्या में भी उनका यह आग्रह है कि मैं आशा करता हूँ कि यह एक निर्णीत कानून है। कुल मिलाकर यह स्थिति है। यह एक निर्णीत कानून नही है क्योकि उच्चतम न्यायालय के किसी भी निर्णय में यह नहीं कहा गया और न कहा जा सकता है कि यदि धारा ३१ (२) के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति का अर्थ पूर्ण बाजार दर से है तो धारा ३१ (२) की इस व्याख्या और राज्य नीति के इस निदेशक सिद्धान्त में कोई सीधा संघर्ष नही है कि आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण व धन

के संचय को रोका जाए। 'सामान्य क्षति के लिए' शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है। ये शब्द महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि कोई एक अथवा अन्य पक्ष उन्हें विस्तृत करने की इच्छा रखता है।

यदि इग्लैंड के रिस्ट्रिक्टिव एण्ड मोनोपोली एक्ट्स पर दृष्टिपात किया जाए तो ज्ञात होता है कि बिना पूर्व अनुमति के वहाँ एक समाचारपत्र का दूसरे से विलय नहीं हो सकता। ऐसा राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है। महानतम् अंग्रेजी समाचार पत्र 'दि लंदन टाइम्स' काफी कठिनाई में था और एक ऑस्ट्रेलियाई धनिक जो इंग्लैंड में अन्य समाचार पत्र चला रहा था, उसे अपने केन्द्र में लेने को तैयार था। इसे राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अनुमति देनी चाहिए थी अथवा नहीं ? एक मजदूर दल की सरकार ने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उसे अनुमति दे दी। अतः कोई सुनिश्चित समाधान उपलब्ध नहीं है। प्रतिबन्धक शब्द सामान्य क्षति के लिए हैं। एक सार्वजनिक प्रतिष्ठान काफी अच्छा हो सकता है लेकिन उसकी कसौटी यह है कि क्या वह जनकल्याण को प्रोत्साहित करता है या जनहित का विरोधी होने के कारण सामान्य क्षति का परिचायक है ? यह एक राजनैतिक निर्णय का विषय है। यह एक ऐसा प्रश्न है जो न्यायिक कार्यवाही की परिधि से पूर्णतः बाहर है, अपवाद स्वरूप उस सीमित क्षेत्र को छोड़कर जहाँ न्यायपालिका से उचित प्रतिबन्धों पर विचार करने का आग्रह किया जाता है। लेकिन हम यहां संशोधन शक्ति पर चर्चा कर रहे हैं जो निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों की तुलना में प्राथमिकता प्रदान कर सकती है।

व्यवस्थापिका सम्बन्धी शक्ति के प्रति व्याप्त इस अविश्वास का एक कारण यह लोकोक्ति है कि "शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति पूर्णतः भ्रष्ट करती है।" वस्तुतः तीन प्रकार की शक्तियाँ होती है। यदि यह लोकोक्ति सार्वभौमिक रूप से सही है तो इसे न्यायिक शक्ति के साथ-साथ कार्यपालिका शक्ति पर भी लागू होना होगा। लेकिन यह सही नहीं है कि समस्त शक्ति भ्रष्ट करती है और समस्त पूर्ण शक्ति पूर्णतः भ्रष्ट करती है। शक्ति केवल उन्हें ही भ्रष्ट करती है जो भ्रष्टवान् होते हैं, उन्हें नहीं जो ऐसा नही होते। यदि अंग्रेजों में सर्वाधिक विशिष्ट मुनरो बन्धुओं का इतिहास पढ़ा जाए तो यह ज्ञात होता है कि उन्होंने अपना समस्त अवकाश यह कह कर रद्द कर दिया कि "हम इंग्लैंड नही जा सकते क्योंकि कार्य की स्थितियाँ यहाँ इतनी आवश्यक हैं कि इंग्लैंड जाने के लिए अवकाश लेना मूर्खतापूर्ण होगा।" उनकी भारत में ही मृत्यु हुई और उनकी अन्तिम यात्रा में अनेक भारतवासियों ने भाग लिया। लगभग एक शताब्दी तक कुछ लोगों के लिए मुनरो का कथन उतना ही पर्याप्त था जितना कि कुछ लोगों के लिए महात्मा-गाँधी का। अतः यह कहना कि हमारे पास की सम्पूर्ण शक्ति हमें भ्रष्ट ही करती है, सही नही है।

हमने लोकतान्त्रिक समाज का लक्ष्य निर्धारित किया है। हमारा देश एक लोकतान्त्रिक देश है। लोकतंत्र की अनेक दुर्बलताएँ हैं। ऐसा संभव है कि वे लोग जो शाश्वत-चक्र में विश्वास करते हों, अरस्तु के इस कथन से सहमत हों कि कुलीनतंत्र से प्रारम्भ किया जा

सकता है, तदुपरांत श्रेणीतंत्री, फिर लोकतंत्र, भीडतत्र व तानाशाही तक की यात्रा करते हुए पुनः इसी चक्र में घूमा जा सकता है। या यह कहा जा सकता है कि समाज की आधुनिक स्थितियों सम्प्रेषण-माध्यमों, अपार जन-सहयोग एवं जनता को शिक्षित करने व उन्हें लोक महत्त्व के विषयो पर सोचने की प्रेरणा देने आदि घटको ने मिलकर एक ऐसा घटक तैयार किया है जो प्राचीन यूनान में अनुपस्थित था। यदि लोकतंत्र का स्विट्जरलैण्ड जैसे छोटे देश में २००–३०० वर्षों तक निर्वाह संभव है, यदि सयुक्त राज्य अमेरिका में वह १६७६ में २०० वर्ष पूरे कर सकता है और यदि वह २५०–३०० वर्षों तक इंग्लैण्ड मे टिक सकता है तो वह यहां भी अपनी दुर्बलताओ पर नियन्त्रण पा सकता है। किसी भी व्यवस्था का खाका खीचना आसान है लेकिन व्यापक वयस्क मताधिकार के साथ प्रत्येक निर्वाचक को घूस देना, एक आसान प्रक्रिया नही है।

स्वयं आन्ध्र प्रदेश मे न्यायमूर्ति श्री सुब्बाराव के विरुद्ध डा० जाकिरहुसैन का बहुमत से चुनाव यह सिद्ध करता है कि इस देश मे जनता के सम्मुख तथ्य प्रस्तुत करने पर वह अपने निर्णय के समय इस बात से प्रभावित नही होती कि अमुक व्यक्ति हिन्दू है अथवा मुसलमान।

इतिहास मे जाने की आवश्यकता नही है किन्तु फिर भी इस बात के प्रमाण है कि १८५७ की असफल क्रान्ति व विभाजन के समय दोनों समुदायो के लोगो ने अपनी जान पर खेल कर दूसरे समुदाय के लोगों की जीवन रक्षा के प्रयास किए। विदेश सचिव को भेजे गए एक सदेश मे लार्ड कैनिंग ने कहा कि यह सिद्धान्त कि प्रत्येक भारतीय की हत्या की जानी चाहिए, वास्तविकता का सामना नही कर पाता। आराम कुर्सी पर बैठे लोगो के लिए यह कहना मुश्किल नहीं है कि एक भारतीय के विरुद्ध कोई भी कठोरता अनुचित नहीं है। लेकिन यह तथ्य है कि वे मानव जीवन रक्षा मे रत है। अतः लोकतंत्र मे मूल आवश्यकता के रूप मे, मानव प्रकृति व मानव विवेक के प्रति आस्था रखकर ही आगे बढा जा सकता है। मानव प्रकृति में इसलिए क्योंकि अनेक दुर्बलताओं, घमण्ड, ईर्ष्या, आदि के बावजूद व्यक्तियों मे कुछ अच्छे गुण भी होते है और मानव विवेक मे इसलिए क्योकि अंततः वही उन्हें पशुओ से पृथक् करता है। जब विवेक से अपील की जाती है तो यद्यपि अनेक बार ऐसा नही हो पाता, फिर भी अधिकांशतः ऐसा अवश्य होता है कि घर जाने के पश्चात् जब हम किसी के कथनो का स्मरण करते है तो यह ज्ञात होने पर कि इस व्यक्ति की बात कभी-कभी सत्य सिद्ध हुई है, अगली बार जब हम उससे मिलते हैं तो यह अवश्य सोचते हैं कि वह सदा गलत नही होता, हमें उसकी बात सुननी ही चाहिए। किसी भी स्थिति में हर घटना के अपने परिणाम होते हैं और उसका अपना फल मिलता है। इसी आधार पर लोकतंत्र कार्य करता है।

अतः जब हम अपने संविधान की महान् प्रस्तावना की चर्चा करते हैं तो हम सामाजिक न्याय, वाक्-स्वातंत्र्य, धार्मिक स्वतन्त्रता आदि की भी चर्चा करते हैं। वे सभी महत्त्व के हैं, लेकिन उन सभी का एक लोकतांत्रिक गणतंत्र में वास्तविक उपभोग अभिप्रेत है।

सही या गलत, हमने अपना यह लक्ष्य निर्धारित कर लिया है और निदेशक सिद्धान्तों का अभिप्राय इस देश के जन-साधारण के लिए जीवन की ऐसी स्थितियाँ उपलब्ध कराना है जिससे कि गणतंत्र व लोकतान्त्रिक समाज में उनकी आस्था बनी रहे तथा वे निराश न हों और इस व्यवस्था को समाप्त करने की इच्छा से मुक्त रह सकें। राष्ट्रीयकरण सही है या गलत अथवा निजी उद्योग उचित है या अनुचित ये सभी राजनैतिक निर्णय हैं। यह तथ्य कि हमने किसी निश्चित प्रतिष्ठान का राष्ट्रीयकरण कर लिया है, इस ओर संकेत नहीं करता कि भविष्य मे उसके कुप्रभावों से अवगत होने के बावजूद हम उसको राष्ट्रीयकरण से मुक्त नही कर सकते। यह राजनैतिक निर्णय का विषय है। संशोधन शक्ति उसे अर्जित करने का साधन है, और वे नीतियाँ जिन्हें अपनाने के लिए सही या गलत रूप से जन-साधारण द्वारा माग की जाती है और जिन्हे फैशनपरस्ती स्वरूप नही अपितु उचित रूप से जनता द्वारा च ा जाता है, उन्हें अनिवार्यतः स्वीकृति मिलनी ही चाहिए। यह संभव है कि हमें यह स्थिति रुचिकर न प्रतीत हो, लेकिन यह अपरिहार्य है।

अंत में एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। १६०६ में अपने इतिहास में सर्वप्रथम, लॉर्ड सभा ने लॉयड जॉर्ज का बजट अस्वीकार कर दिया। यह एक ऐसा कार्य था जो इससे पूर्व कभी नही किया गया था। प्रधानमंत्री एस्क्विथ ने आम चुनाव करवाए जिसमें उदारवादियों को व्यापक बहुमत प्राप्त हुआ। इन लोगो ने १६११ मे एक ससदीय कानून पारित किया जिसमें लॉर्ड सभा की शक्तियों को सीमित करने की व्यवस्था थी और इसके निषेधाधिकार को घटाकर दो वर्ष के लिए निलम्बक (suspensory) निषेधाधिकार में परिणत कर दिया गया था। अनुदारवादी नेताओं ने इसका विरोध किया। उनका यह कहना था कि एस्क्विथ को संसदीय कानून के निश्चित प्रश्न पर चुनाव लड़ना चाहिए। एस्क्विथ ने सम्राट से कहा, "ठीक है, मैं पुन. चुनाव लड़ने को तैयार हूँ लेकिन मेरे दुबारा विजयी होने की स्थिति में मुझे यह आश्वासन अवश्य मिलना चाहिए कि पर्याप्त रूप से पियर्स का निर्माण किया जा सकेगा ताकि लॉर्ड सभा के निषेधाधिकार को निष्प्रभावी बनाया जा सके।" इसे भले ही लार्ड सभा को निरस्त्र करना कहा जाए लेकिन उसके निषेधाधिकार से बचाव का यही एकमात्र उपाय था। इसकी धमकी ने १८३२ के महान् सुधार-कानूनों के प्रति लॉर्ड सभा द्वारा अपनाये गए निषेधाधिकार को समाप्त कर दिया। एस्क्विथ ने चुनाव लडा। लॉर्ड सभा में लार्ड हेल्सबरी सरीखे न्यायविद् भी थे जिन्हें हठधर्मी बताया गया और जो अन्तिम स्थिति तक संघर्ष के पक्षधर थे। लार्ड मोर्ले ने यह वक्तव्य पढा कि सम्राट लॉर्ड सभा के निषेधाधिकार को समाप्त करने के लिए अतिरिक्त पियर्स की नियुक्ति के लिए तैयार होगे और लार्ड सभा ने ससदीय कानून के प्रति आत्म-समर्पण कर दिया। अतः लोकतंत्र मे यह सम्भव है कि जनता की क्षणिक सनक को नियन्त्रित कर लिया जाए लेकिन उनके निर्धारित विश्वासों को नियन्त्रित नही किया जा सकता क्योंकि उस स्थिति में हम जनता की निर्वाचित ससद् वाली सरकार के स्थान पर न्यायाधीशों की सरकार की स्थापना के पक्षधर ही होंगे।

एक अन्य बात भी उल्लेखनीय है। हमारे संविधान के अन्तर्गत भी जनता की क्षणिक

सनक के लिए कोई स्थान नहीं है। राज्य सभा का अस्तित्त्व उस पर नियंत्रण रखता है क्योंकि उसमें हर दूसरे वर्ष नए प्रतिनिधि आते हैं। अतः लोकसभा के भीमाकार बहुमत का राज्य सभा पर पूर्ण प्रभाव अगले दो या चार वर्षों तक नहीं पडेगा। जैसाकि विदित है चार वर्ष राष्ट्रीय जीवन में व्यापक परिवर्तन ला सकते हैं। राज्य नीति के निदेशक सिद्धांतों के संदर्भ में यह अभिव्यक्ति यथेष्ट है।

Further Readings

1. *Appadorai, A.* : **Essays in Indian Politics and Foreign Policy, Delhi, Vikas, 1971 ch. VI, pp. 81–86.**
2. *Hegde, K. S.* : **The Directive Principles of State Policy in the Constitution of India, Delhi, National, 1972, pp 1–89.**
3. *Santhanam, K* : **Fundamental Rights And The Indian Constitution, Ahmedabad, Harold Laski Institute of Political Science, 1969, pp 1–62**
4. *Seervai, H.M.* : **The Fundamental Rights case At The Cross Roads Bombay, Bombay Law Reporter, Vol. LXXV, Journal pp. 47–88.**

भाग ५

सरकारी संस्थाएँ

१३

भारत का राष्ट्रपति

विधिशास्त्रियों के अनुसार भारतीय राष्ट्रपति सर्वशक्तिवान है जबकि राजनीति-शास्त्रियों का यह तर्क है कि वह मात्र एक सवैधानिक अध्यक्ष है जो शक्ति का नही बल्कि प्रभाव का प्रयोग करता है। यद्यपि भारत में ससदीय शासन से संबधित सिद्धान्त व व्यवहार ने अब तक राजनीति शास्त्री के मत की पुष्टि की है, फिर भी नाममात्र के अध्यक्ष के वास्तविक कार्यपालिका बन जाने की सम्भावनाओं के पक्ष मे अभी भी तर्क दिया जाता है, कभी एक स्वतन्त्र राष्ट्रपति का विकल्प प्रस्तुत कर, जैसाकि के० एम० मुंशी ने किया और कभी साझा मंत्रिमडल की स्थिति में उसकी सम्बन्धित भूमिका की सम्भावनाओं के नाम पर, जिसने १९६९ के राष्ट्रपति चुनाव को इतना अधिक विवादास्पद बना दिया था। अतः भारतीय राष्ट्रपतित्व के अंतिम स्वरूप के विषय में हम अभी भी अनिश्चित अवस्था में हैं। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि राष्ट्रपति का पद संसदीय शासन के लक्ष्य से केवल तभी तक संगत होगा जब तक वह एक सवैधानिक अध्यक्ष बना रहता है।

के० आर० बॅम्बवाल व एच० एम० जैन, जो कि व्यवसाय से राजनीति शास्त्री हैं- दोनों ने राष्ट्रपति के पद से सम्बन्धित विविध विवादों पर चर्चा की है, अब तक के घटनाक्रम के अनुरूप राष्ट्रपति की स्थिति को प्रकट किया है और भविष्य सम्बन्धी सम्भावनाओ पर प्रकाश डाला है। यह इन दोनों के क्रमशः निम्न-लिखित लेखों से भली भांति स्पष्ट हो जाएगा :

(१) दि प्रसिडेन्ट ऑफ इंडिया : लिमिट्स ऑफ डिस्क्रिशन (इंडियन जरनल ऑफ पोलिटिकल साइंस, खण्ड XXVII, नं० ३ व ४, जुलाई, दिसम्बर अंक, १९६६, पृ० २३–३६.

(२) एक्चुअल पोजीशन ऑफ दि प्रेसिडेन्ट (दि यूनियन एक्जेक्यूटिव, इलाहबाद, चैतन्य पब्लिशिंग हाउस, १९६९) सम्पादक

भारतीय राष्ट्रपति : विवेक की सीमाएँ

के० आर० बॉम्बवाल

भारत के संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति की अपेक्षित भूमिका के सम्बन्ध में पर्याप्त शैक्षणिक चर्चा हुई है। कुछ निश्चित सवैधानिक व्यवस्थाओं के प्रति एक पराशाब्दिक (ultra-literal) दृष्टि अपनाते हुए कुछ विद्वानों व न्यायशास्त्रियों का यह मत है कि राष्ट्रपति, यदि वह चाहे तो, स्वय मे औपचारिक रूप से निहित शक्तियों का बिना मंत्रिमंडल की सलाह के अथवा उसकी अवहेलना कर प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार धारा ७४(१) का उल्लेख करते हुए, जिसमें यह व्यवस्था है कि "राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन के सम्बन्ध में सहायता व परामर्श देने के लिए एक मंत्रिमंडल होगा जिसका सर्वोच्च पद प्रधानमंत्री का होगा," डी० एन० बनर्जी का यह मत है : "आवश्यक प्रश्न यह है कि क्या राष्ट्रपति हर स्थिति मे अपनी परिषद् की सलाह मानने के लिए कानूनी रूप से बाध्य है। मेरा यह अनुरोध है कि वह इसके लिए बाध्य नही है।"[१] ग्लेडहिल के अनुसार, "यह तर्क दिया जा सकता है कि सविधान में राष्ट्रपति के तानाशाह बनने से बचाव के लिए पर्याप्त व्यवस्थाएँ नही है।"[२] उनकी दृष्टि मे "बिना संविधान का उल्लंघन किये हुए राष्ट्रपति अधिनायकवादी सरकार की स्थापना कर सकता है।"[३]

राष्ट्रपति की स्थिति से संबधित विवाद को स्वयं भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने फिर से उठाया था। भारतीय विधि संस्थान मे एक भाषण के दौरान उन्होंने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि "संविधान मे कोई ऐसी सुनिश्चित व्यवस्था नहीं है जिसके अनुसार राष्ट्रपति अपनी मंत्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य हो।"[४] ग्रेट ब्रिटेन और भारत के संविधानों मे व्याप्त अंतरो को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि क्या भारतीय राष्ट्रपति की ब्रिटेन के सम्राट से समानता की कल्पना करना उचित है? उन्होने इस आवश्यकता पर बल दिया कि "वैज्ञानिक पद्धति से इस सदर्भ में अध्ययन और परीक्षण होना चाहिए ताकि राष्ट्रपति के कार्यों और शक्तियों की सीमाओं का आभास हो सके।"[५] कुछ दिनों बाद, प्रधानमंत्री, श्री नेहरू ने एक संवाददाता सम्मेलन में यह घोषणा कि डॉ० प्रसाद के ये विचार 'आकस्मिक' हैं। चाहें कुछ भी हो, भारत के प्रथम राष्ट्रपति की हैसियत से दिये गए डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के उक्त विचारों ने तत्कालीन विधि मंत्री श्री ए० के० सेन के शब्दों में 'संविधान के क्रियान्वयन के बाद से सर्वाधिक प्रमुख राजनैतिक विवाद का रूप ले लिया।"[६]

---

१ डी. एन. बनर्जी, "पोजिशन ऑफ दि प्रेसिडेंट ऑफ इंडिया", दि मॉडर्न रिव्यू (कलकत्ता), दिसम्बर, १९५०, पृ. ४५८

२ एलेन ग्लेडहिल, दि रिपब्लिक ऑफ इंडिया, लन्दन. १९५१

३ वही।

४ दि हिन्दुस्तान टाइम्स, ३० नवम्बर १९६०, पृ०।

५ वही

६ दि हिन्दुस्तान टाइम्स, २६ मार्च १९६१, पृ ६

श्री नेहरू ने इस आग्रह के बावजूद, कि "संवैधानिक एवं राजनैतिक दृष्टि से भारतीय राष्ट्रपति ब्रिटेन के सम्राट के समरूप है, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा उठाए गए इस प्रश्न के प्रत्युत्तर स्वरूप परस्पर विरोधी मत उत्पन्न हुए हैं। इस तथ्य की पुष्टि दिल्ली के एक साप्ताहिक मे प्रकाशित परिचर्चा से होती है। इस परिचर्चा में अनेक विख्यात विद्वानों, राजनीतिज्ञों तथा न्यायशास्त्रियों ने भाग लिया था। इसमें अभिव्यक्त विचारों का परिवेश अत्यधिक व्यापक था और जहाँ एक ओर भारतीय राष्ट्रपति को ब्रिटेन के सम्राट से पूर्णतः समान माना गया था वहीं दूसरी ओर उसकी तुलना क्षमतावान् दि गौल (De Gaulle) से की गयी थी।

तीन वर्ष पूर्व एक समाचार-पत्र में प्रकाशित लेख में प्रमुख राजनीतिज्ञ तथा संविधान सभा के सदस्य श्री के० एम० मुन्शी ने भारतीय राष्ट्रपति की उससे अधिक निश्चित और सकारात्मक भूमिका के सम्बन्ध में विचार किया जितनी कि कोई किसी राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष से अपेक्षा करता। उनका यह मत था कि राष्ट्रपति की कुछ शक्तियाँ अधिमंत्री-मण्डलीय (super-ministerial) हैं और उनके सम्बन्ध में मंत्रिपरिषद् कोई परामर्श नहीं दे सकती।[७] राष्ट्रपति की अपेक्षित भूमिका पर टिप्पणी करते हुए उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री व राजस्थान के (भूतपूर्व) राज्यपाल डॉ० सम्पूर्णानन्द ने कहा कि "लोकतंत्र को बचाने का एकमात्र विकल्प यह है कि राष्ट्रपति को ऐसी शक्तियाँ दी जाएँ जिनके अधीन वह अपने मत से उस समय प्रशासन में हस्तक्षेप कर सके जब वह यह पाए कि परिस्थितियां ऐसा करने के अनुकूल हैं।"[८]

इस अन्तिम विवाद को दृष्टि में रखते हुए यह उपयुक्त होगा कि संविधान निर्माताओं द्वारा राष्ट्रपति को प्रदान की गई भूमिका का अवलोकन किया जाए। संविधान सभा में हुए विचार-विमर्श ने तीन मुद्दों को बिलकुल स्पष्ट कर दिया। प्रथम तो यह कि संविधान निर्माताओं का सुस्पष्ट अभिप्राय संसदीय सरकार को स्वीकार करना था। कुछ सदस्यों ने राष्ट्रपतीय शासन व्यवस्था (presidential system) का इस आधार पर समर्थन किया कि यह व्यवस्था अपनी शक्ति व स्थिरता के कारण भारत के संदर्भ में अधिक उपयुक्त है।[९] इस मत का प्रारूप समिति के प्रवक्ताओं द्वारा कड़ा विरोध किया गया और यह अभिमत प्रकट किया गया कि 'विषय पर उत्सुकतापूर्वक विचार करने के उपरांत संविधान सभा ने यह शक्ति' मंत्रिमण्डल में निहित की थी न कि राष्ट्रपति में।[१०] अल्लादि कृष्ण-

---

७ के. एम मुंशी, "पॉवर्स एण्ड फंक्शन्स ऑफ दि प्रेसिडेंट," दि हिन्दुस्तान टाइम्स (गणतंत्र दिवस परिशिष्ट) २६ जनवरी, १९५९ पृ. IV

८ सम्पूर्णानन्द: "मैमोरीज् एण्ड रिफलेक्शन," बम्बई, १९६२, पृ. १२७-२८

९ स्वर्गीय प्रोफेसर के. टी शाह राष्ट्रपतीय शासन व्यवस्था के अत्यधिक मुखर समर्थक थे। देखें सी. ए डी, VII, पृ. ९७१ ८०

१० सी. ए. डी. IV p. १३४ (जवाहर लाल नेहरू)

स्वामी अय्यर के शब्दों में : "ग्रेट ब्रिटेन, डोमिनियन तथा कुछ महाद्वीपीय देशों की संसदीय सरकार और अमेरिका की अध्यक्षीय सरकार के सभी पक्षों व प्रसंगों पर विचार करने के उपरांत, भारतीय संविधान ने संसदीय सरकार की संस्थाओं को अंगीकृत किया है।"[११]

द्वितीय, संसदीय शासन व्यवस्था को अंगीकृत करने के स्वाभाविक परिणाम के रूप में सविधान निर्माताओ ने यह स्वीकार किया कि भारत का राष्ट्रपति ब्रिटेन के सम्राट की ही भांति एक संवैधानिक अध्यक्ष होगा और वह इस शासन की मान्यता प्राप्त अभिसमयों conventions) के प्रति बाध्य होगा जैसे मंत्रियों के परामर्श के अनुसार उसे कार्य करना होगा। डॉ० अम्बेडकर ने यह घोषणा की कि "राष्ट्रपति का वही स्थान है जो ब्रिटेन के संविधान के अन्तर्गत ब्रिटिश सम्राट का है....वह उनके (प्रधानमंत्री के) परामर्श के विपरीत कुछ नही कर सकता।"[१२] राष्ट्रपति की 'प्रतीकात्मक' स्थिति की ओर बारम्बार ध्यान आकृष्ट किया गया। डॉ० अम्बेडकर के अनुसार "वह राज्य का अध्यक्ष है, सरकार का नही।"[१३] एक अवस्था मे तो यह दृढतापूर्वक कहा गया कि "राष्ट्रपति का अर्थ संसद् के प्रति उत्तरदायी केन्द्रीय मंत्रिमण्डल से है।"[१४] राष्ट्रपति के संवैधानिक अध्यक्ष होने के तथ्य को ध्यान मे रखते हुए ही उसके कुछ निश्चित परिस्थितियों में विवेकानुसार काम करने से सम्बन्धित एक प्रस्ताव को संविधान के प्रारूप से निकाल दिया गया था। सविधान निर्माताओं के अभिप्राय से सम्बन्धित इन निश्चित प्रमाणो को ध्यान में रखने पर यह आश्चर्य होता है कि इस स्थिति को संविधान में सुस्पष्ट शब्दों मे क्यों नही व्यक्त किया गया ताकि इससे सम्बंधित विवाद को उठने से रोका जा सकता।[१५] स्वयं संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने संदेह व्यक्त किया कि स्पष्ट संवैधानिक व्यवस्था के अभाव में क्या राष्ट्रपति सभी स्थितियों में मंत्रिमण्डलीय परामर्श के अनुसार काम करने के लिए बाध्य होगा ?[१५] उन्होंने तो यह भी प्रश्न किया कि संविधान में सुस्पष्टतः यह व्यक्त करने मे क्या कोई आपत्ति थी कि राष्ट्रपति मंत्रियों की सलाह के प्रति बाध्य होगा। प्रारूप समिति के सदस्यों का यह मत था कि निर्धारित संवैधानिक व्यवस्थाओं

---

११ सी० ए० डी० VII पृ० ८६६. टी. टी. कृष्णमाचारी ने समान रूप से असदिग्ध शब्दो मे कहा "जहा तक राष्ट्रपति व केबिनेट के बीच सबंधों का प्रश्न है, हमने पूर्णत. उत्तरदायी सरकार की उस व्यवस्था को अपनाया है जो कि ब्रिटेन मे कार्यशील है, वही X पृ० ६५६

१२ वही, पृ. ३२

१३ वही

१४ वही पृ १२४

१५ उदाहरणस्वरूप जैसा कि आयरिश सविधान की धारा १३ (९) मे व्यवस्था है। जापान का नया सविधान भी समान रूप से यह व्यवस्था करता है कि "राज्य से संबंधित सभी प्रश्नों के लिए सम्राट को अनिवार्यत मन्त्रिमण्डल का परामर्श लेना होगा।" इसके विपरीत भारतीय संविधान सभा ने जानबूझकर स्थिति अनिर्णित छोड दी। इसने राष्ट्रपति के लिए निर्मित निर्देशों की एक सूची को भी स्थान नही दिया जिसके पैरा ३ मे यह व्यवस्था थी कि केन्द्र [illegible] शासन से संबंधित सभी विषयों के लिए राष्ट्रपति मंत्रियो के परामर्श से निर्देशित होगा।"

से यह स्थिति पर्याप्त रूप से स्पष्ट है और ग्रेट ब्रिटेन मे संसदीय सरकार के क्रियान्वयन से निर्मित अभिसमयो द्वारा यह स्थिति और अधिक स्पष्ट हो जाती है। यह अनुरोध किया गया कि संविधान में निश्चित शब्दो में व्यवस्था न होने पर भी यह स्पष्ट है कि सविधान की सम्पूर्ण योजना इस तथ्य पर आधारित है कि राष्ट्रपति एक संवैधानिक अध्यक्ष है।"[१६] डा० अम्बेडकर ने तो एक सदस्य को यहाँ तक आश्वस्त किया कि मन्त्रिपरिषद् के परामर्श की अवहेलना करने पर राष्ट्रपति महाभियोग का पात्र होगा।[१७]

तृतीय, यद्यपि संविधान निर्माताओं का यह आशय था कि राष्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष बनाया जाए लेकिन इस बात के प्रमाण है कि वे उसे नाम मात्र का अध्यक्ष नही बनाना चाहते थे। यह सच है कि डॉ० अम्बेडकर ने एक अवसर पर कहा था कि राष्ट्रपति "नाम मात्र का ही अध्यक्ष होगा जिसके पास न प्रशासन सम्बन्धी और न ही विवेक सबधी शक्तियाँ होगी।[१८] परन्तु उन्होंने एक स्थल पर यह भी कहा था कि "राष्ट्रपति 'सामान्यतः' मंत्रियों के परामर्श के प्रति बाध्य होगा।"[१९] सामान्यत शब्द का प्रयोग कुछ अपवादात्मक (exceptional) परिस्थितियों में राष्ट्रपति के लिए विवेक का विकल्प प्रस्तुत करता है। वस्तुतः डा० अम्बेडकर ने राष्ट्रपति की 'परमाधिकारी शक्तियो[२०] (prerogative powers) के सम्बन्ध मे अत्यधिक अस्पष्टता से अपने विचार रखे। यह तथ्य कि सविधान निर्माता राष्ट्रपति को नाम-मात्र के अध्यक्ष से कुछ अधिक देखना चाहते थे, प्रकारांतर से पं० नेहरू के इस कथन से भी स्पष्ट होता है : "भारत का राष्ट्रपति फ्रांसीसी राष्ट्रपति के समान यंत्रवत चलने वाला नही होगा। हमने उसे कोई वास्तविक शक्तियाँ नही प्रदान की, लेकिन हमने उसके पद को सत्ता और प्रतिष्ठा का पद बना दिया है।"[२१]

यद्यपि संविधान-निर्माताओं का सामान्य आशय राष्ट्रपति के संवैधानिक-अध्यक्ष होने के तथ्य को उभारना था लेकिन यह स्वीकार करना उपयुक्त होगा कि संविधान के मूलपाठ मे यह स्थिति सुस्पष्टत. व्याख्यायित नहीं की गई थी।[२२] परिणामस्वरूप कुछ क्षेत्रों में यह धारणा है कि जहाँ तक सविधान का सम्बन्ध है राष्ट्रपति बडी अच्छी तरह से एक संवैधानिक तानाशाह (constitutional autocrat) बन सकता है। संविधान सभा मे ही कुछ

---

१६ वही, IX. ९१०.

१७ वही, X. पृ० २६६

१८ वही, IX, १०३६.

१९ वही, पृ० ३२

२० वही, पृ० १७४

२१ वही, पृ० ७३४ के एम मुशी का यह मत है कि पं० नेहरू द्वारा प्रयुक्त शब्द 'सत्ता' को शक्तिहीनता से तुलना नही की जा सकती। इसका सीधा अर्थ कानूनी शक्ति से है।" 'दि प्रेसीडेन्ट अण्डर दि इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन,' बम्बई, १९६३.८७.

२२ के एम. मुंशी का यह विचार है कि "प्रासगिक व्यवस्थाओ को स्वीकार करते समय सभा यह नही समझे कि वह एक शक्तिहीन राष्ट्रपति का निर्माण कर रही है। डा० अम्बेदकर व डा० अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर द्वारा दिये गए आश्वासन उनकी मात्र व्यक्तिगत मान्यताएँ ही थी। यह सदन की सर्वसम्मत राय नही थी।" वही पृ. ९

सदस्यों का यह मत था कि "राष्ट्रपति को अत्यधिक शक्तियां दी गई हैं।"[२३] यदि यह मान लिया जाए कि राष्ट्रपति संविधान निर्माताओं के 'इरादों' से निर्देशित होने के लिए बाध्य नहीं है तो उस स्थिति में संविधान की वास्तविक व्यवस्थाओं से उत्पन्न अवस्था क्या होगी ? राष्ट्रपति की शक्तियों से सम्बन्धित समस्त विवाद ५३(१), ७४(१), ७५(२) तथा ७५(३) धाराओं की व्याख्या पर आधारित हैं। धारा ५३(१) में यह व्यवस्था है कि "केन्द्र की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ राष्ट्रपति में निहित होंगी और उसके द्वारा इनका प्रयोग संविधान के अनुकूल होगा।" इसका अभिप्राय यह है कि उनका प्रयोग धारा ७४(१) के अनुबन्ध के अनुसार होगा जिसमें यह व्यवस्था है कि "राष्ट्रपति को सहायता व सलाह देने के लिए प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में एक मन्त्रि-परिषद् होगी।" इस धारा की दृढ़ व सुनिश्चित भाषा यह स्पष्ट करती है कि अनिवार्यतः एक मंत्रिपरिषद होनी चाहिए और राष्ट्रपति बिना उसकी सलाह के कार्य नहीं कर सकता। क्या इसे उसकी सलाह के अनुकूल कार्य करना होता है ?

शब्दत: 'सहायता व सलाह' का अर्थ यह होता है कि मंत्रियों को राष्ट्रपति के सलाहकारों के रूप में काम करना होता है और राष्ट्रपति को विविध निर्णय लेने होते हैं लेकिन 'सहायता व सलाह' एक कलात्मक शब्द है जिसने ग्रेट ब्रिटेन व डोमिनियन राज्यों के सवैंधानिक व्यवहारों से एक सामान्यत: स्वीकृत व्यावहारिक स्वरूप ग्रहण किया है।[२४] जैसाकि अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर ने संविधान सभा में यह कहा कि यह शब्द एक 'संवैधानिक प्रियोक्ति (Constitutional euphemism)[२५] है और यह उस सुविख्यात ब्रिटिश अभिसमय पर आधारित है जिसके अन्तर्गत सम्राट हर स्थिति में मन्त्रियों की सलाह पर कार्य करता है चाहे उसके पास कानूनी शक्तियां कितनी ही अधिक क्यों न हो। 'सहायता व सलाह' शब्द को इसी अर्थ में भारत में ग्रहण किया गया है। निर्देशों से सम्बन्धित वे दस्तावेज़ जिन्हें १९३५ के भारतीय अधिनियम से संलग्न किया गया, यह स्पष्ट करते हैं कि उनमें प्रयुक्त 'सहायता व परामर्श' का अर्थ यह था कि गवर्नर जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों को विभागों से सम्बन्धित विभिन्न मन्त्रियों की सलाह के अनुरूप ही काम करना होता था। अपवादस्वरूप कुछ मामले अवश्य ऐसे थे जिनमें उन्हें अपने विवेक के अनुरूप अथवा स्वतन्त्र रूप से काम करने की अनुमति थी लेकिन इस सम्बन्ध में उनके लिए निश्चित संवैधानिक व्यवस्थाएँ थीं। भारतीय संविधान स्वयं धारा १६३ (१) के अन्तर्गत ऐसे अपवाद की व्यवस्था करता है जिसके अनुसार किसी प्रान्तीय गवर्नर को अपने विवेक के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता है और वह इस सम्बन्ध में अपने मन्त्रियों की

---

२३ सी०ए०डी०, पृ. ९८८

२४ 'सहायता व सलाह' शब्द का ब्रिटिश नॉर्थ अमेरिका एक्ट, (५८६) तथा कॉमनवेल्थ ऑफ़ ऑस्ट्रेलिया एक्ट १९०० (५९२) में प्रयोग हुआ है। दक्षिण अफ्रीका के मत के संविधान में 'सलाह' का ही प्रयोग हुआ है। लेकिन इन सभी स्थानों पर सलाह का अर्थ 'राज्य के नाम पर निर्णय' लेने से है। जापान के नए संविधान ने 'सलाह' में नीति अस्पष्टता को दूर करने के उद्देश्य से 'सलाह और स्वीकृति' (धारा ३) का प्रयोग किया है।

२५ सी० ए० डी०, पृ० ९८८.

सलाह से बाध्य नहीं है। क्योंकि संविधान भारतीय राष्ट्रपति के लिए कोई ऐसी व्यवस्था नही करता, इसलिए तार्किक रूप यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसे (राष्ट्रपति को) हर स्थिति मे अपने मन्त्रियों की सलाह के अनुरूप ही काम करना होगा। इस प्रकार के निष्कर्ष का धारा ७५ (३) द्वारा समर्थन होता है जिसमें यह व्यवस्था की गई है कि केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के लिए उत्तरदायी है। धारा ७५ (२) यह व्यवस्था करती है कि मन्त्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहेंगे। लेकिन 'सहायता व सलाह' की ही भांति 'प्रसाद पर्यन्त' भी एक संसदीय सरकार की कल्पना मात्र ही है। एक 'उत्तरदायी' मन्त्रिमण्डल के साथ-साथ एक ऐसे राष्ट्रपति की भी व्यवस्था, जो अपनी इच्छानुसार मन्त्रियो को बर्खास्त कर सके, अन्तर्विरोधी है। अतः मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए राष्ट्रपति के समानार्थक संवैधानिक स्थिति के रूप में ग्रहण करना चाहिए। एक महत्वपूर्ण निर्णय द्वारा सर्वोच्च न्यायालय ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया।[२६]

अनिवार्यतः यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि संविधान कोई ऐसी कानूनी व्यवस्था नहीं करता जिसके अन्तर्गत राष्ट्रपति संवैधानिक अध्यक्ष के रूप ही कार्य करेगा। संविधान में न केवल ऐसी ही व्यवस्था नही है जो राष्ट्रपति को मन्त्रियों की सलाह के अनुकूल कार्य करने के लिए बाध्य कर सके बल्कि धारा ७४ (२) तो यह व्यवस्था भी करती है कि मन्त्रियो द्वारा राष्ट्रपति को दी गई किसी सलाह या उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कोई भी न्यायालय जाँच-पड़ताल नही कर सकता।[२७] धारा ३६१ के अनुसार राष्ट्रपति अपनी शक्तियों व कार्यों के सम्बन्ध में या उस सम्बन्ध में की जाने वाली कार्यवाही के लिए किसी भी न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नही होगा। पतंजलि शास्त्री समेत अनेक न्यायाशास्त्रियो का यह तर्क है कि राष्ट्रपति मन्त्रियो की सलाह को अस्वीकार करने के लिए स्वतन्त्र है क्योंकि संविधान की किसी निश्चित व्यवस्था के अतिरिक्त उस पर कोई सीमा नही लगाई जा सकती।[२८]

स्पष्टतः राष्ट्रपति द्वारा निरंकुश शक्तियों के प्रयोग को किसी कानूनी व्यवस्था की अपेक्षा राजनैतिक अथवा अभिसामयिक (Conventional) व्यवस्था द्वारा ही रोका जा सकता है। संसदीय सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त अभिसमयों की अवहेलना कर यदि राष्ट्रपति मन्त्रियों की सलाह को अस्वीकृत करता है तो मन्त्री अपने पद से इस्तीफा दे सकते हैं। क्योंकि धारा ३५६ के अन्तर्गत राष्ट्रपति को केन्द्र मे संवैधानिक व्यवस्था भंग होने की स्थिति से निबटना होता ही है अतः उसे अनिवार्यतः एक ऐसी वैकल्पिक सरकार की

---

२६ राम नवाया बनाम पंजाब सरकार (१९५५, २ एस. सी. आर. आई. २५५) में सर्वोच्च न्यायालय का यह मत था।

२७ बी एन राव का कथन है: "यदि किसी निश्चित मामले मे राष्ट्रपति मन्त्रियों की सलाह के विरुद्ध कार्य करता है तो इस आधार पर उसकी कार्यवाही की वैधता को किसी न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकती।" इण्डियाज कॉन्स्टीट्यूशन इन दि मेकिंग, मद्रास, १९६० पृष्ठ ३७५

२८ के. एल. पंजाबी, राजेन्द्र प्रसाद, मद्रास, १९६०, पृष्ठ १६१ पूर्वोक्त, एन. ३०, पृष्ठ १६२

स्थापना करनी होगी जो उसकी कार्यवाही का उत्तरदायित्व वहन करने की स्थिति में हो और जिसे लोकसभा का भी समर्थन प्राप्त हो। यह प्रकट रूप में एक असंभव कार्य है क्योंकि निवृत्तमान मन्त्रिमण्डल को अपने त्यागपत्र के बावजूद सदन में बहुमत प्राप्त होगा। राष्ट्रपति एक अल्पमत सरकार की स्थापना कर सकता है लेकिन विद्रोही लोकसभा से सामना होते ही उस सरकार का पतन हो जाएगा। राष्ट्रपति इस गतिरोध को दूर करने के लिए लोकसभा को भग कर नए चुनाव कर सकता है। यदि इस बाजी में उसकी विजय होती है तो नई लोक सभा उसके निर्णयों के प्रति निष्ठावान हो सकती है लेकिन समान रूप से सम्भावनाएँ इस बात की भी हैं कि मतदाता निवृत्तमान सरकार को ही शासन की बागडोर प्रदान करें। ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति की ऐसी दुर्दशा हो सकती है जिसके अन्तर्गत उसे त्यागपत्र भी देना पड सकता है। कोई भी राष्ट्रपति इस प्रकार मन्त्रियों की सलाह के विरुद्ध अपनी सत्ता स्थापित करने के प्रयास नही करेगा। अन्तिम उपाय के रूप में महाभियोग द्वारा एक ऐसे राष्ट्रपति को भी नियंत्रित किया जा सकता है जिसमें विवेक की अपेक्षा साहस अधिक हो। यह स्मरण करना आवश्यक है कि अपने अर्द्ध-न्यायिक स्वरूप के बावजूद महाभियोग अनिवार्यतः एक राजनैतिक हथियार है जिसका संसद द्वारा प्रयोग होता है। संसद न्यायालय नही है और उसके तत्वावधान में राजनैतिक (कानूनी नहीं) आधार पर यह निर्णय लिया जाता है कि राष्ट्रपति ने संविधान का उल्लंघन किया है अथवा नहीं। इसलिए यह अपेक्षा की जाती है कि राष्ट्रपति इस बात से निर्देशित होगा कि क्या सवैधानिक दृष्टि से उचित व राजनैतिक दृष्टि से सामयिक है बनिस्पत इसके कि कानूनी दृष्टि से क्या अनुमेय (Permissible) है।

गत पन्द्रह (पच्चीस) वर्षों के दौरान राष्ट्रपति के वास्तविक कार्यों व व्यवहारों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इस धारणा की पुष्टि होती है। सहमतिस्वरूप अजित राय यह है कि राष्ट्रपति ने अब तक संविधान निर्माताओं की इच्छानुसार काम किया है अर्थात् वह एक संवैधानिक अध्यक्ष ही रहा है। अप्रैल १९५७ में लोकसभा में विधिमन्त्री श्री ए० के० सेन ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि राष्ट्रपति ने "मन्त्रिमण्डल की सलाह के अनुरूप" कार्य किया। "अधिक स्पष्ट रूप से उसने प्रधानमन्त्री की इच्छा के अनुसार काम किया था।"[२९] "जुलाई १९५९ में प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने कुछ संवाददाताओं को यह आश्वासन दिया था कि राष्ट्रपति एक संवैधानिक शासक है....हम स्वयं परामर्श के लिए उसके पास जाते हैं लेकिन निर्णयों का सीधा उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल का होता है।"[३०] डा० राजेन्द्र प्रसाद के उपरोक्त प्रस्तुत विचारों पर प्रतिक्रिया देते हुए श्री नेहरू ने लगभग अठारह

---

२९ दि स्टेट्समैन, १८ अप्रैल १९५७, पृ. ४

३० हिन्दुस्तान टाइम्स, ८ जुलाई १९५९, नेहरू उस पत्र में उत्पन्न विवाद के संदर्भ में बोल रहे थे जो डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने उन्हें लिखा था। और जिसका सार लोगों तक पहुँच गया था। इस पत्र में ऐसा कहा जाता [redacted] कि राष्ट्रपति ने विविध कैबिनेट-निर्णयों के विपरीत मत व्यक्त किया था जैसे सहकारी खेती और खाद्यान्न का राज्य व्यापार।

माह पश्चात् यह घोषणा की थी कि "राष्ट्रपति सदैव संवैधानिक अध्यक्ष रहा है और है भी।"[३१]

एक अर्थ में भारत का यह सौभाग्य था कि डॉ० राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति थे। राष्ट्रपति भवन में अपने बारह वर्षों के प्रवास-काल के दौरान उन्होंने व्यक्तिगत व संवैधानिक मर्यादा का परिचय दिया और इस कारण संसदीय शासन की एक अच्छी शुरुआत हो सकी। देश के सर्वोच्च नेताओं में से एक डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने दुर्लभ शालीनता एवं कर्त्तव्यपरायणता द्वारा अपनी महानता को सिद्ध किया। उनका भाव ऐसा था कि वह किसी निर्णय को आरोपित करने की अपेक्षा उसके सम्बन्ध में कोई समझौता करने के अभ्यस्त थे।[३२] अपने को कांग्रेस दल से विधिवत् पृथक् न करते हुए भी उन्होंने दलगत राजनीति से अपने को ऊपर रखा और इस प्रकार स्वयं को सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतीक बना लिया। यदि एक या दो अवसरों पर किसी विवाद में उनका नाम घसीटा गया तो ऐसा या तो कुछ राजनीतिज्ञों के फूहड़ हित-साधन या उनके अतिउत्साही समर्थकों द्वारा हुआ। स्वयं डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने तो कांग्रेस संसदीय दल में उनसे सम्बन्धित किसी गुट अथवा राष्ट्रपति की लॉबी का हतोत्साहित किया। उन्होंने स्वयं को शक्ति का एक स्वतंत्र केन्द्र बिन्दु बनाने के उद्देश्य से अपनी अत्यधिक लोकप्रियता को आधार बनाने का कभी प्रयास नहीं किया। इसके अतिरिक्त उनकी श्री नेहरू से प्रगाढ़ मैत्री व एक दूसरे के प्रति उनके आदरभाव ने भी दोनों पदों को सद्भावना प्रदान की। डॉ० एस० राधाकृष्णन ने भी, जो भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति हैं, अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रपति द्वारा स्थापित स्वस्थ परम्पराओं का निर्वाह किया है और इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने प्लेटो के दार्शनिक-राजा की भांति कार्य करने की कभी नहीं सोची। वस्तुतः उनके सर्वोच्च पद पर निर्वाचन के समय कुछ प्रशंसकों ने उनकी प्लेटो के दार्शनिक-राजा से तुलना की थी।

यदि संविधान व उसके वास्तविक क्रियान्वयन द्वारा भारतीय राष्ट्रपति पद का संवैधानिक स्वरूप प्रकट हुआ है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि राष्ट्रपति एक नाम मात्र का अध्यक्ष है और उसकी शक्तियाँ सीमित हैं। वह मात्र एक यन्त्र ही नहीं है, उसके पास पर्याप्त प्रभाव व शालीनता का एक पद है। यह वही भूमिका है जिसकी संविधान निर्माताओं ने कल्पना की थी।

राष्ट्रपति को अपने मंत्रियों की सलाह के अनुसार काम करना होता है लेकिन जैसाकि बी० एन० राव ने कहा कि मंत्रियों की सलाह पर काम करने का यह अर्थ नहीं होता कि मंत्रियों के प्रथम विचारों को ही तत्काल मान लिया जाए। राष्ट्रपति किसी भी प्रस्तावित मसौदे पर अपनी आपत्तियाँ स्पष्ट कर सकता है और आवश्यक होने पर मंत्रिपरिषद् के सदस्यों से उन पर पुनर्विचार का आग्रह कर सकता है। उसे बिलकुल अन्तिम स्थिति में

---

३१ दि हिन्दुस्तान टाइम्स; १६ दिसम्बर १९६०; पृ० १

३२ के० एल० पंजाबी, पूर्वोक्ति, एन. ३०, पृ० १६३.

मन्त्रियों के परामर्श को मानना होता है।[३३] राष्ट्रपति की शक्तियों की सीमा से सम्बन्धित धारा ७८ में यह व्यवस्था है कि प्रधानमंत्री केन्द्र से सम्बन्धित मामलों पर मन्त्रिपरिषद् के निर्णयों से राष्ट्रपति को अवगत कराएगा। राष्ट्रपति को यह अधिकार प्राप्त है कि वह यह निर्देश दे कि किसी विभाग के मंत्री द्वारा लिये गए निर्णय को संपूर्ण मन्त्रि परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रपति को ब्रिटिश सम्राट की ही भाँति तीन परम्परागत अधिकार प्राप्त हैं—सलाह लिए जाने का अधिकार, प्रोत्साहन का अधिकार तथा चेतावनी का अधिकार। दूसरे शब्दों में उसे "नीति सम्बन्धी प्रश्नों के परिपक्व विचार-विमर्श" की दिशा में पहल करने की अवशेष सत्ता प्राप्त है। इस बात के प्रमाण हैं कि डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने इस अवशेष सत्ता का भलीभांति प्रयोग किया और अक्सर अच्छे उद्देश्यों के लिए इसका प्रयोग हुआ। जब तक इस काल के अभिलेख सार्वजनिक अध्ययन के लिए उपलब्ध नहीं होते तब तक इस बात का सुस्पष्टतः पता नहीं लग सकेगा कि उन्होंने केन्द्रीय सरकार की नीतियों को किस मात्रा तक प्रभावित किया। लेकिन कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके मत का केन्द्रीय सरकार पर अत्यधिक प्रभाव था। सामान्यतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि हिन्दू कोड बिल का स्थगन करने की डॉ० प्रसाद ने प्रधानमंत्री को सलाह दी और उनके जीवनी-लेखक के अनुसार उनका (डॉ० प्रसाद का) यह प्रस्ताव था कि वे इस विषय के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका से एक संदेश द्वारा अपील करें।[३४] प्राप्त जानकारी के अनुसार वह अक्सर अपनी प्रतिक्रियाएँ व सुझाव लिखित रूप में प्रधानमंत्री को भेजते थे और उनका सरकारी निर्णयों पर सार्थक प्रभाव पड़ता था। लेकिन उन्होंने अपने मतों को सुझाव के स्तर से अधिक सरकार पर आरोपित नहीं किया। बी० एन० राव ने यह लिखा है कि विवेक की वाणी विचार-विमर्श के स्तर तक ही प्रभावकारी होती है, दबाव के साधनों द्वारा नहीं,[३५] इस प्रकार आइवर जेनिंग्स ने जो कुछ ब्रिटिश सम्राट के लिए कहा है वह भारतीय राष्ट्रपति पर भी समान रूप से लागू होता है। साधारण नीतियों के सम्बन्ध में उसका प्रभाव "महत्वपूर्ण हो सकता है लेकिन वही निर्णायक घटक नहीं होता। यह सलाहकारी है न कि निर्णायक।"[३६] वह उन सभी विषयों के सम्बन्ध में मंत्रियों के उत्तरदायित्व तथा राष्ट्रपति के विवेक का सीमावर्ती होता है। हो सकता है कि कई ऐसे विषय हों जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हों और उन पर राष्ट्रपति को किसी भी मंत्री की सलाह न उपलब्ध हो। प्रधानमंत्री का चयन इस श्रेणी में आ सकता है। साधारणतः राष्ट्रपति को इस विषय में अपनी इच्छा के अधिक प्रयोग का अवसर नहीं मिलता। यदि लोकसभा में किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत हो और उसका अपना एक मान्यता प्राप्त

---

३३ बी० एन० राव, पूर्वोक्त, एन २६, पृ० ३८२
३४ के० एल० पंजाबी, पूर्वोक्त, सन् ३०, पृ० १६३
३५ बी. एन. राव, पूर्वोक्त; एन २१, पृ० ३८२
३६ आइवर जेनिंग्स, केबिनेट गवर्नमेंट, लन्दन,. तृतीय संस्करण, १९५९ पृ० ३३९

नेता हो तो इस स्थिति में राष्ट्रपति के सम्मुख उपस्थित विकल्प स्वयं ही स्पष्ट हो जाते हैं। भारत में अभी तक ऐसी ही स्थिति रही है। लोक सभा में किसी भी दल की स्पष्ट स्थिति न होने पर राष्ट्रपति को अपने विवेक के प्रयोग का अवसर मिल सकता है और दो या उससे अधिक दावेदारो मे से किसी एक को वह मनोनीत कर सकता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई प्रधानमंत्री यकायक मर जाता है अथवा व्यक्तिगत रूप से त्यागपत्र दे देता है और दल, जिसको बहुमत प्राप्त है, किसी उत्तराधिकारी का चयन नही कर पाता तो उस स्थिति में राष्ट्रपति सरकार बनाने का निमन्त्रण देकर किसी एक नेता के पक्ष में स्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है। ऐसी परिस्थितियों में ब्रिटिश सम्राट ने निर्णायक भूमिका अदा की है। अतः जब १६४० में नेविल चेम्बरलेन ने त्यागपत्र दिया तब सम्राट विन्सटन चर्चिल को प्रधान मंत्री बनाने के पक्ष मे थे, यद्यपि वह उस समय मन्त्रिमंडल के सदस्य नही थे। वर्तमान सम्राज्ञी ने १६५७ में एन्टनी इडेन्स के उत्तराधिकारी के रूप मे आर० ए० बटलर के स्थान पर हैरलॅड मेक्मिलन के चयन में अपनी व्यक्तिगत रुचि का परिचय दिया। इस दिशा मे सम्राट के विवेकाधिकार को दो-दल प्रणाली गम्भीर रूप से सीमित कर देती है जब कि दूसरी ओर दलो के प्रसार के कारण भारतीय राष्ट्रपति को इस दिशा में अधिकाधिक स्वतंत्रता प्राप्त है।

यह अनिश्चित है कि क्या राष्ट्रपति किसी भी परिस्थिति में मंत्रिपरिषद् को बर्खास्त कर सकता है। संविधान की धारा ७५ मे मंत्रियों के उसके प्रसादपर्यन्त रहने की व्यवस्था इस बात का संकेत देती है कि उसका कानूनी दृष्टि से ऐसा अधिकार प्राप्त है। लेकिन संविधान मे ही उल्लिखित सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त राष्ट्रपति के अधिकार को विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक अस्त्र बनादेता है। ब्रिटेन मे मंत्रियो को बर्खास्त करने के अधिकार का [३७] १७८३ के बाद कभी प्रयोग नहीं हुआ। १६१३ में आइरिश होम रूल विवाद के समय सम्राट ने इस विशेषाधिकार का प्रयोग करना चाहा लेकिन एस्क्विथ ने सफलतापूर्वक उसे यह समझाया कि इस प्रकार की उसकी कार्यवाही का राजतंत्र पर कितना घातक प्रभाव पड़ेगा। एक सामान्य स्थिति स्वरूप यह प्रकट होता है कि ससदीय सरकार मे एक राज्याध्यक्ष किसी मंत्रिपरिषद् को तब तक बर्खास्त नही कर सकता जब तक कि उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त है, और जब तक वह परिणामों की ऐसी शृंखला तैयार नही करता जो उसकी स्थिति को असंगत बनाती हो। भारत के सदर्भ मे 'प्रसाद पर्यन्त' व्यवस्था का

३७ १७७८ मे डिजराइली ने सम्राज्ञी विक्टोरिया को यह सलाह दी कि "सम्राट/सम्राज्ञी को यह स्पष्ट संवैधानिक अधिकार प्राप्त है कि वह वर्तमान संवैधानिक बहुमत के बावजूद मन्त्रियो को पदमुक्त कर दे।" अभी हाल मे आइरिश होमरूल विवाद के दौरान ए. वी. डाइसी ने भी समान मत व्यक्त किया। उसने १६३१ : मे लिखा मैं पूर्णत सहमत हूँ कि सम्राट मन्त्रियो की सलाह के अतिरिक्त कुछ कर नही सकता लेकिन इस सिद्धान्त से उद्भूत धारणा का मैं पूर्ण विरोधी भी हूं कि वह (सम्राट) लोकमत जानने के उद्देश्य से मन्त्रियो को कभी पदमुक्त भी नही कर सकता।" आइवर जेनिग्स, पूर्वोक्त सन् २८, पृ० ४०७ मे उद्धृत।

प्रावधान ऐसी व्यावहारिक महत्ता रख सकता है जिसके द्वारा एक प्रधानमंत्री अपने किसी असुविधापूर्ण मंत्री को हटाने का उपक्रम कर सकता है।[३८] धारा ३५६ के अधीन राष्ट्रपति एक राज्य मंत्रिपरिषद् को उस स्थिति में भी बर्खास्त कर सकता है जबकि उसे राज्य विधान मंडल का विश्वास प्राप्त हो। केन्द्रीय मंत्रिमंडल के सम्बन्ध में तद्रूपी शक्ति की अनुपस्थिति इस बात की द्योतक है कि इस स्तर पर मंत्रियों को बर्खास्त करने की उसकी शक्ति तकनीकी है न कि वास्तविक।

राष्ट्रपति की लोकसभा भंग करने की शक्ति भी मुख्यतः इसी विशेषता पर आधारित है। ग्रेट ब्रिटेन में सम्राट द्वारा कॉमन्स सभा को भंग करने की शक्ति प्रयोग में न लाने के कारण लगभग स्वतः ही समाप्त हो गई। जार्ज पंचम ने तो १९१० में कॉमन्स सभा के प्रस्ताव को अस्वीकार ही कर दिया था लेकिन मंत्रिमंडल के त्यागपत्र की धमकी ने उसका विचार बदल दिया।[३९] ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय राष्ट्रपति के लिए संसद् भंग करने से सम्बन्धित प्रधानमन्त्री की सलाह को अस्वीकार करना कठिन होगा। यह संभव है कि एक संसदीय व्यवस्था के अन्तर्गत प्रधानमन्त्री संसद् भंग करने की सुविधा का न केवल इसलिए ही प्रयोग कर सकता है क्योंकि उसे लोकसभा से असुविधा की आशा होती है बल्कि इसका प्रयोग वह इसलिए भी कर सकता है क्योंकि कोई निश्चित समय उसके दल को अधिक स्पष्ट विजय के लिए उपयुक्त होता है। यदि दलगत हितों के लिए भी संसद् भंग की मांग की जाए तो भी राष्ट्रपति को उसे मानना ही होगा यद्यपि वह ऐसा बिल्कुल अन्तिम स्थिति में प्रधानमन्त्री को यथावत् कार्य करने की सलाह देकर करेगा। संविधान में राष्ट्रपति की विकल्प सम्बन्धी वह स्थिति अधिक स्पष्ट नहीं है जब प्रधान मंत्री द्वारा संसद् भंग की मांग की जाय, आम चुनाव होकर ही चुके हों, जनमत में कोई प्रमुख परिवर्तन न हुआ हो, अस्तित्व प्राप्त सरकार की तुलना में वैकल्पिक सरकार का गठन उस समय सम्भव हो और जब वह सरकार के अपनी मांग के समर्थन में सरकारी कामकाज चलाने से इंकार कर दे। इस बात पर अनिवार्यतः ध्यान दिया जाना चाहिए कि राष्ट्रपति द्वारा लोकसभा भंग करने के अधिकार का स्वतन्त्र प्रयोग या प्रधानमंत्री की तत्सम्बन्धी सलाह को उसके द्वारा अस्वीकार कर देना मूलतः मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर देने के बराबर है और इस कार्यवाही का अनुवर्ती प्रभाव पड़ता है। परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में राष्ट्रपति के विवेक का कोई गम्भीर व्यावहारिक महत्त्व नहीं है।[४०]

---

३८ "अभी हाल ही में पंजाब के राज्यपाल ने अपनी तत्सम्बन्धी शक्ति का प्रयोग करते हुए मुख्यमन्त्री की सलाह पर राजस्व मन्त्री राव बीरेन्द्र सिंह को बर्खास्त कर दिया" दि हिन्दुस्तान टाइम्स, १८ अगस्त १९६१, पृ०

३९ राष्ट्रमण्डल से कुछ ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जहाँ गवर्नर ने मन्त्रिमण्डलों की निचले सदन को भंग करने सम्बन्धी सलाह ठुकरा कर, उन्हें त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य कर दिया।

४० राज्यों में पृथक् व्यवहार का पालन हुआ है। १९५४ में ट्रॅवनकोर कोचीन के राजप्रमुख ने निवृत्तमान मुख्यमन्त्री की विधान सभा भंग करने की सलाह को ठुकरा दिया। १९५८ में उड़ीसा के मुख्य मन्त्री ने त्यागपत्र दिया। कथित रूप से उन्होंने विधान सभा को भंग करने की सलाह दी थी। राज्यपाल ने इस सलाह के अनुरूप कार्य नहीं किया और मुख्य मन्त्री को अन्ततः अपना त्यागपत्र वापिस लेना पड़ा।

संविधान की धारा १११ में यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति वित्तीय विधेयकों को अपनी स्वीकृति देने में विलम्ब कर सकता है अथवा अपनी इच्छानुकूल संशोधन के लिए वह ऐसे विधेयक पर पुनःविचार का निर्देश देते हुए उन्हे लौटा सकता है। बी०एन० राव के अनुसार इस धारा की व्यवस्थाएँ इस मान्यता पर आधारित है कि इनके अन्तर्गत राष्ट्रपति के कार्य कम से कम कुछ मामलो मे तो मन्त्रियों की सलाह के अतिरिक्त हो सकते है।[४१] इस सन्दर्भ में यह तर्क दिया जा सकता है कि इस धारा का आवश्यक रूप से यह आशय ही नही है क्योंकि महज रूप में राष्ट्रपति यह आशा नही रख सकता कि वह उन संशोधनो को भी मनवा सकेगा जो मंत्रिमण्डल की इच्छा के विरुद्ध है। इसका सीधा अर्थ यह है कि संसद् को इस प्रस्ताव पर पुनःवचिार का अवसर मिल जाता है जिसके द्वारा वह प्रथम विचार के समय छूटी हुई त्रुटियो से निवट सकती है और विकल्प स्वरूप मूल प्रस्ताव में कुछ संशोधन कर सकती है। बी०एन० राव ने यह स्वीकार किया कि ऐसा संभव न होते हुए भी यह पता चलता है कि मन्त्रिपरिषद् राष्ट्रपति को इस उद्देश्य के लिए किसी प्रस्ताव पर स्वीकृति देने मे विलम्ब करने सम्बन्धी सलाह दे सकती है। यह तो और भी अधिक असंभव प्रतीत होता है कि धारा १११ के अन्तर्गत राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की सलाह के बिना अथवा उसकी इच्छा के विपरीत अपनी शक्ति का प्रयोग करेगा क्योकि इस प्रकट की कार्यवाही उसे विकट बाधा मे डाल सकती है जिसके परिणामस्वरूप उसमें व मंत्रिपरिषद् मे गम्भीर संघर्ष उत्पन्न हो सकता है।

कुछ लोगों का यह विचार है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों को अपने विवेक मे निहित औपचारिक शक्ति द्वारा पदमुक्त कर सकता है तथा लोकसभा भंग कर सकता है। वह प्रधानमन्त्री की लोकसभा के सम्बन्ध में दी गई सलाह को ठुकरा सकता है अथवा समद् द्वारा पारित प्रस्तावों पर अपनी स्वीकृति रोक सकता है। यह विचार इस धारणा पर आधारित है कि राष्ट्रपति को संविधान के 'सरक्षक' के रूप में काम करना होता है। इस बात पर बल दिया जाता है कि राष्ट्रपति पद की शपथ जो राष्ट्रपति से यह अपेक्षा करनी है कि वह संविधान को बनाए रखे और उसे सुरक्षित रखे, मात्र 'खाली शब्दाडम्बर' ही नहीं है। यह वस्तुतः उस पर एक ऐसा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है जो मन्त्रियों को नहीं सौंपा जा सकता। एक लेखक के अनुसार यदि राष्ट्रपति ईमानदारी से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि किसी मंत्री द्वारा उसको दी गई सलाह संविधान की भावना के विपरीत है और उसको मानना उसके द्वारा ली गई शपथ के प्रतिकूल होगा तो वह न्यायसंगत रूप से उसे अस्वीकृत कर सकता है।[४२]

'संविधान के संरक्षक' की हैसियत से राष्ट्रपति के कई उत्तरदायित्व है जैसे नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा, तथा अल्पसंख्यकों, जनजातियों और आदिम जनजातियों के हितों की सुरक्षा। इसके अतिरिक्त उससे यह भी अपेक्षित है कि वह केन्द्र के विरुद्ध विभिन्न राज्यों के हितों की भी रक्षा करेगा। यह भी स्वीकार किया जाता है कि केन्द्रीय सरकार

४१ बी. एन राव, पूर्वोक्त, एन. २७, पृ. ३७७७

४२ फिरोज जे. श्रोफ "प्रेसिडेण्ट्स पॉवर्स," दि इण्डियन एक्सप्रेस ११ जुलाई १९५९ पृ. ६

व राज्यों के मध्य समन्वय का कार्य भी राष्ट्रपति का है। पंजाबी के अनुसार यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की सलाह को ठुकरा सकता है, यदि उसकी दृष्टि में इसके परिणामस्वरूप राज्यों के उन अधिकारों का हनन होता है जो संविधान-प्रदत्त है। एक ऐसा अवसर उस स्थिति में उपस्थित हो सकता है जब केन्द्रीय मंत्रिमण्डल राष्ट्रपति को सम्बन्धित राज्य के किसी ऐसे विधेयक को अस्वीकृत करने की सलाह दे जो पूर्णतः राज्य अधिकार क्षेत्र से सम्बन्धित हो।[४३] ए अप्पादोराई ने यह मत व्यक्त किया है कि केन्द्र में संवैधानिक व्यवस्था के अभाव से निबटने वाली धारा ३५६ के सम्बन्ध मे कोई अन्य व्यवस्था न होने के कारण "राज्याध्यक्ष मे एक सुरक्षित शक्ति निहित होनी चाहिए जिससे कि वह सरकारी कामकाज के सचालन, कानून व व्यवस्था तथा राज्य की अखण्डता बनाए रखने के सम्बन्ध मे कार्यवाही कर सके।"[४४]

राष्ट्रपति के पद की शपथ से अथवा अन्यथा उद्‌भूत उत्तरदायित्वों या सुरक्षित शक्तियों' का सीधा अर्थ यह है कि कुछ निश्चित स्थितियों मे वह अपने स्वतंत्र विवेक के अनुसार काम कर सके। ऐसा इसलिए नहीं क्योंकि उसे मन्त्रियों की सलाह अनुपलब्ध है बल्कि इसलिए क्योंकि उसकी दृष्टि मे उसको मत्रियों द्वारा दी गई सलाह व संविधान की व्यवस्थाओ मे अन्तर्विरोध है। यह स्थिति स्पष्टतः राष्ट्रपति को संविधान की व्याख्या का अधिकार प्रदान करती है। यह कहा जा सकता है कि ग्रेट ब्रिटेन में इस सिद्धान्त को अवसर चुनौती दी जाती है कि सम्राट को सविधान के सरक्षक की हैसियत से कुछ अव्यक्त शक्तियाँ प्राप्त हैं। भारत मे तो ऐसा सिद्धान्त और भी कम व्यावहारिक है। भारतीय संविधान न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था करता है जिसके अन्तर्गत न्यायालयों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे व्यवस्थापिका के उन प्रस्तावों व कार्यपालिका-निर्णयों को अवैध करार दें जिनके द्वारा मूल अधिकारों अथवा अनुसूचित जातियों, जनजातियों व अल्पसंख्यकों के विशेष हितों, तथा शक्तियो के संघीय वितरण सबंधी संवैधानिक व्यवस्थाओं का उल्लंघन होता हो। सक्षेप में न्यायपालिका संविधान की रक्षक है और राष्ट्रपति से संविधान की भूमिका अपेक्षित करना अधिक न्यायसंगत नही है। यदि राष्ट्रपति के पद व तत्सम्बन्धी शपथ को ध्यान मे रखते हुए यह तर्क दिया जाए कि राष्ट्रपति उस स्थिति में अपने मंत्रियों की सलाह ठुकरा सकता है यदि उसकी दृष्टि मे उससे 'जनकल्याण' में बाधा पहुँचती हो तो उत्तर स्वरूप यह पूछा जा सकता है कि क्या इस विश्वास का कोई आधार है कि सम्पूर्ण मत्रिपरिषद् अथवा ससद् की तुलना में राष्ट्रपति का तत्सम्बन्धी निर्णय अधिक प्रामाणिक है? इस बात की क्या गारन्टी है कि ऐसी स्थितियों में राष्ट्रपति का निर्णय अधिक

---

४३ के. एन. पंजाबी, पूर्वोक्त एन. ३०. पृ. १६३ सकटकाल की घोषणा राष्ट्रपति के तत्सम्बन्धी संतोष पर आधारित है। उन्होंने लिखा है कि : "इस प्रकार की शक्ति किसी काल्पनिक अथवा वास्तविक अभिसमय पर आधारित नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक सकट का मूल्यांकन राष्ट्रपति को तत्सम्बन्धी परिस्थितियों के प्रकाश मे करना होता है।" पूर्वोक्त, एन ८१ पृ. 'सतोष' में निहित आशय यह है कि राष्ट्रपति मंत्रियो की सलाह से स्वतन्त्र रहकर कार्य कर सकता है।

४४ लिंक (नई दिल्ली), खण्ड ३, न. २५, २६ जनवरी १९६१, पृ. २५

निष्पक्ष व व्यक्तिगत रुचि अरुचि के परे होगा और वह उन तत्त्वों का साधन अथवा नेता नहीं बनेगा जो केन्द्रीय सरकार की नीतियों के विरोधी है ? संक्षेप मे, यह आवश्यक है कि राष्ट्रपति को संविधान का संरक्षक बनाने मे निहित खतरो को समझा जाए । इसका यह अर्थ नही है कि राष्ट्रपति के पद की शपथ अथवा इसके महाभियोग की व्यवस्था का कोई अर्थ नही है । हमने ऐसे सीमावर्ती विषयो की चर्चा की है, चाहे वे कितने भी कम क्यों न हों, जिनमें राष्ट्रपति को अपने विवेक के अधीन काम करना होता है । उसके पद की शपथ मे निहित कर्तव्य तथा महाभियोग की संभावनाएं मिलकर राष्ट्रपति की सीमान्त सत्ता (marginal authority) के प्रयोग के समय उसके निरंकुश होने पर रोक लगाती हैं ।

निश्चितत: यह तो स्वीकार करना ही चाहिए कि संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति के विवेक सम्बन्धी सीमा-क्षेत्र का निश्चित निर्धारण इस अवस्था में अत्यधिक जल्दबाजी का काम होगा । एक अर्थ मे भारतीय राष्ट्रपतित्त्व अभी निर्माण-प्रक्रिया मे ही है । जैसाकि एक समाचार पत्र के सम्पादकीय में यह प्रामाणिक रूप से व्यक्त किया गया कि "पिछले कुछ वर्षों में राष्ट्रपति की क्षमता की अपर्याप्त रूप से ही परीक्षा हुई है ।" [४५] राष्ट्रपति व केन्द्रीय मन्त्रियों के मध्य सम्बन्धो को अभी तक कुछ घटकों ने अत्यधिक प्रभावित किया है । एक राजनैतिक दल का प्रभुत्व, प्रथम राष्ट्रपति का स्वभाव, प्रथम प्रधानमंत्री का व्यक्तित्व व विपक्ष का विघटित स्वरूप आदि । ये घटक अनिश्चित काल तक प्रभावकारी रहने वाले नहीं हैं । डॉ० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा स्थापित संविधानवाद की परम्पराएं भारतीय भूमि में गहरी पैठ चुकी है या नहीं इस प्रश्न का उत्तर भविष्य के गर्भ मे निहित है । भारतीय राष्ट्रपति, जैसा कि कुछ व्यक्तियो की राय भी है, तीन-चौथाई ब्रिटिश सम्राट व एक चौथाई अमेरिकी राष्ट्रपति रहेगा या वह भारतीय मुकर्ण बनकर प्रकट होगा, यह भारत के भावी राजनैतिक वातावरण पर निर्भर है । कुछ समय पूर्व बी० एन० राव ने यह लिखा था कि "कोई भी व्यक्ति भारतीय राष्ट्रपति के भविष्य की इससे सुखद कल्पना नही कर सकता कि वह अधिकाधिक ब्रिटिश सम्राट की भांति हो—कानूनी शक्ति से परे, दल गत संघर्षों से दूर तथा नैतिक सत्ता प्राप्त ।" जब तक भारत के राजनैतिक परिवेशों मे कोई बुनियादी परिवर्तन नही होता और जब तक संविधान की भाषा इसकी अन्तरात्मा पर हावी नही होती तब तक तर्कों के आधार पर यह विश्वास किया जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रपतित्व इसी निर्धारित वांछनीय नीतिपथ पर चलेगा ।

---

४५ दि स्टेट्समैन, (सम्पादकीय) १४ मई १९६२, पृ. ६

४६ बी. एन. राव, पूर्वोक्त, एन २६ पृ. ३८२

१४

राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति

भारत के राष्ट्रपति का पद, उसकी शक्तियाँ तथा स्थिति लम्बे समय से एक चर्चा का विषय रहे हैं। राष्ट्रपति की स्थिति के विषय मे एक पक्ष कानूनी विश्लेषकों का है जो संविधान को कानूनी संहिता मानता है तथा किसी भी संदेह तथा विवाद के सदर्भ में उसके शब्दशः अर्थ तथा न्यायिक निर्णय को ही स्वीकार करता है। दूसरी ओर उन राजनीति शास्त्रियो का दृष्टिकोण है जो यह मानते हैं कि कानून राजनीति से गौण होता है तथा किसी भी संवैधानिक व्यवस्था का वास्तविक अर्थ तथा क्षेत्र-निर्धारण, स्वयं राजनैतिक वास्तविकताएँ ही कर सकती हैं। वस्तुतः सेलमोंड ने इस तथ्य को निम्न शब्दों मे स्वीकार किया है :

"यदि सविधान को सर्वथा कानूनी दृष्टि से देखा जाए तो कई स्थानों पर वह वास्तविकता से मेल नहीं खाएगा। कई संवैधानिक सिद्धान्त कानूनी रूप से सत्य होते हुए भी वास्तव मे सत्य नही होते या तथ्यात्मक रूप से सही होते हुए भी कानूनी दृष्टि से वैध नही होते। यह सम्भव है कि कानूनी सत्ता वास्तविक नही हो, तथ्य वास्तविक सत्ता कानूनी नहीं हो''''''इस प्रकार किसी संविधान की पूर्ण व्याख्या लिखित संविधान के अतिरिक्त संवैधानिक परम्पराओं पर आधारित तथ्यों को भी निहित करती है।[1]

यदि राष्ट्रपति की स्थिति के बारे में कानूनी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाए तो उसके अनुसार भारतीय राष्ट्रपति अधिनायक अथवा तानाशाह बना दिया गया है, जो प्राचीन काल के राजाओं तथा आधुनिक तानाशाहो से भी अधिक शक्तिशाली है। उसे सर्वोच्च विधायनी कार्यपालिका तथा न्यायपालिका शक्तियाँ प्रदान की गई हैं तथा उनके प्रयोग पर कोई प्रभावशाली नियंत्रण अथवा सीमा नहीं लगाई गई है। यद्यपि यह सत्य है कि संविधान 'राष्ट्रपति को अपने कार्य मे सहायता एवम् परामर्श के लिए मंत्रिमंडल की व्यवस्था करता है, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री कहलाता है किन्तु सविधान में यह कहीं भी उल्लिखित नही है कि राष्ट्रपति मंत्रिमंडल द्वारा दी गई सलाह को मानने लिए बाध्य

---

१ ज्युरिसप्रूडेन्स, दसवां संस्करण, पृष्ठ १४१

होगा। वस्तुतः न्यायालय इस विषय में पूछ-ताछ करने से वंचित किये गए हैं कि क्या राष्ट्रपति को कोई परामर्श दिया गया था तथा यदि दिया गया तो वह क्या था? मंत्री का कार्य राष्ट्रपति की सहायता व उसे परामर्श देना हैं तथा उस परामर्श को मानना या न मानना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर होता है। यदि किसी स्थिति मे वह मंत्री की सलाह को अस्वीकार करता है तो उसका यह कार्य पूर्णतः संवैधानिक माना जाएगा। यदि राष्ट्रपति ने आज तक ऐसा नही किया है तो उसके व्यक्तिगत तथा राजनैतिक कारण रहे होंगे। वर्तमान, भविष्य का दिशा निर्धारण नही कर सकता। भारत के पहले दो राष्ट्रपति संविधान सभा के सदस्य थे तथा सम्पूर्ण संविधान सभा के साथ वे भी ससदीय प्रजातन्त्र के आदर्श को स्वीकार करते थे। भूतपूर्व राष्ट्रपति (डा० ज़ाकिर हुसैन) भी एक शिक्षाशास्त्री तथा विद्वान थे जो राष्ट्रपति की संवैधानिक भूमिका में विश्वास करते थे। किन्तु भविष्य में कोई राष्ट्रपति आदर्शवादी की तुलना मे अधिक महत्त्वाकांक्षी हो सकता है जो संविधान में प्रदान की गई शक्तियों का अधिकतम उपयोग करने का प्रयास करे। उसका ऐसा करना असंवैधानिक नहीं होगा। राष्ट्रपति की स्थिति के बारे मे इस कानूनी दृष्टिकोण का संक्षिप्त उत्तर यही होगा कि कोई भी संविधान सभा जान-बूझकर एक तानाशाह अथवा अधिनायक की स्थापना नहीं करेगी। निश्चय ही एक ऐसी संविधान सभा जिसका उद्देश्य भारत को संप्रभु प्रजातन्त्रीय गणतंत्र बनाना था, ऐसा नहीं कर सकती। राजनीतिशास्त्रियों द्वारा यह कहा जाता है कि 'सहायता व परामर्श' वस्तुतः 'संवैधानिक अलंकार' है। यथार्थ में राष्ट्रपति के सम्मुख मंत्रियों की परामर्श पर काम करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं है। संविधान सभा के कार्य-विवरण में भी निरंतर यही भावना देखने में आती है। इसी भावना का समर्थन संविधान सभा के गणमान्य सदस्यों—जवाहरलाल नेहरू, पटेल, राजेन्द्रप्रसाद, के० टी० शाह, एच० वी० कामथ, टी० टी० कृष्णमाचारी, बी० आर० अंबेडकर तथा अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर द्वारा किया गया। वस्तुतः इस दृष्टिकोण का मूल ब्रिटेन तथा वह डोमिनियन राज्य हैं, जहां ब्रिटिश संविधान व व्यवहार को एक अभिसमय के रूप में स्वीकार किया गया है।

भारत में राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति के विषय में इसी प्रकार के दृष्टिकोण का विकास होने लगा था, किन्तु २८ नवम्बर १९६० को भारतीय विधि संस्थान (इण्डियन लॉ इंस्टीट्यूट) को संबोधित करते हुए भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद के भाषण ने इस स्थिति को बदल दिया। डा० प्रसाद ने यह मत व्यक्त किया कि भारत के राष्ट्रपति की स्थिति को ब्रिटिश सम्राट के समान बताना भारत के संविधान की गलत व्याख्या करना है। हमारे संविधान में ऐसी कोई व्यवस्था नही की गई है जिससे राष्ट्रपति मंत्रिमंडल की परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य हो।

डा० राजेन्द्र प्रसाद की सद्इच्छा के पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि संविधान सभा का अध्यक्ष होने के नाते डा० राजेन्द्र प्रसाद ने निरंतर डा० अम्बेडकर का ध्यान 'सहायता तथा परामर्श' शब्दों की अनुपयुक्तता की ओर आकर्षित किया था। उनका यह आग्रह था कि ये शब्द राष्ट्रपति को मंत्रियों की राय मानने के लिए पर्याप्त रूप से बाध्य नहीं

करते ।[२] डा० राजेन्द्र प्रसाद के प्रयास निष्फल रहे और संविधान सभा के सम्मुख अपने अंतिम भाषण में अध्यक्ष ने इस स्थिति को निम्नांकित शब्दों मे प्रस्तुत किया था—

---

२ संविधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष डा० अम्बेडकर के मध्य २१ मई १९४९ को हुए वार्तालाप को यहाँ उद्धृत करना उपयोगी है।

"डा० अम्बेडकर ······राष्ट्रपति मंत्रियों के परामर्श के अलावा कार्य नहीं कर सकता है और न उसे करना चाहिए।"

अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद "किन्तु संविधान के प्रारूप में वह व्यवस्था कहाँ है जो राष्ट्रपति को मंत्रियों की सलाह पर कार्य करने को बाध्य करती हो ?

अम्बेडकर—मुझे पूर्ण विश्वास है कि ऐसी व्यवस्था है। वह व्यवस्था यह है कि राष्ट्रपति के कार्यों मे सहायता करने के लिए तथा परामर्श देने के लिए एक मंत्रिमंडल होगा।

अध्यक्ष—चूंकि हम लिखित संविधान बना रहे हैं अतः इसे स्पष्ट शब्दों में नहीं लिखना चाहिए।

डा० अम्बेडकर—यद्यपि अभी मैं नहीं बता सकता किन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि संविधान मे यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति मंत्रियों की सलाह मानने के लिए बाध्य होगा। कुछ सदस्य : अनुच्छेद ६१(१)

अध्यक्ष—यह मात्र मंत्रियों के कर्तव्यों का बोध कराता है किन्तु राष्ट्रपति के लिए इस कर्तव्य का निर्धारण नहीं करता है कि वह मंत्रियों द्वारा दी गई सलाह के अनुसार कार्य करे। यह इसे भी स्पष्ट नहीं करता कि राष्ट्रपति उस सलाह को मानने के लिए बाध्य भी होगा अथवा नहीं। क्या इसके अतिरिक्त संविधान में कोई और प्रावधान भी है। हम उस पर महाभियोग भी नहीं लगा सकेंगे क्योंकि वह संविधान के विपरीत कार्य नहीं कर रहा होगा। ऐसा इसलिए क्योंकि संविधान में तत्सम्बन्धी कोई व्यवस्था ही नहीं की गई है।

अम्बेडकर—क्या मैं आपका ही ध्यान अनुच्छेद ६१ की ओर आकर्षित करूँ। यह राष्ट्रपति के कार्यों के बारे में है। वह किसी भी कार्य को तब तक नहीं कर सकता जब तक कि उसे परामर्श नहीं मिले हैं। उसके कार्यों को करने के लिए यह अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रतिबंध है।

अध्यक्ष—मुझे इस विषय में संदेह है कि ये शब्द राष्ट्रपति को बाध्य कर सकेंगे। ये मात्र इस बात की व्यवस्था करते हैं कि राष्ट्रपति के कार्यों में सहायता व परामर्श के लिए एक मंत्रिमंडल होगा जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री कहलाएगा। यह वाक्य यह स्पष्ट नहीं करता है कि राष्ट्रपति उसके परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा।

डा० अम्बेडकर—यदि वह एक मंत्रिमंडल की राय को नहीं मानता तो उसे दूसरा मंत्रिमंडल बनाना होगा जिसके परामर्श को वह स्वीकार करेगा। वह मंत्रियों से स्वतन्त्र रह कर कार्य नहीं कर सकता।

अध्यक्ष—मेरा स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था करना कठिन है कि राष्ट्रपति अपने मंत्रियों की सलाह को मानने के लिए बाध्य होगा।

अम्बेडकर—हम ऐसा करने का प्रयास कर रहे हैं। निदेश पत्र मे इस प्रकार का प्रावधान किया गया है।

अध्यक्ष—मैंने उस पर भी विचार किया है। बाद मे निर्देश पत्र के विचार को पूर्णतः त्याग दिया गया था। सी. ए. डी., २१५-१६

"जहाँ तक मुझे पता है यद्यपि संविधान राष्ट्रपति को मंत्रियों का परामर्श मानने के लिए विवश नहीं करता, तथापि यह आशा की गई है कि जिस प्रकार परम्परानुसार ब्रिटेन का सम्राट सर्वदा मंत्रियों की राय करता है वैसी ही परम्परा यहाँ भी विकसित हो सकेगी। इस प्रकार राष्ट्रपति संविधान में लिखित परिभाषा के आधार पर नहीं अपितु स्वस्थ परम्परा के आधार पर सभी अर्थों मे संवैधानिक अध्यक्ष बनेगा।[3]

के० एम० मुंशी के विचार

क्या परम्परा जिसका निर्वाह इतनी सफलतापूर्वक स्वयं डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा उनके उत्तराधिकारियों जे० एस० राधाकृष्णन तथा डॉ० जाकिर हुसेन ने किया, दृढता पूर्वक स्थापित हो चुकी है ? क्या भविष्य में उसका उल्लंघन नही किया जायगा ? इन प्रश्नों का उत्तर तो भविष्य ही देगा। इस विषय मे राजनैतिक दलों मे किसी प्रकार की मतैक्यता नही पाई जाती है। उनमें से कई समय-समय पर भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों पर ध्यान केन्द्रित करते दृष्टिगोचर होते हैं। के० एम० मुंशी ने, जो हमारे सविधान निर्माताओं में गणमान्य थे, भारत के राष्ट्रपति की शक्तियों का विशद अध्ययन किया है। मुंशी द्वारा यह अध्ययन भारतीय विधि संस्थान (इन्डियन लॉ इन्स्टीट्यूट) में डॉ० प्रसाद के प्रसिद्ध भाषण के पश्चात् किया गया। इस भाषण मे उन्होने सम्बन्धित विषय में वस्तु निष्ठ होने का आग्रह किया था। अत इस पर ध्यान केन्द्रित करना उपयोगी होगा।

मुंशी अपना अध्ययन इस विचार से प्रारम्भ करते हैं कि भारत के राष्ट्रपति की स्थिति, शक्तियाँ तथा कार्य किसी निश्चित प्रतिमान पर आधारित नही है। अपितु यह इन प्रावधानों का निर्माण करने वाले लोगों द्वारा परस्पर समझौते के आधार पर लिये गए निर्णयों का परिणाम हैं। परिणामस्वरूप जो स्थिति उत्पन्न हुई है वह निम्नलिखित है :—

१. राष्ट्रपति को नाम मात्र का अध्यक्ष नही होना था। इस संदर्भ में नेहरू का यह कथन उल्लेखनीय है 'हम राष्ट्रपति को फ्रान्स के राष्ट्रपति के समान केवल नाममात्र का अध्यक्ष ही नही बनाना चाहते है।' मुंशी निरपेक्ष रूप से कहते हैं कि 'राष्ट्रपति से सम्बन्धित प्रावधानों को स्वीकार करते समय संविधान सभा ने यह नही माना था कि वह एक शक्तिविहीन राष्ट्रपति का निर्माण कर रही थी।[४]

वह इस विचार के समर्थन मे दो तर्क प्रस्तुत करते हैं (अ) संविधान सभा मे कई सदस्य यह मानते थे कि राष्ट्रपति को अत्यधिक शक्तियाँ प्रदान की जा रही थी।[५] तथा (ब) किसी भी उत्तरदायी सदस्य ने यह अनुभव नहीं

---

३ सी० ए० डी० XI, ९८८.

४ मुन्शी पूर्वोक्त पृ० ९

५ डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने इसकी पुष्टि की जब उन्होंने कहा कुछ लोग यह मानते हैं कि राष्ट्रपति को अत्यधिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। सी०ए०डी०, XI, पृ० ९८८

किया था कि राष्ट्रपति संविधान के अन्तर्गत शक्ति विहीन होने वाला था।

२. संविधान सभा ने ब्रिटिश सम्राट तथा फ्रांसीसी राष्ट्रपति के प्रतिमानों पर विचार किया था। ब्रिटिश सम्राट के विचार को भारतीय संदर्भ में अव्यावहारिक माना गया। जबकि फ्रान्स के राष्ट्रपति के विचार को अस्वीकार कर दिया गया। मुंशी के अनुसार 'संविधान सभा की दो समितियों के मध्य मतभेद के सामन्जस्य के पश्चात् जो नमूना प्रस्तुत हुआ वह जर्मनी के राष्ट्रपति से मिलता जुलता था।[६]

३. इस ब्रिटिश परम्परा को, जिसके अनुसार राजा को मन्त्रियों की सलाह के आधार पर ही कार्य करना चाहिए, भारतीय संविधान में निहित नही किया गया। यद्यपि संविधान सभा के अध्यक्ष ने कई बार इस बात पर बल दिया था कि 'इस प्रावधान को संविधान में कहीं स्पष्ट रूप से लिखा जाना चाहिए।'

संविधान के प्रारूप में कही भी इस विषय को स्पष्ट नहीं किया गया।[७] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संविधान निर्माता इसे निहित नही करना चाहते थे तथा इसे जानबूझ कर छोड दिया गया था। क्योंकि अन्य मामलों मे जब भी संविधान निर्माताओं ने ब्रिटिश संविधान की किसी विशेषता को अपनाया तो उसे संविधान मे स्पष्टतः लिखित रूप मे निहित किया ताकि उसके बारे में किसी प्रकार कोई अस्पष्टता नहीं रहे।

४. राष्ट्रपति को संविधान के अनुसार कार्य करने का अधिकार प्रदान किया गया है।[८] यदि किसी भी विशिष्ट मामले में राष्ट्रपति को मन्त्री ऐसा परामर्श देते हैं जो राष्ट्रपति के अनुसार संविधान के विपरीत है तो वह इस प्रकार के परामर्श को संविधान के अनुसार अस्वीकार कर सकता है।

५. राष्ट्रपति अपने कार्यकाल के प्रारम्भ में अपने कार्यों को निष्ठापूर्ण ढंग से करने तथा संविधान को संरक्षित, व सुरक्षित रखने की शपथ लेता है। वह जनता के कल्याण के लिए अपनी सेवाओं को समर्पित करने की भी शपथ लेता है। इस प्रकार संविधान उसे स्वयं संविधान तथा जनता का संरक्षक बना देता है। उसे संविधान की रक्षा किसी भी दिशा से आने वाले संकटों से करनी होती है।[९]

६. राष्ट्रपति की निर्वाचन प्रक्रिया इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि राष्ट्रपति न तो मात्र संसद द्वारा निर्मित है और न ही वह मात्र केन्द्र में सत्ता प्राप्त दल द्वारा चुना गया व्यक्ति है। वह एक स्वतन्त्र निकाय है जो संपूर्ण संघ का प्रतिनिधित्व करता है तथा स्वतन्त्र शक्तियों का उपयोग करता है। मुंशी का

---

६ वही पृ० १८
७ संविधान सभा डिबेट, X, २६८-७१.
८ वही पृ० २९
९ वही पृ ३३

यह तर्क है कि राष्ट्रपति के चुनाव में राज्यों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि यह सम्पूर्ण राष्ट्र के लोकप्रिय प्रतिनिधित्व को परावर्तित करता है।[१०] वह इस सदर्भ में नेहरू तथा अंबेडकर दोनों के कथनों का उल्लेख करते हैं जिनकी यह मान्यता थी कि इस प्रकार के निर्वाचक मण्डल द्वारा निर्वाचन, वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन के समान होगा।[११] इससे मुंशी दो निष्कर्ष निकालते हैं– प्रथम यह कि राष्ट्रपति मात्र औपचारिक अध्यक्ष नही है तथा द्वितीय, वह केन्द्रीय मन्त्रियों के विपरीत, जो मात्र संसद् के बहुमत का प्रतिनिधित्व करते हैं, भारत के सम्पूर्ण लोगों का प्रतिनिधित्व करता है।[१२]

७. उत्तरदायित्व की दृष्टि से राष्ट्रपति को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया गया जबकि मन्त्रिमडल संसद् के प्रति उत्तरदायी है।

८. राष्ट्रपति की सत्ता ही देश तथा उसकी जनता को संवैधानिक एकता में बांधती है। सम्पूर्ण देश को एकता में बांधने के लिए सविधान मे उसकी स्थिति स्वर्ण-सूत्र के समान है। नागरिक अपने मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए, न्यायालय अपनी स्वतंत्रता के लिए, राज्य अपनी स्वायत्तता की रक्षा के लिए, संसद् किसी विधेयक को प्रारम्भ करने व उस पर स्वीकृति प्राप्त करने के लिए तथा सम्पूर्ण देश संकटकाल में अपनी सुरक्षा के लिए, राष्ट्रपति पर निर्भर करते हैं।

६. यदि राष्ट्रपति की शक्तियां प्रधानमंत्री को हस्तांतरित कर दी गई, तो राष्ट्रपति नाममात्र का अध्यक्ष रह जाएगा। इस प्रकार भारत का अर्द्ध-संघात्मक (quasi-federal) स्वरूप पूर्णतः नष्ट हो जाएगा।

इन विचारो के आधार पर के० एम० मुंशी निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं।

१. संविधान का अनुच्छेद ७४ भारत के राष्ट्रपति को मंत्रिमण्डल द्वारा दिये गए परामर्श को मानने के लिए बाध्य नही करता है। अतः कानूनी रूप से राष्ट्रपति मंत्रियों की सहायता व परामर्श को मानने के लिए विवश नहीं है।

२. कुछ विशिष्ट स्थितियो में संविधान स्वयं राष्ट्रपति से मन्त्रिमण्डल से स्वतन्त्र रह कर कार्य करने की अपेक्षा करता है तथा कुछ ऐसी परिस्थितियां इसके विपरीत उपस्थित हो सकती हैं जब राष्ट्रपति इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के लिए बाध्य हो जाए—

---

१० वही पृ. ३२

११ सी०ए०डी०, VII, ६६८, IV, ८४६

१२ मुन्शी, पूर्वोक्त; पृ. ३३

(अ) सूचना प्राप्त करना तथा उसे मन्त्रि परिषद् को बताना
(ब) अपनी विधायनी शक्तियों का प्रयोग
(स) विधेयकों को सम्मति प्रदान न करना
(द) किसी विधेयक को पुर्नविचार के लिए लौटाना
(य) मन्त्रिमण्डल से परामर्श प्राप्त करने की शक्ति आदि।

३. राष्ट्रपति की कुछ शक्तियाँ मन्त्रिपरिषद् से परे अथवा ऐसी हैं जिनके बारे में मन्त्रियो के परामर्श पर निर्भर नही रहा जा सकता है। ये शक्तियाँ निम्नांकित है :—

(अ) ऐसे प्रधान मंत्री को अपदस्थ करना जो दल के बहुमत को खो चुका है।
(ब) ऐसे मन्त्रिमण्डल को भंग करना जो संसद् का विश्वास खो चुका है।
(स) ऐसी लोकसभा को भग करना जो राष्ट्रपति की दृष्टि में लोक विश्वास व समर्थन खो चुकी हो।
(द) संकटकाल में उस समय सर्वोच्च सेनापति के रूप में कार्य करना जबकि मन्त्रिमण्डल देश की सुरक्षा करने मे असमर्थ रहा हो।

४. राष्ट्रपति को प्रजातन्त्रीय प्रक्रिया एवम् प्रकारो तथा नागरिकों के मौलिक अधिकारों के सर्वोच्च सरक्षक के रूप मे कार्य करने का उत्तरदायित्व दिया गया है। वह राष्ट्रीय एकता का प्रतिनिधित्व करने वाली राजनैतिक शक्ति है तथा उसे ऐसी सत्ता, गरिमा तथा अवशिष्ट शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, जिनका यदि विभिन्न दलों द्वारा अवाछनीय स्वरूप अपनाया जाय तो उस दशा में वह संविधान की रक्षा के लिए दलबन्दी से परे निष्पक्ष रूप से स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग कर सकता है। उसकी मुख्य भूमिका संसदीय प्रजातत्र को संसदीय अराजकतावाद मे परिवर्तित होने से रोकना है अथवा एक बहुमत वाली सरकार की सवैधानिक स्वच्छंदताएं नियन्त्रित करना है। यदि सविधान के उल्लंघन का संकट उत्पन्न होता है अथवा राज्य की सुरक्षा खतरे में पडती है तो राष्ट्रपति उन सभी शक्तियों को अंगीकार कर सकता है जो संविधान में उसे दी गई हैं। कानून उसे ऐसा करने की अनुमति देता है।

के० एम० मुंशी के विचारों का उत्तर :

मुंशी ने वास्तव में राष्ट्रपति को एक महत्वपूर्ण प्रभुतासम्पन्न, स्थिति प्रदान की है किन्तु यह गलत मान्यताओ पर आधारित है। अतः उनके इस आकर्षक सिद्धात पर कई दृष्टियो से प्रहार किया जा सकता है।

(१) मुंशी ने संविधान के विभिन्न प्रावधानों को अपनाने में संविधान निर्माताओं के आशय को प्रदर्शित करने के लिए सविधान सभा के कार्य-विवरण को अपने. विचार का मूल आधार बनाया है। किन्तु यदि इन दस्तावेजों को संदर्भ सहित देखा जाए तो ये मुंशी की विचारधारा का समर्थन नही करते। संविधान सभा में ब्रिटिश प्रजातत्रीय कार्यपालिका

के विषय में सहमति थी। यह प्रस्तुत कथनों से असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो जाता है।

एच. वी कामथ. "हम हमारे राष्ट्रपति को एक सवैधानिक अध्यक्ष का रूप दे देना चाहते हैं हमारी यह अपेक्षा है कि वह संसद् की सलाह तथा निर्देश के अनुसार कार्य करेगा।" [13] **डॉ० पी० एस० देशमुख:** "मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की सलाह के बिना कार्य नही करेगा और कोई भी केबिनेट सदन के बहुमत के बिना कार्य नही करेगा।" [14]

के हनुमंथैया : "इस संविधान मे राष्ट्रपति को राज्य करने का अधिकार दिया गया है, शासन करने का नही। भारत का राष्ट्रपति कुछ ब्रिटेन के सम्राट के समान है।"[15]

सरदार पटेल : "इन दोनो समितियों (केन्द्रीय तथा कमेटी ऑन मॉडल प्रोविंशियल कॉन्स्टीट्यूशन) की बैठक हुई तथा वे इस निर्णय पर पहुँची कि भारतीय परिस्थितियो के लिए, संसदीय प्रणाली, जैसी कि ब्रिटेन मे है तथा जिसमे हम परिचित भी हैं, सर्वथा उपयुक्त रहेगी।"

अम्बेडकर : "भारत मे राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो ब्रिटिश सविधान मे सम्राट की है। वह राज्य का अध्यक्ष है किन्तु कार्यपालिका का अध्यक्ष नही है"।[16]

राजेन्द्र प्रसाद : 'हमने बहुत कुछ सीमा तक भारत के राष्ट्रपति के लिए ब्रिटिश सम्राट की स्थिति स्वीकार की है..........उसकी स्थिति सवैधानिक अध्यक्ष की है'।[17]

टी. टी. कृष्णमाचारी : "जहां तक राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल से सम्बन्धो का प्रश्न है, मैं यह कहना चाहूँगा कि हमने पूर्णरूपेण उसी प्रकार के उत्तरदायी शासन के स्वरूप को अपनाया है जो आजकल ब्रिटेन मे पाया जाता है।"[18]

अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर : "यूनियन कॉन्स्टीट्यूशन कमेटी ने तथा इस सविधान सभा ने मंत्रिमण्डलीय शासन प्रणाली को अपनाया है"।[19]

के. हनुमंथैया . "सविधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत संविधान में सरकार के ससदीय स्वरूप को अपनाया गया है।"[20]

सविधान सभा के सभी गणमान्य सदस्यो को उद्धृत करके यह प्रमाणित किया जा सकता है कि वे भारत के राष्ट्रपति को ब्रिटेन के सम्राट जार्ज पंचम का रूपांतरण मानते थे। स्वय के०एम० मुन्शी ने यह स्वीकार किया है कि "प्रारम्भ से ही सविधान सभा का निरपेक्ष बहुमत सघीय सरकार के लिए मन्त्रिमण्डलीय शासन प्रणाली का समर्थन करता

---

१३ सी. ए. डी. VII, २०५
१४ वही, २११
१५ सी. ए. डी. VII, ९९६
१६ सी ए. डी IV, ५८०
१७ सी. ए. डी. VII, ३२
१८ सी ए. डी. XI, ९८८
१९ सी. ए. डी. XI, ९२६
२० सी.ए.डी. VII, ९८६

था।[२१] तथा यह भी कि "यूनियन कांस्टीट्यूशन कमेटी की प्रारम्भिक अवस्था में यह निर्णय कर लिया गया था..........कि हमारी संघीय सरकार ब्रिटिश सरकार के समान होगी तथा अमेरिकी सरकार प्रणाली अथवा विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका के सरकार के नमूने को अस्वीकार कर दिया गया था।"[२२] यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि अब मुंशी यह कहे कि न तो वह अवसर, जब यह वाक्य कहे गए थे और न इससे सम्बन्ध मुद्दा ही केबिनेट और राष्ट्रपति की स्पष्ट शक्तियों व उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित है।[२३] संविधान सभा के सदस्य ब्रिटिश प्रतिमान 'अथवा संसदीय व्यवस्था' जैसे पदों का प्रयोग, राष्ट्रपति संसद् तथा मंत्रिमण्डल के परस्पर सम्बन्धों के अतिरिक्त किसी अन्य संदर्भ में नहीं कर सकते थे। सर अर्नेस्ट बार्कर ने लिखा है कि वास्तविक तथा नाममात्र की दोहरी कार्यपालिका ही ब्रिटिश संसदीय सरकार की मूल विशेषता है। यद्यपि यह सत्य है कि एक निर्वाचित राष्ट्रपति की स्थिति, एक ब्रिटिश राजा जैसे पूर्णतः वंशानुगत अध्यक्ष के समान नहीं हो सकती है तथापि इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि कई राज्यों में ब्रिटिश सम्राट से मिलते जुलते नाममात्र के संवैधानिक अध्यक्ष की सफलतापूर्वक स्थापना की गई है। ब्रिटेन के भूतपूर्व उपनिवेशों ने संसदीय प्रणाली अपना कर इसी प्रकार के राज्याध्यक्ष का निर्माण किया है। इन उपनिवेशों ने अपने स्वतन्त्रता-संघर्ष के दौरान ब्रिटेन के प्रजातन्त्र को आदर्श माना था। वे उपनिवेशी सरकारों में राजा के प्रतिनिधि शासकों के तीव्र आलोचक थे क्योंकि उन्हें साम्राज्य के हित में असीमित विशिष्ट एवं न्यायिक शक्तियां प्राप्त थीं। अतः यह स्वाभाविक ही लगता है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ये राज्य पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना के मार्ग में आने वाली बाधाओं को पूर्णतः समाप्त करते।

इस ऐतिहासिक संदर्भ में यह विश्वास करना कठिन है कि भारतीय संविधान सभा, उपनिवेशक के गवर्नर जनरल के समान ही शक्तिशाली व्यक्ति को भारत के राष्ट्रपति के पद पर स्थापित करती है। वस्तुतः उस राज्याध्यक्ष की शक्तियों को उसी प्रकार परिवर्तित कर दिया गया है जिस प्रकार ब्रिटेन का सम्राट है जो पराधीनता की स्थिति में हमारा आदर्श हुआ करता था।

इसके अतिरिक्त इस बात पर ध्यान आकर्षित करना भी उचित होगा कि संविधान सभा के किसी भी सदस्य ने कभी यह सुझाव नहीं दिया था कि राष्ट्रपति को एक स्वतन्त्र शक्ति का केन्द्र होना चाहिए अथवा उसे मन्त्रियों की राय मानने के लिये बाध्य नहीं होना चाहिए। वस्तुतः सदस्य इसलिए चिंतित थे क्योंकि संविधान द्वारा प्रदान किये गए वास्तविक प्रावधान उनकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं करते थे तथा राष्ट्रपति को पूर्णतः संवैधानिक अध्यक्ष नहीं बनाते थे। अल्लादी, अम्बेडकर तथा टी०टी०के० ने पर्याप्त आग्रहपूर्वक सदस्यों को यह विश्वास दिया कि राष्ट्रपति तानाशाह बन सकते हैं। इस प्रकार की उनकी आशंकाएँ निर्मूल हैं। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया एक बार फिर दोहराई गई जब मार्च १९६२ में राज्य सभा में

---

२१ सी. ए डी. ९९४

२२ मुंशी पूर्वोक्त पृ० २

२३ सी. ए. डी. ९८६

कम्यूनिस्ट सदस्य भूपेश गुप्त ने एक विधेयक प्रस्तुत किया। इस विधेयक मे संविधान मे इस प्रकार का संशोधन करने की मांग की गई थी जिसमें राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रिमण्डल की सलाह के बिना कार्य करने का स्पष्ट निषेध हो। अब यह आश्चर्यजनक लगता है कि के० एम० मुंशी यह विचार व्यक्त करें कि संविधान सभा के किसी भी उत्तरदायी सदस्य ने यह नही कहा था कि राष्ट्रपति एक शक्तिविहीन अध्यक्ष होगा। सत्य यह है कि संविधान सभा के किसी भी सदस्य को इस विषय मे बिल्कुल भी सन्देह नही था कि वे भारत के लिए ब्रिटिश राजा के समान ही एक सवैधानिक राष्ट्रपति की व्यवस्था कर रहे थे। जहाँ तक संविधान सभा के सदस्यों की इच्छा का प्रश्न है, यही वास्तविक स्थिति है।

यह स्वीकार करने के पश्चात् कि भारत मे ससदीय प्रणाली को अपनाया गया है। मुंशी यह स्पष्ट करने मे असमर्थ रहे हैं कि किस प्रकार इस प्रणाली मे स्वतन्त्र शक्तिशाली राष्ट्रपति का सामजस्य हो सकता है। मन्त्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। सविधान की यह व्यवस्था राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल का परामर्श मानने के लिये बाध्य करती है। क्योंकि मन्त्री किसी भी ऐसी नीति अथवा निर्णय का समर्थन नही कर सकता है जो स्वयं उसके द्वारा निर्धारित नही किया गया हो। दूसरे शब्दो में, संसदीय सरकार के सिद्धांत का सामजस्य एक स्वतन्त्र शक्तिशाली राष्ट्रपति के सिद्धान्त से नही हो सकता है क्योंकि मन्त्रिमण्डल दो स्वामियों की सेवा नही कर सकता। मन्त्रिमण्डल अपने बहुमत के कारण लोकसभा पर नियन्त्रण रख सकता है तथा अपनी इसी स्थिति के कारण यह राष्ट्रपति को किसी भी परामर्श को मानने के लिए बाध्य भी कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा इस परामर्श की उपेक्षा करना संकटपूर्ण होगा। यदि वह ऐसा करेगा तो निस्सदेह मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र दे देगा, वैकल्पिक सरकार का निर्माण संभव नही होगा। अत लोकसभा को भंग करना पड़ेगा। इसके पश्चात् जो चुनाव होंगे उसमें सम्पूर्ण देश राष्ट्रपति की इस कार्यवाही के समर्थकों व विरोधियों में बँट जाएगा। यदि चुनाव का परिणाम उसके विपरीत जाता है तो उसके लिए अपने पद पर बना रहना भी कठिन हो जाएगा। किसी भी स्थिति में जटिल राजनीति मे उसकी संलग्नता उसके उच्च पद तथा मर्यादा के गौरव का विनाश करने वाली होगी। वस्तुत. यदि मंत्रिमण्डल को पर्याप्त बहुमत मिल गया तो यह राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने का प्रस्ताव कर सकता है। यह कहना गलत होगा कि यदि राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की सलाह को अस्वीकार करता है तो उस पर संविधान का उल्लघन करने का आरोप नही लगाया जा सकता है। राष्ट्रपति पर 'महाभियोग' सविधान का अतिक्रमण करने पर धारा ६१ के अन्तर्गत लगाया जा सकता है। सविधान का अतिक्रमण क्या है यह एक कानूनी नही बल्कि एक राजनैतिक प्रश्न है। सविधान का अतिक्रमण उसे माना जाएगा जिसे संसद् के दो सदनों का दो तिहाई बहुमत स्वीकृति दे। चाहे संसद् के दो तिहाई बहुमत का निर्णय गलत, गैरकानूनी तथा दूषित हो किन्तु यह अन्तिम होता है तथा सविधान की व्यवस्था के अनुसार महाभियोग के निर्णय के लिए किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती है। महाभियोग लगाने की प्रक्रिया निम्नांकित है। (अ) किसी सदन के एक चौथाई सदस्यो द्वारा राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने के लिये चौदह दिन पहले नोटिस दिया जाता है। (ब) महाभियोग लगाये जाने वाले प्रस्ताव को उस सदन की कुल सदस्यता

के दो तिहाई बहुमत द्वारा पारित किया जाता है तब दूसरा सदन लगाये गये अभियोग की जाँच करता है अथवा करवाता है तथा ऐसी जाच में राष्ट्रपति को उपस्थित होने अथवा अपना प्रतिनिधित्व करवाने का अधिकार होता है। (द) यदि जाँच के बाद यह सदन अपनी कुल सदस्यता के दो तिहाई बहुमत से यह घोषणा करता है कि राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाया गया आरोप ठीक है तो इस प्रकार के प्रस्ताव के पश्चात् राष्ट्रपति को पद से हटा दिया जाता है।

राष्ट्रपति की अन्तिम स्थिति इस तथ्य पर निर्भर है कि यह संसद् के कम-से-कम एक सदन में एक तिहाई सदस्यों का समर्थन बनाए रखे। यदि वह ऐसा करने में असफल रहता है तो उसका पद पर बना रहना असम्भव होगा, चाहे उसका दृष्टिकोण कितना ही उचित क्यों न हो अथवा जाँच का परिणाम कुछ भी क्यों न निकले। इससे निहित मामले व प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। संसद् में मतदान दल के सचेतकों द्वारा नियोजित होता है। सदस्य अपनी अन्तरात्मा के अनुसार मतदान नहीं करते। इस प्रकार राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल की राय को अस्वीकार करने का निर्णय लेने पर महाभियोग की संभावना से मुक्त नहीं रह सकता है बल्कि यह उपाय उस पर पर्याप्त नियन्त्रण का कार्य करता है, विशेषतः जब तक मन्त्रिमण्डल को दोनों सदनों में दो तिहाई से अधिक बहुमत प्राप्त हो। राष्ट्रपति की शक्तियों व कार्यों पर विचार करते समय अक्सर यह भुला दिया जाता है कि यह एक कानूनी नहीं बल्कि एक राजनैतिक प्रश्न है तथा इसका उत्तर कानूनी अथवा संविधान के शब्दों पर उतना निर्भर नहीं करता है जितना (अ) विभिन्न दलों की स्थिति तथा संसद् में उनके नेतृत्व (ब) राष्ट्रपति व प्रधानमन्त्री के परस्पर सम्बन्धों की स्थिति (स) राष्ट्रपति की सामान्य स्थिति तथा जनमत पर यदि राज्य बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति के कारण संकटकालीन स्थिति में है तथा प्रधानमन्त्री लोकसभा में नाममात्र के बहुमत के साथ कोई दुर्बल व्यक्ति है तो निःसन्देह जनता अपने संरक्षण व निर्देशन के लिए राष्ट्रपति की ओर उन्मुख होगी, विशेषतः यदि राष्ट्रपति सुदृढ़ चरित्र वाला एक प्रभावशाली व्यक्ति हो। उन घटकों का निर्धारण करना अथवा अनुमान लगाना असम्भव है जो वस्तुतः राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री की शक्तियों व कार्यों का निर्धारण किसी विशिष्ट स्थिति में करते हैं। निस्सन्देह राष्ट्रपति की सरकार में वास्तविक स्थिति का ज्ञान उसकी संवैधानिक शक्तियों का अर्थ कानूनी शब्दकोष या संविधान में खोजने पर नहीं होगा। यह कई घटकों पर निर्भर करेगा जिनका अनुमान किया जा सकता है, किन्तु जिनकी गणना नहीं की जा सकती।

सत्य तो यह है कि संविधान निर्माताओं ने सामान्यतः यह मान लिया था कि राष्ट्रपति नाममात्र के अध्यक्ष से अधिक नहीं होगा। डॉ० अम्बेडकर ने बार-बार इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया था तथा किसी भी सदस्य ने उनकी इस मान्यता को चुनौती नहीं दी थी। पण्डित नेहरू ने तो यहाँ तक कहा था कि राष्ट्रपति के चुनाव के लिए अप्रत्यक्ष व्यवस्था वस्तुतः इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए थी कि वास्तविक शक्ति मन्त्रिमण्डल तथा संसद् में निहित थी न कि राष्ट्रपति में। इसमें निहित तर्क यह था कि यदि राष्ट्रपति को वयस्क मताधिकार के आधार पर चुना जाता है तो वह भी आधिकारिक रूप से यह दावा कर

सकता था कि वह जनता का प्रतिनिधि है। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्रपति इस सत्ता से विहीन था। यह सत्ता लोकप्रिय ढंग से निर्वाचित मन्त्रियों में निहित थी, जो अपने निर्णयों को प्रयुक्त करने के लिए इसका प्रयोग कर सकते है। जिन लोगों ने राष्ट्रपति के अप्रत्यक्ष चुनाव की आलोचना की। उनका यह तर्क था कि वह 'पूर्णत. जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व नही करेगा।[२४] अम्बेडकर, हनुमन्थैय्या विश्वनाथ दास तथा कई अन्य सदस्यों का कहना था कि राष्ट्रपति औपचारिक अध्यक्ष मात्र था, अतः उसका निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से करना अनावश्यक था। के. हनुमन्थैय्या ने कहा 'ससदीय शासन प्रणाली का अर्थ उत्तरदायी शासन प्रणाली है। जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन का सचालन नही करती है बल्कि इसके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि शासन का सचालन करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार संविधान ने जानबूझ कर राष्ट्रपति के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की है। इसमें राष्ट्रपति की स्थिति राज्य करने की है शासन करने की नही। भारत का राष्ट्रपति ब्रिटेन के राजा की तरह है..........यह संशोधन (के०टी०शाह का सशोधन) संविधान के सपूर्ण प्रारूप से असगत है अत इसे अस्वीकार किया जाना चाहिए। राष्ट्रपति के निर्वाचन को इसलिए प्रत्यक्ष नही बनाया गया ताकि राष्ट्रपति की शक्ति तथा स्थिति के विषय में कोई गलत धारणा न बने। अत अब यह तर्क किस प्रकार दिया जा सकता है कि निर्वाचक मण्डल द्वारा निर्वाचन प्रत्यक्ष निर्वाचन के समान है। इस प्रकार यह व्यवस्था सविधान की योजना मे राष्ट्रपति की महत्त्वपूर्ण स्थिति को स्पष्ट करती है।[२५]

यदि मु शी के तर्क के अनुसार राष्ट्रपति सविधान का संरक्षक है तो उससे राजनैतिक दलबन्दी से परे होने तथा राष्ट्रीय एकता का प्रतिनिधित्व करने की अपेक्षा कैसे की जा सकती है। वस्तुतः राष्ट्रपति की ऐसी कोई भूमिका उसे प्रजातन्त्र तथा प्रगति की विपरीत दिशा मे ढकेल देगी। हमे यह नही बताया गया है कि किन अवस्थाओं में, किस प्रकार, राष्ट्रपति प्रजातन्त्रीय प्रकार तथा प्रक्रियाओं की सुरक्षा करेगा। मुंशी का विचार है कि जब राजनीतिक दल उच्छृंखल स्वरूप अपना लें तो राष्ट्रपति राजनैतिक दलबन्दी से ऊपर होने के कारण उन्हें नियन्त्रित कर सकता है तथा इस प्रकार वह संविधान की रक्षा कर सकता है। "राष्ट्रपति किस प्रकार यह निर्णय कर सकता है कि सरकार का कोई कार्य संवैधानिक उच्छृंखलता है या नहीं ? यदि वह सदन में स्पष्ट बहुमत वाली सरकार को अपदस्थ करता है और संसद् द्वारा पारित विधेयकों को, संवैधानिक उच्छृंखलताओं को रोकने के लिए अस्वीकृत कर देता है तो क्या वह ससद् मे जनता के प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्त लोकप्रिय राय की अवहेलना नही करेगा ? शायद यह तर्क दिया जा सकता है कि संसद् द्वारा किसी क्रांतिकारी विधेयक को पारित करने से पहले सरकार को जनता से स्पष्ट समर्थन प्राप्त करना चाहिए। अर्थात् यदि कोई सरकार अपने विधि-निर्माण कार्यक्रम को अपने निर्वाचन घोषणा-पत्र से आगे बढ़ाना चाहती है तो यह राष्ट्रपति का कर्त्तव्य होगा कि वह यह देखे कि समद् के बहुमत का सरकार दुरुपयोग न करे। स्पष्टतः यह तर्क तभी दिया जाता है जब वामपथी

२४ के.टी.शाह—सी ए.डी.; VII, ६६१

२५ सी.ए.डी., VII, ६६६

सरकार सत्तारूढ़ हो। एक वामपंथी व दक्षिणपंथी सरकार की अपेक्षा मध्यमार्गी सरकार पर यह तर्क लागू नहीं होता है। संवैधानिक उच्छृंखलता का नियम उन हितों व स्वार्थों वाले लोगों द्वारा उठाया जाता है जो संसदीय बहुमत प्राप्त सरकार के प्रगतिपूर्ण विधि-निर्माण कार्य के मार्ग में बाधा उत्पन्न करना चाहते हैं।[२६] अपनी प्रतिक्रियावादी विचारधारा के विषय में समर्थन प्राप्त करने में असमर्थ होने के कारण वे राजनैतिक शक्ति के संतुलन को अपने पक्ष में करने के लिए राष्ट्रपति से यह अपेक्षा करते हैं। कि वह राज्याध्यक्ष की हैसियत से प्रजातन्त्र व संविधान की रक्षा करे और स्वयं हस्तक्षेप करे। संवैधानिक रूप से सरकार लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है। यदि वह संविधान का उल्लंघन करेगी तो संपूर्ण विरोधी पक्ष उसका विरोध कर सकता है। इसके अतिरिक्त यह अपेक्षा करना अनुचित है कि संसद् का बहुमत दल ऐसे सदस्यों का समर्थन करेगा जो संविधान का उल्लंघन करना चाहेंगे। इस सिद्धान्त के अनुसार संवैधानिक औचित्य का निर्णय करने के लिए संसद् के ५०० से भी अधिक सदस्यों की तुलना में एक राष्ट्रपति उचित निर्णायक होगा। स्पष्टतः यदि एक व्यक्ति को जनता द्वारा अपेक्षित सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करने की शक्तियाँ दी जायेंगी, तो प्रजातन्त्रीय व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं टिक सकेगी। यह स्थिति राष्ट्रपति को प्रतिक्रियावादी, प्रजातन्त्र का विरोध करने वाला, निहित स्वार्थों का संरक्षक, सम्पन्न अथवा समृद्ध वर्ग का संरक्षक, शक्तिवान् तथा प्रगति का शत्रु बना देती है।

पिछले १६ वर्षों के संविधान के व्यावहारिक अनुभव ने मुंशी के विचार को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। भूपेश गुप्त के संवैधानिक संशोधन विधेयक पर विचार करते समय प्रधानमन्त्री नेहरू ने इस बात की पुष्टि की थी कि भारतीय संविधान मूलतः ब्रिटिश संसदीय रूप पर आधारित है तथा भारत का राष्ट्रपति राजनैतिक तथा संवैधानिक दृष्टि से ब्रिटिश सम्राट के समान है। नेहरू ने इस बात पर भी बल दिया था कि भारत के राष्ट्रपति ने पिछले वर्षों में राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ही कार्य किया था। अभी तक ऐसे उदाहरण नहीं उपलब्ध हैं कि राष्ट्रपति ने मंत्रियों की उपेक्षा करके संसद् को संदेश भेजा हो अथवा किसी विधेयक पर निषेधाधिकार का प्रयोग किया हो अथवा उस विधेयक को संसद् को पुनर्विचार के लिये भेजा हो। संकटकालीन शक्तियों का प्रयोग भी उसके द्वारा पूर्णतः मन्त्रि-मण्डल के परामर्श के अनुसार ही किया गया है। विभिन्न राज्यों का शासन राष्ट्रपति द्वारा विभिन्न कारणों के आधार पर किया गया है जैसे पेप्सू तथा हरियाणा में भ्रष्टाचार, ट्रावनकोर-कोचीन, आन्ध्र, पंजाब, उड़ीसा तथा केरल में अस्थाई राजनीति। इनमें से किसी भी मामले में ऐसे प्रयास नहीं हैं जहां इस सम्बन्ध में कार्यवाही की राष्ट्रपति की ओर से पहल हुई हो। अनुच्छेद १२३ के अन्तर्गत अध्यादेश जारी करने के अधिकार का प्रयोग

---

२६ ये वे निहित स्वार्थों वाले व्यक्ति हैं जो भविष्य में वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संसद् द्वारा सपत्ति के प्रजातन्त्रीकरण, समाजवादी तथा समानतापूर्ण अवसरों को प्रदान करने के प्रयासों से चिन्तित हैं। ये वे लोग हैं जो भविष्य से डरते हैं। टी.टी. कृष्णमाचारी, सी.ए.डी. XI, ६५८

भी राष्ट्रपति ने वैयक्तिक निर्णय के आधार पर नही किया है। न ही आम चुनावों के पश्चात् प्रधानमीन्त्र की नियुक्ति में उसने लोकसदन के बहुमत के नेता की उपेक्षा ही की है।

संक्षेप में, पिछले १६ वर्षों मे हमारे संविधान के क्रियात्मक रूप में भारत का राष्ट्रपति गम्भीर अर्थों मे संवैधानिक अध्यक्ष मात्र रहा है जो सभी स्थितियो व मामलों में अपने मन्त्रि-मण्डल की सलाह से काम करता आया है। के०एम० मुंशी का विचार है कि ऐसा राजनैतिक तथा वैयक्तिक कारणों से हुआ है। उनकी यह मान्यता है कि स्थिति बदलने के साथ इन परिस्थितियो में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। सम्प्रति कार्य-निर्धारण के कारण थे :— (अ) प्रत्येक आमचुनाव के पश्चात् लोकसभा मे काग्रेस को निरपेक्ष बहुमत प्राप्त हुआ। (ब) काग्रेस, देश तथा ससद् मे नेहरू की प्रभावशाली स्थिति, डा० राधाकृष्णन के साथ निकट व सहयोगपूर्ण सम्पर्क तथा उन दोनो मे परस्पर सम्मान और स्नेह की भावना का होना। (स) वर्तमान राष्ट्रपतियों के सविधान सभा तथा उसके आदर्शों से भूतपूर्व सम्बन्ध (द) भारत के प्रथम दो राष्ट्रपतियों (डा० राजेन्द्र प्रसाद व डा० राधाकृष्णन्) का गौरवपूर्ण व्यक्तित्व, उनकी सादगी, उच्च आदर्शवाद, प्रजातन्त्र में उनकी आस्था, सविधान-वाद के प्रति उनकी निष्ठा तथा ब्रिटिश संसदीय प्रणाली मे आस्था, ये वे तथ्य है जिन्होने प्रारम्भिक वर्षो मे भारत के राष्ट्रपति के पद को ब्रिटेन के राजा के समान संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में ढाल दिया।

चौथे आम चुनाव के पश्चात् संसद् मे कांग्रेस का बहुमत बुरी तरह से गिरा था। नेहरू अब जीवित नहीं हैं। प्रधानमन्त्री का दल पर नियन्त्रण कमजोर तथा ढीला था। स्वय शासक दल आन्तरिक मतभेदो से ग्रस्त है। अर्थात् पर्याप्त सीमा तक राष्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष बनाने वाले वैयक्तिक तथा राजनैतिक कारण प्रायः समाप्त हो गये है। किन्तु राष्ट्रपति की स्थिति में कोई परिवर्तन नही हुआ है। यद्यपि भूतपूर्व राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन भी पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियो के समान पर्याप्त रूप से सरल स्वभाव के थे। किन्तु यदि कोई शक्ति-शाली व महत्त्वाकांक्षी राष्ट्रपति चुन भी लिया जाता है तो वह भी ऐसे प्रधानमन्त्री की अवहेलना नही कर सकेगा, जिसे लोकसभा मे स्पष्ट बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। ऐसे प्रधानमन्त्री के साथ सघर्ष मे राष्ट्रपति को झुकना ही पड़ेगा। यदि वह ऐसा नही करता तो गम्भीर संवैधानिक संकट उपस्थित हो सकता है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जाएगा तथा राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति का उल्लेख करने के लिए सविधान मे सशोधन करना पडेगा।

संविधान सभा ने राष्ट्रपति को औपचारिक रूप से क्यों नहीं बाध्य किया ?:

सविधान सभा ने स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था लिखित रूप में क्यों नही की कि राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की राय को मानने के लिये बाध्य होगा तथा ऐसी राय के बिना पूर्णत: शक्ति-हीन होगा ? इस प्रश्न को कई बार संविधान सभा में उठाया गया था। उसके बाद भी इसे समय-समय पर उठाया जाता रहा। यदि राष्ट्रपति को पूर्णत: एक ऐसा संवैधानिक अध्यक्ष बनाना था, जो अपने मंत्रियो को सलाह के बिना कोई कार्य न कर सकता हो, तो सविधान

में ऐसा स्पष्ट रूप से लिखा जा सकता था। इसका कारण किसी प्रकार की लापरवाही अथवा असावधानी नहीं है। स्वयं संविधान सभा के अध्यक्ष ने बार-बार इस विषय की ओर ध्यान आकर्षित किया था। हर बार जो उत्तर दिया गया था वह इस प्रकार था (अ) प्रस्तुत व्यवस्था का यह अर्थ था कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की राय मानने के लिये बाध्य होगा (ब) इस प्रकार की व्यवस्था निर्देश-पत्र में कर दी गई है। किन्तु बाद में, स्वयं निर्देशपत्र की व्यवस्था को ही समाप्त कर दिया गया। निर्देश-पत्र के समाप्त होने के पश्चात् भी संविधान निर्माताओं ने यह नहीं माना था कि राष्ट्रपति की मूल स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन हुआ था। जब यह आरोप लगाया गया कि संविधान में इस तथ्य का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है कि राष्ट्रपति संवैधानिक अध्यक्ष है तब टी० टी० कृष्णमाचारी ने उत्तर-स्वरूप यह कहा कि उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। साथ ही उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि राष्ट्रपति की शक्तियों के भविष्य के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि संविधान के तृतीय पाठन के समय किसी भी अन्य सदस्य ने इस प्रश्न को नहीं उठाया था। स्वयं डा० अम्बेडकर ने इस प्रश्न के प्रसंग को ही टाल दिया था। तथापि इसके विषय में कृष्णमाचारी के वक्तव्यों तथा अम्बेडकर, अल्लादी तथा अन्य प्रवक्ताओं के पिछले भाषणों से अनुमान लगाया जा सकता है कि वे यह मानते थे कि संविधान का अनुच्छेद ७४ राष्ट्रपति को अपने मन्त्रियों की सलाह परिवेक्षण रूप में मानने के लिए बाध्य करता है।[२७]

इसके विषय में पहली मान्यता यह थी कि संविधान संसदीय शासन प्रणाली की व्यवस्था करता था। टी० टी० कृष्णमाचारी ने संविधान सभा से कहा था कि उत्तरदायी सरकार में राष्ट्रपति की स्थिति वैसी नहीं होती है।[२८] संसदीय प्रजातन्त्र में (अ) संसद् तथा मन्त्रिमण्डल के मध्य शक्ति का पृथक्करण नहीं होता है (ब) मंत्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है तथा साथ ही इसे नियंत्रित करने की स्थिति में भी होता है। (स) यदि राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल का परामर्श मानने से इन्कार करदे तो राज्य में गंभीर संवैधानिक संकट उत्पन्न हो सकता है। (द) कोई भी राष्ट्रपति इस प्रकार के संकट का सामना करने के लिए तैयार नहीं होगा क्योंकि वह जानता है कि यदि वह मतदाताओं में समर्थन प्राप्त करने में असमर्थ रहा तो उसके विरुद्ध महाभियोग लगाया जा सकेगा। (य) इससे सम्बन्धित किसी भी अन्य स्थिति में राज्य के निष्पक्ष अध्यक्ष के रूप में उसकी प्रतिष्ठा नष्ट हो जाएगी (र) राष्ट्रपति का अप्रत्यक्ष चुनाव उसे प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित मन्त्रियों से संघर्षरत होने से रोकेगा।

द्वितीय, संविधान निर्माताओं की यह हार्दिक इच्छा थी कि जिस प्रकार ब्रिटेन के सम्राट के विषय में इस परम्परा का विकास हुआ है कि वह मात्र मंत्रियों की सलाह पर ही कार्य करेगा, वैसी ही परम्परा का भारत में विकास भी हो।[२९] वे इस सम्बन्ध में सहमत थे

---

२७ अनुच्छेद ७४ (१) के अनुसार राष्ट्रपति के कार्यों में "सहायता तथा परामर्श" के लिए एक मन्त्रिमण्डल होगा जिसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री कहलाएगा।

२८ सी ऐ डी, XI, ६६६

२९ राजेन्द्र प्रसाद, पूर्वोक्त, ६८८

कि कई ब्रिटिश उपनिवेशों मे सफलतापूर्वक इस प्रकार की परम्परा का विकास किया गया था तथा वहाँ के सविधानों मे लिखित रूप से ऐसी व्यवस्था नही थी। यह आशा की गई थी कि उसी प्रकार बिना किसी लिखित रूप के भारत में भी इस परम्परा का विकास किया जा सकेगा।[३०]

तीसरी मान्यता यह थी कि सविधान में सशोधन के लिए पर्याप्त सुविधाजनक विधि दी गई है, जब भी कोई गम्भीर कठिनाई उत्पन्न होगी उसके लिए यथोचित संशोधन किया जा सकेगा।[३१] चौथी मान्यता यह थी कि सविधान निर्माता चाहे राष्ट्रपति को शक्तिवान नही बनाना चाहते थे किन्तु उसे गौरवपूर्ण अवश्य बनाना चाहते थे। यदि उसे स्पष्टरूप से औपचारिक अध्यक्ष मात्र बना दिया जाता तो उसके पद का गौरव तथा महिमा समाप्त हो जाती।

इसके अतिरिक्त यह सच्चा आदर्श भी विद्यमान था कि राष्ट्रपति एक विचारशील व्यक्ति, प्रजातन्त्र का महान प्रतीक तथ हमारी स्वतंत्रता का रक्षक होगा, अत: वह संविधान की रक्षा करेगा।

छठी मान्यता यह थी कि कुछ मामलो मे संविधान निर्माता राष्ट्रपति को उसकी वैयक्तिक निर्णय शक्ति का उपयोग करने देना चाहते थे। टी० टी० कृष्णमाचारी ने कहा था कि ऐसी तीन परिस्थितियाँ हो सकती हैं, जिनमें राष्ट्रपति अपनी वैयक्तिक शक्तियां का प्रयोग कर सकता था (अ) जब मन्त्रिमण्डल को भग करने का प्रश्न हो। (ब) किसी व्यक्ति को मन्त्रिमडल के गठन हेतु आमन्त्रित करने का प्रश्न हो या (स) मंत्रिमंडल को अपदस्थ करने का प्रश्न हो। उन्होंने कहा कि ऐसे छोटे मामले उत्पन्न हो सकते हैं, अत: हम निश्चित रूप से संविधान में यह नही लिख सकते हैं कि राष्ट्रपति को कब क्या करना चाहिए अथवा प्रधानमंत्री उससे क्या करने को कह सकता है। विशेषतः उस स्थिति मे जब दुविधापूर्ण स्थिति का समाधान करने मे वह अपने वैयक्तिक निर्णय का प्रयोग कर सकता हो। उन्होने यह स्वीकार किया कि तथ्यों का मूल्यांकन करने मे अथवा उनके सदर्भ मे किसी निश्चित निर्णय मे त्रुटि हो सकती थी। उन्होंने संविधान सभा से कहा कि हमारा यह विचार है कि इस विषय को हमें परम्पराओं के लिए छोड देना चाहिए। ऐसी परम्पराएँ जो उन देशो में विकसित हुई हैं जहाँ उत्तर-दायी शासनप्रणाली की स्थापना की गई है। उन्होने सदस्यों को यह आश्वासन दिया कि इन सब मामलो मे ब्रिटेन मे सम्राट तथा मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में पर्याप्त दृढ परम्पराओं का विकास हो चुका है। अस्तु हमें पर्याप्त आश्वस्त रहना चाहिए कि भारत मे राष्ट्रपति उनका दुरुपयोग नही करेगा।[३२] इस विचार को भूपेश गुप्त द्वारा प्रस्तावित संविधान सशोधन

---

३० पणिक्कर कहते हैं, सविधान मे ऐसा कहाँ लिखा है कि राष्ट्रपति मात्र केबिनेट की राय पर कार्य करेगा। उसका उत्तर यही है कि बेजहट डायसी व एन्सन की रचनाएँ देखिए। भारतीय सविधान को लिखित अर्थों मे ही पढ़ना समझना या उसकी व्याख्या नहीं करनी चाहिए अपितु ब्रिटेन मे सवैधानिक विधि मे अलिखित परम्पराओ के विकास के संदर्भ मे ऐसा करना चाहिए। के. एम. पणिक्कर, फाउंडेशन ऑफ न्यू इण्डिया १९६३, पृ १५३

३१ पूर्वोक्त ९७६;सी. ए. डी. viii,२१६

३२ सी. ए. डी. १६५७

विधेयक पर राज्य सभा में १६ नवम्बर १९६२ को विचार के दौरान पर्याप्त समर्थन मिला था कि राष्ट्रपति को उन स्थितियों से निवटने के लिए पर्याप्त शक्तियाँ दी जाएं, जहाँ प्रधानमंत्री अथवा संसद् पर निर्भर नहीं रहा जा सकता हो।[33] के. संथानम् ने विधेयक का विरोध करते हुए कहा था कि राष्ट्रपति के विशेषाधिकारों में कोई भी कटौती दुष्प्रवृत्तिवान् मंत्रियों को तानाशाही के लिए उन्मुक्त कर देगी। राष्ट्रपति को असाधारण स्थिति मे इन शक्तियों की आवश्यकता संविधान की रक्षा के लिए तथा यह देखने के लिए थी कि मंत्रिमण्डल को संसद् का विश्वास प्राप्त था। ए० डी० मणि ने कहा कि राष्ट्रपति को उन शक्तियों की आवश्यकता मंत्रिमण्डल के उच्छृंखल कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए है।

इन विचारों के आधार पर संविधान सभा ने राष्ट्रपति की शक्तियों को परम्पराओं के विकास द्वारा नियन्त्रित होने के लिए छोड़ दिया था। उसकी यह धारणा थी कि साधारणतः राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल के परामर्श से कार्य करेगा और उसकी सलाह को अस्वीकार करने का उसे पूर्णतः अधिकार नहीं होगा। जैसा कि एन० सप्रू ने राज्य सभा में कहा "हमें राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री के मध्य संघर्ष की कल्पना नहीं करनी चाहिए। यदि संसद् तथा जनमत सक्रिय रहे तो इस प्रकार के संघर्ष की अपेक्षा करने का कोई कारण नहीं होगा।" किन्तु संविधान सभा को उस स्थिति की आशंका थी जब जनमत सतर्क न रहे, संसद् विभिन्न गुटों में विभाजित हो जाए तथा केन्द्र में सवैधानिक ढाँचा टूट जाए तो ऐसी स्थिति का एकमात्र समाधान राष्ट्रपति का शासन हो सकता है। यही कारण है कि राष्ट्रपति की शक्तियों को लचीला बना कर छोड़ दिया गया है। के०वी० राव ने राष्ट्रपति की शक्तियों के विषय मे संविधान निर्माताओं की विचारधारा को बड़े उपयुक्त शब्दों में संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है—भारत मे प्रजातन्त्र पहली बार स्थापित किया जा रहा है। प्रजातन्त्र के लिए कई अवस्थाओं का होना आवश्यक है किन्तु जब तक इन अवस्थाओं की स्थापना हो तथा परम्पराओं का विकास हो तब तक देश प्रतीक्षा नहीं कर सकता है। अतः देश लिए एक केन्द्रीकृत दृढ़ कार्यकारी नेतृत्व की आवश्यकता है अन्यथा प्रजातन्त्र का ढाँचा संकट-काल मे नष्ट हो जाएगा.......*अत. संपूर्ण व्यवस्था को नमनीय बनाया जाना* चाहिए। यदि सुदृढ़ राजनैतिक दलों का विकास हो जाता है तथा लोगो में संविधानवाद के प्रति निष्ठा विकसित हो जाती है तो देश में संसदीय व्यवस्था विकसित हो सकेगी, अन्यथा राष्ट्रपति हस्तक्षेप करेगा ताकि देश को संकट न उठाना पड़े।[34]

इन सभी कारणों के परिणामस्वरूप भारत के संविधान में राष्ट्रपति की शक्तियाँ नमनीय रखी गई हैं। संविधान निर्माता यह जानते थे कि भारत में ब्रिटिश व्यवस्था के समान द्विदलीय पद्धति का विकास हो गया तो राष्ट्रपति अपरिहार्य रूप से नाममात्र का अध्यक्ष बन जाएगा किन्तु यदि इसके विपरीत कई राजनैतिक दलों की रचना हो जाती है

---

३३ यह विधेयक संविधान के अनुच्छेद ७४ के संशोधन के लिए रखा गया था ताकि राष्ट्रपति को मंत्रिमण्डल की सलाह मानने के लिए बाध्य किया जाए।

३४ के. वी. राव पूर्वोक्त, पृष्ठ ७२

जो देश को एक सुदृढ, स्थायी तथा एकताबद्ध सरकार देने मे असमर्थ रहें, तो निस्सन्देह राष्ट्रपति सुदृढ व शक्तिशाली हो जाएगा। यह हमारे संविधान निर्माताओं की सूझबूझ का प्रमाण है कि हमारा राष्ट्रपति परिस्थितियो के अनुसार एक अथवा अन्य रूप धारण कर सकता है। इस विषय मे भी सुदृढ़ विश्वास था कि आने वाले एक दशक तक देश को तत्कालीन नेताओ का नेतृत्व उपलब्ध होगा जो सविधान की क्रियान्विति कर सकेगा। तथा उनके नेतृत्व काल में ससदीय प्रणाली के उन मूल सिद्धान्तो का विकास हो सकेगा जिसे संविधान का मूल आधार बनाया गया था। इन अपेक्षाओ के अनुरूप १९६७ तक कांग्रेस को चुनावो मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। यह इन्ही स्थितियो का परिणाम था कि पण्डित नेहरू नवम्बर १९६० मे संवाददाताओं से विश्वासपूर्ण ढग से यह कह सके कि उनको इस विषय में कोई सदेह नही कि वे पिछले दस वर्षो मे सविधान के अनुकूल कार्य कर सके थे। ३० नवम्बर १९६२ को राजस्थान मे बोलते हुए गृह मत्रालय के राज्य मन्त्री बी०एन० दातार ने बड़े विश्वास से यह घोषणा की कि "सविधान मे राष्ट्रपति एक नाममात्र का अध्यक्ष था जो प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में मंत्रिमण्डल के परामर्श को मानने के लिये बाध्य था। वह स्वय कोई निर्णय नहीं कर सकता था।" विधिमंत्री अशोक सेन ने राष्ट्रपति की शक्तियो के सम्बन्ध मे तथाकथित विवाद को वास्तविक कम तथा बौद्धिक अथवा सारस्वत अधिक बता कर उसे गैर-महत्वपूर्ण घोषित कर दिया।

राष्ट्रपति की संवैधानिक भूमिका

अब हमारे लिए विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि यह मान लिया जाए कि राष्ट्रपति सब मामलों में प्रधानमंत्री के मंत्रिमण्डल द्वारा दिए गए परामर्श से बाध्य होता है तो क्या वह एक नाम मात्र का अध्यक्ष है? इस जटिल प्रश्न का कोई सीधा उत्तर नही है। राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति कुछ इतने अस्पष्ट घटको पर आश्रित है कि उनके सम्बन्ध मे कुछ निश्चित नही कहा जा सकता। ये घटक हैं: (अ) प्रधानमन्त्री तथा राष्ट्रपति के परस्पर सम्बन्ध, (ब) जनता तथा संसद् के संदर्भ मे प्रधानमंत्री की स्थिति तथा (स) स्वयं राष्ट्र की स्थिति।

प्रधानमंत्री व राष्ट्रपति के परस्पर सम्बन्ध

- ससदीय प्रजातन्त्र में प्रधानमन्त्री तथा राष्ट्रपति मे अनवरत रूप में परस्पर सघर्ष की स्थिति रहती है—राष्ट्रपति को प्रकटत कोई शक्तियाँ नहीं होती हैं, पर वह अपनी चतुरता तथा अनुभव से अपने पद के गौरव व महिमा को बनाए रख सकता है। प्रधानमन्त्री को शक्ति प्राप्त है तथा ससद् मे अपने समर्थकों पर प्राप्त नियन्त्रण उसकी वास्तविक स्थिति को निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त यदि प्रधानमन्त्री प्रगतिशील व आकर्षक व्यक्तित्व वाला है तो राष्ट्रपति गौण तथा कम महत्त्व का हो जाएगा। यदि प्रधानमंत्री व राष्ट्रपति दोनों ही विशिष्ट गुणों से युक्त नही है तब भी प्रधानमंत्री अपने दल के बहुमत के कारण राष्ट्रपति की तुलना मे प्रभावशील बना रहेगा। यदि प्रधानमंत्री चरित्र, ज्ञान अनुभव तथा

सार्वजनिक प्रतिष्ठा के संदर्भ में राष्ट्रपति की स्थिति से निम्न हो व साथ ही यदि दल में उसकी स्थिति पर्याप्त स्थिर तथा सुदृढ़ भी न हो तो स्पष्टत: ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की तुलना मे प्रभावशाली बन जाएगा । अतः ऐसी परिस्थिति में जब दलीय बहुमत अस्थिर हो, नेतृत्व असुरक्षित हो, राजनैतिक भ्रष्टाचार का बाहुल्य हो तब राष्ट्रपति अधिक शक्तिशाली हो जाएगा । ये प्रवृत्तियाँ भारतीय राजनैतिक मंच पर स्पष्ट रूप से समर्थित होती हैं । नेहरू के अंतिम दिनों मे उनकी निजी अस्वस्थता के कारण तथा उत्तरी सीमा पर सैनिक पराजय के कारण शक्ति का संतुलन राष्ट्रपति की ओर झुकने लगा है............भारतीय नेता राष्ट्रपति से अधिकाधिक सलाह लेने लगे हैं । इस प्रकार डा० राधाकृष्णन स्वयं अपने को अधिक प्रभावशाली तथा अपने पद की गरिमा को अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण महसूस करने लगे हैं ।[३५] कृष्ण मेनन को मंत्रिमण्डल से निवृत्तमान कराने में डा० राधाकृष्णन का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है जिन्हें १९६२ में चीनी आक्रमण के समय भारतीय पराजय का कारण माना गया । यह कहा जाता है कि सरदार प्रताप-सिंह कैरो के विरुद्ध जांच करवाने मे डा० राधाकृष्णन का मुख्य हाथ था । प्रधानमन्त्री नेहरू पहले प्रतापसिंह कैरो जैसे ईमानदार व विश्वसनीय मुख्यमन्त्री के व्यवहार के विषय मे जाँच करवाने के इच्छुक नही थे । किन्तु राष्ट्रपति के आग्रह पर उन्होने जाँच करवाना स्वीकार कर लिया । नेहरू की मृत्यु के पश्चात् डा० राधाकृष्णन में अधिक विश्वसनीय तथा अधिकारपूर्ण सत्ता दृष्टिगोचर हुई । सोवियत रूस की उनकी यात्रा को विदेशी मामलों के संदर्भ मे संवाददाताओं द्वारा बढ़ा-चढ़ा कर प्रसारित किया गया । अपने समकालीन राजनीतिज्ञों पर यह सार्वजनिक आधिपत्य, जो किसी सीमा तक सरकार पर नियन्त्रण था, राजनैतिक जगत् में पर्याप्त हलचल पैदा करने वाला रहा ।[३६] अधिका-धिक मन्त्री राष्ट्रपति से भेंट करने लगे । सुब्रह्मण्यम तथा अलगेसन के त्यागपत्र पर राष्ट्रपति ने प्रधानमन्त्री तथा सम्बन्धित मन्त्रियो के बीच लगभग मध्यस्थता का कार्य किया ।[३७] नेहरू की पुत्री श्रीमती गांधी के प्रधानमन्त्री बनने के पश्चात् एक बार फिर शक्ति संतुलन का झुकाव प्रधानमन्त्री की ओर होने लगा । राष्ट्रपति की अधिक आयु व दुर्बल स्वास्थ्य ने उन्हें राजनीति में प्रमुख भूमिका अदा नही करने दी । संवाददाताओं के अनुसार नवम्बर १९६६ में किये गए मंत्रिमण्डलीय परिवर्तन से, राष्ट्रपति को पूर्णतः अनभिज्ञ रखा गया था ।[३८]

---

३५ न्यूयार्क टाइम्स हिन्दुस्तान टाइम्स में प्रकाशित ११ जून १९६३

३६ उदाहरण के लिए धनवन्तरी मेडिकल कॉलेज मे उनका अध्यक्षीय भाषण द्रष्टव्य ।

३७ देखिये, लिंक, १८ नवम्बर, १९६६

३८ अशोक चन्दा ने 'राज्य के अध्यक्ष के रूप में एक सैनिकवादी" शीर्षक के अन्तर्गत लिखते हुये यह शिकायत की है कि नेहरू के उत्तराधिकारियों ने उससे (राष्ट्रपति से) परामर्श लेने को सुविधाजनक अथवा आवश्यक नही माना । उन्होंने उसे केवल उसके पद व स्थिति के कारण सम्मान दिया, उसमें निहित विश्वास के कारण नही । उन्होंने अन्य नेताओं से परामर्श लेना अधिक पसन्द किया जो उतने परिपक्व आदर्श-प्रेरित तथा निष्पक्ष नहीं थे जितना कि राष्ट्रपति हो सकता था । हिन्दुस्तान टाइम्स, १४ ई, १९६७

राष्ट्रपति परामर्शदाता के रूप में

प्रधानमंत्री की तुलना में उचित सामंजस्य स्थापित होने पर बेजहट के अनुसार राष्ट्रपति वास्तविक शक्ति सम्पन्न न होने पर भी राजनीति में अत्यधिक प्रभावशाली हो सकता है। ब्रिटिश राजा को परामर्श देने, प्रोत्साहित करने, तथा चेतावनी देने की तीन शक्तियाँ प्राप्त हैं। बेजहट का कथन है कि एक राजा को उससे अधिक शक्तियों की आवश्यकता नहीं होती है। भारत का राष्ट्रपति भी उस परामर्श से पर्याप्त लाभ उठा सकता है। राजनीति व राजनैतिक दलों से पृथक रहकर वह राज्य की राजनीति को समझने की श्रेष्ठ स्थिति में होता है। यह प्रधानमंत्री का कर्तव्य होता है कि वह राष्ट्रपति को सभी ऐसे निर्णयों से सूचित करे जो संघ के प्रशासनिक मामलों में, तथा विधि निर्माण के सदर्भ में उसके मन्त्रि-मण्डल द्वारा लिए गए हों। साथ ही राष्ट्रपति उनके सदर्भ में प्रधानमन्त्री से अतिरिक्त सूचना भी मांग सकता है। उसकी गरिमामय स्थिति तथा उसका निष्पक्ष स्वरूप इस तथ्य को निश्चित कर देते हैं कि उसके द्वारा दिया गया परामर्श अत्यधिक सम्माननीय होगा। यदि राष्ट्रपति परिश्रमी, बुद्धिमान तथा चतुर हो तो उसकी उपेक्षा करना प्रधानमन्त्री के लिए असम्भव होगा। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के लिए यह कहा जाता है कि वे अपने कार्यक्रम के कई घण्टे विभिन्न विधेयकों, क्षमादान की याचिकाओं, कानूनों तथा इसी प्रकार के अन्य कई आलेखों का अध्ययन करने में व्यतीत करते थे। किसी भी व्यक्ति को तब तक न तो जेल भेजा जा सकता था और न ही किसी को क्षमादान ही दिया जाता था जब तक डा० प्रसाद स्वयं उस मामले की पूर्ण खोजबीन नहीं कर लिया करते थे। स्वभाव से नम्र होने के कारण राष्ट्रपति अपने मंत्रियों में पुनर्विचार की भावना को प्रेरित करते थे। टाइम्स ने मार्च १९६३ में उनके बारे में लिखा था "उनकी बौद्धिक शक्ति, विश्व के मामलों की उनकी गहन जानकारी तथा प्रशासनिक मामलों में उनकी पटुता ने उन्हें अपने देश की गृह तथा विदेश नीति के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण वास्तविक प्रभावशाली व्यक्ति बना दिया था।" जगजीवनराम, जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से केन्द्रीय मन्त्री रहे हैं, ने सरकार की नीतियों तथा कार्यों पर डा० प्रसाद के कार्यकारी प्रभाव को स्वीकार किया है। महत्त्वपूर्ण विषयों पर डा० प्रसाद स्वयं व्यक्तिगत रूप से मंत्रियों से पत्र-व्यवहार किया करते थे। कहा जाता है कि ये पत्र पांडित्य के नमूने तथा गहन अध्ययन तथा विश्लेषण का प्रमाण थे। जो पत्र सरकार की कृषि तथा खाद्य नीति व गुप्तचरी के विषय में लिखे गये थे उनका पर्याप्त प्रचार किया गया। ७ दिसम्बर १९५९ की लांबी की रिपोर्ट्स में कहा गया है कि राष्ट्रपति ने उच्च पदों पर स्थित मंत्रियों सहित अन्य अधिकारियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करवाने के लिए एक शक्तिशाली आयोग की नियुक्ति का सशक्त आग्रह किया। यह कहा जाता है कि करनाल हत्याकाण्ड की रिपोर्ट प्रकाशित होने के तुरन्त पश्चात् राष्ट्रपति ने पंजाब के मुख्य मन्त्री तथा अन्य उच्च अधिकारियों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक टिप्पणी सहित पत्र भेजा था। राष्ट्रपति का यह पत्र उस आन्दोलन की अंतिम परिणति थी जो भूतपूर्व वित्त मंत्री डा० सी० डी० देशमुख द्वारा इस प्रकार के जाँच आयोग की स्थापना की आवश्यकता को लेकर चलाया जा रहा था। राष्ट्रपति का

पत्र मिलने के पश्चात् कहा जाता है कि प्रधानमन्त्री नेहरू ने तत्काल सी० डी० देशमुख से पत्र-व्यवहार किया। इन सब घटनाओं से एक निष्कर्ष यह निकाला जाता है कि चूंकि डा० प्रसाद को अत्यधिक सम्मान प्राप्त था अतः इस तथा इसके अतिरिक्त डा० प्रसाद के अन्य कई हस्तक्षेपों का सरकारी निर्णयों पर उससे कहीं अधिक प्रभाव पड़ा होगा जिसकी सामान्यत. कल्पना की जाती है। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि डा० राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति के रूप में मात्र सम्माननीय किन्तु वास्तविक प्रभाव से रहित व्यक्ति नहीं थे।[38]

अस्तु राष्ट्रपति केवल नाममात्र का अध्यक्ष नहीं है। वह डा० राजेन्द्र प्रसाद की भाँति परोक्ष रूप से कार्य करते हुए अपने मन्त्रियों से तदनुसार कार्य करने का आग्रह कर सकता है। किन्तु, इस प्रकार का आग्रह एक सीमा तक ही किया जा सकता है। यह सीमा डॉ० राधाकृष्णन द्वारा चौथे आम चुनावों के पश्चात् राजस्थान के मामलों में हस्तक्षेप करने में स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हुई। यद्यपि उस राज्य में राष्ट्रपति का शासन बना रहना पर्याप्त शंकास्पद बन गया था तथा राज्य विधान सभा के ९३ विरोधी (कुल १८४ सदस्यों में से) सदस्यों द्वारा व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति भवन में उपस्थित होने पर भी राष्ट्रपति ने राष्ट्रपति शासन की घोषणा को समाप्त करने के लिए कुछ नहीं किया। उन्होंने उस समय उपस्थित गृह मन्त्री से मात्र यही पूछा कि इस संदर्भ में उनका क्या कहना था।

संविधान का गौरवपूर्ण अंश

राष्ट्रपति संविधान का गौरवपूर्ण अंश है। इस प्रकार भारत में राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार ब्रिटेन के राजा की है, अर्थात् वह राष्ट्रीय एकता का प्रतीक, भक्ति का प्रेरक तथा उत्सवों का आकर्षण है। वह सामान्य व्यक्ति की रुचि का केन्द्र है। उसका जीवन तथा गतिविधियाँ व्यापक सार्वजनिक प्रचार प्राप्त करती हैं। वह जहाँ कहीं भी जाता है भीड़ को आकर्षित करता है। वह जनता से सम्बन्धित है। वह अपने व्यक्तित्व में सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। वह जनता के लिए गौरव का मूर्त रूप है। उसके द्वारा उद्‌घाटन के उत्सव, शताब्दी समारोह तथा अन्य राष्ट्रीय आयोजनों की अध्यक्षता करना प्रतिष्ठा तथा गौरव का विषय माना जाता है। स्वतन्त्रता की पूर्व संध्या, गणतंत्र दिवस तथा नये वर्ष पर उसके भाषण पर्याप्त रुचि से देश के सभी घरों में सुने तथा पढ़े जाते हैं। वह गणतन्त्र दिवस पर परेड की सलामी लेता है जिसे लाखों लोग रुचि से देखते हैं। राष्ट्रपति से कोई भी व्यक्ति आसानी से मिल सकता है। डॉ० राधाकृष्णन ने सप्ताह के कुछ दिन जनसामान्य से (बिना पूर्व सूचना) के मिलने के लिए निर्धारित किये थे। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने एक बार राष्ट्रपति की राजकीय शोभा यात्रा को दिल्ली की भीड़ में इसलिए रुकवा दिया था क्योंकि भीड़ में से किसी किसान ने उन्हें 'राजेन बाबू' कहकर पुकारा था।

---

३८ दि टाइम्स, १ मार्च, १९६३

समाज, लोकाचार तथा नैतिकता का नायक :

राष्ट्रपति समाज को लोकाचार, नैतिकता तथा व्यवहार के क्षेत्र मे नेतृत्त्व प्रदान कर सकता है। इसका व्यावहारिक उदाहरण भी प्रस्तुत है। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने कुटीर उद्योगो को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। राष्ट्रपति भवन मे कारपेट गलीचो, चांदी के नक्काशीदार बर्तनों तथा मणिपुरी कशीदे की हस्तकला को प्रोत्साहन मिला। उनके प्रोत्साहन के कारण हैदराबाद की विदरी कला का पुर्नविकास हुआ। वे एक बार अपने प्रवास के दौरान एक गाँव मे गए जहाँ इस कला के मात्र दस कारीगर बचे थे— वहाँ उन्होंने कई हजार रुपये का सामान तैयार करने का आदेश दिया। परिणामस्वरूप एक नष्ट प्राय कला पुनर्जीवित हुई तथा कई हजार कारीगरों ने कार्य करना प्रारम्भ किया। आज देश इस कला से दो करोड रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित कर रहा है। उनके काल मे राष्ट्रपति भवन सपूर्णत: भारतीय कलात्मक वस्तुओं से सजाया गया था जिससे उसका वातावरण पूर्णत: भारतीय बन गया था। वे सादगी व सरलता के साक्षात रूप थे। उन्होने अपने वेतन मे तीन–चौथाई कटौती को सहर्ष स्वीकार किया। यह परम्परा उनके उत्तराधिकारी डॉ० राधाकृष्णन ने भी बनाए रखी। डॉ० राधाकृष्णन अपने शांत, स्वाभिमानी रूप मे प्लेटो के दार्शनिक राजा के विचार को प्रमाणित करते हुए अपने पांडित्य तथा विद्वता के लिए सभी लोगो से सम्मान प्राप्त करते थे। ६ जून १९६३ को उनके व्यक्तित्व पर एक लेख लिखते हुए ऑब्जर्वर ने लिखा था "अपने श्वेत साफे व सुनहरी फ्रेम वाले चश्मे से विद्वता का प्रसार वे प्रकाशस्तंभ के समान करते हैं।" एक औपचारिक अध्यक्ष होते हुए भी वह भारत की विद्यमान प्रवृत्तियों विश्वास खोने व विघटित होने का प्रतिरोध करने में समर्थ रहे है।[४०]

वैदेशिक मामलों पर प्रभाव :

राष्ट्रपति के औपचारिक कार्यों में एक महत्त्वपूर्ण कार्य भारत की राजधानी मे आने वाले विदेशी अतिथियो का आतिथ्य करना है। इसी प्रकार उनकी विदेशी यात्राएँ विदेशो मे भारत की प्रतिष्ठा बढाती हैं। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद बहुत अच्छे आतिथेय माने जाते थे *क्योंकि वे अपने मेहमानो की व्यक्तिगत आवश्यकताओ तक का स्वयं ख्याल करते* थे। एक सहायक ने एक बार कहा कि 'राष्ट्रपति छोटी से छोटी बात पर भी खुद ध्यान

---

४० इसके विपरीत डॉ. राधाकृष्णन द्वारा पिछले एक गणतंत्र दिवस पर प्रसारित भाषण कई लोगों द्वारा सरकार के प्रति स्पष्ट अविश्वास की घोषणा माना गया जो राष्ट्रपति के लिए उचित नहीं था। राष्ट्रपति ने अपने भाषण के दौरान कहा था—"गत वर्ष स्वतन्त्रता के पश्चात् प्राकृतिक विपदाओ तथा मानवीय असफलताओं के कारण निकृष्टतम वर्ष रहा है। बढ़े हुऐ कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन के बावजूद हम बढ़ती हुई जनसंख्या की माँगो को पूरा करने मे असमर्थ रहे हैं। अकाल की स्थिति बड़ी विकट है। इन सब प्राकृतिक दुर्घटनाओ पर ध्यान देने के बावजूद हम व्यापक कार्य अक्षमता या अपने स्रोतो के दुरुपयोग को विस्मृत नहीं कर सकते।" यह कहा जाता है कि इस भाषण से श्रीमती गांधी इतनी अधिक रुष्ट हुईं कि उसी समय उन्होंने डॉ. राधाकृष्णन को दुबारा मनोनीत न करने का निर्णय कर लिया।

देते हैं।' यह कहा जाता है कि कभी किसी मेहमान को यदि समय हो तो उसे संपूर्ण भवन का निरीक्षण करवाने के लिये वह ले जाते थे तथा ऐसा करते समय अपने निजी सेवक के निवास पर अवश्य रुकते थे। राष्ट्रपति के रूप में डॉ० प्रसाद जापान, इंडोनेशिया, मलेशिया, कंबोडिया, दक्षिणी वियतनाम, लाओस, लंका तथा रूस गये थे। इन सभी जगहों पर उनका शाही स्वागत किया गया। ये यात्राएँ पर्याप्त लोकप्रिय हुईं तथा इनसे इन देशों के भारत से सम्बन्धों में पर्याप्त सुधार हुआ। इन देशों के साथ हमारे देश के सम्बन्ध शताब्दियों पुराने थे जो इन यात्राओं के कारण पुनर्जीवित हुए। बौद्ध धर्म वाले देशों ने उनका स्वागत और भी अधिक स्नेह से किया क्योंकि सारनाथ के बौद्ध मन्दिर को अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध संगठन के नियंत्रण में हस्तलिखित हस्तांतरित करने में उन्होंने पर्याप्त प्रयास किए थे। इसी प्रकार डॉ० राधाकृष्णन की रूस, अमेरिका व ब्रिटेन की यात्राएँ इन देशों के साथ सम्बन्ध को अच्छा बनाने में पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुईं। राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् को सर्वत्र उच्च प्रतिष्ठा वाला व्यक्ति (न्यूयार्क टाइम्स) अपवादात्मक रूप से अच्छा व्यक्ति तथा एकमात्र दार्शनिक राजनीतिज्ञ (ऑब्जर्वर) बताया गया। ये पहले दो राष्ट्रपति भारत की संस्कृति, दर्शन तथा परम्परा के क्षेत्र में संपूर्ण महानता के प्रतीक थे तथा वे जहाँ भी गये वहाँ अमिट प्रभाव भी छोड़ कर आये। तृतीय राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन भी विद्वान तथा सांस्कृतिक सुरुचिवान् व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी विदेशी यात्राओं में विशेषतः मुस्लिम देशों की यात्राओं में पर्याप्त सद्भावना तथा मित्रता प्राप्त की। इस प्रकार राष्ट्रपति को व्यक्तिगत रूप से अपने देश के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है। यदि वह दृष्टिकोण गम्भीरता, सद्इच्छा तथा ईमानदारी से प्रस्तुत किया जाए तो यह भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को पर्याप्त रूप से प्रभावित कर सकता है।

अस्तु, हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारत का राष्ट्रपति एक नाममात्र का अध्यक्ष नहीं है। उसे नीतियों, निर्णयों तथा कार्यों को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावित करने के अनेक अवसर उपलब्ध हैं। प्रत्येक नया राष्ट्रपति स्वाभाविकतः इस प्रभाव को किस रूप से प्रयुक्त करेगा, यह उसकी व्यक्तिगत विशेषता तथा सार्वजनिक स्थिति पर निर्भर होगा। साधारणतः वह शासन नहीं करेगा किन्तु निश्चित रूप से वह अनेकों भारतीयों के दिलों व मस्तिष्क पर राज्य कर सकता है व करेगा।[४२] असाधारण

---

४१ अशोक चन्दा ने डॉ० राधाकृष्णन के लिए लिखा है : उनके जीवन की सादगी, उनकी किसी भी उस व्यक्ति से मिलने की तत्परता जो उनसे मिलना चाहता था, नयाचार (protocal) से परिपूर्ण दिल्ली शहर में भी उनकी प्रत्येक भेटकर्ता से असंदिग्ध विनम्रता, इन सभी गुणों ने उन्हें 'जनता का राष्ट्रपति' बना दिया था। इसमें और अधिक वृद्धि तब हुई जब उन्होंने मुगल उद्यान में दुखी तथा पीड़ित नागरिकों से याचना-पत्र लेना प्रारम्भ करने का निर्णय किया। (हिन्दुस्तान टाइम्स, १४ मई, १९४७)

४२ लक्ष्मी ने अप्रैल १९६३ में उत्तर प्रदेश—अंक में हमारे प्रथम राष्ट्रपति के विषय में यह लिखा—एक विकट संक्रमण काल में डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने न तो शासन किया न राज्य किया, उन्होंने केवल राज्य के अध्यक्ष के रूप में ही नहीं अपितु भारत की स्वतन्त्र आवाज के रूप में भी कार्य किया। वह हमारे जार्ज वॉशिंगटन थे।

परिस्थितियों में जब सरकार दुर्बल, अस्थिर तथा राजनैतिक भ्रष्टाचार व कार्यकारी बाधाओं के कारण असुरक्षित होती है, सामाजिक तथा आर्थिक अराजकता को नियन्त्रित करने में असमर्थ होती है और देश की स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा बनाए रखने के योग्य नहीं होती तो ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्रपति एक सवैधानिक अध्यक्ष से अधिक प्रभावशाली हो सकता है। वह ऐसी परिस्थिति में सक्रिय तथा प्रभावी राष्ट्रपति के रूप मे उभर सकता है। किन्तु यह शुद्ध रूप से अस्थाई व्यवस्था होगी जिसका उद्देश्य एक गम्भीर समस्या के लिए चरम उपचार प्रदान करना हो सकता है। यदि यह व्यवस्थास्थाई हो जाती है तो निस्सदेह भारतीय शासन व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हो जाएगा।

Further readings

1. *Lacy, Creighton* : **Indian Insights**, (Public issues in private perspective) Orient Longman, 1972 (ch, 1, pp. 15–46)

2. *Quraishi, Z. M.* : **Struggle for Rashtrapati Bhawan**(A study of presidential Elections), Delhi, Vikas Publising House, 1973, pp. 139–147).

3. *Rao K. V.* **Parliamentary Democracy of India** (A critical study), Calcutta, World Press, 1965, pp. 27–63.

१५

प्रधानमंत्री का पद : शक्ति के संस्थाकरण का आग्रह

(ग्रेट ब्रिटेन के विषय में यह कहा गया है कि वहाँ लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था संसदीय सरकार से कैबिनेट सरकार और अततः प्रधानमंत्रीय सरकार में परिणत हुई है। भारत के संदर्भ में भी यह कहा जाता है कि यहाँ राजनैतिक व्यवस्था उसी प्रकार विकसित हो रही है जैसे कि ग्रेट ब्रिटेन में वह परिवर्तित हुई थी, यद्यपि इस विषय में सर्वसम्मति का अभाव है। इस विवाद के बावजूद इसमें इकार नहीं किया जा सकता कि 'अधिकांशतः' प्रधानमंत्री का पद इस प्रकार की धुरी बनने की प्रवृत्ति रखता है जिसके इर्द-गिर्द समूची राजनैतिक व्यवस्था घूमती है। प्रधानमंत्री का पद व्यक्तित्व-अभिमुखीकरण एवं संस्थाकरण का मिश्रित रूप रहा है। यद्यपि अभी तक संभवतः प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व ने संस्थागत रूप की अपेक्षा इस पद के स्वरूप को अधिक प्रभावित किया है, फिर भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि कम से कम दो प्रभुताशाली व सशक्त प्रधानमंत्रियों—पं० जवाहरलाल नेहरू व श्रीमती इंदिरा गांधी के रूप में व्यक्तित्व सम्बन्धी घटकों ने प्रधानमंत्री पद के अनेक पक्षों को संस्थाकृत करने के लक्ष्य में सहायता प्रदान की है।

हरीश खरे ने अपने लेख 'दि इंडियन प्राइम मिनिस्टर : ए प्ली फॉर इंस्टीट्यूशनलाईजेशन ऑफ पावर' (जरनल ऑफ कॉन्स्टीट्यूशनल एण्ड पार्लियामेन्टरी स्टडीज, जनवरी, मार्च, १९७१ पृ० २२–५०) में न केवल प्रधानमंत्री पद के राजनैतिक-प्रशासकीय आयामों सहित उसकी विकास प्रक्रिया से सम्बन्धित अर्थपूर्ण विवेचन किया है बल्कि एक प्रबल तर्क इस पक्ष में भी दिया है कि उसके पद में सम्बन्धित संस्थाकरण की चालू प्रक्रिया को पूरा किया जाए।

—सम्पादक)

भारत में राजनीति के क्षेत्र में ब्रिटेन से जो विभिन्न विरासतें मिली हैं उनमें से एक महत्वपूर्ण विरासत सार्वभौमिक प्रजातंत्रीय गणतंत्र के सवैधानिक ढाँचे में प्रधानमंत्री की

प्रदत्त केन्द्रीय स्थिति है। यद्यपि राष्ट्र का अध्यक्ष राष्ट्रपति कहा गया है तथापि शक्ति संरचना का मूलतः ब्रिटेन के समान प्रधानमंत्री ही अध्यक्ष है। कार्यपालिका के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होने के सिद्धान्त का परित्याग कर वर्तमान में वस्तुतः ब्रिटेन में संसद् की संप्रभुता का स्थान मंत्रिमण्डल की संप्रभुता ने ले लिया है। यह मंत्रिमण्डल की संप्रभुता अंततः प्रधानमंत्री की सरकार की सम्प्रभुता है। ब्रिटेन के विपरीत भारत में अभी तक प्रधानमंत्री अस्पष्ट तथा अनिश्चित स्थिति में है। हाल ही के राजनैतिक संकट के समय यह बात पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो चुकी थी और कांग्रेस-विभाजन (१९६९) के अवसर पर ऐसे मूलभूत प्रश्नों पर न्यूनतम सहमति का अभाव पाया गया जैसे, राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री व उसके दल के अध्यक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध क्या हों ? तद्विषयक लेख में प्रधानमंत्री की शक्तियों की परिवर्तनशीलता तथा उन्हें संस्थागत स्वरूप प्रदान करने की वांछनीयता पर प्रकाश डाला गया है। प्रधानमंत्री के संस्थागत स्वरूप का निर्धारण करने के पश्चात् ही भारत की संवैधानिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री को केन्द्रीय स्थिति देते हुए उसे स्वामित्व प्रदान किया जा सकता है। संविधान निर्माता ऐसा ही चाहते थे।

भारतीय संविधान में प्रधानमंत्री पद का उल्लेख मात्र तीन बार किया गया है। प्रथम, अनुच्छेद ७४(१) में—'राष्ट्रपति के कार्यों में सहायता तथा परामर्श देने के लिए एक मंत्रिमंडल होगा जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री कहलाएगा'; द्वितीय, अनुच्छेद ७५(१) में—प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी तथा तृतीय, अनुच्छेद ७८ में—जहाँ प्रधानमंत्री के कर्त्तव्य तथा नियुक्ति के विषय में ब्रिटिश परम्परा के पूर्ण निर्वहन की भारतीय राजनीति में व्यवस्था है। नये संविधान को क्रियान्वित करने के प्रारम्भिक १४ वर्षों में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की उपस्थिति के कारण प्रधानमंत्री के विषय में इन परम्पराओं का और अधिक दृढ़ीकरण हुआ।[२] पिछले बीस वर्षों में प्रधानमंत्री, मुख्य प्रशासक, मुख्य अर्थशास्त्री, मुख्य विधायक तथा मुख्य राजनयिक के रूप में देश के सम्मुख उपस्थित हुआ है। संवैधानिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री की स्थिति से सम्बन्धित एक पर्याप्त

१ हम्फ्री बर्कले ने अपनी पुस्तक 'दि पावर ऑफ़ प्राइम मिनिस्टर (लंदन एलन एण्ड अनवीन १९६८ में पृष्ठ ११९ पर लिखा है वेस्टमिंस्टर में संसदीय प्रजातंत्र समाप्त हो चुका है—ब्रिटिश व्यवस्था का मूल दुर्गुण प्रधानमंत्री के पास राष्ट्रपति से भी अधिक शक्तियों का होना है। आर०एच०एस० क्रासमैन ने, ए.थोनी किंग द्वारा संपादित पुस्तक 'दि ब्रिटिश प्राइम मिनिस्टर, लंदन. मैकमिलन में १९६९ पृ० १६३ पर लिखा है द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में मंत्रीमण्डलीय शासन प्रणाली प्रधानमंत्रीय शासन प्रणाली में परिवर्तित हो गई है।

२ नेहरू कैबिनेट शासन प्रणाली की सभी स्थापित परम्पराओं के साथ प्रधानमंत्री बने। प्रधानमंत्री बनने से पूर्व राष्ट्रीय नेता होने का महत्वपूर्ण गौरव उन्हें प्राप्त हुआ था उन्होंने राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री को नियंत्रित करने की किसी भी संभावना को पूर्णतः नष्ट कर दिया। यह इतनी दृढ़ता से हुआ कि नेहरू की मृत्यु के बाद शास्त्री के प्रधानमंत्री तथा डा० राधाकृष्णन् के राष्ट्रपति होने पर भी यद्यपि राष्ट्रपति प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले थे किन्तु शक्ति संतुलन उनके पक्ष में नहीं झुका। प्राण चोपड़ा, 'प्रधानमंत्री : शक्ति की संरचना' दि इण्डियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली, सितम्बर १२, १९७१।

विचारसंगत मूल्यांकन प्रशासनिक सुधार–आयोग द्वारा अपनी रिपोर्ट में इस प्रकार किया गया है—

"संविधान सरकार की कार्यपालिका में प्रधानमंत्री को विशिष्ट स्थिति प्रदान करता है। वह न केवल मन्त्रिमंडल का अध्यक्ष–समकक्षों में प्रथम ही है–अपितु वह राष्ट्रपति का मुख्य परामर्शदाता भी है। उसकी उच्च स्थिति उसे इस बात का विशिष्ट उत्तरदायित्व सौंपती है कि वह यह देखे कि कार्यपालिका प्रभावशाली रूप से कार्य करती है, संयुक्त उत्तरदायित्व का उचित रूप से क्रियान्वयन होता है, राजनीति कोई प्रयासक रहते हुए वास्तविक तत्परता के साथ क्रियान्वित की जाती है, तथा प्रशासन जनता की आकांक्षाओं के अनुकूल ही कार्य करता है।" [३]

तथापि प्रधानमंत्री के बारे में समकक्षों में प्रथम (primus interpares) के विचार का ब्रिटेन में परित्याग कर ही दिया गया है। अब भारत के संदर्भ में भी इस विचार का विशेष औचित्य नहीं रहा है।

संस्थागत ढांचा

संविधान भारत के प्रधानमन्त्री की शक्तियों का उल्लेख नहीं करता है। अतः उसकी शक्तियों को जानने के लिए हमें संविधान से परे अन्य स्रोतों को देखना होगा जिनसे प्रधानमंत्री अपनी अतिव्यापक शक्तियों तथा स्थिति को प्राप्त करता है। यह एक विरोधाभास है कि प्रधानमंत्री को शक्ति प्रदान करने वाले तत्वों का स्वरूप गत्यात्मक तथा परिवर्ती है। वे तत्व एक ओर जहां उसकी शक्ति का कारण हो सकते हैं वहीं दूसरी ओर वे उसकी दुर्बलता के कारण भी बन सकते हैं।

(अ) निर्वाचन का स्वरूप :

उत्तर–नेहरू काल में प्रधानमंत्री पद के तीन उत्तराधिकारियों की निर्वाचन प्रक्रिया का अध्ययन (मई जून १९६४, जनवरी १९६५ तथा मार्च १९६७) इस बात को स्पष्ट करता है कि प्रधानमंत्री पद के निर्वाचित व्यक्ति की शक्ति इस बात से प्रभावित होगी कि यह निर्वाचन किस प्रकार हुआ तथा उसमें भाग लेने वाले व्यक्ति किस प्रकार के थे। यदि विजेता दल की एक शक्तिशाली सत्या का मनोनीत व्यक्ति है (जैसे मई–जून १९६४ में हुआ) तो दलीय पद सोपान-क्रम में उच्च स्थिति वाले ये दलीय नेता निस्संदेह एक दुर्बल प्रधानमंत्री का चयन करेंगे। [४] इसके पश्चात् प्रधानमंत्री अपने पद व स्थिति के

---

३ प्रशासनिक सुधार आयोग : "रिपोर्ट ऑफ दि मशीनरी ऑफ गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, एण्ड इट्स प्रोसीजर्स ऑफ वर्क, नई दिल्ली, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, १९६९, पृ. ९

४ मई-जून १९६४ तथा १९६६ में मोरारजी देसाई के प्रधानमंत्री बनने का प्रस्ताव इन दलीय नेताओं द्वारा सिर्फ इसलिए ठुकरा दिया गया क्योंकि मोरारजी देसाई एक शक्तिशाली व्यक्तित्व वाले उम्मीदवार थे। संजीवरेड्डी जिन्होंने प्रथम दो उत्तराधिकारियों के चयन में मुख्य भूमिका अदा की थी, ने मोरारजी देसाई की उम्मीदवारी के लिए कहा था 'वे अत्यधिक' कठोर व हठ हैं, तथा सोचते हैं कि मात्र वे ही उचित मार्ग को जानते हैं, मात्र इसी कारण हमने प्रधानमंत्री पद के लिए उनकी उम्मीदवारी का विरोध किया। माइकेल ब्रिचर सक्सेशन इन इण्डिया, लंदन ऑक्सफोर्ड १९६ पृ. ७९.

कारण जिन शक्तियों को प्राप्त करेगा वे उनमें सफलतापूर्वक हस्तक्षेप भी करेंगे। [६] यदि प्रधानमंत्री पद के प्रत्याशियों के भाग्य का निर्धारण उपयुक्त प्रतियोगिता के आधार पर किया जाता है, जैसा कि जनवरी १९६६ में हुआ तो प्रधानमंत्री एक नैतिक शक्ति प्राप्त कर लेता है। तब वह अपनी इस शक्ति पर पड़ने वाले सम्भावित दबावों का सामना कर सकता है। किन्तु कांग्रेस की शक्ति संरचना (तथा इस मामले में भारत के किसी भी राजनीतिक दल की संरचना) केन्द्रीय रूप से संगठित होते हुए भी शक्ति के पद सोपान क्रम से संघात्मक है। अतः जब तक कोई नेता जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व का न हो तब तक वह अपने बल पर दलीय नेता का चुनाव जीतने में सफल नहीं हो सकता। उसे इच्छापूर्वक अथवा अनिच्छापूर्वक ऐसे विभिन्न गुटों पर निर्भर करना ही होगा जो अपने वोट के बदले में समय पड़ने पर सौदेबाजी करने में नहीं चूकेंगे। शक्ति के रेखाचित्र में आने वाली वक्रता गम्भीर रूप से प्रधानमंत्री द्वारा राजनैतिक शक्ति के पदसोपान क्रम में संतुलन को बढ़ाने के प्रयास से प्रभावित होती है।

(ब) कांग्रेस के अध्यक्ष से सम्बन्ध :

प्रधानमंत्री तथा कांग्रेस दल का अध्यक्ष ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। संगठित होकर ये दोनों कांग्रेस के शक्ति पदसोपान क्रम के सर्वाधिक शक्तिशाली तत्व के रूप में उभरते हैं। संयुक्त रूप से वे अपनी सत्ता के विरुद्ध किसी भी चुनौती का सामना कर सकते हैं। संयुक्त रूप से इसी कारण नेहरू ने कांग्रेस अध्यक्ष की सहायक भूमिका की अनिवार्यता को स्वीकार किया था। १९६३ में कामराज योजना, प्रधानमन्त्री तथा कांग्रेस अध्यक्ष के विखंडित आदर्श का पुनर्निर्माण करने के लिए ही स्वीकार की गई थी। [७] नेहरू के बाद की भारतीय राजनीति में कामराज ने प्रधानमंत्री के पद पर दो उत्तराधिकारियों का चयन करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर कांग्रेस अध्यक्ष के पद को गरिमा के नये आयाम प्रस्तुत किए। किन्तु एक बार प्रधानमन्त्री का चुनाव पूरा होते ही तथाकथित 'राज विधाता' (king maker) का आकर्षण आधा तो समाप्त हो जाता है। आज कांग्रेस अध्यक्ष की प्रधानमन्त्री पर

---

६ लाल बहादुर शास्त्री के नेहरू के पश्चात् सर्वसम्मति से संसदीय कांग्रेस दल का नेता चुने जाने पर कामराज, जो प्रधानमंत्री के चयन में दल के मुखिया रहे थे, ने घोषणा की 'प्रधानमंत्री के रूप में वह (शास्त्री) समकक्षों में प्रथम' से अतिरिक्त प्रभावशाली नहीं होंगे और संयुक्त नेतृत्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाएगा। 'जी. एस. भार्गव . न्यूनीडर, दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली जून, ३, ६४.

७ नेहरू की शक्ति की पूर्ति के लिए तथा जहाँ आवश्यक हो उसे सतुलित करने के लिए एक शक्तिशाली कांग्रेस अध्यक्ष की आवश्यकता थी। जी० एस० भार्गव आफ्टर नेहरू इंडियाज न्यू इमेज, नई दिल्ली, एलाइड प्रकाशक, १९६६, पृष्ठ १०८/कामराज योजना के पश्चात् के युग की समालोचना करते हुए एक अनुभवी प्रेक्षक ने कहा है। "स्वतन्त्रता के पश्चात् के पहली बार प्रभावशाली शक्ति ·······सरकार के अध्यक्ष तथा कांग्रेस के अध्यक्ष से नियमित हुई है।" नई दिल्ली में शक्ति के केन्द्रीकरण का युग अब समाप्त हो रहा है। इन्दर मल्होत्रा, न्यू इम्पॉरटेन्स ऑफ कांग्रेस प्रेसीडेन्ट, दि स्टेट्समैन, नई दिल्ली, जनवरी ३१, १९६४।

दबाव डालने की क्षमता गम्भीर रूप से नष्ट हो गई है।[८] यथार्थ में कांग्रेस प्रध्यक्ष व प्रधानमन्त्री के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण करने वाले कई घटक होते हैं, जैसे उनका परस्पर सामंजस्य, कौन पूर्ववर्ती है, किसने चुनाव में क्या भूमिका प्रदा की है, क्या कांग्रेस अध्यक्ष मंत्रिमण्डल मे भी है या किसी राज्य का मुख्यमन्त्री है, कांग्रेस कार्य समिति तथा कांग्रेस संसदीय बोर्ड मे उनको कितना समर्थन प्राप्त है, प्रादि। ये तत्व मिलकर उनकी शक्ति के परस्पर सामंजस्य के अंतिम स्वरूप का निर्धारण करते हैं।

(स) मंत्रिमण्डल के सदस्यों से सम्बन्ध

सर्वैधानिक अर्थों में प्रधानमंत्री मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष होता है जबकि मंत्रिमण्डल संयुक्त रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल शक्ति का प्रयोग यद्यपि सामूहिक रूप से करता है किन्तु इसके अशों का निर्धारण संसदीय दल के पदसोपान क्रम में उनकी स्थिति के आधार पर होता है। मंत्रिमण्डल के मंत्रियों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है (I) वे मंत्री जो प्रधानमंत्री द्वारा मंत्रिमण्डल में लिए जाने से पूर्व भी दल में अपनी स्वतन्त्र स्थिति रखते थे (१६५० मे पटेल व आजाद, १६६४ में चव्हाण व पाटिल, १६६६ मे संजीव रेड्डी) (II) वे मंत्री जो प्रधानमंत्री द्वारा मन्त्रिमण्डल में लिए जाने से पूर्व भी महत्वपूर्ण थे तथा मंत्रिमण्डल मे स्थान मिल जाने के पश्चात् और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए। (जैसे सी० सुब्रह्मण्यम, १६६४ में अशोक मेहता व सरदार स्वर्णसिंह) तथा (III) वे लोग जो केवल इसलिए महत्त्वपूर्ण बन गए क्योंकि उन्हें मंत्रिमण्डल में शामिल कर दिया गया है (जैसे १६६७ मे दिनेशसिंह, के०के० शाह तथा फखरुद्दीन अली अहमद) प्रथम वर्ग के मंत्रियों से परामर्श लेना तथा उन्हें विश्वास में रखना प्रधानमंत्री के लिए आवश्यक हो जाता है। द्वितीय वर्ग के मन्त्रियों का परामर्श प्रधानमन्त्री लेता है किन्तु सुविधानुसार उसकी उपेक्षा भी कर सकता है, जबकि तृतीय श्रेणी के मंत्रियों की उपेक्षा बड़ी आसानी से की जा सकती है। यह वर्गीकरण स्थायी नहीं होता है तथा शक्ति के पदसोपान क्रम में स्थितियों की गतिशीलता के साथ उनका महत्त्व भी घटता-बढता रहता है। वी०के० कृष्ण मेनन इस विषय मे निकटतम मूल्यांकन प्रदान करते हैं—

"मंत्रिमण्डल मे प्रधानमंत्री सर्वशक्तिशाली नहीं है। सामान्य धारणा के अनुसार वह समकक्षों मे प्रथम है। इसके बावजूद वह प्रमुख तो है ही—चूंकि वह ऐसा समकक्षों में है इसलिये प्रश्न यह उठता है कि कितने समकक्षी उसके साथ हैं तथा कितने साथ नहीं हैं। द्वितीयतः समकक्षियों के साथ होने के कारण वह उनसे उसी ढंग से बात भी कर सकता है।[६] प्रधानमन्त्री मंत्रिमण्डल का सभापति होता है तथा यह तथ्य उसे इसकी बैठकों का समय

---

८ औपचारिक प्रावधानों के विपरीत प्रधानमंत्री दल तथा सरकार का वास्तविक नेता होता है अत. कांग्रेस के अध्यक्ष का प्रभाव न केवल उसकी अपनी नेतृत्व करने की योग्यता पर निर्भर करता है अपितु इस तथ्य पर निर्भर करता है। कि उसे प्रधानमन्त्री का विश्वास प्राप्त है। स्टानले एकोचनेक . दि कांग्रेस पार्टी ऑफ इण्डिया- प्रिंसिटन, प्रिंसिटन युनिवर्सिटी प्रेस, १६६८, पृष्ठ ४१।

६ माइकेल ब्रेचर, पूर्वोक्त, पृष्ठ १०६

निर्धारित करने, इसकी विषय सूची से सम्बन्धित निर्णय करने तथा सचिवालय पर नियंत्रण करने का अधिकार प्रदान करता है। यह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण तथ्य है जो एक औसत दर्जे के प्रधानमंत्री को भी अपने सहयोगियों की तुलना में पर्याप्त महत्व प्रदान कर देता है।

(द) मुख्यमंत्रियों के साथ सम्बन्ध

शक्ति के पदसोपान क्रम में मुख्यमंत्री प्रबुद्ध वर्ग में आते हैं। इस शताब्दी के पाँचवे दशक के अंतिम वर्षों में नेहरू का काग्रेस संगठन पर से प्रभाव कम होने लगा था, परिणामस्वरूप विभिन्न राज्यों के मुख्यमन्त्रियों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना प्रारम्भ किया जिससे शक्ति का सतुलन प्रधानमन्त्री के विपरीत मुख्यमन्त्रियों की ओर हो गया। प्रधानमन्त्री के उत्तराधिकारी के चयन में मुख्यमंत्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका, काग्रेस कार्य समिति की उनकी सदस्यता तथा अपने राज्यों के संसद् सदस्यों से प्राप्त स्वामिभक्ति ने मुख्य मंत्रियों को महत्त्वपूर्ण शक्ति प्रदान की है।[१०] मुख्यमंत्री प्रधानमन्त्री को उनकी महत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर सकते हैं, अतः वे एक दुर्बल प्रधानमंत्री को[११] पसद करते हैं। किन्तु एक स्थायी पदसोपान क्रम में शक्ति-संचरण एक ही दिशा में नहीं होता है। राज्यपाल की नियुक्ति करने में तथा प्रस्तावित लोकपालों की नियुक्ति में प्रधानमंत्री महत्त्वपूर्ण शक्ति रखता है। काग्रेस के विभाजन से पूर्व मुख्यमंत्रियों द्वारा समझौते के लिए किए गए आतुर प्रयास इस तथ्य के सूचक हैं कि केन्द्र में स्थायित्व तथा प्रधानमंत्री की शक्ति में मुख्यमन्त्रियों का सर्वाधिक हित है।[१२] काग्रेस दल के विभाजन के अंतिम चरण में आठ मन्त्रियों (महाराष्ट्र

१० पहले व तीसरे प्रधानमंत्री के बीच की अवधि में मुख्यमन्त्रियों को सर्वाधिक शक्ति प्राप्त हुई। शक्ति पदसोपान क्रम में उन्हें इतनी महत्ता प्राप्त हो गई कि उनके सक्रिय सहयोग के बिना किसी राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्न का निर्धारण नहीं किया जा सकता था। खाद्य स्थिति के विषय में बिना मुख्यमन्त्रियों के सहयोग के कोई निर्णय लेने की प्रधानमन्त्री की अनिच्छा के बारे में एक समाचार पत्र ने अपने सपादकीय में लिखा था 'अब समय आ गया है जब केन्द्रीय नेतृत्व अखिल भारतीय खाद्य नीति के उत्तरदायित्व को' संभाले तथा स्थानीय नेतृत्व को इस दिशा में किसी प्रयास अथवा उत्तरदायित्व से मुक्त कर दे। मुख्यमन्त्रियों में इस विषय पर समय-समय पर होने वाले विचार-विमर्श इस समस्या की उपेक्षा के दुःखद उदाहरण हैं।

११ कोई भी विचारशील मुख्यमन्त्री एक शक्तिशाली प्रधानमन्त्री के लिए वोट देकर अपनी शक्तियों में कटौती नहीं करवाएगा। अपनी विशिष्ट स्थानीय कठिनाइयों, अस्थिरताओं तथा असतुष्ट विरोधियों से एक मुख्यमन्त्री अपनी इच्छानुसार तभी निपट सकता है जब उस पर वाह्य नियन्त्रण कम से कम हो 'मेनस्ट्रीम, नई दिल्ली, फरवरी १६, १९६६ में जे डी सेठी का लेख' पावर स्ट्रक्चर एण्ड न्यू प्राइम मिनिस्टर।

१२ श्री वीरेन्द्र पाटिल तथा अन्य कांग्रेस मुख्यमन्त्री अपने उच्च पद की समाप्ति के भय से पीड़ित हैं अत उन्होंने जो कुछ निर्णय लिया है वह सर्वाधिक शक्तिशाली प्रेरक निजी स्वार्थ के वशीभूत होकर लिया है। इंदर मल्होत्रा, द स्टेट्समेन नई दिल्ली, नवम्बर १०, १९६६ एन ऑनेस्ट रिव्ल्ट इज बेटर देन शेम यूनिटी। एक दुर्बल केन्द्र का अर्थ आर्थिक विकास की निम्न दर है जो राज्यों के विकास को प्रभावित करती है और विरोधियों को आलोचना का अवसर प्रदान कर राज्यों को निम्न प्रकार के सघर्षों में व्यस्त करती है।

के वी० पी० नायक, आंध्र प्रदेश के ब्रह्मानन्द रेड्डी, मध्य प्रदेश के एस० सी० शुक्ला, राजस्थान के एम०एल० सुखाडिया, जम्मू काश्मीर के जी०एम० सादिक, आसाम के बी०पी० चालिहा, हरियाणा के बंसीलाल तथा हिमाचल प्रदेश के वाई० एम० परमार) ने प्रधानमन्त्री का साथ दिया तथा मात्र तीन मुख्यमंत्रियों (मैसूर के वी० पाटिल, गुजरात के एस० देसाई तथा यू०पी० के सी०बी० गुप्ता) ने पक्ष बदल कर संगठन का साथ दिया। इसके पश्चात् (आंध्रप्रदेश में तेलंगाना के प्रश्न पर रेड्डी को चुनौती) उत्तर प्रदेश (सी०बी० गुप्ता को अपदस्थ कर गवर्नर द्वारा चरणसिंह को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना, फिर उसे अपदस्थ करना तथा राष्ट्रपति शासन को लागू करना) बिहार हरिहरसिंह को सरकार बनाने का अवसर न देना, दरोगाराय की सरकार की स्थापना तथा कांग्रेस दल के नेतृत्व मे असंतुष्ट सदस्यों द्वारा परिवर्तन की मांग को अस्वीकृति) तथा आसाम (बी०पी० चालिहा के स्थान पर एम०एम० चौधरी का सर्वसम्मति से चुनाव) की घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि एक मुख्य मंत्री के पदासीन होने व बने रहने के लिए प्रधानमन्त्री की सहानुभूति अति आवश्यक होती है। एक विरोधी प्रधानमंत्री एक मुख्य मंत्री की राजनैतिक मृत्यु का कारण बन सकता है।

(इ) गणराज्य के राष्ट्रपति से सम्बन्ध :

भारत मे मन्त्रिमंडलीय शासन प्रणाली के घोर समर्थक भी कुछ ऊपरी महत्ता राष्ट्रपति को प्रदान करते हैं। प्रधानमन्त्री इंदिरा गांधी द्वारा डा० राधाकृष्णन् के स्थान पर डा० जाकिर हुसैन का चयन तथा संजीव रेड्डी के स्थान पर वी०वी० गिरि का समर्थन इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि प्रत्येक प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति भवन में एक मैत्रीपूर्ण व्यक्तित्व का होना पसंद करता है।[१३] एक मैत्रीविहीन राष्ट्रपति पर्याप्त सीमा तक प्रधानमंत्री के चुनाव को समाप्त कर सकता है।[१४] प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति के व्यक्तित्व का परस्पर सामंजस्य,

---

१३ यू० पी० प्रेस क्लब के सम्मुख बोलते हुए प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा कि 'राष्ट्रपति व प्रधानमन्त्री दोनों को संवैधानिक सीमाओं मे रह कर कार्य करना होता है। अतः उन दोनों में अधिकतम सहमति का होना आवश्यक है। दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, जून १६, १९६९।

१४ १९६९ में प्रधानमन्त्री की अभिव्यक्त इच्छा के विपरीत कांग्रेस दल द्वारा राष्ट्रपति पद के लिए संजीव रेड्डी का चयन व्यापक रूप से प्रधानमन्त्री की शक्तियों को सीमित करने का प्रयास माना गया था। यह कोई गुप्त बात नहीं है कि गिरि को कई कांग्रेस सदस्यों की अघोषित सहानुभूति तथा समर्थन प्राप्त था। ये सदस्य सिंडीकेट की योजना को प्रधानमन्त्री इंदिरागांधी को अपदस्थ करने तथा केन्द्र में दक्षिण पंथी सरकार की स्थापना का षड्यन्त्र मानते थे। अब यह राजधानी में आम चर्चा का विषय है। भूपेश गुप्त, नेशनल कैंडीडेट वी०वी० गिरि, देशमुख, ट्राजन हाउस, न्यू एज, नई दिल्ली, अगस्त ३, १९६९। एक वरिष्ठ संवाददाता ने संजीव रेड्डी के लिए लिखा था कि वे प्रधानमन्त्री के प्रभुत्व को समाप्त करने की सिंडिकेट की नई योजना का एक अस्त्र हैं जो राष्ट्रपति को स्वतन्त्र निर्णायक की स्थिति में लाना चाहते हैं (निस्सदेह जो अत्यधिक प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के हित में होगा) रोमेश थापर का इकोनोमिक एण्ड पालिटिकल वीकली' में लेख 'कन्फ्यूजन्स एण्ड मोर कन्फ्यूजन', बम्बई, अगस्त ६, १९६९.

राष्ट्रपति के चुनाव में प्रधानमंत्री द्वारा अदा की गई भूमिका, प्रधानमंत्री की राजनैतिक प्रतिष्ठा तथा देश की सामान्य राजनैतिक स्थिरता दोनों के परस्पर सम्बन्धों के स्वरूप का निर्धारण करेगी। प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी स्थिति को सशक्त बनाने का असफल प्रयास किया था किन्तु प्रधानमंत्री नेहरू ने इसे समाप्त कर दिया। तथापि डा० राधाकृष्णन् को चीन के आक्रमण के समय (१९६२) तथा तत्पश्चात् (१९६५) भाषा विवाद तथा भारत-पाक संघर्ष को लेकर प्रभावशाली बनने का अवसर मिला। डा० जाकिर हुसैन तथा वी०वी० गिरि दोनों इस उच्च पद पर प्रधानमंत्री के निजी प्रयासों के फलस्वरूप आसीन हुए अतः दोनों की तुलना में प्रधानमंत्री अधिक शक्तिशाली रहा है।

(ई) गैर कांग्रेसी सरकारों के प्रति दायित्व :

चौथे आमचुनाव के पश्चात् पहली बार प्रधानमन्त्री के व्यक्तित्व का दोहरा पक्ष प्रकट हुआ। यह दोहरा व्यक्तित्व था—संघीय संवैधानिक संरचना के अध्यक्ष तथा कांग्रेस दल के नेता का रूप। श्रीमती इंदिरा गांधी जैसी प्रधानमन्त्री का दलीय शक्ति के पद सोपान (hierarchy) में अतिरिक्त प्रभाव होगा क्योंकि उन्हें उन राजनैतिक दलों का समर्थन प्राप्त है जिनकी राज्यों में सरकारें हैं।[१५]

(जी) कांग्रेस संसदीय दल के साथ सम्बन्ध :

प्रधानमंत्री की शक्ति के विश्लेषण के अंतिम दौर में प्रधानमन्त्री का अपने संसदीय दल के साथ सम्बन्ध तथा लोक-सभा के अन्य विरोधी दलों के साथ सम्बन्ध एक मूलभूत तत्त्व के रूप में प्रकट होता है। सदन के निष्क्रिय सदस्यों की प्रधानमन्त्री में निष्ठा, प्रधानमन्त्री के आलोचकों को नियन्त्रित करती है तथा प्रधानमंत्री को किसी भी समस्या का मुकाबला करने के लिए शक्तिशाली बनाती है।[१६] यदि प्रधानमन्त्री का मन्त्रिमण्डल तथा संसदीय दल

---

१५ कांग्रेस के विभाजन के पश्चात् श्रीमती इंदिरागांधी के समर्थकों की गणना का अवसर उपस्थित हुआ तो सी०पी०आई० तथा डी०एम०के० के समर्थन के कारण वह उन लोगों को भी अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुई जो विभाजन के समय किनारे पर थे। रवात कांड को लेकर उनके पूर्व सहयोगियों ने जो स्थगन प्रस्ताव रखा था, वह ३०६ के मुकाबले १४० मत लेकर बुरी तरह से पराजित हुआ था। यह समर्थन अविभाजित कांग्रेस की सम्पूर्ण मतसंख्या से भी अधिक था।

१६ अगस्त १९६९ में राष्ट्रपति के चुनाव के मतदान तथा मतगणना की बीच की अवधि में जब कांग्रेसाध्यक्ष, प्रधानमन्त्री के विरुद्ध मुक्त वोट की मांग को लेकर अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की सोच रहे थे तो श्रीमती गांधी ने कांग्रेस संसदीय दल में अपने समर्थन को प्रदर्शित किया था। १७ अगस्त को उन्होंने यू०पी० के सांसदों, १८ अगस्त को अन्य हिन्दी भाषी राज्यों के १५० सांसदों तथा १९ अगस्त को गैर हिन्दी भाषी राज्यों के ७०४ सांसदों को सम्बोधित किया। २५ अगस्त १९६९ को जब कांग्रेस कार्य समिति अपने ऐतिहासिक अधिवेशन के लिए मिल रही थी, लगभग ३५० सांसद श्रीमती गांधी के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने के लिए एकत्र हुए तथा २२ (४० में से) स्वतन्त्र सांसदों ने भी प्रधानमन्त्री को समर्थन दिया। इस जानकारी ने कांग्रेस अध्यक्ष के रवैये को नरम बना दिया तथा प्रधानमन्त्री को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के विशेष अधिवेशन की मांग करने लिए प्रोत्साहित किया।

किसी विषय पर विभाजित होते हैं तो प्रधानमन्त्री उस विषय पर सदन के विरोधी दल का समर्थन प्राप्त कर सकता है।

संरक्षण

प्रधानमन्त्री जिस व्यापक रूप को संरक्षण प्रदान कर सकता है वह दलीय शक्ति के पदसोपान क्रम में उसकी महत्ता को बढ़ाने के लिए पर्याप्त है। गत जून १९७० के मंत्रिमण्डल में परिवर्तन के पश्चात् इस प्रकार के संरक्षण में गंभीर रूप से वृद्धि हुई है। वर्तमान में भी प्रधानमन्त्री योजना आयोग का अध्यक्ष है। मंत्रिमण्डल की दो अन्य अत्यधिक शक्तिशाली समितियाँ—राजनैतिक मामलों की समिति तथा वैदेशिक मामलों की समिति भी उसी की अध्यक्षता में गठित होती है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक लाईसेंस को भी उसका संरक्षण प्राप्त है और वह मंत्रिमण्डलीय सचिवालय तथा प्रधानमन्त्री के सचिवालय का भी मुखिया है।

ये तत्त्व संसदीय व्यवस्था के सामान्य राजनैतिक स्थायित्व के आधार पर परिवर्तित होते रहते हैं। एक सफल प्रशासन, विशेष आर्थिक स्तर तथा खाद्य के मामले में संतोषजनक स्थिति, पड़ौसी राज्यों तथा महाशक्तियों से संबंध, विरोधी दलों की स्थिति, तथा चुनावों के निर्णय, ये परिस्थितियाँ उन तत्त्वों को, जो प्रधानमन्त्री की सत्ता का निर्माण करते हैं, प्रभावशाली ढंग से परिवर्तित कर सकती हैं।

प्रस्तुत रेखाचित्र शक्ति के पद सोपान क्रम बनाम अन्य तत्त्वों की परिवर्तनशील स्थिति को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। ये तत्त्व हैं—गणराज्य का राष्ट्रपति, कांग्रेस का अध्यक्ष, मुख्यमंत्री, कांग्रेस कार्यकारिणी तथा कांग्रेस का संसदीय बोर्ड (जिसे इसके बाद में कांग्रेस उच्च कमान कहा जाएगा) कांग्रेस का संसदीय दल, मंत्रिमण्डल, संसद् तथा उसके बाहर विरोधी दल तथा प्रशासनिक सेवाएँ जो प्रभाव को इंगित करने वाली रेखाएँ, प्रभाव की दिशा तथा इसके स्वरूप को व्यक्त करती हैं। इसमें उत्तर नेहरू युग को चार भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम, शास्त्री का प्रधानमंत्रित्व काल; द्वितीय, चौथे आमचुनाव तक इंदिरा गांधी का प्रधानमंत्रित्व, तृतीय, चौथे आम चुनाव से कांग्रेस के विभाजन तक तथा चतुर्थ विभाजन के पश्चात् इस रेखाचित्र से स्पष्ट है कि प्रधानमंत्री की स्थिति दूसरे काल में सर्वाधिक दुर्बल तथा चौथे काल में सर्वाधिक सुदृढ़ रही। रेखाचित्र १ से ज्ञात होता है कि प्रधानमन्त्री को अपने सहयोगियों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव प्राप्त था। क्योंकि उन्होंने बहुत से महत्त्वपूर्ण निर्णय जैसे, परमाणु अस्त्र का निर्माण न करना मंत्रिमण्डल से स्वतन्त्र रह कर किए थे। किन्तु कांग्रेस अध्यक्ष के संदर्भ में यह प्रभाव साधारण था। शास्त्री ने जनवरी १९६५ में कामराज के पुनः कांग्रेस अध्यक्ष निर्वाचित होने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। दूसरी ओर मुख्य मंत्रियों तथा कांग्रेस उच्च कमान की स्थिति निर्णायक की थी जिसे उन्होंने भाषा तथा खाद्य संकट के समय स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया। इसी प्रकार, प्रशासनीय सेवाएँ भी मुख्य तत्त्व के रूप में सामने

गई। प्रभावशाली व्यक्ति होने के कारण राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् जब भी चाहते (जैसाकि उन्होंने भाषा विवाद के सदर्भ में किया भी) एक महत्वपूर्ण तत्त्व के रूप में प्रस्तुत हो सकते थे। शास्त्री कांग्रेस के संसदीय दल पर भी प्रधानमंत्री होने के नाते नियन्त्रण प्राप्त नहीं कर सके तथा उनके नीति सम्बन्धी निर्णय कांग्रेस के विभिन्न दबावों तथा प्रति-दबाव समूहों से प्रभावित हुए।

चित्र संख्या २–इंदिरा गांधी अपने निर्वाचन के स्वरूप के कारण अपने प्रभाव को तत्काल सशक्त नहीं बना सकी। मुख्यमंत्री, जो मोरारजी देसाई की प्रधानमन्त्री बनने की आकांक्षा को असफल करने में सफल सिद्ध हुए थे, उन्होंने प्रधानमन्त्री पर कठोर नियन्त्रण प्राप्त किया। कांग्रेस अध्यक्ष तथा उच्च कमान दोनों में अनिर्वायत वृद्धि हुई। प्रधानमन्त्री का मंत्रिमण्डल पर नियन्त्रण न केवल एस० के० पाटिल, संजीव रेड्डी, जगजीवनराम तथा वाई. बी. चव्हाण जैसे वरिष्ठ मन्त्रियों के दबाव से दुर्बल हुआ अपितु ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि प्रधानमन्त्री ने अपेक्षाकृत नये मन्त्रियों को सरकार में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने दी। मोरारजी देसाई के विरुद्ध पर्याप्त स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने के पश्चात् भी संसदीय दल के ऊपर प्रधानमन्त्री का नियन्त्रण नाममात्र का था तथा मुख्य मंत्रियों के माध्यम से ही उन्हें बहुमत प्राप्त हो सका था। विरोधी दलों से प्रधानमन्त्री का वैचारिक आदान-प्रदान भंग होने के कारण १९६६ का वर्ष 'वध' तथा कानून व व्यवस्था के अभाव का वर्ष साबित हुआ। मात्र एक दिशा में प्रधानमन्त्री की स्थिति सुधरी, राष्ट्रपति की तुलना में उनकी स्थिति सुधरी क्योंकि शक्ति संतुलन डा० राधाकृष्णन के पक्ष में नहीं रहा।

मार्च १९६७ से नवम्बर १९६९ के घटनाक्रम से सम्बन्धित चित्र ३ से यह स्पष्ट होता है कि प्रधानमंत्री को दो दिशाओं में स्पष्ट प्रभाव प्राप्त हुआ। प्रथम, राष्ट्रपति डा० ज़ाकिरहुसैन उनके द्वारा मनोनीत प्रत्याशी थे तथा उनकी विजय ने प्रधानमंत्री की शक्ति में यकायक वृद्धि की। दूसरे, संसद के नवीन कांग्रेसी सदस्यों से उन्हें अत्यधिक समर्थन प्राप्त हुआ। प्रधानमन्त्री का प्रभाव कांग्रेस अध्यक्ष (जो चुनाव में बुरी तरह पराजित हुआ था।) तथा कांग्रेस उच्च कमान पर (इसके मुख्य सदस्य एस० के० पाटिल, अतुल्यघोष, के० बी० सहाय आदि चुनाव हार चुके थे) बढ़ा तथा संजीव रेड्डी को लोकसभा का अध्यक्ष बना कर, प्रधानमन्त्री ने बडी चतुरता से उन्हें राजनीति से निर्वासित कर दिया। पूर्व मुख्य मन्त्रियों में से जो कुछ बचे वे अपने राज्य की राजनीति में अस्थिरता तथा दल बदलुओं से असंतुष्ट होकर प्रधानमन्त्री की सद्भावना प्राप्त करने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे। प्रशासनिक सेवाएँ भी दुर्बल हो गई थी। मन्त्रिमण्डल में मोरारजी देसाई की उपस्थिति के बावजूद उनके प्रधानमंत्री के साथ सम्बन्ध एकपक्षीय थे।

क्योंकि प्रधानमन्त्री ने समय-समय पर मन्त्रिमण्डल में न केवल परिवर्तन ही किए अपितु स्वयं मंत्रिमण्डल में संतुलन को वह अपने पक्ष में करने में स्पष्टतः सफल हुई। डी०एम०के० तथा साम्यवादी दलों से प्राप्त समर्थन ने प्रधानमंत्री के प्रभाव को और अधिक बढ़ाया।

चित्र नं॰ ४–१९७०

यह काल प्रधानमन्त्री की सर्वव्यापी शक्ति का है। मात्र विरोधी दलों के संदर्भ में ही प्रधानमन्त्री को आदेश देने की क्षमता प्राप्त नहीं हो सकी है। कांग्रेस का अध्यक्ष उन्हीं के

मंत्रिमण्डल का एक सदस्य है। कांग्रेस संसदीय दल की संपूर्ण निष्ठा उसे प्राप्त हो चुकी है। राष्ट्रपति वी०वी० गिरि का निर्वाचन बहुत कुछ श्रीमती गांधी के कारण हुआ है। प्रधानमन्त्री की व्यापक लोकप्रियता के कारण मुख्यमन्त्री तथा कांग्रेस उच्च कमान उसे रुष्ट करने का विचार भी नहीं कर सकते है। निम्नांकित चार रेखाचित्रों में प्रधान मंत्री की विरोधी दलों के संदर्भ मे स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। एक से चार सख्या के इन रेखा चित्रों मे विरोधी दलों को एक इकाई के रूप मे माना गया है तथा प्रत्येक राजनैतिक दल के चित्रों मे उन्हें प्रधानमन्त्री से समान दूरी पर रखा गया है। इसके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री को मिले राजनैतिक समर्थन (अथवा विरोधी) की समानता भी इसमें इंगित की गई है। (संयोगवश यह रेखाचित्र एक राजनैतिक दल के प्रभुत्व काल तथा उसके बाद के समय में भारतीय राजनीति के गैर-सैद्धान्तिक 'स्वरूप को भी स्पष्ट करता है।

रेखाचित्र संख्या (१) में हमें प्रधानमन्त्री द्वारा विरोधी दल के सदस्यों का समर्थन प्राप्त होने के कोई प्रमाण नही मिलते हैं। अक्टूबर १९६४ में मध्यावधि चुनावों के समय केरल मे हुई घटनाओं के पश्चात् वामपंथी दल विशेषतः मार्क्सवादी साम्यवादी दल प्रधानमन्त्री का कटु आलोचक बन गया था। सरकार की भाषा नीति की कटु आलोचना का नेतृत्व डी०एम०के० ने किया तथा उसके सम्मुख प्रधानमन्त्री के समर्पण ने जनसंघ को सरकार का विरोधी बना दिया। तथापि भारत पाकिस्तान के संघर्ष के सीमित समय के दौरान सभी विरोधी दलों ने प्रधानमन्त्री को सर्वसम्मत समर्थन प्रदान किया।

द्वतीय रेखाचित्र में बताया गया है कि किस प्रकार प्रधानमन्त्री की स्थिति और बिगड़ी। भारतीय मुद्रा के अवमूल्यन तथा कंट्रोल मे उदारता बरतने की नीति ने वामपंथी दलो को और अधिक आलोचक बना दिया। दक्षिण पंथी दलों मे जनसंघ ने ताशकंद समझौते तथा गौ-सुरक्षा के प्रश्न को लेकर प्रधानमन्त्री का विरोध किया जबकि अकाली दल तथा द्राविड़ मुनेत्र कषगम् स्थानीय भावनाओं के आधार पर खूब फले-फूले।

रेखाचित्र (३) के अन्तर्गत चतुर्थ आमचुनावों के पश्चात् भारतीय राजनीति में हुए उग्र परिवर्तनों को दर्शाया गया है। सी०पी०आई० तथा पी०एस०पी० प्रधानमंत्री के सक्रिय समर्थक बन गए जबकि सी० पी० एम० का विरोध कम हो गया। दक्षिण पंथी दलों मे प्रधानमन्त्री मे अकाली दल तथा द्र०मु०क० से संपर्क स्थापित किया जबकि जनसंघ तथा स्वतन्त्र दल इसके कटु आलोचक बने रहे।

चौथा रेखा चित्र, जिसमे कांग्रेस के विभाजन के पश्चात् के समय को दर्शाया है, भारतीय राजनीति के चित्र को बदल देता है। भा० साम्यवादी दल (सी०पी०आई०) तथा द्र०मु०क० अब गैर-सरकारी संयुक्त दलीय साझेदारो के सदस्य बन गये हैं। प्रधानमन्त्री का वाम पंथ की ओर झुकाव होने के बावजूद मा०मा० साम्यवादी दल (सी०पी०एम०) प्रधानमन्त्री की आलोचना करता है। प्र०स० दल (पी०एस०पी०) तथा सं०स० दल (एस०एस०पी०) दोनों इस विषय पर विभाजित हैं कि प्रधानमन्त्री के प्रति कौनसा रवैया

अपनाया जाए। दक्षिणी पंथी दलों में संगठन कांग्रेस, जनसंघ तथा स्वतन्त्र दल तीनों अब भी प्रधानमन्त्री के घोर विरोधी हैं।

प्रधानमंत्री की सत्ता-समुत्थान (recovery) के क्षेत्र

१९६९ के राजनैतिक संकट के दौरान भारत के सर्वाधिक विशाल राजनैतिक दल की क्षमता का जो ह्रास हुआ, उससे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य स्पष्ट होता है कि प्रधानमंत्री के पद का संस्थाकरण होना चाहिए। विभाजन के समय प्रधानमंत्री के पद पर तीव्र प्रहार[१७] किये गए तथा देश के गणमान्य लोगों द्वारा उसे स्वार्थी, धोखेबाज, दुष्ट बल्कि 'सुरक्षा के लिए एक खतरा' तक बताया गया। उसे षडयन्त्रकारी भी बताया गया।[१८] लोक सभा में विरोधी दल के प्रथम नेता डॉ० रामसुभग सिंह ने प्रधानमंत्री के पद व उस पद को प्राप्त व्यक्ति की आलोचना पर्याप्त अशोभनीय भाषा में की। उन्होंने सदन में कहा—

"वह अब हमसे कहती है कि प्रधानमंत्री का अपमान देश का अपमान है क्योंकि उस दल से, जिसकी बदौलत वे जो कुछ आज है या बन सकी हैं, गम्भीर व लज्जाजनक अनुशासनहीनता के कारण उन्हें निष्कासित किया जा चुका है।"

"श्रीमती गांधी की दो प्रकार की अन्तरात्माएँ हैं और स्पष्टतः उनमें से एक कपटपूर्ण है। अपने राजनैतिक संगठन के प्रति उनका विश्वासघात का कार्य न तो प्रथम है और न अन्तिम ही।[१९]

इस प्रकार प्रधानमंत्री के पद का अपमान किया गया। संपूर्ण राजनीति की हलचल जो कांग्रेस के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई, का मूल संकेत यही है कि भारत में मंत्रिमंडल

---

१७ १९ अगस्त १९६९ को हिन्दी भाषी राज्यों के १५० कांग्रेस संसद् सदस्यों को सम्बोधित करते हुए श्रीमती गांधी ने बताया कि उनके दल के कुछ सदस्यों द्वारा सरकार को परेशान करने के प्रयास किये जा रहे हैं। उन्हीं सदस्यों द्वारा निरन्तर प्रधानमंत्री को व्यक्तिगत रूप से तथा सरकारी रूप से बदनाम करने का प्रयास किया जा रहा है। दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, अगस्त १९, १९६९। दूसरे दिन गैर-हिन्दी भाषी राज्यों के १०० कांग्रेस सांसदों के सम्मुख बोलते हुए प्रधानमंत्री ने कहा, विश्व में इस प्रकार का प्रचार किया जा रहा है कि स्वयं अपने राजनैतिक संगठन में प्रधानमंत्री का पतन हुआ है ..... मुझे इसका विरोध करना है। ऐसा मात्र इसलिए नहीं करना है क्योंकि मैं इससे सम्बन्धित हूँ अपितु इसलिए क्योंकि इससे प्रधानमंत्री के पद का प्रश्न सम्बन्धित है। पूर्वोक्त अगस्त २०, १९६९

१८ गुजरात के पंचायत मंत्री ठाकुर भाई देसाई ने तथा यू० पी० की भूतपूर्व मुख्यमंत्री सुचेता कृपलानी ने श्रीमती गांधी को साम्यवादी बताया इण्डियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली अगस्त ११, १९६९। संगठन कांग्रेस ने कांग्रेस कार्य समिति के एक अधिकृत प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस के विभाजन का उत्तरदायित्व श्रीमती गांधी की सम्पूर्ण शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करने की मूलभूत महत्त्वाकांक्षा पर डाला। इसका उद्देश्य यह था कि प्रत्येक क्षेत्र में उनके सहयोगी हों उनके मनोनीत सदस्य हों। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी इकोनामिक रिव्यू, नई दिल्ली १९६९, नवम्बर १५

१९ आर. एस. सिंह, 'डेमोक्रेसी एण्ड दि पर्सनेलिटी कल्ट,' पूर्वोक्त, स्पेशल नम्बर, नवम्बर १९६९।

शासन प्रणाली की सफलता के लिए भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में प्रधानमंत्री पद संस्थात्मक बनाया जाना चाहिए ताकि शक्ति के पदसोपान क्रम में उसे सर्वोच्च स्थिति प्राप्त हो सके। नेहरू की मृत्यु के पश्चात् संयुक्त नेतृत्व के विकास का प्रयास पूर्णतः असफल हुआ।[२०] प्रधान- मंत्री की शक्ति की निम्नांकित न्यूनतम सीमाओं के विषय में अधिकतम सहमति अनिवार्य है—

(अ) राष्ट्रपति को परामर्श तथा सहायता :

चतुर्थ आमचुनाव के पश्चात् संविधान की व्याख्या एक सक्रिय राष्ट्रपति के पक्ष में करने के सतत् प्रयास किये जा रहे हैं। राष्ट्रपति के पद के विषय में यह नई व्याख्या तब की गई जब आमचुनावों में कांग्रेस की पराजय के पश्चात् विरोधी दलों ने संयुक्त रूप से सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायधीश सुब्बाराव का १९६७ के राष्ट्रपति के चुनाव में एक उम्मीदवार के रूप में समर्थन किया। ६ विरोधी दलों द्वारा प्रस्तावित एक संयुक्त पत्र मे राष्ट्रपति की नई भूमिका की प्रस्तावना इस प्रकार की गई : "नवीन आमचुनावो के परिणाम स्वरूप बदली हुई परिस्थितियों के संदर्भ मे इस परिवर्तन को देखना चाहिए....यह परिवर्तन कुछ ऐसे तनाव व संघर्ष उत्पन्न करेगा जिसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रपति को संविधान के वास्तविक संरक्षक के रूप में कार्य करना होगा। बहुत कुछ राष्ट्रपति के प्रजातंत्रीय व न्यायिक दृष्टिकोण तथा उसके कार्य करने की पद्धति पर निर्भर करेगा।[२२] परिस्थिति मे परिवर्तन यही था कि आमचुनाव के पश्चात् लोकसभा

---

२० मितभाषी कामराज मे एक अत्यधिक महत्वपूर्ण भाषण दिया जिसने दस मिनट से भी कम समय लिया। उन्होंने कहा–राजनीतिक मंच से नेहरू की अनुपस्थिति से उत्पन्न शून्य को भरना सम्भव नहीं है। अत अब दल को सामूहिक नेतृत्व, सामूहिक उत्तरदायित्व तथा सामूहिक दृष्टिकोण के आधार पर कार्य करना चाहिए। जी एम. भार्गव, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ १४४ 'संयुक्त नेतृत्व की विशेषताएं यह बताई गई थी कि प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमंडल अपनी निर्णय सम्बन्धी शक्तियों का प्रयोग दल के संगठन पक्ष के साथ करेंगे तथा इसके साथ ही विभिन्न राज्यो की सहमति मूलनीति सम्बन्धी निर्णयों मे विशेष रूप से आवश्यक होगी। डकन बी० फोरेस्टर, आफ्टर नेहरू, पार्लियामेंटरी अफेअर्स लंदन १९६५, १९६६ पृष्ठ २१३

२१ जिन लोगो ने यह तर्क दिया कि राष्ट्रपति निर्वाचित सरकार का उल्लंघन कर सकता है अब तक व्यवहार में इसका विरोध किया गया है। अब तक किसी राष्ट्रपति ने ऐसा प्रयास नहीं किया यद्यपि डा० राधाकृष्णन ने १९६२ मे कृष्ण मेनन को अपदस्थ करवाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। किन्तु भारत की नवीन राजनैतिक व्यवस्था एक अधिक सक्रिय राष्ट्रपति को सम्भव बना सकती है अथवा इसकी अपेक्षा कर सकती है। एक राष्ट्रपति का चयन, दि इकोनोमिस्ट, लंदन, अप्रेल १५, १९६७

२२ टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली अप्रेल २७, १९६७, इससे पहले संविधान सभा के भूतपूर्व सदस्य तथा प्रशासनिक सुधार आयोग के सदस्य एच० वी० कामथ ने यह विचार व्यक्त किये थे कि एक दृढ़ इच्छा व दृष्टिकोण से विहीन राष्ट्रपति देश के लिए उपयोगी होने के स्थान पर भार सिद्ध होगा। जनता, नई दिल्ली १९, १९६७

में कांग्रेस दल का बहुमत कम हो गया था किन्तु अभी भी इसे निरपेक्ष बहुमत प्राप्त था। यद्यपि कांग्रेस श्रीमती गांधी के नेतृत्व में पर्याप्त संगठित नहीं थी तथापि कांग्रेस में आन्तरिक संघर्ष अब कोई नई बात नहीं थी। संसदीय कांग्रेस दल का दृढ़ समर्थन प्रधानमंत्री को प्राप्त था। अतः राष्ट्रपति की उस प्रकार की भूमिका के लिए कोई स्थान नहीं था जिसकी अपेक्षा विरोधी दल कर रहे थे। चूंकि संविधान की किसी व्यवस्था द्वारा राष्ट्रपति को वैयक्तिक निर्णय की शक्ति नहीं मिली है (जब कि राज्यों के राज्यपालों के लिए इस प्रकार के अधिकार की व्यवस्था की गई है)। अतः यह नितान्त संदेहास्पद है कि भारत का राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की उपेक्षा कर सकता है।[२३] वह अन्य परिवर्तन, जिसके आधार पर राष्ट्रपति के लिए परिवर्तित भूमिका का प्रस्ताव किया जा रहा है, यह है कि कई राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई है। इन राज्यों में गैर-कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों की उपस्थिति ने केन्द्र व राज्य के परस्पर सम्बन्धों को नये आयाम प्रदान किए थे। हालांकि केन्द्र व राज्यों दोनों में कांग्रेस की सरकार होने पर स्थिति विशेष उत्साहजनक नहीं थी तथापि विचारों से सम्बन्धित अन्तिम निर्णय कांग्रेस उच्चकमान में किया जा सकता था। तब केन्द्र व राज्यों के मध्य संघर्ष की स्थिति में राष्ट्रपति को पंच के रूप में स्वीकार करने की परम्परा को विकसित किया गया।[२४] कुछ समय पश्चात् उत्तरप्रदेश में राजनैतिक संकट का सामना करने के लिए सात विरोधी दलों ने राष्ट्रपति से जो कुछ करने का आग्रह

---

२३ भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के० सुब्बाराव के अनुसार "संवैधानिक दृष्टिकोण के अनुसार जब संवैधानिक प्रावधान आवश्यक अथवा स्पष्ट रूप से राष्ट्रपति से व्यक्तिगत रूप में कार्य करने की व्यवस्था करते है तब इस प्रकार के विषयों में राष्ट्रपति मंत्रियों की परामर्श लेने के बावजूद भी यदि चाहे तो उनके परामर्श के विपरीत कार्य कर सकता है।" दि प्रेसीडेंट ऑफ इण्डिया, दि आसाम ट्रिब्यून, गोहाटी अगस्त १८, १९६९ के संथानम के अनुसार 'जहाँ तक संसद् को विधेयक लौटाने का प्रश्न है........इस प्रकार की परम्परा का विकास आवश्यक है कि राष्ट्रपति वैयक्तिक निर्णय के आधार पर कार्य करे।" कन्वेंशन्स एण्ड प्रोप्राइटीज आफ पार्लियामेंटरी डेमोक्रेसी इन इण्डिया, नई दिल्ली, दि इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन १९६९, पृष्ठ ४२। यह उल्लेखनीय है कि १९५१ में राष्ट्रपति डा० प्रसाद ने प्रधानमंत्री नेहरू को एक पत्र लिखकर विधेयकों पर सम्मति देने अथवा उसे वापिस लौटाने के संबंध में तथा संसद् को संदेश भेजने के संबंध में निर्णय की स्वतन्त्रता की मांग की थी। नेहरू ने यह पत्र अटार्नी जनरल एम सी सीतलवाड़ तथा अल्लादी कृष्णस्वामी अय्यर को उनकी टिप्पणी के लिए प्रेषित किया। अटार्नी जनरल का मत था कि राष्ट्रपति के लिए प्रत्येक निर्णय पर प्रधानमंत्री की सलाह मानना अनिवार्य था। क्योंकि सम्प्रभुता जनता में निवास करती है अतः उसका प्रयोग संसद् और प्रधानमंत्री ही कर सकते हैं। अय्यर का मत था कि राष्ट्रपति के पत्र में ऐसे मुद्दों को उठाया गया है कि यदि उन्हें मान लिया जाय तो संविधान सभा द्वारा प्रतिपादित तथा विचारित सम्पूर्ण संवैधानिक ढांचा उलट जाएगा तथा राष्ट्रपति तानाशाह बन जाएगा। ग्रेनविल ऑस्टिन कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया, लंदन क्लेरेंडन प्रेस, १९६६ पृष्ठ ११४-११७

२४ इतना कहना पर्याप्त होगा कि राष्ट्रपति के कार्यों को विस्तृत रूप में तथा सीमित रूप में स्वीकार करने वाले दोनों ही पक्ष इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर पाते हैं कि केन्द्र व राज्यों के मध्य सम्बन्धों के क्षेत्र को संविधान के अनुसार नियमित करने के लिए परिस्थितियाँ अक्सर राष्ट्रपति से मध्यस्थ तथा पंच की भूमिका की आशा करेंगी। दि स्टेट्समेन, नई दिल्ली, मई १५, १९६७।

किया उसका अर्थ यह था कि वह प्रधानमंत्री से बिना प्रभावित हुए स्वतन्त्र रूप से कार्य करे। राष्ट्रपति को एक स्मरण पत्र प्रस्तुत करते हुए संगठन कांग्रेस, जनसंघ, स्वतंत्र पार्टी, पी० एस० पी०, स० म० द०, (ससोपा) भाक्रांद तथा शोषित दल ने कहा—

"दूसरा विचारणीय विषय यह है कि वे मामले, जो राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के वैयक्तिक निर्णय से सम्बन्धित हैं, ऐसे मामलो पर संविधान के अनुच्छेद ३५८ में, अथवा और किसी प्रकार इन शब्दो पर ध्यान देते हुए राष्ट्रपति को संसद् अथवा राज्य के अन्य राजनैतिक दलो के परामर्श से कार्य करना चाहिए। हम चाहते हैं कि राष्ट्रपति इस प्रकार की परम्परा का विकास करे।[२५]

इन विचारो का यह अर्थ था कि शक्ति की धुरी का स्थानान्तरण संसद भवन के स्थान पर राष्ट्रपति भवन हो जाए। भारतीय संविधान की व्यवस्था से एक स्वतन्त्र राष्ट्रपति का विचार मेल नही खाता है। यह स्वीकार करना ही होगा कि संविधान के अन्तर्गत राष्ट्रपति मात्र सवैधानिक अध्यक्ष है। एक स्वतन्त्र राष्ट्रपति का विचार ससदीय प्रजातंत्र को भारत से शांतिपूर्ण ढग से समाप्त कर देगा।[२६]

(ब) लोकसभा को भंग करना :

लोकसभा को भंग करने का अधिकार अब ब्रिटेन में दीर्घ विवाद के पश्चात् प्रधानमंत्री

---

२५ राजनैतिक दल केन्द्र तथा राज्य सरकारो के ज्वलत राजनैतिक विषयों का निपटारा करने के लिए राष्ट्रपति को मध्यस्थता अथवा पचायती निर्णय देने की परम्परा को स्वीकार कर सकते हैं। 'प्रेसीडेंट्स पावर,' दि ट्रिब्यून, अप्रैल १५, १९६७। दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, ६ अक्टूबर १९७०, सं० स० द० के मधु लिमये ने इस आधार पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने का प्रस्ताव प्रचारित किया था जिसके अनुसार राष्ट्रपति ने यू० पी० की स्थिति के सदर्भ मे सविधान की व्यवस्था के अनुसार अपनी निर्णय शक्ति का स्वतंत्र रूप से प्रयोग करने के बजाय केन्द्रीय मन्त्रिमंडल के उस अवैधानिक निर्णय को स्वीकृति प्रदान कर दी, जो गवर्नर की अपर्याप्त (अक्षेप) रिपोर्ट पर आधारित था तथा इस प्रकार उसने अवैधानिक पद्धति से उस राज्य का प्रशासन अपने हाथ में लेने तथा विधान सभा स्थगित करने के लिए अपनी असाधारण शक्तियों का प्रयोग किया। उसने सविधान की सरक्षण सुरक्षा बचाव के लिए ली गई शपथ का इस प्रकार उल्लंघन किया तथा यह सब उसने स्वयं विदेश प्रवास के दौरान किया। दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, अक्टूबर ११, १९७०।

२६ १९६७ के चुनाव में राष्ट्रपति पद के लिए सुब्बाराव के प्रत्याशी होने के विषय में एक समाचार पत्र ने टिप्पणी की थी कि न्यायिक क्षेत्र के लिए निष्पक्षता तथा स्वतन्त्रता सर्वाधिक आवश्यक गुण होते हैं किन्तु एक स्वतंत्र राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रिमडल की अवहेलना का समर्थन उन विदेशी शक्तियो की सेनाओ के द्वारा ही किया जाएगा जो हमारी स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्र को नष्ट करने को उत्सुक हैं। हमे इस विषय पर स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हम अमेरिका का नही अपितु भारत का राष्ट्रपति चुन रहे हैं। माई लॉर्ड मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति बनना चाहते हैं—एक ऐसा राष्ट्रपति जो निर्भयता से स्वतंत्र कार्य करने का इच्छुक है, मात्र अपनी व्याख्या के अनुसार सविधान की रक्षा का दायित्व लेना चाहता है और यदि आवश्यक हो तो ससद् व मन्त्रिपरिषद् की अवहेलना करने को भी तैयार है क्योंकि उसकी दृष्टि में इन दोनो का अस्तित्व उसकी इच्छा पर आश्रित है। शुड इण्डियन प्रेसीडेंट बी इन्डीपेंडेंट, फ्री प्रेस जर्नल, बम्बई, अप्रैल २०, १९६७।

का विशेषाधिकार बन गया है। यह शक्ति प्रधानमन्त्री की सर्वाधिक प्रभावशाली शक्ति है।

भारत में बहुत वर्षों बाद पहली बार प्रधानमन्त्री को लोकसभा को भग करने का अवसर मिला। कांग्रेस के विभाजन के पश्चात् श्रीमती गाधी के दल का बहुमत अल्पमत मे बदल गया। यह ऐसी राजनीतिक स्थिति थी जिसमे प्रधानमन्त्री द्वारा लोकसभा को भंग करने का आग्रह न तो आश्चर्यजनक होता और न दु खदायी। उस समय राजनैतिक तथा संवैधानिक पंडितों की पर्याप्त सख्या ने इस सम्बन्ध मे प्रधानमन्त्री के अधिकारो को विवादास्पद माना था। स्वय भारत के मुख्य न्यायाधीश ने प्रधानमन्त्री की इस शक्ति के विषय में संदेह व्यक्त किया।[२७] राष्ट्रपति को इस प्रकार वैयक्तिक निर्णय प्रदान नही किया जा सकता जैसाकि राज्य के स्तर पर राज्यपालो को प्राप्त हो गया है। जब तक लोकसभा प्रधानमन्त्री के विरुद्ध स्पष्ट रूप से अविश्वास का प्रस्ताव पारित न कर दे, राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमन्त्री को यह अधिकार प्रदान करना ही होगा 'चाहे वह बहुमत रखता हो या अल्पमत, चाहे उसके दल ने उसे निष्कासित कर दिया हो। उसे पर्याप्त संख्या मे उसके वे विकल्प प्रदान नही किये जा सकते जैसे १९५० मे सर एलन लॉसेल्स ने ब्रिटेन के राजा को देने चाहे थे[२८] और जिन्हें भारत के विरोधी दल राष्ट्रपति को देना चाहते है।

---

२७ मुख्य न्यायधीश ने कहा कि क्या प्रधानमंत्री की राय पर ही राष्ट्रपति ससद् को भग कर सकता है। राष्ट्रपति के अनुभव करने पर भी कि प्रधानमत्री को ससद् मे बहुमत प्राप्त है, या नही है वह ससद् को भंग करने का निर्णय उन परिस्थितियो के सदर्भ मे ही ले सकेगा जो ऐसा परामर्श देने के समय विद्यमान हों। दि नेशनल हेराल्ड, नई दिल्ली, जनवरी ४, १९७०। भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के. सुब्बाराव का मत है कि यह अधिकार (ससद् को भग करने का) उस देश मे सफलतापूर्वक प्रयुक्त हो सकता है जहाँ प्रजातन्त्र पर्याप्त दृढ हो चुका हो किन्तु एक नव-स्थापित प्रजातन्त्र के सरलतापूर्वक कार्य करने मे यह सहायक नही होगा। दि आसाम ट्रिब्यून, 'गोहाटी, अगस्त १८, १९६९। ४ नवम्बर, १९६९ को एक सवाददाता सम्मेलन मे बोलते हुए मोरारजी देसाई ने कहा, जब उसे लोकसभा मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही है तब अन्य व्यक्ति को अवसर मिलना चाहिए। वह एक पराजित प्रधानमत्री को पुन निर्वाचन की माग करने का अधिकार देने को तत्पर नही थे। दि हिन्दुस्तान टाइम्स नई दिल्ली, नवम्बर ५, १९६९। जनसघ के भूतपूर्व अध्यक्ष अटलबिहारी वाजपेयी ने भी प्रधानमंत्री के लोकसभा को भग करने के अधिकार का विरोध किया। उनके विचार मे इस प्रकार का निर्णय असवैधानिक है तथा राष्ट्रपति को इस प्रकार के अधिकार को अस्वीकार कर देना चाहिए था। श्रीमती गाधी को ससद् को भग करवाने की माग करने का कोई अधिकार नहीं है क्योकि वह संपूर्ण कांग्रेस का विश्वास खो चुकी हैं। पूर्वोक्त नवम्बर ३, १९६९

२८ 'लदन का 'दि टाइम्स' इस विचार विमर्श का केन्द्र बन गया। राजा के निजी सचिव सर एलन लॉसेल्स ने इस विषय पर विचार-विमर्श से सम्बन्धित कॉलम मे अपने विचार 'सोनेक्स' के छद्मनाम से प्रस्तुत किए थे। इसमे उसने तर्क दिया था कि राजा ससद् को भग करने के आग्रह को अस्वीकार कर सकता था किन्तु वह ऐसा तभी कर सकता था जब उसे विश्वास हो जाए कि (१)वर्तमान संसद् अब भी अपना कार्य करने के योग्य तथा शक्तिशाली है (२) एक आम चुनाव देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए घातक होगा तथा (३) वह एक वैकल्पिक प्रधानमन्त्री का चयन करने मे सफल हो सकेगा जो पर्याप्त समय तक देश का शासन चला सकने योग्य ऐसी सरकार का निर्माण कर सके जिसे कामन सभा मे काम चलाऊ बहुमत प्राप्त हो। दि टाइम्स, लंदन, मई २, १९५०

लोकसभा में विरोधी दल के नेता डा० राममुभग सिंह ने यह तर्क दिया कि राष्ट्रपति को संसद् के भाग्य का निर्णय किसी एक व्यक्ति द्वारा चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, नहीं करना चाहिए।[२९] किन्तु इस मामले में एक व्यक्ति कोई सामान्य व्यक्ति न होकर स्वयं प्रधानमन्त्री है तथा वह प्रधानमन्त्री ही हो सकता है। मेरे विचार में प्रधानमन्त्री एक व्यक्ति नहीं है बल्कि एक संस्था है। राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की सलाह पर लोकसभा को भंग करने का दायित्व भी सदेहों से परे होकर स्वीकार करना चाहिए।[३०]

यद्यपि राज्यों में राज्यपालों ने मुख्यमन्त्री के परामर्श के बिना भी विधान सभा के अधिवेशन आमन्त्रित करने के अधिकार को ले लिया है[३१] किन्तु राष्ट्रपति को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता है। सौभाग्यवश दल बदलने की प्रक्रिया ने, जिसके परिणाम स्वरूप राज्यों में अस्थिरता उत्पन्न हो गई है, अभी केन्द्रीय राजनैतिक स्थिति को आच्छादित नहीं किया है। दल बदल को नियन्त्रित करने के लिए तथा राजनीति की अस्थिरता को रोकने के लिए एक मात्र रचनात्मक तरीका यही है कि प्रधानमन्त्री को उसकी सुविधानुसार लोकसभा की बैठक बुलवाने व भंग करवाने की शक्ति दी जाए। (यद्यपि इस संवैधानिक व्यवस्था का आदर किया जाना चाहिए कि लोकसभा के दो अधिवेशनों के मध्य छः माह से अधिक का अंतर नहीं हो) । यदि यह अधिकार प्रधानमन्त्री को नहीं दिया गया तो, जिस प्रकार भारतीय राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित होता जा रहा है और केन्द्र में संयुक्त दलीय सरकार बनने की संभावना सामने आ रही है उस स्थिति में ऐसी सरकार की स्थिरता कम हो जाएगी। राष्ट्रपति को संविधान के संरक्षक के रूप में संसदीय प्रजातन्त्र को संसदीय अराजकता में परिवर्तित होने से रोकने के स्थान पर[३२] संसदीय प्रजातन्त्र को विकसित करने का माध्यम बनने का प्रयास करना चाहिए।

---

२९ दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, नवम्बर २६, १९६९.

३० 'संविधान ने राष्ट्रपति को विस्तृत शक्तियाँ देने के साथ यह स्पष्ट कर दिया था कि इन शक्तियों का प्रयोग मात्र मन्त्रिमण्डल की राय के आधार पर ही किया जा सकता था। वह संसद् अथवा प्रधानमन्त्री की उपेक्षा नहीं कर सकता। राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श के बिना संसद् को भंग नहीं कर सकता है।' ए ड्रेंजरस डोक्ट्रिन, दि इंडियन, एक्सप्रेस नई दिल्ली मई ३, १९६७ एक अन्य प्रमुख पत्र ने लिखा 'संसद्' को भंग कर नये चुनावों को करवाने की सलाह राज्य के अध्यक्ष को देना प्रधानमन्त्री का मान्यताप्राप्त विशेषाधिकार है जिसकी मांग वह तब कर सकता है जब उसे यह अनुभव हो कि अब जनता से नये सिरे से समर्थन प्राप्त करने अथवा शासक दल की संख्या को बढ़ाने का सुअवसर उपस्थित हो गया है। हाल के वर्षों में श्री विल्सन ने ऐसा दो बार किया तथा श्रीमती गांधी को ऐसा कदम उठाने से रोका नहीं जा सकता' 'सिंहदर्शं- पोल दि टाइम्स आफ इण्डिया, नई दिल्ली अक्टूबर २६ १९७०.

३१ स्वयं प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी सिफारिश में राज्यपालों के इस अधिकार को स्वीकार किया है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या राज्य विधान सभा में मुख्यमन्त्री को बहुमत प्राप्त है तो मुख्य मंत्री राज्यपाल को विधान सभा का अधिवेशन आमंत्रित करने की राय नहीं देता है तथा ऐसी स्थिति में यदि राज्यपाल चाहे तो परिस्थिति के अनुसार उस प्रश्न पर विधान सभा का निर्णय प्राप्त करने के लिए उसका अधिवेशन आमंत्रित कर सकता है। प्रशासनिक सुधार आयोग, रिपोर्ट ऑन सेन्टर-स्टेट रिलेशन्स, नई दिल्ली, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, १९६८ पृष्ठ ८७.

३२ स्वतन्त्र राष्ट्रपति के विचार के गण्यमान्य समर्थक के०एम०मुंशी की यह मुख्य धारणा है' के०एम० मुन्शी, दि प्रसीडेंट अंडर 'दि इंडियन कांस्टीट्यूशन', बम्बई, भारतीय विद्याभवन, १९६३ पृष्ठ २६

(स) मन्त्रियों की नियुक्ति तथा उन्हें अपदस्थ करना :

प्रधानमन्त्री की शक्तियों के जिस अन्य पक्ष पर अधिकतम सहमति की आवश्यकता है वह है प्रधानमन्त्री द्वारा अपने सहयोगियों की नियुक्ति, स्थानान्तरण तथा अपदस्थ करने का विवाद रहित सर्वोच्च अधिकार। मन्त्रिमण्डल के निर्माण का कार्य स्वयं प्रधानमन्त्री द्वारा किया जाता है अथवा किसी के परामर्श से किया जाता है। किन व्यक्तियों को मन्त्री पद प्रदान किये जाते हैं तथा किन्हें वंचित किया जाता है। यह प्रधानमन्त्री की शक्ति तथा दल की शक्ति की व्यवस्था में महत्वाकांक्षी व्यक्तियों की उपलब्धि पर निर्भर करता है।[३३] ये ही घटक मन्त्रिमंडल के पुनर्गठन को भी प्रभावित करते हैं।[३४] तथापि नेहरू की मृत्यु के पश्चात् नेतृत्व के नाम पर मंत्रिमण्डल के निर्माण का कार्य पूर्णतः प्रधानमन्त्री का अधिकार नहीं माना गया तथा विकल्पस्वरूप दल का संयुक्त उत्तरदायित्व माना गया जिसमें दलीय शक्ति के क्रम में प्रभावशाली सदस्यों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। स्वाभाविक रूप से संयुक्त नेतृत्व अन्य क्षेत्रों के समान ही इस क्षेत्र में भी प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुआ। यह स्वीकार करना ही होगा कि मन्त्रिमण्डल के निर्माण का कार्य पूर्णतः प्रधानमन्त्री को दिया जाना चाहिए।[३५] यदि प्रधानमन्त्री द्वारा चयन किये गए सदस्य उसके दल के प्रभावशाली सदस्यों को पसन्द नहीं आते हैं तो प्रधानमन्त्री स्वयं उसके परिणामों को भुगत लेगा। किन्तु किसी भी स्थिति में दल के प्रभावशाली लोगों को इस कार्य में भाग लेने का अवसर नहीं प्रदान किया जाना चाहिए।[३६] नियुक्त करने से सम्बन्धित अधिकार का सहज अर्थ

---

३३ उदाहरण के लिए अतुल्यघोष ने मन्त्रिमण्डल से अशोक सेन तथा हुमायुं कबीर को निकलवाने का अत्यधिक प्रयास किया जिसे यद्यपि शास्त्री ने नहीं माना किन्तु श्रीमती गांधी को अतुल्य घोष की मांग के सम्मुख झुकना पड़ा।

३४ नेहरू एस०के० पाटिल को मंत्रालय से रेल्वे में स्थानान्तरित नहीं कर सके। श्रीमती गांधी फरवरी १९६९ में चव्हाण, जगजीवनराम तथा मोरारजी देसाई को क्रमशः गृह, खाद्य एवं वित्त मंत्रालय से नहीं हटा सकीं। किन्तु जून १९७० में उन्होंने चव्हाण से वित्त मन्त्रालय तथा दिनेशसिंह से विदेश विभाग ले लिया यद्यपि दोनों इस विषय पर अपनी अनिच्छा प्रदर्शित कर चुके थे।

३५ मन्त्रीमण्डलीय शासन में प्रधानमन्त्री को अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने तथा समय-समय पर उसमें परिवर्तन करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी है। उसके लिए अपने दल के प्रत्येक गुट को संतुष्ट करना आवश्यक नहीं है। उसका दायित्व मात्र यह देखना होता है कि उसके कार्यकारी दल को संयुक्त रूप से सम्पूर्ण दल की निष्ठा प्राप्त हो : सर्च फॉर कोहेसन दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, अक्टूबर १७, १९६९.

३६ चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् जब कांग्रेस संसदीय दल के चुनाव का प्रश्न उपस्थित हुआ तब एस० के० पाटिल ने दो सुझाव रखे। प्रथम, मोरारजी देसाई को श्रीमती गांधी के नेतृत्व में उप प्रधान-मन्त्री, गृह मन्त्री तथा सदन का नेता बनाया जाए तथा द्वितीय, कांग्रेस उच्च कमान नये मन्त्रिमण्डल के निर्माण में भाग ले। एच०एम० जैनः दि यूनीयन एक्जीक्यूटिव, इलाहाबाद, चैतन्य प्रकाशन, १९६१ पृष्ठ १८७। जब कुछ सदस्यों ने शास्त्री मन्त्रिमण्डल में संजीव रेड्डी की नियुक्ति का विरोध किया तो लोकसभा के अध्यक्ष ने सदन को याद दिलाया कि यह पूर्णतः प्रधानमन्त्री का अधिकार है कि वह ऐसे व्यक्ति को ले जिसे वह उचित समझे या पसंद करे या जो उसके विचार

मन्त्रियों को पदमुक्त करना भी है। सरकार की किसी नीति से मतभेद होने पर भिन्न मतावलम्बी सदस्यों को त्यागपत्र दे देना चाहिए।[३७] ऐसा महावीर त्यागी द्वारा ताशकंद समझौते पर, एम०सी० छागला द्वारा शिक्षा-नीति पर, तथा अशोक मेहता द्वारा चेकेस्लोवाकिया मे रूसी हस्तक्षेप के प्रति अपनाये गए सरकारी रूख् के विरोध में किया गया। जब प्रधानमन्त्री यह अनुभव करे कि उसके मंत्रिमण्डल का कोई सदस्य सरकार द्वारा स्वीकृत नीति मे गम्भीर मतभेद रखता है अथवा यदि वह अपने मंत्रिमण्डल को अधिक सामजस्यपूर्ण बनाना चाहे जिसमे कुछ मन्त्री बाधक हों, तो प्रधानमन्त्री को उन सहयोगियो से त्यागपत्र मागने का अधिकार है और इस अधिकार को मान्यता दी जानी चाहिए। जून १६६६ मे प्रधानमन्त्री द्वारा मोरारजी देसाई को मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित नही करने पर उनके समर्थकों ने जो विरोध किया (उनके द्वारा मोरारजी देसाई को दुबारा सम्मिलित किए जाने की तीव्र माग ही काग्रेस के विभाजन का मूल कारण बनी) उससे यह गलत भ्रम उत्पन्न हुआ कि प्रधानमन्त्री ने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया है। मंत्रियों की नियुक्ति के समान उनको अपदस्थ करना भी पूर्णतः प्रधानमन्त्री का अधिकार है तथा किसी व्यक्ति को, चाहे वह काग्रेस का अध्यक्ष ही क्यो न हो, इसका विरोध करने का कोई अधिकार नही है।[३८]

इसके अतिरिक्त अटॉर्नी जनरल द्वारा (यू० पी० के संदर्भ मे) प्रस्तावित इस विचार को कि मंत्रियो को हटाने के सम्बन्ध में एक सयुक्त दलीय सरकार के मुख्यमंत्री की तुलना एक दलीय सरकार के मुख्यमन्त्री से नहीं की जा सकती है,[३६] केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के संदर्भ में

मे ईमानदार सिद्ध हो...... इस विषय में वही निर्णय कर सकता है। सदन नही। एक बार उसकी नियुक्ति के पश्चात् सदन के पास एकमात्र विकल्प उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित करना ही बचता है।

३७ प्रधानमन्त्री ने रेलवे मंत्री को अपने पत्र मे लिखा 'चूकि आपने उस कार्यकारी समिति की बैठक में भाग लिया था (जिसने स्वात मे भारत के भाग लेने की नीति की आलोचना की थी), तो यह मानना गलत नही होगा कि आप भी उन प्रस्तावों को स्वीकार करने वालो में से थे जो उस समिति द्वारा पारित किए गए। इसका सहज अर्थ यह है कि आप सरकार द्वारा निर्धारित नीति से मतभेद रखते हैं—ऐसी परिस्थिति में यह मान्य परम्पराओं के अनुकूल ही होगा कि आप मन्त्रीमण्डल की सदस्यता से अपना त्याग पत्र दे दें;' दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, ७ नवम्बर १६६६ पृ० ५

३८ २० जुलाई १६६६ मे काग्रेस ससदीय दल की कार्यकारी समिति की बैठक मे मोरारजी देसाई के समर्थकों ने यह प्रस्ताव भेजा कि ससद् में काग्रेस की कार्य समिति को उन घटनाओं पर खेद है जिनके कारण उप प्रधानमन्त्री तथा वित्तमन्त्री मोरारजी देसाई को अपने पद से त्याग पत्र देना पड़ा है। समिति का विचार है कि दल की एकता को ध्यान में रखते हुए श्री देसाई को पुन: उनका मूल स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। श्रीमती गांधी ने इसकी प्रतिक्रियास्वरूप यह कहा था कि अपने मन्त्रिमडल मे विभागो का वितरण तथा सगठन का निर्णय प्रधानमन्त्री का विशेषाधिकार है। इस विषय पर कोई प्रस्ताव नही रखा जा सकता, दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, जुलाई २१, १६६६.

३६ पूर्वोक्त, ६ नवम्बर १६७०

नहीं लागू किया जा सकता है। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से सम्बन्धित मामलों में राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श को अस्वीकार नही कर सकता है।

(ब) उप-प्रधान मंत्रियों का अभाव :

१७ वर्ष पश्चात् १९६७ मे भारत में उप-प्रधानमंत्री के पद की पुनर्व्यवस्था की गई। प्रशासनिक सुधार-आयोग ने भारत सरकार की व्यवस्था पर रिपोर्ट देते हुए यह सुझाव दिया है कि मुख्य संस्थागत समर्थन उप-प्रधानमत्री का होता है जो मन्त्रिमण्डल का नेतृत्व करने के साथ प्रधानमत्री के कार्य को भी कम कर सकता है।[४०] तथापि यदि सरदार पटेल तथा मोरारजी देसाई के उप प्रधानमंत्रित्व काल में मन्त्रिमण्डल की गति-विधि पर ध्यान दिया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि उप प्रधानमंत्री की उपस्थिति किसी भी अर्थ में प्रधानमंत्री की स्थिति को सुदृढ़ बनाने मे सहायक नही सिद्ध हुई थी। अनिवार्यतः उप-प्रधानमन्त्री दल का वरिष्ठ नेता ही हो सकता है अतः वह प्रधानमंत्री का प्रतियोगी बन जाता है। वस्तुतः जब पटेल उप-प्रधानमन्त्री थे तब प्रधानमन्त्री नेहरू पटेल को आश्वस्त किया बिना कोई निर्णय नही ले सकते थे। मोरारजी देसाई को उप-प्रधानमन्त्री बनाते समय यह माना गया था कि उन्हे प्रधानमंत्री पर नियन्त्रणकर्त्ता के रूप मे नियुक्त किया जा रहा है।[४१] एक उप प्रधानमन्त्री अपनी स्थिति के अनुसार प्रधानमन्त्री के समकक्ष कुछ शक्तियाँ चाहता है, जिन्हें स्वाभाविकतः प्रधानमन्त्री प्रदान नहीं करता। परिणामतः सामञ्जस्य के विपरीत प्रधानमन्त्री तथा उप-प्रधानमन्त्री के सम्बन्ध तनावपूर्ण बन जाते हैं। एक उप-प्रधानमन्त्री प्रधानमन्त्री पद के अन्य आकांक्षिओं की तुलना में प्रधानमन्त्री के उत्तराधिकार के निर्णय के लाभ की स्थिति में होता है। परिणामतः मंत्रिमंडल के अन्य सदस्य उसकी प्रतिष्ठा तथा गौरव को कम करना चाहते हैं।[४२] इसके अतिरिक्त

---

४० पूर्वोक्त, पृष्ठ १०.

४१ कामराज को विश्वास था कि इन्दिरा गाधी की जीत निश्चित थी। मोरारजी देसाई एक सुदृढ़ उम्मीदवार थे जो श्रीमती इंदिरा गाधी के विरुद्ध नही थे। अतः कामराज की चाल मंत्रिमंडल मे देसाई को सम्मिलित कर, उनके द्वारा प्रधानमंत्री पर नियन्त्रण रखना था। कुलदीप नायरः 'बिट्वीन दि लाइन्स', नई दिल्ली, हिन्द पॉकेट बुक्स १९७०। चतुर्थ सस्करण, पृ०४२ नवीन सरकार की सफलता अंशतः उस संतुलन पर निर्भर करेगी जो श्रीमती गाधी तथा श्री देसाई के मध्य स्थापित होगा। ए केबिनेट ऑफ नेसीसिटी, दि टाइम्स, लंदन, मार्च १३, १९६७

४२ १९६७ मे उत्तराधिकार के नाटक का वर्णन इस प्रकार से है—३० से अधिक कांग्रेसी संसद् सदस्य चव्हाण के निवास पर मिले तथा उन्होंने यह प्रस्ताव पारित किया कि देसाई तथा कामराज व अन्यो के सम्मुख यह पूर्णत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उप-प्रधानमन्त्री अन्य मन्त्रियो की तुलना में श्रेष्ठ नहीं होगा व मन्त्रिमंडल मे मात्र द्वितीय स्थान रखेगा। यह दूसरा सरदार पटेल नहीं बन सकता और न उसे ऐसा बनने का प्रयास ही करना चाहिए।........ सासदों की बैठक का यह रवैया उचित नहीं लगा। वे श्रीमती गाधी के पास अपनी शिकायत लेकर गए। उस समय चव्हाण तथा जगजीवनराम श्रीमती गाधी के पास बैठे थे। श्रीमती गांधी ने स्पष्ट करते हुए कहा कि उप-प्रधानमन्त्री पद मोरारजी देसाई के आग्रह पर निर्मित किया जा रहा था, अन्यथा सब मन्त्री समान हैं। कुलदीप नायर, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ ४८

प्रशासन के समय उप-प्रधानमंत्री निरन्तर भिन्न दृष्टिकोण अपना कर प्रधानमन्त्री में विश्वास को समाप्त कर तुरन्त प्रधानमन्त्री को पलटने का षड्यन्त्र कर सकता है।[४३]

इस प्रकार उप-प्रधानमन्त्री प्रधानमन्त्री की सत्ता व शक्ति के लिए खतरा सिद्ध हो सकता है। जैसाकि प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि उप-प्रधानमन्त्री प्रधानमन्त्री की स्थिति के लिए संकटपूर्ण व खतरनाक सिद्ध हो सकता है। अतः उप-प्रधानमन्त्री के पद को पुनर्जीवित नहीं करना चाहिए।

(ड) दलीय आदेश :

१९४७–४८–५४ तथा पुनः १९६९ दोनों अवसरों पर[४४] कांग्रेस के अध्यक्ष द्वारा दल के नाम पर प्रधानमन्त्री को आदेश देने के प्रयास ने स्वयं दलीय शक्ति व्यवस्था में गंभीर संकट उत्पन्न कर दिया तथा दोनों ही बार[४५] शक्तिशाली व्यक्ति की विजय हुई किन्तु प्रधानमन्त्री की स्थिति तथा उसके दायित्वों के विषय में कोई सहमति उत्पन्न न हो सकी।

---

४३ वस्तुतः मोरारजी देसाई ने अपनी सरकारी स्थिति में विभिन्न विषयों पर मंत्रिमंडल में जो दृष्टिकोण अपनाया है उसमें वे सर्वदा प्रधान मन्त्री द्वारा अपनाये गये निर्णयों तथा नीतियों के विपरीत नीति को प्रस्तुत करने वाले नेता के रूप में स्वयं को प्रकट करते प्रतीत हुए हैं। विदेश नीति के सम्बन्ध में समय-समय पर दिए गए उनके वक्तव्य अक्सर स्वीकृत सरकारी नीति के विरुद्ध जाते हैं तथा इस तथ्य के प्रमुख प्रमाण हैं। गिरीश माथुर मोरारजी दि ऑल्टरनेटिव लाइनर, पेट्रियोट नई दिल्ली, जून १६, १९६८.

४४ १९४७ में कांग्रेस के अध्यक्ष जे. बी. कृपलानी ने यह दावा किया था कि कोई भी सरकार अपनी शक्ति सम्बन्धित दल से प्राप्त करती है। कोई भी कार्य जो दल के संगठन को दुर्बल बनाता है अथवा लोगों की रुचि में उसकी प्रतिष्ठा को गिराने के प्रयास करता है अन्ततः सरकार की स्थिति को प्रभावित करेगा।······ "कांग्रेस बुलेटिन, संख्या ९, नई दिल्ली, दिसम्बर १९४७, पृष्ठ ११। इससे पहले कृपलानी द्वारा निरन्तर इस आग्रह के संदर्भ में कि सरकार की गतिविधियों में कांग्रेस अध्यक्ष को भी सम्मिलित किया जाए, नेहरू ने कृपलानी, पटेल, प्रसाद तथा राजगोपालाचारी को एक अत्यधिक गुप्त व अप्रकाशित पत्र में लिखा-कार्यकारी समिति के लिए सभी समस्याओं पर विस्तार से विचार करना अथवा उनके बारे में निर्देश देना संभव नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि समिति यह अनुभव करे कि सरकार के सम्मुख कौनसी समस्याएँ उत्पन्न होंगी और तदनुकूल वह उसके विषय में एक सामान्य नीति का निर्धारण कर दे जिसे सरकार समिति की सलाह के साथ अथवा उसके बिना क्रियान्वित करे। निरंतर समिति से संपर्क रखना संभव नहीं है। सामान्यतः दलीय कार्यकारिणी नीति की विस्तृत रूपरेखा का निर्धारण कर देती है तथा उसे क्रियान्वित करने का दायित्व सरकार पर छोड़ देती है कोचेक पूर्वोद्धृत पृष्ठ ८.

४५ १९६९ में कांग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा ने कहा, श्रीमती गांधी के दर्शन से यह प्रतीत होता है कि एक बार संसदीय दल का नेता निर्वाचित होने के पश्चात् संगठन का अस्तित्व समाप्त हो जाना चाहिए, अथवा कम से कम तत्पश्चात् उसे प्रधानमंत्री को जिसको उसने चुना है निर्देश देने का अथवा परामर्श देने का कोई अधिकार नहीं है। बसंत चटर्जी, 'दि कांग्रेस स्प्लिट्स,' नई दिल्ली, चान्द एण्ड कम्पनी, १९७०, पृष्ठ ३.

तथापि ससदीय लोकतंत्र मे प्रधानमन्त्री की शक्तियो मे अत्यधिक कटौती नही की जा सकती है ।[४६]

नेहरू के पश्चात् दल के सत्ताधिकारियो ने पुन. प्रधानमन्त्री के पद को सकुचित करने का प्रयास किया । ये प्रयास एस०के० पाटिल समिति की रिपोर्ट मे इस प्रकार रखे गये, "समिति यह चाहती है कि राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय नीति सम्बन्धी प्रश्नो पर निर्णय लेने से पूर्व सरकार काग्रेस कार्य समिति से परामर्श ले ।"

"समिति का यह भी विचार है कि कांग्रेस के ससदीय दल का नेता सरकार के कार्य का वार्षिक विवरण प्रस्तुत करे ताकि दल के ससदीय तथा सगठनात्मक पक्ष के मध्य उचित सामजस्य स्थापित किया जा सके ।"[४७]

दल से इस प्रकार का निर्देश मात्र साम्यवादी देशो मे ही दिया जा सकता है । इसके विपरीत २५ अगस्त १६६६ के एकता-प्रस्ताव का ईमानदारी से पालन करना चाहिए ।

संसदीय दल के नेता के रूप मे प्रधानमन्त्री को दलीय नीतियाँ क्रियान्वित करनी होती हैं । किन्तु साथ ही सरकार का अध्यक्ष होने के नाते राष्ट्र के प्रति उसके राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापक दायित्व होते हैं । काग्रेस अध्यक्ष तथा प्रधानमन्त्री शक्ति के प्रतियोगी केन्द्र-बिन्दु नहीं है । देश तथा दल के कल्याण के लिए सहायक रूप मे कार्य करना होता है ।[४८]

---

४६ १६५४ मे प्रधानमत्री ने यह चेतावनी दी थी कि प्रधानमत्री अथवा एक मुख्यमत्री वह आधार स्तम्भ है जिस पर प्रजातत्रीय ढाँचा आश्रित होता है अत एक बार उसका चयन कर लेने पर उसे पूर्णत वैयक्तिक निर्णय लेने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए । यदि उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त नहीं है तो वह पद त्याग देगा ··· किन्तु प्रधानमत्री से यह अपेक्षा करना कि वह तभी तक अपने पद पर बना रहे जब तक दलीय कार्यकारिणी ऐसा चाहे, उसके प्रति अन्याय होगा । ऐसा कदम संसदीय प्रजातंत्र का उपहास होगा । काग्रेस बुलेटिन सख्या ६, १६५४, पृष्ठ ७६०–६१। नवम्बर १६६६ मे काग्रेस के अध्यक्ष ने प्रधानमत्री को दल से बहिष्कृत किया था तथा काग्रेस दल से नवीन नेता चुनने को कहा था । श्रीमती गाधी के समर्थको ने जिनमे वाई० बी० चव्हाण, जगजीवन राम, एफ़. ए. अहमद, स्वर्णसिंह दिनेशसिंह, के. रघुरमैय्या, एम. एन. सिन्हा, वी.पी. नायक, एम एल. सुखाड़िया, एम सी. शुक्ला, के. ब्रह्मानद रेड्डी, वी पी. चावहा, जी. एम. सादिक, वाई. एस. परमार, डी. पी. मिश्रा, डी सजीवैय्या तथा जी एल नन्दा थे, यह उत्तर दिया 'श्रीमती गाधी उस समय तक दल की नेता रहेंगी जब तक स्वय दल नेता मे अविश्वास का प्रस्ताव नहीं करता । जब तक उन्हे ससद् का विश्वास प्राप्त है उन्हें प्रधानमत्री बने रहने का अधिकार है । यह भारतीय प्रजातत्र का सर्वाधिक दुखद दिन होगा जब कुछ लोगो का गुट जिन्हे सम्पूर्ण दल का समर्थन भी प्राप्त न हो, प्रधानमत्री को अपदस्थ करने का साहस करें, दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, नवम्बर १३,१६६६.

४७ पूर्वोद्धृत अप्रैल १५, १६६६

४८ पूर्वोद्धृत, अगस्त २६, १६६६ एकता प्रस्ताव पर टिप्पणी करते हुए काग्रेस दल के सरकारी पक्ष ने लिखा 'दल द्वारा प्रशासन में हस्तक्षेप करने अथवा नियन्त्रण करने का प्रयास मतभेद उत्पन्न [illegible] देगा अन्तिम तौर पर वास्तविक शक्ति सरकार मे निहित होती है जबकि दल उसे प्रभावित कर सकता है ।' दि पार्टी एण्ड दि गवर्नमेंट, ए. आई० सी० सी० इकोनोमिक रिव्यू, नई दिल्ली अंक २१ सख्या ५ सितम्बर १६६६.

अन्य राजनीतिज्ञों में इस विषय पर मतैक्य दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसके लिए उनके सामने कोई अवसर भी उपस्थित नहीं हुआ है। किन्तु जनसंघ[४९] तथा साम्यवादी दल सैद्धान्तिक रूप से दल के संगठन की सर्वोच्चता को स्वीकार करते है। तथापि यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि भारतीयों ने जिस संसदीय व्यवस्था को अपनाया है उसमे शक्ति की सरचना मे प्रधानमन्त्री ही सर्वोपरि होगा तथा उसे कभी भी दलीय संगठन के निर्देशो के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाना चाहिए।

(फ) कांग्रेस संसदीय दल की व्यापक भूमिका :

हाल तक दल की शक्ति-व्यवस्था के सत्ताधिकारियों की सर्वव्यापकता ने कांग्रेस संसदीय दल को उसकी उचित भूमिका प्राप्त नहीं करने दी थी। नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस संसदीय दल का व्यवहार उन स्कूल के बच्चों के समान था जो अपने अध्यापक से डरते हैं तथा उसकी बात ध्यान से सुनते है (१९६२ की घटनाएँ इसका अपवाद हैं जब संसदीय दल ने कृष्ण मेनन का नेहरू की इच्छाओं का विरोध करते हुए बहिष्कार किया)। जो प्रधानमन्त्री अपने दल के सत्ताधारियों के गुट को तोड़ना चाहता है उसे अपने संसदीय दल से अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करने चाहिएं तथा इसको अपनी शक्ति का मूल आधार बनाना चाहिए जैसाकि श्रीमती गांधी ने १९६७ के पश्चात् किया। कांग्रेस संसदीय दल की बैठक प्रधान मन्त्री को अवसर बुलानी चाहिए जिसमे सरकारी नीति के सभी पक्षों पर स्पष्ट रूप से विचार होना चाहिए। प्रधानमन्त्री व दल के अल्पसंख्यकों द्वारा संसदीय दल की बैठकों में जिस सर्वसम्मति पर पहुँचा जाता है उसका सम्मान किया जाना चाहिए। संसदीय दल की शक्ति का मूल स्रोत बन कर ही प्रधानमन्त्री अपने पद के विरुद्ध उत्पन्न संकट का सामना कर सकता है।

(जी) एक सुदृढ़ सचिवालय :

अततः प्रधानमन्त्री का सचिवालय सरकारी तंत्र का स्थायी अंग बन जाना चाहिए। श्रीमती गांधी के समान एक सुदृढ प्रधानमंत्री का सचिवालय प्रधानमन्त्री के बढ़ते हुए दायित्वो जैसे नियोजन, सुरक्षा, सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था, वैदेशिक सम्बन्ध सरकार के कार्यों में समायोजन के कारण अपरिहार्य बन गया है। किन्तु प्रधानमन्त्री को सचिवालय पर इतना अधिक आश्रित नहीं हो जाना चाहिए कि वह प्रधानमन्त्री के निर्णयो पर नियंत्रण का कार्य करने लगे, जैसे शास्त्री के प्रधानमन्त्री काल मे हुआ।[५०] ये तत्त्व प्रधानमन्त्री की सत्ता की न्यूनतम आवश्यकताएँ हैं जिन पर अधिकतम सहमति होना आवश्यक है।

---

४९ १९४९ में राष्ट्रपति के चुनाव से उत्पन्न राजनैतिक विरोध की स्थिति में जनसंघ की कार्यकारिणी समिति ने यह प्रस्ताव पारित किया कि भारतीय संदर्भ में संगठन को सर्वोच्च माना जाना चाहिए। दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, सितम्बर २, १९६९.

५० इस तथ्य के पर्याप्त प्रमाण है कि प्रधानमंत्री का सचिवालय अखिल भारतीय राजनीति में शक्ति का केन्द्र बन गया है। यह स्वय मे निहित स्वार्थ का समूह है। इसने कई विषयो पर पर्याप्त प्रभाव डाला है जिनमें आर्थिक का समूह है। इसने कई विषयों पर पर्याप्त प्रभाव डाला है जिनमें आर्थिक नियोजन तथा वैदेशिक विभाग मुख्य है''माइकेल ब्रीचर, पूर्वोद्धृत, पृ. ११५.

प्रधानमन्त्री की सत्ता पर अंतर्निहित नियंत्रण

यह तर्क दिया जा सकता है कि प्रधानमन्त्री को इतने विस्तृत अधिकार देकर हम उसकी तानाशाही का मार्ग प्रशस्त कर रहे है। किन्तु तानाशाही सर्वथा व्यक्तिगत स्तर पर होती है जबकि हमारा तर्क संस्थाकरण के लिए है। इसके अतिरिक्त स्वयं प्रधानमन्त्री की सत्ता में कुछ ऐसे अंतर्निहित नियंत्रण होते हैं कि जिनकी उपेक्षा कर वह स्वयं के विनाश को ही आमंत्रित करेगा—(१) प्रधानमन्त्री को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो। नेहरू के नेतृत्व में शासक दल के भारी बहुमत के दिन अब समाप्त हो गये है।* इस तथ्य का पता श्रीमती गांधी को तब चल गया जब उनको क्रिमिनल प्रोसीजर कोर्ट के सुधार के प्रश्न पर पीछे हटना पड़ा (२) कांग्रेस संसदीय दल के प्रति प्रधानमन्त्री का दायित्व सदैव एक अनिवार्य सत्य रहा है और दल में निहित समूहों ने इसे आवश्यक बना दिया है (३) चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात् देश के सघीय ढांचे में परिवर्तन हुआ है। प्रथम बार प्रधानमन्त्री को राज्यों में शक्ति का हस्तांतरण उन दलों को करना पड़ा है जिनकी राज्यों में सरकार बनी है (४) यद्यपि प्रधानमन्त्री के लिए समकक्षों में प्रथम का विचार अब ग्रहणीय नहीं है तथापि एक कुशल प्रधानमन्त्री सरकार के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य पर अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का सहयोग लेने का प्रयास करेगा क्योंकि स्वयं अमेरिका का राष्ट्रपति भी अब ऐसे प्रयास करता है (५) भारत में जनमत पर्याप्त मुखर होता जा रहा है तथा उसका आधार वे संवैधानिक व्यवस्थाएँ हैं जो अभिव्यक्ति तथा प्रकाशन की स्वतन्त्रता प्रदान करती हैं।

प्रधानमन्त्री नेहरू के काल में कई स्वस्थ परम्पराओं का विकास हुआ। क्योंकि उनके लिये प्रजातंत्रीय मूल्यों में विश्वास प्राथमिक महत्ता रखता था। इन परम्पराओं का प्रयोग उस प्रधानमन्त्री के विरुद्ध किया जा सकता है जो अपनी शक्ति का स्वच्छंद प्रयोग करने का प्रयास करता है। भारत में संसदीय लोकतन्त्र को खतरा एक सुदृढ प्रधानमन्त्री के संस्थाकरण [५१] से नहीं है अपितु ऐसे प्रधानमन्त्री से है जिसकी उचित सत्ता को व्यापक रूप से नियन्त्रित कर दिया गया हो।

निष्कर्ष

चतुर्थ आमचुनावों ने दल-बदल तथा अस्थायित्व की उस प्रक्रिया को प्रारम्भ किया

---

* १६७१ के लोकसभा चुनाव और १६७२ के विधान सभा के चुनावो मे फिर कांग्रेस को भारी बहुमत मिला परन्तु इसके आधार पर यह कहना कि भावी चुनावो मे भी ऐसा होगा, सम्भवतः सही नहीं है। अतः लेखक की धारणा मे इन चुनावो से कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं होता। सपादक

५१ यह सब कहने के पश्चात् यह मानना चाहिए कि प्रजातन्त्र मे एक प्रधानमंत्री तानाशाह नही बन सकता है। भारत मे सरकार का ढांचा इस प्रकार का है कि किसी भी राष्ट्रीय महत्त्व के विषय पर प्रधानमंत्री को न केवल अपने सहयोगियो का समर्थन ही प्राप्त करना होगा, अपितु कांग्रेस के अन्य नेताओं तथा दलो का समर्थन भी प्राप्त करना होगा। राज्यों मे कई गैर कांग्रेसी सरकारों के उदय से यह और भी आवश्यक हो गया है। डो. एस. पण्डित, टू इयर्स आफ ट्रेवल—दि स्टेट्समैन, नई दिल्ली, जनवरी २१, १६६८.

जिसने पहले स्तर पर राजनैतिक व्यवस्था को प्रभावित किया और तदुपरांत केन्द्रीय स्तर पर संवैधानिक व्यवस्था के लिए संकट उत्पन्न किया था। सामूहिक दल-बदल की घटनाओं तथा उसके पश्चात् कई राज्यों में राष्ट्रपति शासन की घोषणा ने अनेक गणमान्य भारतीयों को भारतीय संदर्भ में संसदीय प्रजातन्त्र की उपयोगिता के बारे में सन्देह अभिव्यक्त करने को बाध्य किया।[५२] अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली स्वीकार करने के बारे में यह तर्क दिया जाता है कि जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राष्ट्र का अध्यक्ष विधायकों की अस्थिर व परिवर्तनशील निष्ठाओं पर निर्भर नहीं करेगा और दल-बदल तथा विधान सभाओं में पक्ष परिवर्तन राष्ट्र अध्यक्ष को प्रस्तावित नहीं करेंगे।[५३] तथापि यह कहा जा सकता है कि संसदीय प्रजातन्त्र के विषय में यह शंका गलत है और व्याधि का निदान व उसका उपचार अपरिपक्व है। यदि बड़े पैमाने पर दल-बदल की घटनाएँ हुई हैं तो यह हमारी व्यवस्था में निहित अभावों की सूचक है, सम्पूर्ण व्यवस्था की अनुपयोगिता की सूचक नहीं।[५४] नेहरू की मृत्यु के पश्चात् से ही भारत की मूल समस्या राजनीति के सर्वोच्च शिखर दिल्ली में नेतृत्व की शून्यता रही है जिसका प्रभाव स्वाभाविक रूप से राज्यों पर पड़ा। इस लेख का मूल विचार यही है कि भारत के पास मात्र यही विकल्प है कि प्रधानमन्त्री के पद का सस्थाकरण कर दिया जाए ताकि राजनैतिक संरचना तथा दलीय शक्ति व्यवस्था के मध्य कोई वैषम्य नहीं रहे। यदि प्रधानमन्त्री पद को संकटों से बचाना है तो ऐसा करना ही होगा। संसदीय कार्यपालिका के स्थान पर अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के स्थानान्तरण का अर्थ शक्ति व्यवस्था में उत्पन्न गतिरोध के स्थान पर राजनैतिक संरचना में गतिरोध उत्पन्न करना होगा। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली अपनाने के पश्चात् भी भारत में स्थायित्व का अभाव रहेगा क्योंकि स्थायित्व के उस आधार का यहाँ अभाव रहेगा जिसके अन्तर्गत एक सुदृढ़ राष्ट्रीय दल, व्यवस्थापिका का प्रबल बहुमत तथा लोकप्रिय नेतृत्व की आवश्यकता होती है। एक ऐसी अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के बाद, जो भारतीय जनमत के अधिकांश भाग का समर्थन प्राप्त न कर सके, भारत के सम्मुख कोई विकल्प नहीं रहेगा।[५५] वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत यदि प्रभाव-

---

५२ इस दिशा में पहला प्रहार जे० आर० डी० टाटा द्वारा चतुर्थ आम चुनावों के तुरन्त पश्चात् इण्डियन चैम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज़ के सम्मुख भाषण में किया गया था। दि स्टेट्समैन, नई दिल्ली, अगस्त २२, १९७०। आसाम के राज्यपाल बी० के० नेहरू, मैसूर के राज्यपाल धर्मवीर, यू० पी० के भूतपूर्व मुख्यमंत्री चरणसिंह तथा भूतपूर्व विदेश मंत्री एम. सी. छागला ने अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के पक्ष में विचार व्यक्त किए थे। पूर्वोक्त अगस्त ८, १९७०.

५३ दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली फरवरी २५, १९६९.

५४ अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के स्पष्ट रूप से कुछ लाभ होते हैं। यदि उसका संचालन करने वाले असफल हो जाएं तो वे भी समाप्त हो सकते हैं, संसदीय प्रजातंत्र की वर्तमान असफलता भी इन्हीं कारणों से है। मानवीय तत्वों की योग्यता ही सम्पूर्ण विफलताएँ प्रस्तुत करती हैं ए. जी. नियोरैन हैव फेल्ड नॉट दि सिस्टम, नई दिल्ली, अगस्त २२, १९७०.

५५ भूतपूर्व उप प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई, जगजीवनराम, अटलबिहारी बाजपेयी (जनसंघ) ए. के. गोपालन (सी. पी. एम.) गुजरात व पंजाब के राज्यपाल तथा जम्मू व कश्मीर, मैसूर, मध्य प्रदेश,

शाली सरकार अपेक्षित है और यदि प्रधानमन्त्री को लोकसभा को भंग करने का अधिकार प्रदान नहीं किया जाता तो प्रधानमन्त्री को अपने अस्तित्व के लिए छोटे दलों का विश्वास प्राप्त करने तथा किसी भी प्रकार विधेयक पारित करवाने के लिए बाध्य होना पड़ता है।[४६] वर्तमान परिस्थितियों में एक दुर्बल प्रधानमन्त्री का अर्थ शक्ति के केन्द्र को राष्ट्रपति भवन को स्थानान्तरित करना होगा। तब अनायास ही एक अधिनायकवादी सरकार की सम्भावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। हम राष्ट्रपति को बिना किसी के प्रति उत्तरदायी बनाए सर्वव्यापी तथा शक्तिशाली बना देते हैं। प्रधानमन्त्री द्वारा तानाशाही पूर्ण ढंग से कार्य करने की सम्भावनाएँ पूर्णतः गलत हैं। प्रधानमन्त्री नेहरू को वे सभी शक्तियाँ प्राप्त थीं जिनका हमने समर्थन किया है फिर भी उन्होंने अधिनायक के रूप में कार्य नहीं किया। प्रधानमन्त्री के विरुद्ध इस प्रकार के अन्तर्निहित नियन्त्रण विद्यमान होते हैं जो उसे तानाशाह बनने से रोक सकते हैं किन्तु राष्ट्रपति की तानाशाही को रोकने के प्रभावशाली नियन्त्रण बहुत कम हैं।

यदि भारत में संसदीय प्रजातन्त्र को बना रहना है तो प्रधानमन्त्री की सत्ता को उसे प्रदान करना ही होगा। जब प्रधानमन्त्री जैसे उच्च पद के विरुद्ध प्रभावशाली दबाव क्रियाशील होते हैं तो वे उसमें कुंठा तथा अनुत्तरदायित्व की भावना का विकास कर देते हैं। किसी भी सरकार के सर्वोच्च स्तर पर आज्ञाधीनता (docility) की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। पत्तनम[४७] सरकार (जिसमें संयुक्त नेतृत्व के नाम पर निर्णय विहीनता तथा स्थिति है) का एक और प्रयोग भारतीय राजनैतिक व्यवस्था को इतना अयोग्य बना देगा जिसका कोई भी पुनर्निर्माण संभव नहीं होगा। प्रधानमन्त्री की सत्ता के संस्थाकरण के विषय में सहमति के अभाव ने देश के सबसे विशाल दल को दो भागों में विभाजित कर दिया है तथा स्वयं देश में तीव्र विरोध उत्पन्न हो गये हैं। भारत के लिए इस प्रकार के अन्य विभाजन का सामना करना सम्भव नहीं है। राजनैतिक संरचना तथा शक्ति व्यवस्था के मध्य वैषम्य का अन्तर समाप्त किया जाना चाहिए। तभी प्रधानमन्त्री स्थायित्व का आधार बन सकता है। भारत को यथास्थिति का स्थायित्व नहीं चाहिए, जो एक अध्यक्षात्मक कार्यपालिका अथवा एक सक्रिय राष्ट्रपति का परिणाम होगा। उसे सक्रिय स्थायित्व एक दृढ़ प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में ही प्राप्त हो सकता है।

राजस्थान तथा हिमाचल प्रदेश के मुख्यमन्त्री अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली को अपनाने का विरोध करते हैं। पूर्वोक्त

४६ बी. के. नेहरू जिन्होंने प्रारम्भ से ही अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के प्रति अपना झुकाव प्रकट किया है, ने संसद् को भंग करने का अधिकार राष्ट्रपति को देना चाहा है—इन परिस्थितियों में भारत में यह स्थिति (व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के मध्य गतिरोध) उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। इस संकट के विरुद्ध दो तरीके हैं जिनमें से एक भाग के राष्ट्रपति के समान राष्ट्रपति को संसद को भंग करने का अधिकार प्रदान करता है—पूर्वोक्त, अगस्त ८ १९७०

४७ 'पत्तनम' एक तामिल शब्द है जिसका भाव यह है कि "देखा जाएगा"। [illegible] से है जो कि निर्णयों को टालने की इच्छुक हो।

Further Readings

1. *Gangal S. C.* : Prime Minister and The Cabinet in India, Delhi, Navachetna Prakashan, 1972. pp. 13–88.

2. *Kocknek, Stanley,* : "post–Nehru India", Asian Survey, May, 1966.

3. *kothari, Rajni* : "The congress System on Trial" Asian Survey, February 1967.

4. *Lacy, creighton* : op. cit., ch. II, pp. 47–75

१६

राज्यपाल का पद : भूमिका निर्धारण की समस्या

संभवतः देश का कोई भी राजनैतिक पद विस्मृति व विवादों की उस चरमसीमा के बीच नहीं भूलता रहा है जितना कि राज्यपाल का पद। यदि पहली अवस्था १९४७–६७ के दौरान एकदलीय प्रभुत्व व १९७१–७२ के पाँचवें लोकसभा व विधान सभा चुनावों से उत्पन्न राजनैतिक स्थिति का कारण थी तो दूसरी अवस्था १९६७–७१ की साझा सरकारों की राजनीति से उत्पन्न हुई। इस प्रकार एक दलीय प्रभुत्व के दौरान राज्यपाल की क्षमताओं व सीमाओं से सम्बन्धित प्रश्न नहीं उठाए गए लेकिन ये प्रश्न साझा-सरकारों के अस्तित्व काल में उठे किन्तु अंतिम रूप से अनुत्तरित रहे। मैंने प्रस्तुत लेख में यह तर्क किया है कि राज्यपाल के पद से सम्बन्धित उपलब्ध अपार सामग्री के बावजूद उसकी भूमिका-निर्धारण का प्रश्न अभी भी विद्यमान है। प्रस्तुत लेख 'ऑफिस ऑफ गवर्नर: दि प्राब्लम ऑफ रोल आइडेन्टिफिकेशन (जनरल ऑफ अफ्रीकन एण्ड एशियन स्टडीज़, स्प्रिंग १९६८, १. (२), पृ. १७१–१८२) में इसी दिशा में तर्क प्रस्तुत किए गए हैं। सम्पादक

चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात् का समय 'भारतीय राजनैतिक व्यवस्था का परीक्षाकाल' है। केन्द्र राज्य सम्बन्ध इस संकटग्रस्त काल का एक सर्वाधिक गम्भीर पक्ष है। ऐसा इस स्वतः स्पष्ट कारण से है कि केन्द्र में कांग्रेस सत्तारूढ़ है जबकि अन्य दल या तो पूर्ण रूप से या संयुक्त मोर्चे के आधार पर अधिकांश राज्यों में पदारूढ़ हैं।[1] स्वाभाविकतः केन्द्र की कांग्रेस सरकार को शंका की दृष्टि से देखा जाता है यद्यपि वस्तु स्थिति अक्सर ऐसी नहीं होती। कांग्रेस सरकार पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह राज्यों की तथाकथित गैर-कांग्रेसी सरकारों को सप्रयास या तो बदनाम करती है या उन्हें अपदस्थ करती है।

---

१ १९६७ के चुनावों में जनमत बिहार, केरल, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान व पश्चिम बंगाल में कांग्रेस के विरुद्ध था।

राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राज्यपाल [२] जो कि व्यवहार मे केन्द्रीय सत्तारूढ दल द्वारा मनोनीत होता है, केन्द्रीय सरकार के प्रति व्याप्त इस अविश्वास व संशय का भागीदार बनता है। वस्तुतः वह इस अविश्वास का सर्वाधिक प्रमुख लक्ष्य बनता है क्योंकि उस पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह गैर-कांग्रेसी सरकारों के विरुद्ध किए गए षड्यंत्र में सह-अपराधी होता है। अतः संवैधानिक क्षमता के न्यायिक दृष्टिकोण से ही राज्यपाल की भूमिका पर विचार करना पर्याप्त नहीं है। आवश्यक यह है कि राजनैतिक व्यवस्था की प्रामाणिकता पर पड़े उसके व्यवहार व कार्यों के व्यापक प्रभावों का मूल्यांकन किया जाए।

अपने पद की शपथ के द्वारा राज्यपाल को संविधान की सुरक्षा व उसे संरक्षण देना पड़ता है।[3] यह संविधान आज एक संक्रमण का काल का अनुभव करता प्रतीत हो रहा है और उसे एक दलीय प्रभुत्व (one Party deminance) से राज्यों के सुदृढ राजनैतिक समत्व[४] की यात्रा करनी पड़ रही है। इसका अर्थ यह है कि राज्यों में समान रूप से सन्तुलित दलों अथवा दलीय इकाइयों का अस्तित्व है और साथ ही शक्ति के अविघ्न परिवर्तन तथा उसके स्थाई धारण की सम्भावनाएँ भी विद्यमान हैं। वर्तमान सांक्रांतिक स्थितियों मे राज्यपाल का पद सम्बन्धी एक विलक्षण आयाम, जो कि संभवतः पूर्ण रूप से संविधानेतर नहीं है, यह है कि देश की राजनैतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास के संवर्धन की दिशा में वह अपनी भूमिका का निर्वाह करता है।

यह अभिव्यक्त करना तो सरल है लेकिन उसे व्यावहारिक रूप में परिणत करना उतना ही कठिन। ऐसा सम्भव है कि राज्यपाल राजनैतिक व्यवस्था मे जनता के विश्वास[५] और राजनैतिक दलों की निष्ठा के बीच कुछ चुनना चाहे क्योंकि विकासशील देशों में ये दोनों सदा एक साथ विद्यमान नहीं होते। इसके अतिरिक्त वह राजनैतिक व्यवस्था की प्रभावोत्पादकता से सम्बन्धित लोकतन्त्र, विकास एवं राष्ट्रवाद के प्रतियोगी दावों में समन्वय स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह समस्या उसके लिए जटिल बन जाती है क्योंकि भारत ऐसे विकासशील देश मे राजनीति को लोकतंत्र, विकास व राष्ट्रवाद के प्रतियोगी दावों में सही विकल्प के वरण की ही चुनौती नहीं होती बल्कि उनमें एक साथ, सन्तुलित विकास करने की चुनौती रहती है ताकि एक पक्ष दूसरे पक्षों का पूरक बन सके न कि उनका विरोधी। संतुलित विकास का यह प्रतिमान न केवल राजनैतिक व्यवस्था को वैधता ही दान करता है बल्कि उसके इर्द-गिर्द विश्वास व प्रभावोत्पादकता के चिरस्थाई पथ का निर्माण भी करता है।

---

२ संविधान की धारा १५५, मे राज्यपाल के चयन की पद्धति को लेकर संविधान सभा मे विस्तार चर्चा हुई थी, (सी. ए. डी. खण्ड पृ ४५४–६).

३ धारा १५६.

४ राज्यों मे राजनैतिक समत्व की अवस्था अनिवार्यत. सम्पूर्ण राजनैतिक व्यवस्था के लिए राजनैतिक समत्व की अवस्था हो यह आवश्यक नहीं है लेकिन यह उस दशा मे एक महत्वपूर्ण कदम अवश्य होगा क्योंकि राज्यों की राजनैतिक समत्व की स्थिति को केन्द्र के राजनैतिक समत्व को भी प्रभावित करना चाहिए।

५ १९५९ में केरल की साम्यवादी सरकार की बर्खास्तगी इसका एक उदाहरण है।

विश्वास के संकट से सम्बन्धित इस व्यापक दृष्टि के संदर्भ में ही राज्यपाल की भूमिका-निर्धारण की समस्या पर दृष्टिपात किया जा सकता है, उस पर चर्चा की जा सकती है।

II

उन अभिमुखी मूल्यों एवं मानदण्डों को सुझाना संभव नहीं है जिनका एक संहिता के रूप में राज्यपालों द्वारा अपनी भूमिका-निर्धारण व आचरण के लिए पालन हो सके। इसके बावजूद मूल्यों व मानदण्डों के उस प्राथमिकता-क्रम को निर्धारित किया जा सकना है जिससे राज्यपालों को भारत के राजनैतिक विकास की साकारतिक अवस्था के संदर्भ में अपनी भूमिका निर्धारित करने एवं उसका पालन करने की दिशा में सहायता मिल सके। यहाँ इस प्रकार का प्रयास किया जा रहा है :

(१) इस लेख में अन्यत्र यह सुझाया गया है कि राज्यपालों को राजनैतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास के आधारस्वरूप लोकतंत्र, विकास एवं राष्ट्रवाद के प्रतियोगी दावों में से कुछ चुनना होता है। यहां यह तर्क दिया जा सकता है कि संविधान के संरक्षक के रूप में राज्यपाल को अपनी आचरण संहिता के लिए लोकतंत्र को प्रथम सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए और उससे प्रतिबद्धता माननी चाहिए। ऐसा तब तक किया जाना चाहिए जब तक कि शेष दो अभिमुखी मानदण्ड पूर्ण रूप से बाजी पर न लगा दिये गए हों[६] और उस स्थिति में उसके लिए तदनुसार कार्यवाही करना आवश्यक न हो गया हो। ऐसा प्राथमिक रूप से इसलिए किया जाना चाहिए क्योंकि वह लोकतंत्र व भारतीय संविधान की रक्षा करने के लिए शपथ-बद्ध है और वह अपने इस दायित्व के लिए राज्य विधानसभा और जनता के प्रति उत्तरदायी है। यह उत्तरदायित्व प्रतीकात्मक रूप से मात्र कानूनी ही है।[७] इस उत्तरदायित्व में की गई कोई भी ढील स्वयं सरकार के लिए घातक होगी। इस संदर्भ में चौथे आम चुनाव में प्राप्त इस सीख का उल्लेख करना प्रासंगिक है कि जनता विवेकपूर्वक राजनैतिक दलों के भाग्य के सम्बन्ध में कोई निर्णय लेने में सक्षम है। जनता का पिछड़ापन, उसकी आदिम निष्ठाएँ

---

६ विकास के हित में राव वीरेन्द्रसिंह मंत्रिमंडल की बर्खास्तगी क्योंकि वहाँ जल्दी-जल्दी अनेक दल-परिवर्तन हो रहे थे, और तत्पश्चात् राज्य में राष्ट्रपति शासन, विधान सभा का भंग होना और समुपस्थित मध्यावधि चुनाव इसके उदाहरण दिए जा सकते हैं।

७ संयुक्त रूप से संविधान की धाराएँ १६३–६४ इस स्थिति को स्पष्ट करती हैं। धारा १६३ (१) के अनुसार "मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका कार्य राज्यपाल को सलाह व परामर्श देना होगा, सिवाय उन स्थितियों के जब उसे संविधान द्वारा दी गई शक्तियों के अन्तर्गत अपने विवेक के अधीन कार्य करना होता है (स्वतंत्र अनुवाद)। धारा १६४ (११) इसे कानूनी प्रतीकवाद की स्थिति प्रदान करती है। इसमें यह व्यवस्था है कि "मंत्रिपरिषद् राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है।"

या धन के प्रलोभन के प्रति उसकी अधीनता ये समस्त विसंगतियाँ इस दिशा में बाधक होते हुए भी उसे इस उपलब्धि से वंचित नहीं करती। इसी प्रकार कानून व व्यवस्था के भंग होने, राष्ट्रीय एकता को चुनौती मिलने, दलों की विदेशों में निष्ठा होने और अन्य समान स्थितियों में लोकतान्त्रिक सिद्धांतों के कुशल निर्वाह के लिए राज्यपाल को मितव्ययता से ही अपना मत प्रकट करना चाहिए। यहाँ भी उसे यथासंभव राजनैतिक दलों के विवेक और चुनावों में जनता की अंतिम मध्यस्थता के प्रति निर्भर रहना चाहिए। भारत में राजनैतिक विकास के सम्पूर्ण इतिहास से प्राप्त अनेक सीखों में से एक यह है कि राजनैतिक दल उपराष्ट्रवादी व आक्रामक रूप से राष्ट्रवादी तो हो सकते हैं लेकिन राष्ट्रवाद के विरोधी नहीं। यदि वे ऐसे हो जाएँ तो चुनावों में जनता उनको अस्वीकार कर देगी।[८]

(२) उपरोक्त तर्क को बढ़ाते हुए यह कहा जा सकता है कि जब राज्यपाल लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के प्रति निष्ठाबद्ध होने की शपथ लेता है तब उस स्थिति में उसे संसदीय सरकार के अन्तर्गत सवैंधानिक अध्यक्ष के लोकतान्त्रिक व्यवहार व मानदण्ड के प्रति ही निष्ठावान नहीं होना पड़ता बल्कि संविधान-प्रदत्त संघीय ढांचे के अन्तर्गत राज्य स्वायत्तता की सुरक्षा के दायित्व का भी सम्मान करना पड़ता है। उसे कर्त्तव्यनिष्ठा से यह आभास देना समाप्त करना चाहिए कि वह हर नाजुक राजनैतिक स्थिति का समाधान करने में केन्द्र द्वारा निर्देशित होता है। समसामयिक सांक्रांतिक स्थितियों में तो इस प्रकार का आभास न देना और भी अधिक आवश्यक हो गया है जब राजनैतिक व्यवस्था व राज्यपाल का पद, दोनों के प्रति विश्वास का संकट उपस्थित हो गया है।[९]

(३) यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि जब राज्यपाल विकास व राष्ट्रवाद के शेष दो मानदण्डों से प्रेरित होता है तब भी अनिवार्यतः उसे यथासंभव लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के समीप होना चाहिए। उदाहरण के लिए हरियाणा के राज्यपाल ने जो कुछ किया वह बंगाल के राज्यपाल की अपेक्षा अधिक लोकतान्त्रिक था।[१०] यह तथ्य कि हरियाणा के राज्यपाल ने मध्यावधि चुनाव के विकल्प को स्वीकार किया और उसके बीच की अवधि में

---

८ यहाँ उस तथ्य पर ध्यान दिया जा सकता है कि नक्सलवादी प्रकरण के पश्चात् पश्चिम बंगाल में लोक निर्वाचनों में दक्षिण-पंथी साम्यवादी लहर दृष्टिगत हुई। फिर, अजय मुखर्जी सरकार को उस स्थिति में नक्सलवादों में पुलिस कार्यवाही की शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार डी. एम. के. सरकार ने भाषायी आदोलनों के प्रश्न पर भी संतुलित रूप से व्यवहार किया। यह कहना गलत नहीं होगा कि यह नहीं माना जाता है कि डी एम. के आन्दोलन तामिलनाडु की संस्कृति की सुरक्षा के लिए था न कि एक राष्ट्र विरोधी आन्दोलन।

९ इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्यपाल जब भी दिल्ली से लौटता है तो वह केन्द्रीय सरकार से कांग्रेसी शासनादेश लेकर ही लौटता है।

१० इसका अभिप्राय अजय मुखर्जी की इस कार्यवाही का समर्थन करना नहीं है जिसके अन्तर्गत उन्होंने खोए हुए बहुमत की परीक्षा करने के लिए विधानसभा का अधिवेशन बुलाने से इन्कार कर दिया।

राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की जबकि पश्चिम बंगाल के राज्यपाल ने इस प्रक्रिया को नहीं अपनाया, इस उदाहरण की पुष्टि करता है।[11]

(III)

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'पूर्व-निर्धारित परिवेश के संस्थागत निहितार्थ क्या हैं ?" वे दृढ़तापूर्वक मात्र यह स्पष्ट करते है कि राज्यपाल मुख्यत. एक संवैधानिक अध्यक्ष है और उसे संसदीय शासन के स्वीकृत मानदण्डों के अनुरूप कार्य कर संतुष्ट हो जाना चाहिए। वेजहट की गृहीत शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि राज्यपाल को बहुचर्चित तीन अधिकारों (मन्त्रि परिषद् द्वारा सूचना प्राप्ति का अधिकार, राज्यपाल द्वारा मन्त्रिपरिषद् को प्रोत्साहन देने का अधिकार व उसे चेतावनी का अधिकार) के प्रयोग की स्वतन्त्रता है लेकिन विश्लेषण की अन्तिम स्थिति में उसे मन्त्रिपरिषद् की सलाह के अनुरूप ही कार्य करना चाहिए।[12]

इसके पश्चात् अब हमें राज्यपाल के विवेक की प्रकृति व उसकी सीमा से सम्बन्धित जटिल प्रश्न पर चर्चा करनी होगी और मन्त्रिमण्डल की सलाह की तुलना में उसके क्रियान्वयन के प्रश्न पर विचार करना होगा। यहाँ 'संविधान प्रदत्त विवेक' (statutory discretion) एवं 'स्थितियों के अनुरूप विवेक' (situational discretion) के मध्य अन्तर स्थापित करना उपयोगी होगा। पहला विवेक संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त है और दूसरे का सम्बन्ध राष्ट्रपति के उस विवेक से है जिसको विशुद्ध रूप से राजनैतिक स्थिति की अत्यावश्यकता से आधार मिल सकता है। यहाँ इस पक्ष से सहमति व्यक्त की जा सकती है कि ये दोनों प्रकार के ही विवेक अत्यधिक सीमित हैं—प्रथम स्वयं संविधान द्वारा और दूसरा संसदीय सरकार के स्वीकृत कार्यकारी मानदण्डों द्वारा।

संवैधानिक विवेक को संविधान में कुछ निश्चित मामलों के अन्तर्गत मान्यता दी गई है और वह भी आसाम के सन्दर्भ मे जहाँ राज्यपाल मन्त्रियों के परामर्श के बिना भी कार्य कर सकता है। धारा १६३(१) की शब्दावली व उसमें निहित भावना द्वारा यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। उसके अनुसार—

"मुख्यमन्त्री की अध्यक्षता मे एक मन्त्रिपरिषद् होगी जिसका कार्य राज्यपाल को उसके कार्यों में सलाह व सहायता देना होगा, सिवाय उनके जिनमे उसके लिए संविधान द्वारा, उसमे स्पष्टतः लिखित विषयों के सन्दर्भ मे स्वविवेक से कार्य करने की आवश्यकता होनी है।" (इटैलिक्स ऐडेड)

इसी प्रकार धारा १६३(२) की शब्दावली भी राज्यपाल के विवेक की सीमा को व्यापक नहीं कर सकती। इसमें यह व्यवस्था है कि—

---

११ यह आरोप लगाया जाता है कि वह इस प्रक्रिया को इसलिए नहीं अपना सके क्योंकि काँग्रेस चुनावों की इच्छुक नहीं थी। उसको आशंका थी कि कहीं केरल की पुनरावृत्ति न हो जाए।

१२ आर. एस. कपूर बनाम पंजाब राज्य के मामले मे उच्चतम न्यायालय ने इसकी पुष्टि की।

"यदि इस सम्बन्ध मे कोई विवाद उठ खड़ा होता है कि कोई विषय-विशेष ऐसा है अथवा नही जिसके अन्तर्गत राज्यपाल को अपने विवेक के अधीन कार्य करने की आवश्यकता होती है तो इस सम्बन्ध मे राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा और राज्यपाल द्वारा किये गए किसी भी कार्य की वैधता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि उसे उस सन्दर्भ-विशेष मे विवेक से कार्य करना चाहिए था या नही।"[13]

इस धारा पर कुछ और कहना अनुपयुक्त नही होगा। प्रथम, यह संवैधानिक व स्थिति-जन्य दोनो विषयों से सम्बन्धित है। द्वितीय, यह धारा संवैधानिक विवेक की सीमा विस्तृत नही करती। साथ ही इससे राज्यपाल को यह छूट भी नही मिलती कि वह संवैधानिक विवेक को या तो इच्छानुसार या एकपक्षीय रूप से बढ़ा ले। तृतीय, राज्यपाल जब इन दोनो श्रेणियों मे से किसी एक के अन्तर्गत विवेक के अधीन कोई कदम उठाता है तो उसे इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह कार्य उसके विवेकाधिकार की परिधि के बाहर है। इसको किसी न्यायालय मे चुनौती नहीं दी जा सकती।

अब स्थितिजन्य विवेक पर चर्चा की जा सकती है। इस प्रकार के विवेक को प्रयुक्त करने के अवसर आज की भारतीय राजनीति के अन्तर्गत अधिक प्राप्त होते हैं जबकि कुछ राज्यों मे साझा मन्त्रिमण्डलों की अस्थिर एवं अनिश्चित राजनीति व्याप्त है। इसके विपरीत राजनैतिक समत्व की स्थिति मे जब किसी एक दल को विधान सभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो, जैसे मद्रास, तो वहाँ इसके अवसर कम उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध में दो स्थितियो का उल्लेख करना आवश्यक है। प्रथम राज्यपालों को इस प्रकार के स्थितिजन्य विवेक के अवसरों पर सुस्थापित लोकतान्त्रिक परम्पराओं का पालन करना चाहिए या उनकी अनुपस्थिति मे ऐसी लोकतान्त्रिक परम्पराओ को विकसित करना चाहिए। द्वितीय, राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका का निर्वाह करे और इस प्रकार अपनी कर्त्तव्य निष्ठा से यह आभास देना समाप्त करे कि अपने स्थितिजन्य विवेक के प्रयोग मे वह केन्द्र द्वारा प्रेरित होता है। इस सन्दर्भ मे इस बात पर भी बल दिया जा सकता है कि किसी राज्य में कानून व व्यवस्था भंग होने की सूचना देते हुए (जिसको स्थितिजन्य विवेक को बिलकुल अन्तिम-स्थिति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है) भी राज्यपाल राष्ट्रपति के लिए केवल तभी उत्तरदायी है जब राष्ट्रपति उस राज्य में आपत्कालीन स्थिति घोषित करदे।

---

१३ इसे वास्तव मे १९३५ के अधिनियम से प्राप्त की गई एक अवशिष्ट धारा के रूप में देखा जा सकता है केवल अन्तर इतना है कि १९३५ के अधिनियम मे राज्यपाल को अत्यधिक विवेकाधिकारी शक्तियां प्राप्त थी जो कि इसमे नही हैं। यह सामान्यत विदित है कि १९३५ के अधिनियम मे राज्यपाल को उसके व्यक्तिगत निर्णय के अधीन अनेक उत्तरदायित्व व शक्तियाँ प्राप्त थीं (वह मन्त्रियो से परामर्श ले सकता था लेकिन उसे मानने के लिए बाध्य नही था। इसके अतिरिक्त वह बिलकुल अपनी पहल से कार्यवाही करने को स्वतन्त्र था और इसके लिए मन्त्रियो की सलाह आवश्यक नहीं थी)। उसकी स्थिति को और अधिक सुदृढ बनाने के लिए यह व्यवस्था थी कि यह उसके निर्णय का विषय है कि अमुक कार्य उसके विवेक एवं व्यक्तिगत निर्णय के अधीन है अथवा नहीं।

अब एक अन्य जटिल समस्या राज्यपाल के पद की भूमिका विशिष्टीकरण (differentiation) पर ध्यान देना आवश्यक है। यह सामान्यतः विदित है कि एक राज्यपाल को दोहरी भूमिका निभानी होती है : (१) राज्य के सवैधानिक अध्यक्ष की और (२) केन्द्र के एजेन्ट की। यह तर्क भी दिया जा सकता है कि "केन्द्र का एजेन्ट" प्रयोग अधिक उपयुक्त नही है क्योंकि यह संघ-विरोधी न होते हुए भी असंघीय स्थिति का तो परिचायक है ही। अधिक उपयुक्ततः यह कहा जा सकता है राज्यपाल के दो प्रकार के कर्त्तव्य हैं—एक, राज्य का अध्यक्ष होने के कारण उसके दायित्व और दूसरे, केन्द्र की तुलना मे उसके सवैधानिक उत्तरदायित्व। इस विपयान्तर के अतिरिक्त समस्या सीमाओ के निर्धारण व सामजस्य से सम्बन्धित है। स्थितियों की महजता के लिए प्रस्तुत दो आधारों को विकसित किया जा सकता है। प्रथम, यह पक्ष लिया जा सकता है कि सामान्यतः दोनो भूमिकाओ मे कोई परस्पर-व्यापन नही है। जब तक कि उसकी विशेष रूप से कोई व्यवस्था न हो तब तक राज्यपाल की 'केन्द्र के एजेन्ट' की भूमिका वहाँ से प्रारम्भ होती है, जहाँ उसकी राज्य के अध्यक्ष की भूमिका समाप्त होती है। द्वितीय, इसके अतिरिक्त एक अन्य सीमा भी निर्धारित की जा सकती है। केन्द्र के एजेन्ट की तुलना में राज्यपाल की राज्य के सवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका प्रधान है क्योंकि पहले का सम्बन्ध आपत्तिकालीन स्थितियों से है जबकि दूसरे का सम्बन्ध राज्य की सामान्य स्थितियो से। यह स्वतः स्पष्ट को पुनर्स्पष्ट करना ही होगा कि आपातकालीन स्थितियाँ वहाँ से प्रारम्भ होती हैं जहाँ सामान्य स्थिति समाप्त होती है। यदि ये दो आधार स्वीकार कर लिए जाते है, तो दोनों भमिकाओ मे सहज सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

IV

अन्त में, अब तक सैद्धान्तिक पक्ष के आधार पर चौथे आम चुनावों के उपरान्त कुछ राज्यों के राज्यपालो की कार्यवाही पर दृष्टिपात किया जा सकता है :

१. राजस्थान से चर्चा आरम्भ करते हुए यह कहा जा सकता है कि यहाँ राज्यपाल ने सुस्थापित लोकतांत्रिक अभिसमय का पालन करते हुए ही मोहनलाल सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया क्योंकि वह विधानसभा में सर्वाधिक मत–प्राप्त दल के नेता थे। इसके वावजूद यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल की इस सम्बन्ध मे पहल समयानुकूल नही थी और उनके द्वारा निर्दलीय सदस्यों को निंदा अनावश्यक थी (राज्यपाल ने बहुमत की गणना में निर्दलीय सदस्यों को सम्मिलित नहीं किया)। यदि उन्होंने चुनावो के तुरन्त बाद ही सुखाड़िया को आमन्त्रित किया होता और इस प्रकार राज्य में दल-बदल अथवा अन्य किसी प्रकार की अस्थिरता की सम्भावना समाप्त कर दी होती तो उन पर केन्द्र से निर्देशित होने का आरोप नही लगता और उनकी उक्त कार्यवाही ने उतना विवाद नही उत्पन्न किया होता।

२. मध्य प्रदेश मे भी राज्यपाल ने लोकतान्त्रिक मानदण्डों के अनुरूप कार्य करते हुए विधान सभा के सत्र वसान (prorogation) सम्बन्धी मुख्यमन्त्री की सलाह स्वीकार

की । ऐसा करना इसलिए आवश्यक हुआ क्योंकि मुख्यमन्त्री के दल के टिकट पर खड़े हुए ३६ निर्वाचित सदस्यों ने दल का त्याग कर दिया था और वह इस स्थिति से निपटने के लिए कुछ समय चाहते थे । राज्यपाल ने लोकतांत्रिक मानदण्डों का पालन किया होता यदि उसने मुख्यमन्त्री के आदेश पर सदन भंग कर दिया होता (इस मामले में ऐसा आदेश नहीं दिया गया था) । कांग्रेस उच्च कमान ने डी० पी० मिश्र को सदन भंग का आग्रह करने की अनुमति न देकर संभवतः एक स्वस्थ लोकतांत्रिक अभिसमय के विकास का प्रतिरोध किया । मुख्य मन्त्री का तथाकथित अहंकेन्द्रित (ego-centric) व्यवहार एक बिल्कुल अलग मामला है और न्याय की दृष्टि से डी० पी० मिश्र की दुर्दशा को तर्कसंगत ठहराने के लिए इसका प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए ।

३. हरियाणा की घटनाओं की समीक्षा करते हुए तकनीकी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वहाँ तत्कालीन मुख्यमन्त्री राव वीरेन्द्रसिंह ने विधान सभा में बहुमत का विश्वास नहीं खोया था और इसलिए राज्यपाल द्वारा सदन भंग करने व राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश करना अनुचित था । इसके बावजूद, राज्यपाल के निर्णय के पक्ष में कहने के भी पर्याप्त आधार है । इस तथ्य के प्रमाण उपलब्ध हैं कि अतीत में भी राज्यपालों ने किसी राज्य विशेष में संवैधानिक संकट से सम्बन्धित निर्णय लेने में मुख्यमंत्री के सदन में सांख्यिक बहुमत को कोई निर्णायक मापदण्ड नहीं माना । कभी कभी उन्होंने स्थिति के गुणात्मक पक्ष को भी इस निर्णय का आधार बनाया है । इस तर्क का यह उद्देश्य नहीं है कि प्रत्येक स्थिति में राज्यपाल द्वारा गुणात्मक पक्ष वाले मूल्यांकन को प्रोत्साहित किया जाए, उद्देश्य मात्र तथ्य प्रस्तुत करना है । द्वितीय, राज्य में दल-परिवर्तन आए-दिन की बात हो गई थी और मुख्यमन्त्री पद पर बने रहने के लिए मंत्रित्व पदों को अविवेकी ढंग से वितरित कर रहे थे । *इस प्रयोग की सामाजिक मूल्यपरकता की तो बात ही क्या,* राज्य की यह राजनीति स्वयं लोकतन्त्र के लिए एक अभिशाप थी । अततः जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है, इस प्रकरण की सर्वाधिक विशेषता यह थी कि राज्य में मध्यावधि चुनावों की व्यवस्था की गई थी जिनमें अन्तिम निर्णायक स्वयं जनता थी ।

४. अब सर्वाधिक समस्याग्रस्त एवं विवादास्पद राज्य-पश्चिम बंगाल पर दृष्टिपात किया जाए । इस सम्बन्ध में कतिपय महत्त्वपूर्ण पक्ष इस प्रकार हैं :

प्रथम, अजयमुखर्जी ने अपने बहुमत के अभाव की कथित स्थिति का सदन में परीक्षण करने के लिए सदन के अधिवेशन को न बुला कर लोकतांत्रिक परम्पराओं का पालन नहीं किया यद्यपि उनके बहुमत के प्रति न्यायसंगत संशय व्यक्त किये गए थे । इस प्रकार वह कानूनी नहीं तो कम से कम नैतिक-बाजी तो अवश्य हार गए थे ।

द्वितीय, यह विवादास्पद है कि क्या विधानसभा का अधिवेशन शीघ्र बुलाने का राज्यपाल को कोई विवेकाधिकार है जबकि स्वयं धारा १७४ (१) में यह व्यवस्था है कि सदन के दो अधिवेशनों के मध्य ६ माह से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए ।

तृतीय, यह तो और भी अधिक विवादास्पद है कि उसके द्वारा अपनाया गया वैकल्पिक मार्ग राजनैतिक दृष्टि से सर्वाधिक कामोचित था । जैसाकि इससे पूर्व भी कहा जा चुका है कि राज्यपाल की वह कार्यवाही अधिक न्यायोचित व निष्पक्ष होती जिसके अन्तर्गत उसने

राष्ट्रपति को स्वयं उत्पन्न संवैधानिक संकट से सूचित किया होता, विधान सभा को भंग किया होता और इस प्रकार मध्यावधि चुनावों के माध्यम से जनता के निर्णय हेतु उपयुक्त वातावरण तैयार किया होता।

(५) राज्यपाल के व्यवहार का एक अन्य उदाहरण पंजाब से मिलता है। यहाँ मुख्य मन्त्री ने यह स्वीकार किया कि दल परिवर्तन के कारण उनका बहुमत समाप्त हो गया था, उन्होंने त्यागपत्र दिया और साथ ही राज्यपाल को सदन भंग करने व मध्यावधि चुनावों की व्यवस्था करने की सलाह दी। मध्यावधि चुनावो की सलाह राज्यपाल ने इसलिए नही मानी क्योंकि इसमें काफी व्यय होता। उसका यह भी तर्क था कि निवृत्तमान मुख्यमन्त्री विधान सभा को भंग करने की माँग नही कर सकता। इसके बावजूद राज्यपाल ने उसे इस शर्त पर सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया कि वह दो दिन के अन्दर-अन्दर यह सूचना दे कि वह ऐसा करने की स्थिति मे है। जब मुख्यमन्त्री राज्यपाल से मिलने गए तो वह राजधानी से बाहर थे। मुख्यमन्त्री राज्यपाल के लिऐ यह सन्देश छोड़कर कि वह राज्यपाल के लौटाने पर उनसे मिलेंगे, स्वयं दिल्ली चले गए। इसी बीच दो दिन की अवधि पूरी होने के बाद राज्यपाल ने विरोधी दल के नेता को सरकार बनाने के लिए इस आधार पर आमन्त्रित कर लिया क्योंकि वह निवृत्तमान मुख्यमंत्री के उत्तर की अनिश्चित-काल तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे।

राज्यपाल की कार्यवाही के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार अनुपयुक्त नही होंगे :

१. विधान सभा भंग न करने और इस प्रकार मध्यावधि चुनाव करवाने सम्बन्धी राज्यपाल के निर्णय की उपयोगिता संदिग्ध है। मुख्यमन्त्री ने जिस प्रकार त्याग-पत्र देकर लोकतांत्रिक आचरण अपनाया था, वह उसी प्रकार त्याग-पत्र से पूर्व मध्यावधि चुनाव की मांग भी कर सकता था। इसी प्रकार आर्थिक व्यय का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि नेतृत्व व जनता के मूल्य-प्रतिमानों, प्रशासन के मनोबल एवं विकास पर बढ़े दल-परिवर्तन के प्रभाव का सामाजिक मूल्य। सिद्धान्तहीन दल-परिवर्तन की राजनीति का एक मात्र उत्तर मध्यावधि चुनाव ही है।

२. इस शीघ्रता का मूल्यांकन करना कठिन है कि किस कारण राज्यपाल ने विपक्षी दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। या तो राज्यपाल द्वारा निवृत्तमान मुख्यमन्त्री को दुबारा आमन्त्रित नही करना चाहिए था और यदि उसने ऐसा किया था तो उसे मुख्यमन्त्री की तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए थी जब तक कि वह दिल्ली से नहीं लौटे थे।

V

अब तक के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि आज राज्यपाल के पद से सम्बन्धित केन्द्रीय प्रश्न पुनः प्रतिष्ठा (rehabilitation) का नही है अपितु भूमिका-[illegible] (role-differentiation) का है। भूमिका विशिष्टीकरण की समस्या (जिसे [illegible] एक दलीय प्रभुत्व के कारण अब तक संस्थागत स्वरूप नहीं मिल सका) ने उतना [illegible]

रूप ले लिया है कि स्वयं राजनैतिक व्यवस्था के प्रति ही विश्वास का संकट उत्पन्न हो गया है। चौथे आम चुनावों के बाद राज्यपालों के कार्यों का पार्श्वदृश्य यह अभिव्यक्त करता है कि राज्यपालों के लिए अपने संवैधानिक एवं स्थितिजन्य विवेक का सुस्पष्ट सीमांकन करना अत्यधिक जटिल कार्य है। इस तथ्य के प्रस्तुतीकरण का उद्देश्य उनके चरित्र पर आक्षेप करना नहीं है अपितु कार्य की गम्भीरता मात्र ही प्रदर्शित करना है। क्रियान्वयन की अपेक्षा सैद्धान्तिक रूप से उन अभिमुखी मानदण्डों का प्राथमिकता-क्रम निर्धारित करना सरल है जिसे राज्यपाल अपने विशिष्टीकरण में प्रयुक्त कर सकें। संवैधानिक विरोधाभास यही है कि यद्यपि राज्यपाल-पद के लिए भूमिका विशिष्टीकरण जितना ही कठिन कार्य है, उसके प्रति प्रयास करना उतना ही आवश्यक व महत्त्वपूर्ण। प्रस्तुत लेख में प्रस्तावित प्राथमिकता-क्रम विषयगत आग्रहों से युक्त हो सकता है और इसलिए यह सम्भव है कि उसे सर्वस्वीकृति न प्राप्त हो सके, लेकिन इसके बावजूद यह इतना तो सुझाता ही है कि राजनीति-शास्त्रियों एवं राजनीतिज्ञों को इस विरोधाभास को समाप्त करने के लिए पारस्परिक सहयोग प्रदान करना ही होगा। इस लेख में प्रस्तुत प्राथमिकता-क्रम इस दिशा में मात्र एक लोकोक्तीय प्रथम कदम ही है लेकिन अपनी अन्तरिम प्रकृति के बावजूद इसका विवेकसम्मत एवं न्यायसंगत आधार अवश्य है।

Further Readings

1. *Nakade, Shiv Raj* : **"Article 356 of the Constitution : Its use and Misuse," Journal of Constitutional and Parliamentary Studies 111 (4), Oct–Dec. 1969, 78–123**

2, **Report of The Center-State Relations Inquiry Committee, Madras, Govt. of Tamilnadu, 1971, ch. VIII, pp. 119-131. (Popularly known as Rajamannar Committee Report.)**

१७

मुख्यमंत्री का पद : उ० प्र० के राज्यपाल का राष्ट्रपति के नाम पत्र

एकदलीय प्रभुत्व की स्थितिवश मुख्यमन्त्री का पद १९४७–६७ व १९७१–७२ के लोकसभा व विधानसभा चुनावों के दौरान एक पृथक् सर्वधानिक अस्तित्व के रूप में नहीं उभरा। १९६७–७१ की अल्पकालिक अवधि में साझा सरकार की राजनीति के दौरान मुख्यमन्त्री की स्थिति व शक्तियों से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण विवादास्पद प्रश्न उठाए गए। डॉ० बी० गोपाल रेड्डी (तत्कालीन राज्यपाल उ० प्र०) का राष्ट्रपति के नाम लिखा गया पत्र, जिसे यहाँ पुनर्प्रस्तुत किया जा रहा है, इस तर्क को आधार देता है कि एक साझा सरकार के मुख्यमन्त्री को पद व स्थिति की दृष्टि से एक बहुमत प्राप्त दल के मुख्यमन्त्री के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। यद्यपि व्यवहार में इन दोनों मुख्यमन्त्रियों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है, फिर भी राज्यपाल के मत से सहमति कठिन प्रतीत होती है और इस असहमति का आधार संसदीय सरकार से सम्बन्धित सिद्धान्त हैं। सैद्धान्तिक प्रतर्कसंगति के बावजूद यदि डॉ० रेड्डी के तर्क को स्वीकार कर लिया जाए तो इससे मुख्यमन्त्री की स्थिति और अधिक कमजोर हो जाएगी और उसका उसके मन्त्रिमंडल पर नियन्त्रण दुर्बल हो जाएगा जो कि अपनी साझा प्रकृति के कारण वैसे ही अधिक सुदृढ़ नहीं है।

सम्पादक

प्रिय राष्ट्रपतिजी,

आप संभवतः राज्य की उस राजनैतिक गतिविधि से परिचित हैं जो हाल ही में वर्तमान मुख्यमंत्री श्री चरणसिंह के इस निवेदन से उत्पन्न हुई है कि मंत्रिपरिषद् से समस्त कांग्रेस (सत्तारूढ़) दल के सदस्यों व एक भारतीय क्रांतिदल के सदस्य को पदमुक्त किया जाए।

आपको स्मरण होगा कि फरवरी १९७० में भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री सी.बी. गुप्ता के त्याग-पत्र के उपरांत मैंने श्री चरणसिंह को नई मंत्रि परिषद् के गठन के लिए आमन्त्रित किया था। ऐसा कांग्रेस (सत्तारूढ) के नेता श्री कमलापति त्रिपाठी के उस आश्वासन के बाद

किया गया कि उनके दल ने श्री चरणसिंह को समर्थन देने का निर्णय किया है। उस समय (१७-२-७०.) विधान सभा में विभिन्न दलों की निम्नलिखित संख्या थी :

कांग्रेस (सत्तारूढ़) १३६, कांग्रेस (संगठन) ६८, भा० क्रा० दल ६४, जनसंघ ४३, एस० एस० पी० ३२, दक्षिणपंथी साम्यवादी ४, मार्क्सवादी साम्यवादी १, पी० एस० पी० ३, किसान मजदूर पार्टी १, रिपब्लिकन १, मुस्लिम मजलिस २, निर्दलीय सदस्य ४, रिक्त स्थान ६, प्रसम्बद्ध २, हिन्दू महासभा १, कुल योग ४२६।

श्री चरणसिंह भा० क्रा० दल के नेता थे और प्रारम्भिक अवस्था में मंत्रिपरिषद् के समस्त १० सदस्य उनके ही दल के थे। तदुपरांत १६ व २१ अप्रैल को मंत्रिमंडल का विस्तार हुआ और २७ सत्तारूढ़ कांग्रेस के सदस्य व १ भा० क्रा० दल का सदस्य उसमें सम्मिलित हुए। १६ जुलाई को मंत्रिमंडल में पुनः विस्तार के परिणामस्वरूप भा० क्रा० दल के ६ मंत्री और बढ़े।

कांग्रेस मंत्रियों में से एक ने ११ जुलाई, १६७० को त्याग-पत्र दे दिया। परिणामस्वरूप मन्त्रिपरिषद् में अब सत्तारूढ़ कांग्रेस के २६ व भा०क्रा० दल के २० मंत्री रह गए। केबिनेट में ३३ मंत्री थे जिनमें से मुख्यमन्त्री सहित १० भा० क्रा० दल के थे तथा शेष २३ सत्तारूढ़ कांग्रेस के। इस प्रकार एक साझा मन्त्रिमण्डल कार्यशील हुआ जिसका मुख्य घटक सत्तारूढ़ कांग्रेस थी और मुख्यमन्त्री भा० क्रा० दल का सदस्य था।

एक समय भा० क्रा० दल व सत्तारूढ़ कांग्रेस में विलय की चर्चा थी। इन दोनों दलों में विलय सम्बन्धी वार्ता कुछ अवसरों पर रुकी और अंततः २८ अगस्त, १६७० को पूरी तरह से टूट गयी।

प्रारम्भिक मतभेद :

संयुक्त मंत्रिमण्डल के घटक, इन दोनों दलों में प्रथम महत्त्वपूर्ण अंतर उस समय उपस्थित हुआ जबकि सत्तारूढ़ कांग्रेस के सदस्य व राज्य के तत्कालीन सूचना मंत्री श्री गेंदासिंह ने त्यागपत्र दे दिया। उसके पश्चात् निवारक नजरबन्दी अध्यादेश (Preventive Detention Act.) व उत्तरप्रदेश विश्वविद्यालय संशोधन अध्यादेश (*U. P. Universities Amendments Ordinance*) को लेकर सत्तारूढ़ कांग्रेस व भा० क्रा० दल में और अधिक मतभेद दृष्टिगत हुए। चीनी उद्योग के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर दोनों दलों में अत्यधिक मतभेद थे। इसके पश्चात् श्री कमलापति त्रिपाठी ने मुख्यमन्त्री को लिखा कि उनके दल के लिए यह बिल्कुल असंभव है कि वह अनवरत रूप से इस मंत्रिमंडल में बना रहे और उन्होंने देर से देर सितम्बर तक विधान सभा का अधिवेशन बुलाने की मांग की। प्रारम्भ में मुख्यमंत्री ने यह संकेत दिया कि सदन की बैठक २ सितम्बर को बुलाई जा सकती है लेकिन उसके बाद सत्तारूढ़ कांग्रेस के आग्रह पर यह तिथि ६ अक्टूबर कर दी गई।

इन दोनों दलों (सत्तारूढ़ कांग्रेस व भा० क्रा० दल) में दूरी बढ़ती गई और २४ सितम्बर १६७० को मुख्यमन्त्री ने एक लम्बा प्रेस व्यक्तव्य दिया जिसमें सत्तारूढ़ कांग्रेस की नीतियों व कार्यक्रमों की भर्त्सना की गई थी। उन्होंने यह संकेत दिया कि उक्त साझा

मंत्रिमण्डल चलाना सम्भव नहीं हो रहा था और उन्होंने सत्तारूढ़ कांग्रेस के साथ हुए साझे की समाप्ति की घोषणा कर दी। वस्तुतः उन्होंने तो यह कहा कि "हम विधाता के प्रति आभारी हैं कि कांग्रेस के ऐसे लोकतंत्रवादियों व देशभक्तों से अन्ततः हमारा समझौता समाप्त हो गया।" मुख्यमन्त्री ने ऐसे आरोप भी लगाए कि भा० क्रा० दल के सदस्यों को विवश किया जा रहा है कि वे सत्तारूढ़ कांग्रेस मे सम्मिलित हो जाएँ। उन्होंने कहा कि "वे १९ जुलाई से ही विधान सभा के भा० क्रा० दल के सदस्यों की दल के प्रति निष्ठा कम करने के प्रयासों में व्यस्त थे क्योंकि उस समय हुए मंत्रिमंडल के विस्तार ने उन्हें निराश कर दिया था।" इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि २ सितम्बर, १९७० को भा० क्रा० दल के ५ सदस्यों ने दल से त्याग पत्र देकर अपना निर्दलीय गुट बना लिया।

मुख्यमंत्री के प्रेस वक्तव्य की सत्तारूढ कांग्रेस विधानमडलीय दल द्वारा कटु आलोचना की गई।

२४ सितम्बर को मुख्यमंत्री ने १२कांग्रेसी मंत्रियों व १ भा० क्रा० दल के मंत्री से त्यागपत्र देने का अनुरोध किया। तदनुसार त्यागपत्र न प्रस्तुत करने पर उन्होंने कुछ ही घंटों बाद मुझे यह सलाह दी कि मैं इन मंत्रियों को बर्खास्त कर दूँ। लगभग इसी के साथ मुझे उ० प्र० सत्तारूढ कांग्रेस के अध्यक्ष श्री कमलापति त्रिपाठी का पत्र भी प्राप्त हुआ जिसमें उन्होंने मुझे उनके दल द्वारा साझा मन्त्रिमण्डल से निकल जाने की सूचना दी और निवेदन किया कि श्री चरणसिंह के अल्पमत मे हो जाने के कारण उनसे त्यागपत्र का अनुरोध किया जाए। मैंने इस पत्र की एक प्रतिलिपि मुख्यमंत्री को भेज दी। अगले दिन सत्तारूढ़ कांग्रेस के समस्त मंत्रियों ने श्री त्रिपाठी की प्रार्थना का दृढ समर्थन किया कि श्री चरणसिंह से त्यागपत्र प्रस्तुत करने को कहा जाए।

संयुक्त पत्र :

१५ सितम्बर को मुझे संगठन कांग्रेस, जनसंघ, तथा संयुक्त समाजवादी पार्टी के विधान मडल दल के नेताओं का एक संयुक्त पत्र प्राप्त हुआ। इस पत्र मे यह आग्रह था कि मैं मुख्यमन्त्री के दृष्टिकोण का समर्थन करूं और मन्त्रिपरिषद् से सत्तारूढ कांग्रेस के मन्त्रियो को बर्खास्त करूं। लेकिन इस पत्र मे मात्र उन्होने मन्त्रियों के निकाले जाने के सम्बन्ध मे ही मुख्यमंत्री के दृष्टिकोण के प्रति अपना समर्थन व्यक्त किया था। उसी दिन मुझे श्री चरणसिंह का एक और पत्र प्राप्त हुआ जिसमे उन्होने सत्तारूढ कांग्रेस के कुछ और मन्त्रियों व भा० क्रा० दल के एक उपमन्त्री की बर्खास्तगी से संबंधित अपनी मांग का समर्थन किया था। इस पत्र में उन्होंने यह आशा भी व्यक्त की थी कि उन्हें ६ अक्टूबर को सदन के अधिवेशन तक संभवतः बहुमत का समर्थन प्राप्त हो जाएगा। इस रिपोर्ट को लिखते समय तक किसी भी राजनैतिक दल ने यह स्पष्ट संकेत नही दिया कि वह श्री चरण सिंह की नई सरकार को अपना समर्थन देगा।

२६ सितम्बर को जनसंघ विधानमण्डल दल के नेता श्री माधो प्रसाद त्रिपाठी व संगठन कांग्रेस विधानमण्डल दल के नेता श्री गिरधारी लाल ने मुझे मात्र यह ही सूचित किया कि

वे श्री चरणसिंह की वर्तमान सरकार को अपना समर्थन दे रहे हैं। उसी दिन श्री कमलापति त्रिपाठी ने मुझे पुनः पत्र लिखा जिसमें उनका यह मत था कि वर्तमान साझा मंत्रिमण्डल की समाप्ति के फलस्वरूप श्री चरणसिंह अल्पमत में हैं और इसलिए उनसे त्यागपत्र मांगा जाए। उन्होंने यह भी लिखा कि यदि उन्हें नई सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित किया जाए तो वे वैकल्पिक सरकार बनाने की स्थिति में हैं। अपनी पूर्व मांग का समर्थन करते हुए २६ सितम्बर को ही श्री चरणसिंह ने मुझे यह पत्र लिखा कि मैं समस्त सत्तारूढ कांग्रेसी मन्त्रियों व १ भा० क्रा० दल के मंत्री को पदमुक्त कर दूं। साथ ही उन्होंने यह भी अनुरोध किया कि मैं बिजनेस ऑफ यू० पी० (एलोकेशन) रूल्स के नियम ३ के अन्तर्गत उनकी सलाह को मानते हुए समस्त कांग्रेसी मंत्रियों का कार्यभार ले लूं। आवश्यक सरकारी कामकाज के संचालन को दृष्टि में रखते हुए मन्त्रालयों की वापसी से सम्बन्धित उनकी सलाह को मैंने स्वीकार कर लिया।

उस साझा मन्त्रिमण्डल के टूट जाने से, जिसमें सत्तारूढ कांग्रेस प्रमुख साझेदार थी (उसके १४१ सदस्य थे जबकि भा० क्रा० दल के ९४) श्री चरणसिंह अल्पमत में हो गए। अतः स्वाभाविकतः मेरे दिमाग में यह संशय उत्पन्न हुआ कि क्या इस स्थिति में उनका मुख्यमंत्री पद पर बने रहना संवैधानिक है, और क्या मैं इनकी सलाह मानने के लिए बाध्य हूँ।

२५ सितम्बर को विधि सचिव व महाधिवक्ता (Advocate-General) से प्रारम्भिक चर्चा के उपरांत मैंने यह उपयुक्त समझा कि मुख्यमंत्री के पत्र व साझा मंत्रिमण्डल की समाप्ति से उत्पन्न कुछ निश्चित प्रश्नों पर मैं भारत के ऐटोर्नी जनरल का मत प्राप्त करूं। उनके द्वारा दिए गए उत्तर नीचे पुनर्प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

"प्रश्न (१) मन्त्रिपरिषद् के संयुक्त उत्तरदायित्व को दृष्टि में रखते हुए क्या राज्यपाल कथित १४ मंत्रियों को बर्खास्त करने से इंकार कर सकता है और मुख्यमन्त्री की तत्सम्बन्धी सलाह के बावजूद उन्हें पदासीन रहने की अनुमति अथवा निर्देश दे सकता है ?

उत्तर—वर्तमान स्थिति में मुख्यमन्त्री के पास कोई संवैधानिक अधिकार नहीं है जिसके अन्तर्गत वह १४ मंत्रियों की बर्खास्तगी से सम्बन्धित कोई सलाह राज्यपाल को दे और राज्यपाल का इस स्थिति में यह संवैधानिक कर्त्तव्य नहीं है कि वह मुख्यमन्त्री की ऐसी सलाह माने। राज्यपाल को चाहिए कि वह मुख्यमन्त्री अथवा साझा मंत्रिमण्डल के किसीभी मन्त्री को पदासीन न रहने दे और मन्त्रिमण्डल के सदस्यों (मुख्यमन्त्री) को त्यागपत्र देने का निर्देश दे और यदि वे ऐसा करने से इन्कार कर दें तो राज्यपाल को अविलम्ब समस्त मंत्रियों को बर्खास्त कर देना चाहिए।

प्रश्न (२) राज्यपाल के इस तथ्य के प्रति सचेत होने के कारण कि श्री चरणसिंह को विधान सभा का विश्वास प्राप्त नहीं है, क्या वह मुख्यमन्त्री से त्यागपत्र की मांग कर सकता है और उनके द्वारा इस सलाह को न मानने पर, क्या विधान सभा के निर्णय की प्रतीक्षा किए बिना वह (राज्यपाल) उन्हें ६ अक्टूबर से पूर्व ही बर्खास्त कर सकता है ?

अनुवर्ती सलाह :

उत्तर : हाँ।

प्रश्न (३) यदि १४ मंत्रियों की बर्खास्तगी के सम्बन्ध में राज्यपाल मुख्यमन्त्री की सलाह मानने के लिए बाध्य हो तो क्या इसके अनुसार वह मुख्यमन्त्री की अनुवर्ती सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं होगा—(अ) शेष सत्तारूढ़ कांग्रेस के मंत्रियों को उनके पद से मुक्ति, (ब) वर्तमान विपक्षी दलों से नए मंत्रियों की नियुक्ति जिनसे परिवर्तनस्वरूप केबिनेट का सम्पूर्ण ढांचा ही बदल जाएगा (स) सत्रावसान से निर्धारित ६ माह की अवधि के अन्तर्गत विधान सभा के अधिवेशन का स्थगन (मान लीजिए सितम्बर के अंतिम दिनों में कभी)।

उत्तर : प्रश्न (१) तथा (२) के उत्तरों को ध्यान में रखते हुए प्रश्न (३) में उठाई गई (अ) (ब) (स) संभावनाओं का सवाल ही नहीं उठता।

प्रश्न (४) क्या राज्यपाल के लिए यह उपयुक्त होगा कि वह वर्तमान स्थितियों में अथवा प्रश्न (३) में उठाई गई सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर यह मत स्थिर करे कि राज्य का शासन संवैधानिक व्यवस्थाओं के अनुरूप नहीं हो रहा (धारा ३५६)।

उत्तर : इस मामले पर दिए गए वक्तव्य में वस्तु स्थिति की दृष्टि से राज्यपाल के लिए यह सोचना उचित होगा कि राज्य का वर्तमान शासन संविधान की धाराओं के अनुरूप नहीं चलाया जा रहा। प्रश्न (१) व (२) के प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए राज्यपाल के लिए यही बात प्रश्न (३) की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में भी सोचना अनावश्यक है।

प्रश्न (५) यदि राज्यपाल मुख्यमन्त्री की सलाह उस समय भी स्वीकार कर ले जब उनकी दृष्टि में मुख्यमंत्री ने बहुमत का समर्थन खो दिया हो तो क्या यह राज्यपाल द्वारा ली गई शपथ के विरुद्ध नहीं होगा कि "वह संविधान व कानून की रक्षा करेगा व उसे संरक्षण देगा ?"

उत्तर : हाँ।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख किया जा सकता है कि एटॉर्नी जनरल की सलाह के आधार पर जब मैंने २८ सितम्बर को प्रातःकाल मुख्यमन्त्री से शाम तक उनका त्याग-पत्र लेने और उनसे तत्संबंधी अनुरोध करने का निर्णय लिया, उस समय मेरे पास एटॉर्नी जनरल की लिखित सलाह नहीं थी। इस बीच उनका मत प्राप्त हो चुका है लेकिन परीक्षण के उपरान्त मुझे अपने पूर्व मत को बदलने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

उत्तर विलम्ब में :

मुख्यमन्त्री का पत्र कल रात काफी देर में प्राप्त हुआ। अपने त्यागपत्र देने के स्थान पर उन्होंने कुछ स्पष्टीकरण चाहे हैं। उन्होंने एटॉर्नी जनरल की सलाह पर राज्य के एडवोकेट जनरल की टिप्पणी भी भेजी है। उन्होंने यह सुझाव दिया है कि उन्हें ३० सितम्बर अथवा १ अक्टूबर को विधानसभा का सामना करने का अवसर मिलना चाहिए।

स्थिति यह है कि पूर्वनिर्धारित तिथि में परिवर्तन के लिए मंत्रिपरिषद् का तत्सम्बन्धी प्रस्ताव आवश्यक है और इस समय राज्य में संयुक्त उत्तरदायित्व पर आधारित कोई मंत्रिपरिषद् ही नहीं है : उन्होंने यह भी सुझाया है कि मैं दलों की तुलनात्मक संख्या ज्ञात करूं और उस समय तक वह पदासीन ही रहें। यह स्पष्टतः उचित नहीं होगा क्योंकि ऐसा तभी सम्भव है जब वह अपना त्यागपत्र प्रस्तुत करें।

मैं इस तथ्य से संतुष्ट हूँ कि श्री चरणसिंह को पुराने खण्डहर पर नया भवन निर्मित करने की अनुमति नहीं दी जा सकती और उन्हें समय द्वारा मान्यता प्राप्त आचरण के अनुरूप त्यागपत्र प्रस्तुत करना ही चाहिए ताकि नई सरकार का गठन हो सके।

मैंने सावधानीपूर्वक मुख्य मन्त्री के पत्र पर विचार किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूं कि उन्होंने प्रस्तुत की जा रही सिफारिश के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं छोड़ा है।

विचाराधीन मुख्य प्रश्न यह है कि क्या वर्तमान परिस्थियों में यह सम्भव है कि उत्तर-प्रदेश में स्थायित्व सहित किसी सरकार का गठन हो सके ? मात्र यह पर्याप्त नहीं है कि विधान सभा में किसी दल अथवा दलों के समूह को अल्पकालिक बहुमत प्राप्त हो। सरकार के प्रभावी संचालन के लिए यह आवश्यक है कि वह अस्थिर मतों की पुनर्गुटबन्दी के बावजूद कायम रह सके।

सलग्न वक्तव्य (अ) से यह ज्ञात होगा कि दलों की संख्या में दैनिक परिवर्तन हो रहे हैं। मैंने एक ओर संगठन कांग्रेस व जनसंघ के नेताओं की यह सूचना प्राप्त की है कि वे भा० क्रा० दल के सरकारी पक्ष का समर्थन करेंगे। दूसरी ओर इस तथ्य के संकेत भी उपलब्ध हैं कि श्री गिरधारीलाल (विपक्षी नेता) का दावा है कि उन्हें स्वयं सरकार बनाने को आमन्त्रित किया जाए। श्री कमलापति त्रिपाठी ने स्पष्टतः यह व्यक्त किया है कि वह आमंत्रित करने पर सरकार गठित कर सकते हैं। श्री चरणसिंह ने भी बहुमत का दावा किया। परस्पर विरोधी दावों और प्रतिदावों तथा अस्थिर दलीय स्थिति में राज्य में कोई स्थिर सरकार नहीं बन सकती, ऐसी मेरी धारणा है।

दृढ़ समर्थन :

मैं इस निष्कर्ष पर निम्नलिखित कारणों से पहुँचा हूं :

१. कोई भी एक दल, स्वयं अपने आप पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं है। सर्वाधिक सदस्य संख्या सत्तारूढ़ कांग्रेस की (१४५) है। जब तक कि सत्तारूढ़ कांग्रेस किसी अन्य दल अथवा दलों के साथ सरकार बनाने के प्रश्न पर समझौता न करे, तब तक वह भी सरकार नहीं बना सकती। ऐसे समझौते के कोई संकेत उपलब्ध नहीं हैं।

२. श्री चरणसिंह ने अपनी वर्तमान सरकार के प्रति संगठन कांग्रेस, जनसंघ व स्वतन्त्र दल के पूर्ण समर्थन का दावा किया है। स्वतन्त्र पार्टी ने इस सम्बन्ध में कोई लिखित सूचना नहीं दी है और संगठन-कांग्रेस व जनसंघ का समर्थन अधिक से अधिक वर्तमान सरकार को कायम करने के विषय में है। उन्होंने इस बात का संकेत नहीं दिया कि वे श्री चरणसिंह के नेतृत्व में गठित किसी नई सरकार का समर्थन करेंगे। इन दलों की संख्या क्रमशः ६१, ४८, व ४ है और भा० क्रा० दल की सदस्य संख्या ८५ है। इस

प्रकार कुल योग २२३ होता है। लेकिन सत्तारूढ़ कांग्रेस ने इस संख्या को चुनौती दी है। उसके अनुसार इन सभी दलों की सम्मिलित संख्या किसी भी स्थिति में २०६ से अधिक नहीं होगी। यह उल्लेख करना भी संगत है कि २८ सितम्बर को आकाशवाणी के समाचार बुलेटिन के अनुसार संगठन कांग्रेस विधानमण्डल दल के नेता श्री गिरधारी लाल ने यह दावा किया है कि उन्हें अधिकारपूर्वक नई सरकार गठित करने के लिए आमंत्रित किया जाए। कुछ समाचार पत्रों में श्री गिरधारीलाल की यह घोषणा प्रकाशित हुई है कि "विपक्षी दल का नेता होने के कारण सरकार गठित करने का यह उनका अवसर है" (नेशनल हेराल्ड,' २९ सितम्बर का समाचार द्रष्टव्य) इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि संगठन कांग्रेस की नई सरकार गठित करने के प्रश्न पर श्री चरणसिंह को समर्थन देने की कोई इच्छा नहीं है।

उ०प्र० विधान सभा में दलीय स्थिति

(२८ सितम्बर की ११·३० तक की स्थिति। स्रोत : सचिव, विधान सभा)

दल का नाम	तिथियों के क्रम में स्थिति १७-९-७०	२१-९-७०	२५-९-७०	२६-९-७०	२८-९-७०
सत्तारूढ़ कांग्रेस	१३६	१३७	१४१	१४३	१४५
सगठन कांग्रेस	९८	९५	९२	९१	९१
भा० क्रा० दल	९४	९५	९४	९४	८५
जनसघ	४३	४३	४३	४३	४३
एस०एस०पी	३२	३१	३०	२९	२९
साम्यवादी	४	४	४	४	४
मार्क्सवादी साम्यवादी	१	१	१	१	१
पी०एस०पी०	३	३	३	३	३
के०एम०पी०	१	१	१	१	१
स्वतन्त्र	४	४	४	४	४
मुस्लिम मजलिस	२	२	२	२	२
निर्दलीय	४	४	४	४	४
रिक्त स्थान	—	१	१	१	१
असम्बद्ध	२	२	२	२	२
हिन्दू महासभा	—	—	—	—	—

नोट : (१) भा० क्रा० दल। जनसघ तथा। निर्दलीय सदस्य को न्यायालय के आदेश के अन्तर्गत मतदान का अधिकार नही है।

(२) संगठन कांग्रेस के निम्नलिखित सदस्यों ने यह घोषणा की है कि वे सत्तारूढ़ कांग्रेस में सम्मिलित हो गए हैं लेकिन इस आशय की कोई लिखित सूचना प्राप्त नहीं हुई है : (अ) श्री जगदीश्वरदयाल (ब) श्री हरिहर बख्श सिंह (द) श्री चांद बहादुर सिंह।

(३) श्री भीम प्रसाद ने यह घोषणा की है कि वह एस०एस०पी० से भा० क्रा० दल में चले गए हैं, लेकिन इस आशय की कोई लिखित सूचना प्राप्त नहीं हुई है।

३. आज की अधिकृत संख्या के अनुसार संगठन कांग्रेस की सदस्य संख्या ६१ है। इसलिए उनके द्वारा सरकार बनाने की कोई सम्भावना नहीं है। इसके भी कोई संकेत नहीं हैं कि कोई अन्य दल उनके साथ गठबन्धन करेगा। मैं बिल्कुल आशावान् नहीं हूँ कि निकट भविष्य में राजनैतिक दलों की संख्या या उनके समायोजन से सम्बन्धित कोई स्पष्ट चित्र सामने आएगा। वर्तमान अनिश्चितता की अवस्था को स्थायित्व देना जनहित में नहीं है और राज्य का सर्वाधिक हित इस बात में है कि विधान सभा को निलम्बित कर दिया जाए।

त्यागपत्र से इन्कार :

कुल मिलाकर आज स्थिति यह है कि मुख्यमन्त्री ने मेरे अनुरोध पर त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया है। मुख्यमन्त्री ने मुझसे उन सभी को पदमुक्त करने का आग्रह किया है। जब मैंने मुख्यमन्त्री से त्यागपत्र देने का निवेदन किया तो उन्होंने मुझसे स्पष्टीकरण चाहा और टाल-मटोल कर रहे हैं। यद्यपि यह सही है कि साझा मंत्रिमण्डलों के व्यवहार से सम्बन्धित दर्शन अभी कोई निश्चित स्वरूप नहीं पा सका है, उसका प्रामाणिक विश्लेषण होना शेष है फिर भी ऐसी सरकारों के मुख्य मंत्रियों की शक्तियों को राज्यपाल के संवैधानिक दायित्वों के संदर्भ में देखना होगा और ऐसा करते समय स्थिति के उचित यथार्थ पर ध्यान देना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, साझा सरकार के मुख्यमन्त्री को एक दलीय बहुमत वाले दल के मुख्यमन्त्री के समकक्ष नहीं रखा जा सकता और इस प्रकार मंत्रियों की पदमुक्ति अथवा मंत्रिपरिषद् के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में दोनों की स्थिति एकरूप नहीं है।* ऐसा इसलिए है क्योंकि साझा सरकार सरकार के अस्तित्व से सरकार का मूलभूत स्वरूप ही बदल जाता है। जब सरकार के पुनर्गठन से सम्बन्धित कोई अवसर उपस्थित होता है तो संविधान में निहित भावना की यह माग है कि मुख्यमन्त्री पहले त्यागपत्र प्रस्तुत करे और फिर सरकार का पुनर्गठन। संविधान की रक्षा की दृष्टि से राज्यपाल किसी और विकल्प की अनुमति नहीं दे सकता।

अतः मैं सतुष्ट हूँ कि कुल मिलाकर परिस्थितियाँ ऐसी है कि राज्य में शासन संविधान की धाराओं के अनुरूप नहीं चलाया जा सकता और मेरा यह निवेदन है कि राष्ट्रपति संविधान की धारा ३५६ को घोषित करते हुए :

(अ) राज्य सरकार के समस्त कार्य तथा राज्यपाल में निहित और प्रयोग योग्य सभी शक्तियाँ अपने आप को सौंप दे।

(ब) यह घोषित करे कि राज्य व्यवस्थापिका की समस्त शक्तियाँ संसद् द्वारा या उसकी सत्ता के अधीन प्रयोग की जाएँगी।

---

* इटालिक्स सम्पादक द्वारा जोड़े गए हैं।

(म) घोषणा को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक प्रासंगिक (incidental) व परिणामी (Consequential) व्यवस्थाएँ करे। विशेष रूप से वह जिस सीमा तक उचित समझे वहां तक राज्य के राज्यपाल के माध्यम से कार्य करे और उन सभी व्यवस्थाओं को भग करदे जो व्यवस्थापिका और मंत्रिपरिषद् से सम्बन्धित हैं।

Further Readings

1. *Santhanam, K.* : ***Transition in India*** and Other Essays. Bombay, Asia publishing House, 1964, pp. 47–50.
2. *Siwach, J. R.* : **Appointment And Dismissal of The chief Minister, Journal of Constitutional and Parliamentary Studies, II(1) Jan-March 1968, page 75–83.**

१८

भारत में न्यायिक पुनर्विलोकन

[भारत के संविधान-निर्माताओं ने संसदीय सर्वोच्चता व न्यायिक पुनर्विलोकन के बीच एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जो कि वस्तुतः उनके द्वारा संसदीय व संघीय शासन पद्धतियों को समायोजित करने के प्रयासो का प्रतिफल था। अतः उन्होंने कानून की विवेकसम्मति के सम्बन्ध में संसद् को सर्वोच्चता प्रदान की और न्यायपालिका से यह अपेक्षा की कि एक ओर तो वह विधायी प्रस्तावों व कार्यकारी आदेशों के बीच असंगति पर ध्यान दे और दूसरी ओर संविधान के शब्दों को दृष्टिगत रखते हुए संविधान की व्याख्या करे। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि उच्चतम न्यायालय को अमेरिका की भांति कानून की विहित प्रक्रिया के सिद्धान्त के अनुरूप काम नहीं करना था और ऐसा करते हुए कानून में निहित बुद्धिमत्ता व विवेक को चुनौती नहीं देनी थी। उनको यह भी अधिकार नहीं प्राप्त था कि वे प्राकृतिक न्याय के आधार पर इन कानूनों के औचित्य को चुनौती दें। इसके विपरीत हमारे उच्चतम न्यायालय को कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुरूप काम करते हुए कानून के शब्दों पर ही ध्यान देना था। संवैधानिक आलोचकों ने यह अनुभव किया है कि विशेष रूप से १९६७-७१ के दौरान उच्चतम न्यायालय द्वारा कानून की विहित प्रक्रिया का पालन करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत हुई है।

एस० मोहन कुमारमंगलम की पुस्तक 'जूडिशल अपोइंटमेंट्स: एन एनालिसिस ऑफ दि रीसेन्ट कंट्रॉवर्सी ओवर दि अपॉइन्टमेंट ऑफ दि चीफ जस्टिस ऑफ इण्डिया (ऑक्सफोर्ड एण्ड आई० बी० एच० पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, १९७३ पृ० सं० १५-३५) के प्रस्तुत अंश न केवल कुछ हाल के मुकद्दमों का विश्लेषण ही करते हैं बल्कि भारतीय न्यायिक पुनर्विलोकन की प्रामाणिक आलोचना भी प्रस्तुत करते हैं।

सम्पादक]

निस्सन्देह पिछले छः वर्षों की अवधि में संसद् व न्यायपालिका के सम्बन्ध अधिक मित्रतापूर्ण नहीं रहे हैं। महत्वपूर्ण है कि ये सम्बन्ध स्थाई एवं सद्भावयुक्त हों, व इनका आधार

पारस्परिक सम्मान तथा दोनो महत्त्वपूर्ण अंगों के प्रति समझ हो क्योंकि ये दोनों ही भारतीय संविधान को क्रियाशील बनाते हैं। अतः यह जांच करना आवश्यक है कि पिछले छ वर्षों के दौरान न्यायालय मे क्या हुआ और न्यायालय मे अनिवार्यतः ऐसा कौन सा नेतृत्व हो जो संविधान के इन दोनो महत्त्वपूर्ण अंगो मे समधुर सम्बन्ध स्थापित कर सके। मात्र यही जांच वह सही पृष्ठभूमि प्रदान करेगी जो देश के सर्वोच्च न्यायिक पद से सम्बन्धित सही पृष्ठभूमि प्रदान करेगी। देश के सर्वोच्च न्यायिक पद मे सम्बन्धित सही निर्णय लेने के लिए यह आवश्यक है।

यह प्रासगिक है कि पिछले छ: वर्षों के अनुभव को, जो कि दुर्भाग्यवश न्यायपालिका व ससद् के प्रति वास्तविक सघर्ष अथवा कानून की अनिश्चितता व भ्रांतियो का काल रहा है, सही तौर पर समझा जाए और उससे सही निष्कर्ष निकाले जाएँ। ऐसा इसलिए ही नहीं क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने मात्र सरकारी पक्ष का विरोध ही किया या ससद् का विरोध किया बल्कि इसलिए भी कि इसके अतिरिक्त न्यायालय ने कानून, विशेषत. सवैधानिक कानून की सम्पूर्ण अवस्थाओ के प्रति भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दी। ऐसा उन्होने अपने पूर्व निर्णयों को अनवरत रूप से बदल कर किया।

उच्चतम न्यायालय मे यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति वस्तुत गोलकनाथ के मामले* से प्रारम्भ होती है। उस मामले में निहित प्रश्न यह था कि क्या ससद को सविधान के भाग III मे संशोधन का अधिकार है (इस भाग मे मूल अधिकार निहित है) ससद् की मूल अधिकारो मे संशोधन करने की शक्ति को इससे पूर्व दो अवसरो पर और चुनौती दी जा चुकी थी, १९५२ में पहली बार शकरी प्रसाद के मामले *मे तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश हरिलाल कानिया की अध्यक्षता मे गठित बेंच, जिसमे अनेक गण्यमान्य न्यायाधीश थे (उनमे से तीन बाद मे उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश बने) ने सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया कि संसद् मूल अधिकारो सहित सविधान के किसी भी भाग मे सशोधन कर सकती है बशर्ते इस सम्बन्ध में निर्धारित प्रक्रिया का पालन किया जाए।

तदुपरान्त १९६५ में यह मामला सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख पुन उपस्थित हुआ। सज्जनसिंह के मामले *मे भारत के लब्ध-प्रतिष्ठित तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश डॉ० श्री० बी० गजेन्द्र गडकर की अध्यक्षता मे गठित बेंच ने ३-२ के बहुमत से शकरी प्रसाद के मामले मे दिये गए निर्णय का पुनः समर्थन किया।

सज्जनसिंह व शंकरी प्रसाद--दोनो मामलों मे निर्णय इस आधार पर दिया गया कि संसद् की सविधान मे संशोधन से सम्बन्धित शक्ति सविधान की धारा ३६८ मे निहित है। इस धारा का उस समय का स्वरूप इस प्रकार है :

संविधान में संशोधन की प्रक्रिया--३६८ : इस सविधान मे संशोधन केवल ससद् के किसी भी सदन में तत्सम्बन्धी विधेयक लाकर ही किया जा सकता है। जब प्रस्तुत विधेयक प्रत्येक सदन में उसकी कुल सदस्यता के बहुमत द्वारा पारित हो जाए और सदन मे उपस्थित व

---

* १९६७ (२) एस०सी०आर० ७६२

* १९५२ एम०सी०आर० ८९

मतदान करने वालों की संख्या का २/३ बहुमत उसे प्राप्त हो जाए तब वह विधेयक राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेजा जाएगा और विधेयक को इस प्रकार की स्वीकृति मिल जाने पर उसकी व्यवस्थाओं के अनुरूप संविधान में संशोधन हो जाएगा :

बशर्ते यदि यह संशोधन निम्नलिखित मे परिवर्तन करना चाहे—

(अ) धारा ५४, धारा ५५, धारा ७३, धारा १६२, अथवा धारा २४१ या

(ब) भाग V का अध्यक्ष iv, भाग VI का अध्याय v अथवा भाग XI का अध्याय i, या

(स) सातवें अनुच्छेद में निहित सूचियो मे से किसी भी एक या'

(द) संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व, या

(य) इस धारा की व्यवस्थाएँ ।

उक्त स्थितियों मे इस विधेयक को कुल विधान सभाओं में से कम सेकम आधी विधानसभाओं का समर्थन प्राप्त करना होगा और अनिवार्यतः एक प्रस्ताव द्वारा इन विधान सभाओं को यह विधेयक पारित करना होगा। राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करने से पूर्व यह कार्यवाही आवश्यक होगी ।" (स्वतन्त्र अनुवाद)*

इस धारा की सहज भाषा प्रकटत. ससद् की शक्ति पर कोई सीमा नही लगाती सिवाय इसके कि संसद् को संविधान मे संशोधन के लिए एक विशेप प्रक्रिया का पालन करना होगा। संसद् में एक साधारण विधेयक कानून बन जाता है यदि उसे ससद् में उपस्थित सदस्यों के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो, लेकिन संवैधानिक संशोधन के लिए दो शर्तें आवश्यक है : प्रथम, ससद् सदस्यो का बहुमत सदन मे उपस्थित हो और मतदान करे, और द्वितीय, इन *सदस्यों का २/३ भाग अनिवार्यतः संवैधानिक संशोधन* से सम्बन्धित प्रस्ताव के पक्ष में मतदान करे। यदि प्रक्रिया सम्बन्धी इन दोनो शर्तो का पालन किया जाए तो धारा ३६८ की व्यवस्थाएँ यह संकेत देंगी कि संविधान का प्रत्येक भाग संशोधन के अधीन है ।

न्यायालय ने शंकरी प्रसाद एव सज्जन सिंह—दोनों मामलों में[1] इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया और संसद् द्वारा जिन अनेक संशोधनों को महत्त्वपूर्ण व आवश्यक माना गया था और जो १९५१ से १९६७ की अवधि के दौरान अंगीकृत किए गए थे, उन संशोधनकारी भागों में कुछ मूल अधिकारो से भी सम्बन्धित थे ।

परन्तु गोलक नाथ के मामले में[2] न्यायालय ने इस मत को अस्वीकार कर दिया। इसने *संविधान की धारा १३ को प्रामाणिक माना* जो इस प्रकार है :

१३ (१): वे समस्त कानून, जो इस संविधान के प्रभावी होने से पूर्व भारतीय संविधान मे उस सीमा तक कार्यशील थे, अवैध होंगे जिस सीमा तक वे इस भाग की व्यवस्थाओं[3] के प्रतिकूल हों ।

---

* १९६५ (१) एस॰सी॰आर॰ ६३३

१ १९६५(१) एस. सी. आर. ६३३

२ १९६७(२) एस. सी. आर. ६३३

३ भाग III, संविधान का वह भाग जिसमें मूल अधिकार निहित हैं।

(२) राज्य कोई ऐसा कानून नही बनाएगा जो इस भाग द्वारा दिए गए अधिकारों को छीने या उनमे कटौती करे और ऐसा कोई भी प्रस्तावित कानून, जो इस व्यवस्था के प्रतिकूल हो, अवैध होगा।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा स्वीकृत तर्क यह था कि 'कानून' शब्द अपनी परिधि में संविधि कानून (statute law) के अतिरिक्त संवैधानिक कानून को भी सम्मिलित करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि संविधान मे सशोधन करने वाला कानून भी धारा १३ के अन्तर्गत होगा और इसलिए उसे इस आधार पर चुनौती दी जा सकेगी कि वह मूल अधिकारों का अतिक्रमण करता है। लेकिन मूल अधिकारो मे सशोधन करने से सम्बन्धित कोई भी कानून अपनी प्रवृत्ति से ही अस्तित्व प्राप्त मूल अधिकारो का अतिक्रमण नही करता या उन्हें आघात नही पहुँचाता। अत: यह निष्कर्ष मान्य हो गया कि मूल अधिकारो मे कोई भी संशोधन वैध नही होगा और धारा ३६८ के अन्तर्गत मूल अधिकार सशोधन शक्ति से परे हैं।

छ: न्यायाधीशों का यह दृष्टिकोण था, जो कि कुछ हास्यास्पद प्रतीत होता है। आखिरकार भाग III (संविधान मे मूल अधिकारो से सम्बन्धित अध्याय) मे परिवर्तन की व्यवस्था करने वाले किसी भी सवैधानिक सशोधन को अनिवार्यत मूल अधिकारों का विरोधी होना चाहिए। इस प्रकार गोलकनाथ के मामले मे उच्चतम न्यायालय के निर्णय ने सदा के लिए मूल अधिकारो को संशोधन शक्ति से परे कर दिया। उन्होने वस्तुत मूल अधिकारो को निश्चेष्ट कर दिया और सविधान निर्माताओ के उत्तराधिकारियो को इस अवसर मे वचित कर दिया कि वे यदि अनुभव के आधार पर संविधान मे सशोधन करना चाहे तो कर सकते है।

यह विशेष उल्लेखनीय है कि गोलकनाथ के मामले मे निर्णय ६–५ के अनुपात से लिया गया। यह सायोगिक बहुमत पिछले दो निर्णयो को अस्वीकार करने के लिए नितान्त अपर्याप्त है।

न्यायालय में अगली कानूनी लड़ाई बैंको के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर लडी गई।[1] कोई भी व्यक्ति जिसने भारतीय राजनीति को निकटता से समझा है, इस तथ्य से इन्कार नही कर सकता कि जुलाई १९६९ मे बैंको के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित सरकारी निर्णय ने पिछले २५ वर्षों के राजनैतिक-आर्थिक जीवन को एक नया आयाम दिया। जब यह निर्णय लिया गया तो राष्ट्रीयकरण अधिनियम के अन्तर्गत क्षतिपूर्ति का प्रावधान करने से पूर्व न्यायालय के तात्कालिक निर्णय पर ध्यान दिया गया था। न्यायालय का यह निर्णय गुजरात राज्य बनाम शातिलाल मंगलदास[2] के मामले पर दिया गया था।

विवादग्रस्त प्रश्नों की समझ के लिए यह आवश्यक है कि उस मामले में व्याख्यायित धारा ३१(२) के इतिहास की समीक्षा की जाए। धारा ३१(२) का संविधान मे मौलिक स्थान इस प्रकार था :

---

१ १९७०(१) एस सी आर. ५३०
२ १९६९(१) एस. सी. आर. ३४१

नहीं थे। यदि यह वैधानिक स्थिति थी तो यह प्रत्यक्षतः प्रमाणित था कि सरकार द्वारा उनकी मान्यता वापिस लेने व प्रिवीपर्स का भुगतान रोकने से सम्बन्धित शक्ति भी सारूप में राजनैतिक थी और किसी प्रकार न्यायालय में उसकी वैधता को चुनौती नहीं दी जा सकती थी।

इसके बावजूद जब नरेशों ने मान्यता वापिस लेने के आदेश को चुनौती दी तब न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णय में अन्तर स्थापित किया और सरकार के आदेश को अवैध घोषित कर दिया।

वास्तविक शिकायत यह नहीं है कि न्यायालय ने सरकारी आदेशों अथवा कानूनों को अवैध घोषित कर दिया। न्यायलय द्वारा गोलकनाथ के मुकद्दमे से पूर्व व उसके पश्चात् अनेक ऐसे निर्णय दिये गए। ऐसे अवसरों के प्रति न कोई शिकायत की गई और न इसका कोई आधार ही था। गोलकनाथ, बैंक राष्ट्रीयकरण एवं प्रिवीपर्स के मामले पर वास्तविक शिकायत उस समय सामने आई जब सरकार ने कार्यकारी आदेश के लिए व्यवस्थापन सम्बन्धी अथवा उसको पारित करने की दिशा में न्यायालय के पूर्व निर्णयों की स्पष्ट अवहेलना करते हुए अपने ही पिछले निर्णयों को ठुकरा दिया।

गोलकनाथ के मामले में इसने शंकरीप्रसाद व सज्जनसिंह दोनों के मामले में अपनी पूर्व-धारणा की अवहेलना की।

बैंक राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर इसने शांतिलाल मंगलदास के मामले की उपेक्षा की।

नरेशों के विशेषाधिकारों से सम्बन्धित मामले पर इसने उस्मान अली के मुकद्दमे की अवहेलना की।

ऐसे मामलों की पुनरावृत्ति ने ही विधि की अनिश्चित अवस्था को जन्म दिया है और इससे अधिक हानिप्रद एवं अनिश्चित और कुछ नहीं हो सकता कि देश का कानून ही अनिश्चित हो। इसके अतिरिक्त इन तीनों ही निर्णयों पर सरकार की समाजवादी नीतियों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण व्यवस्थापन बाजी पर लग गए थे। गोलकनाथ के मामले में कृषि से सम्बन्धित सुधारों के कानूनों की वैधता संदिग्ध थी। बैंक राष्ट्रीयकरण का मामला हमारे देश की वित्तीय व्यवस्था को पुनर्गठित करने से सम्बन्धित था ताकि देश के चन्द लोगों का उस पर से नियन्त्रण हटे और वह सरकारी नियन्त्रण व नेतृत्व में आए। नरेशों को अमान्य घोषित करना प्राचीन साम्राज्यवादी एवं सामंती व्यवस्था के पुरावशेषों पर अन्तिम प्रहार था। यह समानता एवं समाजवाद के पक्ष में एक महान् कदम था।

इस प्रकार कानून के विषय में व्याप्त अनिश्चितता और देश के सामाजिक परिवर्तन के मार्ग में व्यवधानों से मुक्ति की आवश्यकता स्वरूप संविधान के २४ वें एवं २५ वें संशोधनों को स्वीकार किया गया। इन संशोधनों के माध्यम से दो लक्ष्यों की प्राप्ति की इच्छा की गई थी।

(१) यह व्यवस्था करना कि संसद् की संशोधन शक्ति इतनी अधिक व्यापक है कि उससे संविधान की प्रत्येक धारा व भाग में संशोधन करना संभव हो सके।

(२) न्यायालय में कानूनी लड़ाई के बिना ऐसी व्यापक योजनाओं को क्रियान्वित किया जाए जिसके आधार पर भारतीय समाज में समाजवादी परिवर्तन कम पा सके।

अतः ये दोनों संशोधन निम्नलिखित क्षेत्रों मे व्याप्त थे :

धारा ३६८, जिसमें संशोधन शक्ति निहित है, उसमें और अधिक सशोधन किया गया ताकि इस शक्ति से विना किसी शंका के संविधान के प्रत्येक भाग व उसकी धारा को संशोधित किया जा सके। संशोधन की गई धारा का स्वरूप है :

संविधान में संशोधन की संसदीय शक्ति व उसके लिए निर्धारित प्रक्रिया—३६८ (१) इस संविधान की व्यवस्थाओं के बावजूद संसद् अपनी सविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए वृद्धि द्वारा, परिवर्तन द्वारा अथवा सविधान के किसी प्रावधान को रद्द कर संशोधन कर सकती है। ऐसा इस धारा में उल्लिखित प्रक्रिया द्वारा किया जा सकता है।

(१) इस संविधान में संशोधन संसद् के किसी भी सदन मे विधेयक प्रस्तुत करके किया जा सकता है और जब विधेयक प्रत्येक सदन में वहाँ की कुल सदस्यता के बहुमत से पारित हो जाए और उपस्थित व मतदान करने वाले सदस्यों में से २/३ सदस्यों के बहुमत का उसे समर्थन मिल जाए तो उसे राष्ट्रपति के पास भेजा जायगा और विधेयक को मिली स्वीकृति के उपरांत सविधान विधेयक की व्यवस्थाओं के अनुरूप पारित माना जाएगा :

बशर्ते यह संशोधन यदि निम्नलिखित मे परिवर्तन करना चाहे—

(अ) धारा ५४, धारा ५५, धारा ७३, धारा १६२ अथवा धारा २४१ या

(ब) भाग V का अध्याय iv, भाग vi का अध्याय V अथवा भाग XI का अध्याय i, या

(स) सातवें अनुच्छेद को कोई भी सूची, या

(द) संसद् के राज्यों का प्रतिनिधित्व' या

(इ) इस धारा की व्यवस्थाएँ,

(२) प्रस्तावित संशोधन के लिए राज्यों के आधे विधानमण्डलों की स्वीकृति आवश्यक होगी। इन विधानमण्डलों को विधेयक निर्माण प्रक्रिया से पूर्व इस आशय के प्रस्ताव पारित करने होंगे और तदुपरांत विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाएगा।

(३) इस धारा के अन्तर्गत किए गए किसी भी संशोधन के प्रति धारा १३ का कोई भी भाग क्रियान्वित नही होगा।

सवसे पहले शीर्षक (marginal note) के संशोधन पर ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि पूर्ववर्ती नोट मात्र 'सविधान के संशोधन की प्रक्रिया' था और गोलकनाथ के मामले मे बहुमत ने केवल यह स्वीकार किया था कि यह प्रक्रिया ही निर्धारित करता है, शक्ति नही प्रदान करता।

द्वितीय, धारा ३६८ में एक नई उप-धारा जोड़ी गई थी जिसके अन्तर्गत यह व्यवस्था थी कि धारा ३६८ (१) के अन्तर्गत किये गए किसी भी सवैधानिक सशोधन पर धारा १३ निष्प्रभावी होगी। इसे फिर गोलकनाथ के मामले मे दिये गए इस मुख्य तर्क करना पड़ा कि संवैधानिक संशोधन भी धारा १३ के अर्थ के अन्तर्गत इसलिए उसे भी मूल अधिकारों की अधीनता स्वीकार करनी होगी

२५ वें संशोधन के प्रथम भाग का सार यह था कि

'राशि' (amount) शब्द जोड़ दिया गया था। अतः संशोधन के उपरांत धारा ३१ (२) का नया स्वरूप इस प्रकार है :

सार्वजनिक उद्देश्य के अतिरिक्त किसी भी सम्पत्ति को नहीं लिया जाएगा। साथ ही किसी ऐसे कानून की सत्ता के अतिरिक्त भी सम्पत्ति अधिग्रहण नहीं होगी जो अपने स्वरूप से या तो इस प्रकार की गई अथवा अधिग्रहीत सम्पत्ति के लिए क्षतिपूर्ति की राशि निर्धारित करती हो या उन सिद्धान्तों अथवा प्रक्रियाओं को निर्धारित करती हो जिनके अन्तर्गत क्षतिपूर्ति निश्चित की जाती है और उसका भुगतान होता है। ऐसा कोई भी कानून न्यायालय में इस आधार पर विवादयोग्य नहीं माना जाएगा कि उसमें प्रस्तावित क्षतिपूर्ति अपर्याप्त है अथवा ऐसी राशि का सम्पूर्ण भाग या कुछ अंश नकद के अतिरिक्त किसी और प्रकार से प्रदान किया गया है :

किसी अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा स्थापित और संचालित किसी शैक्षणिक संस्थान की सम्पत्ति जो धारा ३० (१) में उल्लिखित है, का अनिवार्य। अधिग्रहण अपवाद है। इस संदर्भ में राज्य को यह देखना होगा कि इस कानून [३१ (२)] के अन्तर्गत ऐसी सम्पत्ति के अधिग्रहण के फलस्वरूप निर्धारित अथवा निश्चित की गई राशि उस धारा [३० (१)] में दिये गए अधिकार को सीमित अथवा समाप्त नहीं करेगी।

लक्ष्य स्पष्ट था। उसका पहला उद्देश्य उच्चतम न्यायालय की इस व्याख्या से बचना था कि क्षतिपूर्ति का अर्थ राज्य द्वारा अधिग्रहीत सम्पत्ति की चालू बाजार दर पर निश्चित क्षतिपूर्ति से है। इसका (दूसरा उद्देश्य 'राशि' संशोधित धारा का आधारभूत शब्द) की उपयुक्तता से सम्बन्धित निर्णय सम्पूर्ण रूप से राज्य पर छोड़ दिया जाए और यह मामला न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार-क्षेत्र से बाहर हो।

धारा ३१ (C) एक नई धारा थी जो इस प्रकार है :

धारा १३ में निहित व्यवस्थाओं के बावजूद कोई भी कानून जो धारा ३६ की उपधाराओं (ब) व (स) में निहित सिद्धान्तों के अनुरूप राज्य की नीति को प्रभावी बनाता हो, इस आधार पर अवैध नहीं घोषित किया जाएगा कि वह धारा १४, १६ व ३१ में दिए गए अधिकारों से वंचित करता है या उन्हें सीमित करता है, और किसी भी कानून को, जिसमें यह घोषणा हो कि वह राज्य की उक्त नीतियों को प्रभावी बनाता है, इस आधार पर न्यायालय में चुनौती नहीं दी जाएगी कि वह इस नीति को प्रभावी नहीं बनाता :

बशर्ते जहाँ ऐसा कानून किसी राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित किया जाए वहाँ वह तब तक लागू नहीं होगा जब तक कि उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित न रखा गया हो और उसे उनकी स्वीकृति न मिल गई हो। (१९७२ की रिट याचिका संख्या १३५, केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के मामले में २४-४-७३ को दिये गए निर्णय में न्यायालय ने बहुमत से रेखांकित स्थल को अवैध घोषित कर दिया।

इस धारा के अन्तर्गत हमारे संविधान के इतिहास में प्रथम बार मूल अधिकारों की तुलना में निदेशक सिद्धान्तों को प्राथमिकता दी गई।

धारा ३९ (बी) व (सी) इस प्रकार हैं :

राज्य विशेष रूप से निम्नलिखित के संदर्भ में अपनी नीति निर्धारित करेगा :

"..

(बी) कि समुदाय के भौतिक साधनों का स्वामित्व व नियन्त्रण इस आधार पर वितरित हो कि उससे सामान्य हित का विकास हो सके,

(सी) आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस फल में परिणत हो जिसके अन्तर्गत सामान्य अहित के मूल्य पर धन का व उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न हो।

ये दोनों धाराएँ सरकार को यह निर्देश देती है कि वह भारतीय समाज के समाजवादी परिवर्तन की दिशा में प्रयास करे। नई धारा ३१ (सी) को जोड़ते समय संसद् वस्तुतः यह घोषणा कर रही थी कि धारा ३६ (बी) व (सी) से प्राप्त आदेश को क्रियान्वित करने के मार्ग मे व्यक्तियों के अधिकारों को (जोकि आवश्यक रूप से मूल अधिकार हैं) व्यवधान नहीं उपस्थित करने दिया जाएगा।

संविधान के ये दोनों संशोधन (२४ वां व २५ वां) पिछले वर्ष के अन्त में सर्वोच्च न्यायालय में बहस के लिए प्रस्तुत हुए। ६६ कार्य-दिवसों की सुनवाई के उपरान्त, जोकि न्यायालय के इतिहास मे सर्वाधिक लम्बी है, २४ अप्रैल १६७३ को मुख्य न्यायाधीश के कार्यमुक्त होने से दो दिन पूर्व, न्यायालय ने अपना निर्णय घोषित कर दिया।*

इस मामले पर दिये गए सभी ग्यारह निर्णय एक बार फिर अस्पष्टता व भ्रान्तियों का मिश्रण थे।

न्यायमूर्ति रे के नेतृत्व मे छः न्यायाधीशो ने यह स्पष्टतः अभिव्यक्त किया है कि :

(१) गोलकनाथ के मामले में ग़लत निर्णय दिया गया था और इसलिए उसकी अवहेलना की गई।

(२) संविधान में संशोधन से सम्बन्धित संसदीय शक्ति असीमित है और इसलिए २४ वां व २५ वां संशोधन दोनो पूर्णरूप से वैध हैं क्योंकि धारा ३६८ मे निर्धारित प्रक्रिया का कठोरता से पालन किया गया था।

(३) धारा ३१ (सी), जिसके द्वारा संसद् ने न्यायिक पुनर्विलोकन को यह देखने से रोक दिया था कि कोई अधिनियम विशेष धाराओं ३६ (बी) व (सी) को क्रियान्वित करता है अथवा नही, वैध है। अतः इस धारा से न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में हुई कमी भी वैध है।

परन्तु जहाँ तक अन्य निर्णयों का सम्बन्ध है, वहाँ उनमे किसी सुसंगति अथवा स्पष्टता का पता लगाना कठिन है, उनमें किसी सामान्य सूत्र का अभाव है। चार न्यायाधीश पहले छः न्यायाधीशों से इस बात पर तो सहमत थे कि गोलकनाथ के मामले में गलत निर्णय दिया गया था लेकिन सभी सातों न्यायाधीशों ने प्रकटतः यह मत व्यक्त किया है कि धारा ३६८ के अन्तर्गत प्राप्त संशोधन शक्ति - जिसमे २४ वें संवैधानिक संशोधन से संशोधन हुआ, इतनी व्यापक नही है कि वह अपने परिवेश मे ऐसे संशोधन को ग्रहण कर

---

* १६७२ की रिट याचिका न. १३५ धर्माधिराज केशवानद भारती बनाम केरल राज्य २४-४-१६७३ को निर्णित।

सके जो संविधान की आधारभूत संरचना एवं उसके ढांचे को समाप्त कर दे। परन्तु इस सामान्य धारणा के बावजूद, इन पाँचों पृथक् निर्णयों को पढ़ने से यह ज्ञात नहीं होता कि इन न्यायाधीशों की दृष्टि से संविधान की आधारभूत संरचना व ढांचा क्या है जोकि संशोधन शक्ति की परिधि से बाहर है तथा वह कौनसी धाराएँ हैं जो संशोधित नहीं की जा सकतीं।

न्यायाधीश खन्ना स्पष्ट हैं कि मूल अधिकार तथा सम्पत्ति संबंधी अधिकार इस "आधारभूत सरंचना तथा ढांचे" का भाग नहीं हैं। यदि इनके मत को न्यायाधीश रे सहित छः न्यायाधीशों के मत से जोड़ दिया जाए तो यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि संसद् को संविधान के भाग मे संशोधन का अधिकार है। इस आधार पर गोलकनाथ का मामला दफ़ना दिया गया।

परन्तु न्यायाधीशों हेगड़े व मुखर्जी का कहना है कि मूल अधिकारों में "संशोधन" तो हो सकता है लेकिन उन्हे "रद्द" नही किया जा सकता, यद्यपि उनके लम्बे निर्णयों से यह आभास नही होता कि "संशोधन" व "रद्द" करने के बीच सीमा-रेखा कहां खींची जाए।

संशोधन के प्रश्न पर इन दोनों न्यायाधीशों का निष्कर्ष इस प्रकार है :

हम आश्वस्त हो चुके हैं कि संसद् को संविधान के आधारभूत तत्वों व विशेषताओं, जैसे भारत की सम्प्रभुता, हमारी राज व्यवस्था का लोकतांत्रिक स्वरूप, देश की एकता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की आवश्यक विशेषताओं को समाप्त करने अथवा उन्हें निष्प्रभावी करने की शक्ति नही है। साथ ही संसद् को लोक–कल्याणकारी राज्य और समतावादी समाज की रचना से सम्बन्धित आदेश को तोड़ने की भी शक्ति नही है।

इस अस्पष्ट कथन को और अधिक अस्पष्टता प्रदान करते हुए इन न्यायाधीशों ने यह भी कहा है कि :

ये सीमाएँ निदर्शी (illustrative) हैं न कि सर्वांगीण (exhaustive) इस प्रकार ये न्यायाधीश जब भी चाहें अपनी इच्छानुसार संविधान के किसी भी भाग को उसकी आधारभूत संरचना व ढांचा मान सकते हैं।

तदुपरांत इन विद्वान न्यायाधीशों का यह निष्कर्ष है कि : "लेकिन इन सीमाओं के बावजूद यह प्रश्न नही उपस्थित हो सकता कि संशोधन शक्ति एक व्यापक शक्ति है और वह संविधान के प्रत्येक भाग व उसकी धारा में व्याप्त है।

मेरे विचार से यह न्यायपूर्वक कहा जा सकता है कि न्यायाधीशों हेगड़े व मुखर्जी द्वारा अपनाई गई दृष्टि वास्तव में गोलकनाथ के मुकद्दमें के अनुरूप बने कानून से भी बदतर है। कम से कम गोलकनाथ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय तो दिया कि मूल अधिकारो के अतिरिक्त संविधान का प्रत्येक भाग संशोधित किया जा सकता है और निर्णय की स्पष्टता के कारण उसकी विसंगतियों से निबटने के लिए २४ वें संशोधन का आश्रय लिया जा सका।

परन्तु इस दृष्टि ने एक नए विचार को जन्म दिया है—आधारभूत तत्व व मूल विशेषताएँ, जिनमें प्रतीतः मूल अधिकार सम्मिलित हैं, कालान्तर में वह कोई भी व्यवस्था

सम्मिलित कर सकते हैं जो न्यायाधीश उपयुक्त समझें। ये आधारभूत तत्त्व भी संशोधन के आधीन है जब तक कि उन्हें "रद्द" अथवा "निष्प्रभावी" नहीं किया जाता।

न्यायाधीशो शेलेट व ग्रोवर जे० जे० का भी कोई विशेष पृथक् मत नहीं है। उन्होंने संवैधानिक संरचना के मूल तत्त्वों का सूची निर्माण इस चेतावनी के साथ किया है कि "इन्हें सूचीबद्ध नहीं किया जा सकता, इनका मात्र उदाहरण ही दिया जा सकता है।"

इसके उपरान्त उन्होंने निम्नलिखित सूची दी है :

१. संविधान की सर्वोच्चता।

२. गणतांत्रिक व लोकतांत्रिक स्वरूप की सरकार तथा देश की सम्प्रभुता।

३. संविधान का धर्मनिरपेक्ष व संघीय स्वरूप।

४. व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका के बीच शक्ति का निर्धारण।

५. भाग III से प्राप्त मूल अधिकारों व स्वतन्त्रताओं से प्राप्त व्यक्ति की प्रतिष्ठा व भाग IV में निहित लोक-कल्याणकारी राज्य के निर्माण का आदेश।

६. राष्ट्र की एकता व अखण्डता।

यहाँ भी एक अस्पष्ट स्थिति से साक्षात्कार होता है जो कि इन न्यायाधीशों की इस चेतावनी से और अधिक अस्पष्ट हो गई है कि ये छः सूत्रीय सूची मात्र निदर्शी है न कि सर्वांगीण।

इसके उपरांत हेगड़े व मुखर्जी की ही भाँति न्यायाधीशों का अन्तिम कथन यह है कि "धारा ३३८ में निहित शक्ति इतनी व्यापक है कि वह संविधान की प्रत्येक धारा में संशोधन करने की तब तक अनुमति देती है जब तक कि इसके मूल तत्त्वों को रद्द नहीं किया जाता अथवा उन्हें उनके अस्तित्व से निरावृत्त नहीं किया जाता"...............इसका अर्थ चाहे कुछ भी हो।

मुख्य न्यायाधीश सीकरी ने भी उस मूल संरचना की सूची तैयार की है जोकि संशोधन शक्ति की परिधि से बाहर है। यह सूची इस प्रकार है :

१. सविधान की सर्वोच्चता।

२. सरकार का गणतांत्रिक व लोकतांत्रिक स्वरूप।

३, संविधान का धर्मनिरपेक्ष स्वरूप।

४. व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका के मध्य शक्ति का पृथक्करण।

५. सविधान का संघीय स्वरूप।

न्यायाधीश जगन्नाथ रेड्डी ने तो इसे और अधिक सामान्य अर्थ प्रदान किया है। उनके अनुसार :

धारा ३६८ के अन्तर्गत सशोधन की शक्ति व्यापक है लेकिन यह इतनी व्यापक नहीं है कि यह पूर्ण रूप से किसी भी मूल अधिकार को रद्द कर सके अथवा उसे निष्प्रभावी कर सके या उसे नष्ट कर सके अथवा सविधान की मूल संरचना तथा उसके अस्तित्व को नष्ट कर सके।

तदुपरात थोडी राहत देते हुए न्यायाधीश का यह कथन है कि :

इन सीमाओं के अन्तर्गत संसद् प्रत्येक धारा में संशोधन कर सकती है।

इन छः न्यायाधीशों द्वारा दिये गए निर्णयों से कोई सुस्पष्ट व ग्राह्य नियम निर्धारित कर पाना स्पष्टतः असम्भव है। इन निर्णयों से विश्वसनीय रूप से यह नहीं निश्चित किया जा सकता कि संशोधन की शक्ति कितनी व्यापक है, इसकी सीमाओं का विस्तार क्या है और कब हम निषिद्ध-क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं यानि कब संविधान की मूल संरचना को रद्द किया जाने लगता है, उसे निष्प्रभावी बनाया जाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि यदि उन छः न्यायाधीशों का दृष्टिकोण न्यायालय में प्रभुत्वशाली हो जाता तो संविधान में संसद् द्वारा संशोधन करने की शक्ति के सम्बन्ध में पूर्ण अनिश्चितता व्याप्त हो जाती है। यह अनिश्चितता गोलकनाथ के मामले में व्याप्त अनिश्चितता से भी अधिक होती। यदि इन छः न्यायाधीशों का मत न्यायालय का अधिकृत मत बन जाता तो राज्य के कानून के सम्बन्ध में न केवल अनिश्चितता विद्यमान ही होती बल्कि उसमें वृद्धि भी होती।

जहाँ तक न्यायालय के भविष्य का प्रश्न है यह विषय अत्यधिक महत्त्व का था। हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था के स्थायित्त्व की पूर्व आवश्यकता के रूप में राज्य के कानून में स्थिरता व निश्चितता होनी ही चाहिए। यह निश्चितता केवल तभी उपस्थित हो सकती है जब कोई न्यायपालिका अपने द्वारा लिये गए निर्णयों के प्रति निश्चित होती है, अनिश्चितता व भ्रांति के पक्ष को यथासम्भव कम करती है और समयांतर से अपनी आधारभूत मान्यताओं में अधिक परिवर्तन नहीं करती।

न्यायालय के हाल के निर्णय से यह स्पष्ट है कि गोलकनाथ के मामले में दिया गया निर्णय सुस्पष्टतः गलत था। इस मामले में निर्णय देने वाले १३ न्यायाधीशों में से १० ने यह मत अभिव्यक्त किया है जो लगभग सर्व-सम्मत मत ही है। लेकिन उस निर्णय के सम्बन्ध में की गई संविधान की व्याख्या से उत्पन्न अनिश्चितता ने देश को कितनी हानि पहुँचाई है। अब जबकि न्यायालय ने उस निर्णय को अमान्य घोषित कर दिया है, उसका यह प्रमुख दायित्व व कर्त्तव्य है कि वह यह देखे कि उस ग़लत निर्णय से पूर्व अस्तित्व प्राप्त मत की स्थिरता को पुनः प्राप्त किया जाए।

Further Readings

1. *Joshi, G. N.* : Aspects of Indian constitutional Law, Bombay, University of Bombay 1965, chs. V & VI, pp. 173–232.
2. *Seervai, H. M.* : P. T. O. for full reference.
3. *Subba Rao, K.* : Conflicts in Indian Polity, Delhi, S. Chand & Co. 1970, pp. 92–118.

१९

भारत में योजना आयोग : पुनर्गठन का प्रश्न

भारत में योजना आयोग की संरचना, भूमिका व स्थिति अत्यधिक विवाद का विषय रही है। इसे एक संविधानेतर संस्था बताया गया है जो व्यवहार में केबिनेट से भी अधिक प्रभुत्वशाली है। इस स्थिति ने भारत की संघीय राजव्यवस्था में केन्द्र-वादी शक्तियों को और अधिक सुदृढ़ किया है। यह भी कहा गया है कि तकनीकी विशेषज्ञों की एक सलाहकारी परिषद् का काम न कर अपनी वर्तमान सरचना के कारण यह एक राजनैतिक परिषद् के रूप में अधिक काम करती है।

अरविन्द के० शर्मा० ने अपने लेख '(दि प्लानिंग कमीशन इन इंडिया : ए केस फॉर रीआॅर्गनाइजेशन)' में इस बात पर बल दिया है कि योजना आयोग तकनीकी विशेषज्ञों की एक सलाहकारी परिषद् मात्र के रूप में कार्य करे। वह इस मत से सहमत नहीं है कि यदि प्रधानमन्त्री व अन्य केन्द्रीय मंत्री विशेषतः वित्तमन्त्री इससे सम्बद्ध न हों तो इसका प्रभाव क्षीण हो जाएगा। साथ ही वह इस मत के भी समर्थक नहीं हैं कि विश्लेषण की अन्तिम स्थिति में योजना के एक राजनैतिक प्रक्रिया होने के कारण योजना आयोग से मंत्रियों का सम्बन्ध सैद्धांतिक रूप से तर्कसंगत व व्यवहार में वांछनीय है।

सम्पादक

'योजना व्यवस्था' पर अपनी अन्तरिम रिपोर्ट में प्रशासकीय सुधार आयोग[1] ने यह प्रस्तावित किया कि योजना आयोग को एक पूर्णतः तकनीकी परिषद् बनाया जाए और मन्त्री-सदस्यों को उससे अलग रखा जाए। उसका यह भी प्रस्ताव था कि प्रधानमन्त्री को भी उससे दूर रखा जाए जोकि प्रारंभ से ही इसका अध्यक्ष रहा है।[2] सरकार ने पूर्णरूप

---

१ ए. आर. सी. की भारत सरकार द्वारा जनवरी १९६६ में स्थापना की गई थी। इसका उद्देश्य केन्द्र, राज्य व जिला स्तरों पर प्रशासन की विविध समस्याओं का सामना करना था और उनके सम्बन्ध में सिफारिशें प्रस्तुत करना था। इसके कार्य क्षेत्र का एक विषय योजना व्यवस्था भी थी।

२ 'योजना व्यवस्था' पर ए. आर. सी. की अंतरिम रिपोर्ट, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली, अप्रैल, १९६७ पृ० सं० ९-१४ (अब से इसका उल्लेख ए. आर. सी. रिपोर्ट के रूप में होगा)।

ने इसकी सिफारिशों को नहीं माना है और उसने यह उपयुक्त समझा है कि पूर्व व्यवस्था को ही चलते रहने दिया जाए जिसके अन्तर्गत प्रधानमन्त्री अध्यक्ष होगा और वित्त-मन्त्री उसका एक सदस्य।[3]

अन्तरिम सरकार द्वारा दिसम्बर १९४६ में नियुक्त सलाहकारी योजना बोर्ड के अनुसार मौलिक रूप से योजना आयोग को एक समग्र गैर-राजनैतिक सलाहकारी परिषद् होना था।[4] स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद प्रस्तुत दूरगामी राजनैतिक परिवर्तनों के संदर्भ में इस सिफ़ारिश को क्रियान्वित किया जा सकता था। लेकिन ये प्रयास बिलकुल व्यर्थ नहीं हुए क्योंकि योजना आयोग की स्थापना करते समय भारत सरकार द्वारा पारित प्रस्ताव तत्संबंधी बोर्ड की सिफारिशों से प्रेरित हुआ था।

प्रारम्भ में प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में आयोग के ५ स्थाई गैर-मंत्री सदस्य थे। लेकिन १९५६ तक एक प्रबल मंत्रीय तत्त्व आयोग में स्थान पा चुका था। ऐसा उस समय हुआ जब प्रधानमन्त्री व मंत्री-सदस्यों ने गैर-मंत्री सदस्यों की उपस्थिति को प्रति-संतुलित किया। इस स्थिति ने योजना आयोग के सलाहकारी स्वरूप से समझौता कर लिया। वस्तुतः इस स्थिति ने एक विवाद को जन्म दिया जो आज तक अनिर्णित है।

यह रिपोर्ट मुख्यतः योजना आयोग के पुनर्गठन से संबंधित थी। अंतिम पूर्ण रिपोर्ट, जो कि मार्च १९६८ में भारत सरकार को प्रस्तुत की गई थी में पुनर्गठन के विषय के अतिरिक्त भी चर्चा की गई थी।

३ यह स्थिति ए. आर. सी. की सिफ़ारिशों से पूर्व की स्थिति से भिन्न है। उस समय पांच स्थाई गैर-मंत्री विशेषज्ञों के विपरीत आयोग में ७ मंत्री सदस्य थे (प्रधानमन्त्री सहित, जोकि आयोग का अध्यक्ष था)।

४ श्री नेहरू ने, अंतरिम सरकार के उपाध्यक्ष के रूप में सलाहकारी योजना बोर्ड की नियुक्ति इस उद्देश्य से की थी ताकि योजना के क्षेत्र में उस समय तक किये गए कार्यों की समीक्षा की जा सके और योजना के सम्बन्ध में प्राथमिकताओं व लक्ष्यों को प्रस्तावित किया जा सके। साथ ही उसके लिए उपयुक्त व्यवस्था का भी प्रावधान था।

५ सं० १ पी (सी) ५०, मार्च १५ १९५०

६ आयोग के विकास से सम्बन्धित संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण की दृष्टि से एच० के पुराणी, दि प्लानिंग कमीशन—ए डिस्क्रिप्टिव एकाउन्ट, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली, पृ० सं० ५-१२, उल्लिखित।

७ इस प्रक्रिया से सम्बन्धित पहल किस प्रकार हुई और उसने कैसे निरंतरता पाई, इस दृष्टि से अशोक चंदा की 'फेडरेलिज्म इन इंडिया ए स्टडी ऑफ यूनियन-स्टेट रिलेशन्स' एलेन एण्ड अनविन लि० लंदन, १९६५, पृ० सं० २६७-२७० द्रष्टव्य।

८ इस धारणा को अनेक स्रोतों से समर्थन प्राप्त होता है। देखें: (१) प्राक्कलन समिति : "यह एक सामान्य भावना प्रतीत होती है कि योजना आयोग मात्र एक सलाहकारी परिषद् ही नहीं थी। यह वस्तुतः एक अतिरिक्त सत्ता थी जो यद्यपि भारत सरकार की सामान्य व्यवस्था का भाग नहीं थी फिर भी यह प्रत्येक कार्यक्रम के सम्बन्ध में निर्णय लेती थी और उसके निर्णय मंत्री के द्वारा लागू किए जाते होते थे।" योजना आयोग पर द्वितीय लोकसभा की प्राक्कलन समिति की २१ वीं रिपोर्ट, १९५७-५८, पृ० ४ प्रस्तुत धारणा को उदाहरण द्वारा सिद्ध किया गया है (देखें पृ० ४-६) समिति ने आगे इस धारणा को आयोग में मंत्रियों के स्थान के प्रति भरपूर आपत्ति के रूप में समर्थन

योजना आयोग की मंत्रीय सदस्यता से जो जटिलता उत्पन्न होती है वह यह कि आयोग के निर्णय राजनैतिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावित होते हैं और तकनीकी-आर्थिक दृष्टि से उनकी उपेक्षा होती है। इसका समाधान यही है कि विशेषज्ञों की एक विशुद्ध तकनीकी परिषद् को अंगीकृत किया जाए (जिसे कि अब से विशुद्ध तकनीकी परिषद् के मॉडेल की संज्ञा दी गई है) जैसाकि प्रशासनिक सुधार आयोग का सुझाव था। विकल्प स्वरूप विशेषज्ञों एवं राजनीतिज्ञों के एक संयुक्त आयोग की कल्पना भी की जा सकती है (जिसे कि आगे से मिश्रित मॉडेल कहा जाएगा) इस प्रस्तावित मॉडेल में ऐसे उपाय सुझाए गए हैं जो राजनीतिज्ञों के प्रभाव को सीमित करेंगे और विशेषज्ञों को उनका उचित स्थान प्रदान करेंगे। स्पष्टतः व्यवहार में प्रयुक्त संतुलन से सम्बन्धित अनुभूत जटिलता के कारण ही प्रशासनिक सुधार आयोग ने विशेषज्ञों की एक विशुद्ध तकनीकी परिषद् का प्रस्ताव रखा था।

दिया है (देखें पृ० ७) १ (११) डॉ० डी० आर गाडगिल (योजना आयोग के भूतपूर्व उपाध्यक्ष): "असफलता का मूल कारण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत योजना आयोग ने जो मूलतः एक सलाहकारी परिषद् है, स्वयं को उन नीतियों के निर्धारण की वास्तविक प्रक्रिया से जोड़ लिया है"....डी०आर० गाडगिल; प्लानिंग एण्ड इकोनोमिक पॉलिसी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १६६१, पृ० १०७ आगे डा० गाडगिल का यह कथन है कि—"योजना आयोग की गतिविधियाँ मंत्रालयों व केबिनेट की गतिविधियों के सदृश प्रतीत होती हैं।" (पृ० १०४) फूड-ग्रेन्स इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट से डा० गाडगिल द्वारा उद्धृत एक उदाहरण द्वारा इसे सिद्ध किया जा सकता है। इस उदाहरण में योजना आयोग द्वारा १६५५ में एक महत्वपूर्ण नीति निर्णय के सम्बन्ध में अदा की गई भूमिका से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यह खाद्यान्नों के राशन की समाप्ति से सम्बन्धित है (देखें पृ० १६५-२०६)। प्रकारांतर में डॉ० गाडगिल द्वारा इस प्रकार भी सिद्ध होता है: यह सर्वविदित है कि ग्रामीण सहयोग की दिशा में प्रगति इसी कारण अवरुद्ध रही क्योंकि योजना आयोग ने खाद्य व कृषि मंत्रालय के वैध क्षेत्र में हस्तक्षेप किया" (पृ० १०८) (३) अशोक चंदा: प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता व केबिनेट मंत्रियों के अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण स्थान से लस यह आयोग सभी प्रकार के प्रश्नों पर निर्णय लेने लगा...."पूर्वोक्त, पृ० २७३ उन्होंने इसको स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया है। इस मामले में आयोग ने नीति सम्बन्धी प्रश्न पर राज्य सरकार के विरुद्ध अपनी बात स्थापित की (देखें पृ० २८४-२८५)। पृष्ठ २७२-२७७, २८१, २८२, २८३, व २८८ भी उल्लिखित हैं (४) श्री पी. पी. अग्रवाल, (योजना आयोग के एक मूल भूतपूर्व आफिसर) 'दि प्लानिंग कमीशन' इंडियन जनरल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन अक्टूबर-दिसम्बर, १६६७, पृ० ३३३। (५) ए आर. सी. रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ ६ इस प्रकार यह आकलन समिति थी जिसने विवाद को जन्म दिया। ऐसा ए. आर. सी की सिफारिश से हुआ और इससे पूर्व इस विषय पर एक लम्बे समय तक बहस हुई।

यह मिश्रित प्रतिमान की एक निहित दुर्बलता है और यह विवाद की जड़ भी है। इस तर्क के समर्थन में प्रस्तुत है: (१) डॉ. डी. आर. गाडगिल "लेकिन यदि एक ही दशा में प्रक्रिया के दोनों पक्ष (सलाह व निर्णय) रूप में जुड़े हुए हो तो अपरिहार्य रूप से किसी एक को उपेक्षा झेलनी होगी। अंततः वस्तुनिष्ठ दृष्टि को ही घाटा झेलना पड़ता है।"

(२) अशोक चन्दा: "जब राजनीति व योजना रूप से जुड़ जाते हैं तो अंततः योजना की अवहेलना होती है।" पूर्वोक्त, पृ. २७२, तथा (३) ए. आर. सी. रिपोर्ट, पूर्वोक्त पृ. १२-१३

(II)

प्रस्तुत लेख में योजना आयोग के पुनर्गठन के प्रश्न पर विचार करने का प्रयास किया जा रहा है। एक ओर जहाँ प्रशासनिक सुधार आयोग के विशिष्ट सुझावों को चर्चा का आधार बनाया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर एक सलाहकारी परिषद् की संरचना एवं उसके कार्यों से सम्बन्धित *समस्याओं के सामान्य संदर्भ में भी विचार करना अभिप्रेत है।* तदुपरान्त मिश्रित मॉडेल व विशुद्ध मॉडेल के सापेक्ष गुणों पर ध्यान दिया जाएगा।

प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा मात्र विशेषज्ञों के आयोग की सिफारिश[१०] करने का उद्देश्य यह है कि राजनीतिज्ञ योजना-निर्धारण प्रक्रिया में दूर रहें और योजनाओं को उनका स्वाभाविक तकनीकी आर्थिक आधार प्रदान किया जाए। उन कारणों की चर्चा करना आवश्यक है जिनके वशीभूत हो सरकार को आयोग का सुझाव अस्वीकार करना पड़ा और प्रधानमन्त्री व वित्तमन्त्री आयोग में यथावत बने रहे। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कारण दिये गए : (१) मंत्रियों के अभाव में विशेषज्ञों के पास सामाजिक-राजनैतिक यथार्थवाद की दृष्टि का अभाव रहेगा (२) प्रधानमंत्री व महत्त्वपूर्ण केबिनेट मंत्रियों के रहने से आयोग के निर्णयों को एक विशिष्ट प्रतिष्ठा व बल मिलेगा, (३) प्रधानमन्त्री एक ओर केन्द्रीय सरकार व आयोग के मध्य सम्पर्क-सूत्र का काम देगा तो दूसरी ओर राष्ट्रीय विकास परिषद् के मध्य।

प्रथम तर्क जोकि राजनीतिज्ञों की उपस्थिति को नीतियों के सामाजिक-राजनैतिक यथार्थवाद के तत्वों के समावेश के लिए आवश्यक मानता है और विशेषज्ञों को इस संदर्भ में अनुपयुक्त' वस्तुतः बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया है। व्यवहार में राजनीतिज्ञों व विशेषज्ञों का अन्तर कभी इतना सुस्पष्ट नहीं रहा। यह कल्पनातीत है कि विशेषज्ञ समाज से बिल्कुल असम्पृक्त हैं तथा राजनीतिज्ञ तकनीकी विषयों में नितान्त अज्ञानी या विशेषज्ञ मानवीय संवेदनाओं से अछूते हैं जबकि राजनीतिज्ञों के पास वैज्ञानिक सुस्पष्टता का अभाव है। अतः हमारी दृष्टि में नीतियों को सामाजिक-राजनैतिक यथार्थ प्रदान करना न केवल राजनीतिज्ञों का काम है और न ही उनका एकाधिकार।[११] यह कहा जा सकता है कि लोकतन्त्र में राजनीतिज्ञों की दृष्टि अक्सर वर्ग-विशेष तक ही केन्द्रित रह पाती है।

दूसरा तर्क कि प्रधानमन्त्री व वरिष्ठ केबिनेट मंत्रियों की उपस्थिति आयोग को गरिमा प्रदान करती है, अब पुराना पड़ चुका है और इसे खींच तान कर प्रस्तुत किया गया है क्योंकि अन्ततः सर्वोच्च नेताओं की उपस्थिति से इसकी प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि नहीं होगी।

---

१० यद्यपि ए. आर. सी. ने आयोग से मंत्रीय सदस्यता की पूर्ण समाप्ति की सिफारिश की है फिर भी ए. आर. सी. के अध्ययन दल ने प्रधानमन्त्री की अध्यक्ष के रूप में उपस्थिति की निरन्तरता बनाए रखने का सुझाव प्रस्तुत किया है ('योजना व्यवस्था' पर ए. आर सी के अध्ययन दल की अन्तरिम रिपोर्ट द्रष्टव्य। गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, प्रेस, नई दिल्ली, मार्च, १९६७ पृ. स १७-३४)

११ एक दूसरे संदर्भ में प्रोफेसर हेनसन हमारी धारणा को समर्थन देते हुए प्रतीत होते हैं। ए. एच हेनसन, दि प्रॉसेस ऑफ प्लानिंग-ए स्टैडी ऑफ इण्डियाज फाइव इयर प्लान्स १९५०-६४ रॉयल इन्स्टीट्यूट ऑफ इंटरनेशनल अफेयर्स ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९६६. पृ० ७१ उल्लिखित।

प्रतिष्ठा में अनुमानित संवर्द्धन इसके कार्यों व उनमें उत्पन्न परिणामों पर निर्भर करेगा। यदि आज आयोग की प्रतिष्ठा घटी हुई है तो इसका स्पष्टत यह कारण है कि इसके कार्यों व उपलब्धि का विवरण अधिक उत्साहप्रद नहीं है। यह संभव है कि अध्यक्ष के रूप में प्रधानमन्त्री की उपस्थिति ने प्रारम्भिक अवस्थाओं में लाभ पहुँचाया हो परन्तु ऐसी व्यवस्था की निरंतरता संदिग्ध है।[12] अत इस स्थिति में प्रतिष्ठा में संवर्द्धन की बजाय देखना यह है कि कहीं प्रधानमन्त्री की उपस्थिति ने आयोग गतिविधियों में अप्रासंगिक रूप से तो प्रसार नहीं किया है और कहीं इसका मूल उद्देश्य तो इस कारण उपेक्षित नहीं हुआ है।[13] इस संदर्भ में यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि कार्यों का इस प्रकार का परस्पर व्यापन व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में कार्यपालिका के उत्तरदायित्व को तो नहीं घटाएगा? इसके अतिरिक्त स्थितियों के भावी स्वरूप के अन्तर्गत आयोग पर पक्षपात व भाई-भतीजावाद का आरोप लगाकर इसकी प्रतिष्ठा को तो धूमिल नहीं किया जाएगा? अब इस प्रश्न पर विवाद के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है कि प्रधानमन्त्री व अन्य वरिष्ठ केबिनेट मन्त्रियों की उपस्थिति के कारण आयोग कार्यकारिणी सम्बन्धी विषयों में उनके पक्ष से प्रतिबद्ध हो जाता है और इससे योजना के क्रियान्वयन के सम्बन्ध में इसके वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।[14]

योजना आयोग की प्रतिष्ठा इस बात पर निर्भर रहेगी कि सत्तारूढ दल योजना को क्या महत्त्व प्रदान करता है। एक बार यह स्थिर हो जाने पर, हमारी दृष्टि में नीति निर्माण अवस्था में मंत्रियों की सशक्त भूमिका सतही हो जाती है।

मिश्रित मॉडेल की उपयुक्तता के सम्बन्ध में दिया जाने वाला तीसरा तर्क कि प्रधानमन्त्री योजना आयोग व केन्द्रीय सरकार तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् के बीच एक आवश्यक सम्पर्क-सूत्र प्रदान करता है, वस्तुत. इस दिशा में उत्पन्न हानियों की उपेक्षा करता है। इससे श्रेष्ठतर अन्य विकल्प भी उपलब्ध हैं। इस तर्क में यह धारणा निहित है कि मन्त्रियों के सम्बद्ध होने से सरकार के साथ आयोग का सम्प्रेषण सुगम हो जाता है जबकि तथ्य यह है कि "प्रतिनिधित्व प्राप्त मन्त्रियों ने अपने मन्त्रालयों के सुमधुर सम्बन्धों पर कुठाराघात किया है और यह इसी का परिणाम है कि उक्त मन्त्रालय अक्सर यह अनुभव करते है कि उनकी स्थिति का दोषपूर्ण प्रतिनिधित्व होता है।"[15]

एक विकल्प के रूप में इस बात पर बल दिया जा सकता है कि योजना आयोग के साथ मन्त्रियों के अनौपचारिक सम्बंध विकसित हो और उन्हें उनके मन्त्रालयों से सम्बन्धित मांगों पर विचार करते समय आयोग की बैठकों के लिए आमन्त्रित किया जाए।[16] केन्द्रीय

---

१२ आकलन आयोग की रिपोर्ट से इसे समर्थन मिलता है, पूर्वोक्त पृ० ८

१३ देखें डॉ० गाडगिल पूर्वोक्त पृ० १०८

१४ ए. आर. सी. रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ० स. ६-१०-१२

१५ इकोनोमिक एण्ड पोलीटिकल वीकली, सम्पादकीय, खण्ड २, न० १८ मई ६, १९६७ पृ स, ८२३-८२४

१६ वही पृष्ठ स ८२४

सरकार व आयोग के मध्य आवश्यक सम्पर्क स्थापित करने वाला एक दूसरा विकल्प भी सहज उपलब्ध है और वह यह कि ऐसे कार्यकारी दल का माध्यम विकसित किया जाए जिसमें केन्द्रीय सरकार के मंत्रालय उसकी संघटक इकाई के रूप में हों। इसके द्वारा योजना निर्धारण की प्रारम्भिक अवस्था का कुशलतापूर्वक संचालन किया जा सकता है।[१७] जहाँ तक राष्ट्रीय विकास परिषद् से सम्पर्क-सूत्र का प्रश्न है, चतुर्थ आम चुनावों के बाद के केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के प्रतिमानों का अवलोकन करने पर यह सहज स्पष्ट हो जाता है कि गैर-कांग्रेसी सरकारें सम्भवतः ऐसी व्यवस्था स्वीकार न करें जो योजनाओं को राजनैतिक रंग प्रदान करती हों। यह स्थिति पुनः इस बात पर बल देती है कि योजना आयोग मात्र एक विशेषज्ञों की परिषद् ही हो।[१८]

अतः सरकार द्वारा दिये गए तर्कों की निकट से की गई परीक्षा उनके अनौचित्य को सिद्ध करती है, ऐसा भी प्रतीत होता है कि ये तर्क उसके दृढ़ विश्वास को प्रदर्शित नहीं करते। परन्तु प्रशासनिक सुधार आयोग की उक्त सिफारिश को अस्वीकार कर सरकार उसी स्थल पर पुनः लौट आई है जहाँ से उसने अपनी यात्रा आरम्भ की थी। इसने जो वांछनीय था, उसकी अवहेलना कर दी है। यह इसी का परिणाम है कि वह पूर्व आलोचना आज भी प्रासंगिक प्रतीत होती है कि योजना आयोग मात्र एक सलाहकारी परिषद् से कुछ अधिक है। केबिनेट के सम्मुख जब योजना आयोग की सिफारिशें प्रस्तुत की जाती हैं तो प्रधानमंत्री व वित्तमंत्री का समर्थन उन्हें मिलेगा ही। अतः उनकी स्वीकृति तो एक पूर्वानुमानित निष्कर्ष है। दूसरे शब्दों में, उनके (मंत्रियों के) स्थान पाने से आयोग में नीति-निर्माण की क्षमता का जो समावेश किया गया था वह समस्त विपरीत दावों के बावजूद स्वाभाविकतः आयोग को नीति-निर्माण की भूमिका प्रदा करने को प्रेरित करेगा। अतः एक सलाहकारी योजना आयोग की प्राप्ति का मंतव्य एक विशुद्ध मॉडेल की कल्पना से ही मेल खाता है।

III

विशुद्ध मॉडेल को अंगीकृत करने की दिशा में कुछ अन्य आपत्तियाँ हैं जिनका परिक्षण करना आवश्यक है।

प्रायः यह आशंका व्यक्त की जाती है कि राजनैतिक तत्वों के समर्थन के अभाव में आयोग के प्रस्ताव राजनैतिक रूप से निष्प्रभावी हो जाएंगे और इस प्रकार आयोग एक प्रभावहीन परिषद् बन जाएगी। प्रारम्भ में ही यह व्यक्त करना आवश्यक है कि विशेषज्ञों की पैरवी करते समय हमारा अभिप्राय इस तथ्य का प्रतिवाद करना नहीं है कि योजना अपने अन्तिम विश्लेषण में एक राजनैतिक प्रक्रिया है और इसके प्रभावी होने के लिए राजनैतिक समर्थन आवश्यक है। लेकिन हमारी दृष्टि में राजनैतिक समर्थन की मात्रा इस

---

१७ इस सुझाव को यहाँ शैक्षणिक क्षेत्रों में समर्थन प्राप्त हुआ है।

१८ देश में उभरती नई राजनैतिक स्थिति इस मामले को और अधिक आवश्यक बना देती है।

इस पर निर्भर है कि सरकार का योजना के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण है न कि इस बात पर कि योजना की निर्णय व्यवस्था के लिये राजनीतिज्ञ, किस प्रकार आयोग की सदस्यता से जुड़े रहते हैं। एक बार यह स्वीकार कर लेने पर कि विशेषज्ञों की एक योजना परिषद् व उसके राजनैतिक दृष्टि से प्रभावी होने के मध्य में कोई विरोधाभास नहीं परिलक्षित होता। निष्कर्षतः यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि इस प्रकार की परिषद् की स्थापना सम्भव होगा और उसे सम्मान प्राप्त होगा।[19]

एक अन्य प्रश्न जो प्रायः उठाया जाता है वह है कि योजना-निर्धारण व योजना-क्रियान्वयन के मध्य सीमांकन कैसे किया जाय? यहाँ यह स्वीकार किया जा रहा है कि ये दोनों प्रक्रियाएँ अविभाज्य रूप से परस्पर जुड़ी हुई हैं और वस्तुतः उनमें परस्पर अन्तःक्रिया विद्यमान है। यद्यपि यह सही है कि इन दोनों के मध्य एक विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, लेकिन यह प्रश्न उठाना तर्कसंगत है कि क्या यह परस्पर व्यापी स्थिति एक पूर्णतः तकनीकी परिषद् के उद्देश्य की विरोधी है? इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि नीति व उसके क्रियान्वयन में कोई अस्वाभाविक अंतर नहीं होना चाहिए, और उनके परस्पर सम्बद्ध स्वरूप को स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रशासनिक सुधार आयोग ने निम्नलिखित प्रकार से मंत्रालयों व योजना आयोग के मध्य निकट सम्पर्क का मार्ग सुझाया है मंत्रालयों को योजना आयोग के महत्वपूर्ण निर्णयों से अवगत कराते रहना चाहिए, बैठकों के लिए निर्धारित कार्य-सूची की प्रति उन्हें भेजनी चाहिए, वह अपनी इच्छानुसार बैठकों में भाग ले सके और विचार-विमर्श कर सके, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, उसे आयोग की बैठक बुलाने का अधिकार होना चाहिए, अपनी इच्छानुसार बैठक में भाग लेने पर वह उसकी अध्यक्षता कर सकता है, इत्यादि।[20]

आयोग के एक बार राजनैतिक तत्व से मुक्त हो जाने पर अन्य प्रश्न निम्नलिखित होंगे जिन पर विचार-विमर्श आवश्यक होगा—विशेषज्ञ योजना परिषद् के कार्य, राजनैतिक निर्णय निर्माण की शक्ति की स्थिति और राजनीतिज्ञों की भूमिका के स्पष्ट निर्धारण व उनके क्रियान्वयन के माध्यम की निश्चित व्याख्या।

आर्थिक विकास की दर व उसके प्रतिमानों के संबंध में सरकार से नीति सम्बन्धी निर्देश प्राप्त करने के उपरांत योजना आयोग का कार्य योजना निर्माण व उसके नीति संबंधी की स्पष्ट व्याख्या करना होगा। निश्चित कालावधि में योजना की प्रगति के मूल्यांकन का काम भी कम महत्व का नहीं है। साथ ही आवश्यकतानुसार नीतियों में परिवर्तन व संशोधन भी महत्वपूर्ण है।[21]

---

१९ विश्व के वे सभी देश, जिनका योजना की प्रभावोत्पादकता में विश्वास है हमारे कथन का प्रमाण हैं। उनकी योजना परिषदें विशुद्ध रूप से विशेषज्ञों की परिषदें हैं उनकी प्रकृति सलाहकारी है और उनका कार्य मात्र वैकल्पिक योजनाएं तैयार करना और उनके नीति सम्बन्धी परिणामों को स्पष्ट करना है। इसके बावजूद वे राजनैतिक दृष्टि से प्रभावी हैं क्योंकि उनकी सरकारों का वहाँ की योजनाओं में अडिग विश्वास है।

२० ए. आर. सी. रिपोर्ट, पूर्वोक्त, पृ० १०

२१ प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा वर्णित योजना आयोग के कार्य द्रष्टव्य, पृ. ५-२

राजनैतिक निर्णयों के संदर्भ में प्रशासनिक सुधार आयोग का यह प्रस्ताव है कि योजना आयोग द्वारा कुछ निश्चित प्रस्तावों पर विचार-विमर्श के उपरान्त, समस्त सुझावों व टिप्पणियों सहित वे प्रस्ताव केबिनेट के पास अन्तिम निर्णय के लिए भेजे जाएँगे।[२२]

नई व्यवस्था में राजनीतिज्ञों की दो प्रकार की भूमिका होगी और वे इसका निर्वाह राष्ट्रीय विकास परिषद् के माध्यम से करेंगे। प्रथम, उनका कार्य योजना निर्माताओं को योजना संबंधी एक वृहत् ढाँचा प्रदान करना होगा और समय-समय पर विशेषज्ञों द्वारा प्राप्त सुझावों के प्रकाश में नीतियों में सामंजस्य स्थापित करना होगा। द्वितीय राजनीतिज्ञ समयान्तर से राष्ट्रीय योजनाओं का मूल्यांकन करेंगे और आवश्यकतानुसार उनके संबंध में सुझाव प्रस्तुत करेंगे।

IV

प्रशासनिक सुधार आयोग के सुनिश्चित प्रस्तावों के विरुद्ध सरकारी पक्ष की स्थिति एवं विशुद्ध मॉडेल के विचार के प्रति अन्य आपत्तियों का विवेचन करने के उपरांत अब मिश्रित मॉडेल की तुलना में विशुद्ध मॉडेल के गणेदा गुणों पर सामान्य चर्चा की जाएगी।

मिश्रित मॉडेल पर उपलब्ध विविध अध्ययन सामग्री में प्रो० ए० एच० हेनसन की कृति 'दि प्रोसेस ऑफ प्लानिंग' का एक विशिष्ट स्थान है। प्रो० हेनसन भारत की उस योजना व्यवस्था के प्रशंसक हैं जिसके अंतर्गत राजनीतिज्ञ योजना-निर्धारण के कार्य में भाग लेकर योजना लक्ष्यों से प्रतिबद्धता अनुभव करते हैं। उनके अनुसार भारतीय व्यवस्था का प्रमुख गुण यह है कि उसने योजना को राजनैतिक स्वरूप प्रदान किया है।[२३] प्रो० हेनसन के विश्लेषण से पूर्ण सहमति संभवतः नहीं हो सकती क्योंकि वह इस व्यवस्था में निहित अच्छाइयों पर तो पर्याप्त ध्यान देते हैं लेकिन इसमें निहित विरोधाभासों व विसंगतियों की असावधानी पूर्वक उपेक्षा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रोफेसर हेनसन ने व्यवस्था में निहित मुख्य समस्या की ओर ध्यान नहीं दिया है और वह समस्या यह है कि मिश्रित मॉडेल में राजनैतिक स्थितियों के पक्ष में तकनीकी व आर्थिक पक्षों की उपेक्षा की जाती है। यद्यपि उनका यह कथन सही है कि "समस्या विशेषज्ञों के संयुक्त दृष्टिकोणों को अभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम देने व उसे पर्याप्त बल देने की है और ऐसा करते समय यह देखना है कि आयोग वस्तुत: एक अराजनैतिक परिषद् न बन जाए,"[२४] किन्तु इस समस्या के लिए उनके द्वारा प्रस्तावित निदान आलोचना का विषय है। उनका निदान 'संगठनात्मक अभि-

---

२२ लेकिन प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल ने यह सिफारिश की है कि पूरे केबिनेट को नहीं बल्कि उसकी एक उप-समिति को योजना आयोग के प्रस्तावों पर अंतिम निर्णय लेने चाहिएँ। (ए. आर. सी. स्टडी टीम रिपोर्ट पृ. १३ उद्धिरत्ति) स्वयं प्रशासनिक सुधार आयोग ने इस प्रस्ताव का तीव्र विरोध किया। (देखें ए. आर. सी. रिपोर्ट पृ. १८)

२३ ए. एच हेनसन, पूर्वोक्त, पृ. स. ७२-७३

२४ वही, पृ. ७६

व्यक्ति' वाली एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमे तकनीकी कार्य व राजनैतिक निर्णय निर्माण के मध्य अंतर स्पष्ट किया जा सके।[२५] उनका सुझाव इस अतर्कसंगत धारणा को स्थान देता है कि आयोग के अन्तर्गत तकनीकी व राजनैतिक निर्णय निर्माण की प्रक्रियाओं को दो पृथक वर्गों में रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैसाकि विदित है और स्वयं प्रो० हेनसन ने भी कहा है कि भारत में ऐसा होता है और इसके क्या परिणाम सामने आते हैं, यह कोई रहस्य नहीं है।

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि समस्या इससे कहीं अधिक गहन व गम्भीर है और वह मात्र संगठनात्मक व्यवस्था अथवा निर्माण तक ही सीमित नहीं है, जैसाकि प्रो० हेनसन का विचार है। इस प्रकार का समाधान समस्या का मात्र सतही स्पर्श ही करेगा। यदि व्यापक दृष्टिकोण से सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाए तो जटिल व मनोवैज्ञानिक प्रश्नों का सामना करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, राजनीतिज्ञ किसी सीमा तक विशेषज्ञों के प्रस्तावों व सुझावों को सुनने के लिए तैयार हैं। देश का राजनैतिक नेतृत्व राष्ट्रीय नीतियों के सम्बन्ध में तकनीकी आर्थिक दृष्टि के पक्ष मे किस सीमा तक अरुचिकर निर्णय लेने को तैयार है, यह जानते हुए भी कि अवसरवादिता और विकास की दिशाएँ भिन्न हैं, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि विशेषज्ञ कितने तटस्थ हैं और वे अपने न्यायोचित व उपयुक्त मत पर बिना परिणाम की चिंता किए कितनी ईमानदारी व साहस से टिक सकते है। इसके अतिरिक्त समस्या कुछ अभिसमयो व परम्पराओं के विकास तथा ऐसी आचरण संहिता के निर्माण से भी सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत आयोग में राजनीतिज्ञ व विशेषज्ञ एक दूसरे के मत का सम्मान कर सकें। इस दिशा मे प्रेस का दृष्टिकोण भी महत्त्वपूर्ण है। आवश्यक यह है कि वह इन अभिसमयों व परम्पराओं को समर्थन दे और इनके उल्लघन के उदाहरणों को निर्भीकतापूर्वक सामने लाए। जनमत की भूमिका भी कम महत्त्व की नहीं है। उल्लेखनीय है कि वह इन समस्त स्थितियों के प्रति कैसा दृष्टिकोण अपनाता है, उसकी प्रतिक्रिया का क्या स्वरूप होता है। यह स्थिति प्रकारांतर से यह प्रदर्शित करेगी कि देश का जनमत कितना प्रौढ़ है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि ये समस्त प्रस्ताव आवश्यक रूप से लम्बी अवधि के उपाय हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होगा कि मिश्रित मॉडेल एक ऐसा आदर्श है जो वर्तमान परिस्थितियों में अग्राह्य है और विशुद्ध मॉडेल बेहतर रूप से वर्तमान आवश्यकताओं व वातावरण का प्रतिनिधित्व करता है।

अंत में चौथे आम चुनावो के उपरांत केन्द्र-राज्य सम्बन्धो के परिवर्तित संदर्भ में[२६]

---

२५ "इससे ऐसा लग सकता है कि योजना आयोग की दो प्रकार की बैठकें हो रही हैं। साधारण बैठकें जहाँ तकनीकी काम किया जाएगा, केवल गैर-मंत्री सदस्यो की उपस्थिति मे होगी और साथ ही उसमें वे ही सरकारी अधिकारी उपस्थित हो सकेंगे जिन्हें उक्त सदस्य सलाह के लिए चाहेंगे। पूर्ण अधिवेशन, जहाँ तकनीकी कार्य का मूल्यांकन होगा और महत्त्वपूर्ण नीति संबन्धी निर्णय लिए जाएंगे, सभी सदस्यों (मंत्री सदस्यों व गैर-मंत्री सदस्यो) की उपस्थिति मे होगा पूर्वोक्त पृ. ७४-७५

२६ केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर योजना के प्रभाव सम्बन्धी अध्ययन के लिए देखें (१) के. सन्थानम' यूनियन स्टेट रिलेशन्स इन इंडिया, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली, १९६०.

यह उपयुक्त होगा कि एक सलाहकारी विशेषज्ञ योजना व्यवस्था हो जो राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा प्राप्त निर्देशों के आधार पर काम करे। यह स्थिति राज्य सरकारों को सहज स्वीकार्य होगी और उनमें अधिक विश्वास का संचार करेगी। अतः आगामी वर्षों मे आयोग के लिए यह आवश्यक व वांछनीय होगा कि वह केन्द्रीय सरकार से अधिकाधिक स्वतंत्र हो। 'गैर-कांग्रेसी सरकारें मिश्रित मॉडल के अन्तर्गत योजनाओं के आकार लक्ष्यों व प्राथमिकताओं के संबंध में संभवतः किसी वैचारिक अथवा सैद्धांतिक स्वरूप को स्वीकार नही करेंगी। एक ऐसी योजना परिषद् जिसकी स्वतन्त्रता व तटस्थता संदिग्ध हो उसे संभवतः समाप्त करना ही होगा।

अतः योजना आयोग के पुनर्गठन से सम्बन्धित किसी भी योजना को यदि महत्वशाली होना है तो उसे अनिवार्यतः सरकारी सत्ता से उचित स्वतन्त्रता के साथ काम करना होगा और अधिक महत्त्वपूर्ण रूप से यह भी देखना होगा कि सरकार इसके बावजूद उसकी उपेक्षा नहीं करे। दूसरे शब्दों में, हमे यह ध्यान रखना होगा कि उसकी विशेषज्ञ व सलाहकारी भूमिका उसे निष्प्रभावी न बनाए। पुनर्गठन के प्रश्न का केन्द्र-बिन्दु यही पूर्व आवश्यकता है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि वर्तमान व्यवस्था में बिना परिवर्तन किए भविष्य की आवश्यकताओं को पूरा नही किया जा सकता। विशेष रूप से केन्द्र-राज्य संबंधों में जो नया परिवर्तन आया है और जो आगे भी आएगा, यह मिश्रित मॉडल को अंगीकृत करने की दिशा में बाधक होगा। विशुद्ध मॉडल को बिना किसी अन्य विकल्प के, अनिवार्यतः स्वीकारना ही होगा।

Further Readings

1 *Paranjape H.K.* : The Reorganised Planning Commission (A Study in the implementation of Administrative Reports) Delhi, The Indian Institute of Public Administration, 1970. pp. 1 to 56.

2. Report of the center-State Relations Inquiry Committee, op. cit. pp. 104-109

पृ. ४३-४६ (२) एस. एच. ए. हाकी, यूनियन-स्टेट रिलेशन्स इन इंडियन (सम्पादित), मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, १९६७, पृ. ११५-१३६, १३८' (३)टी. टी. साकडावाला, यूनियन स्टेट फाइनेंशल रिलेशन्स, लालवानी पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, पृ. ७८-११७ ए. आर. सी. रिपोर्ट के विचार, पूर्वोक्त, पृ. १२ उल्लिखित। योजना आयोग को प्रबल व स्वतन्त्र बनाने के लिए उसे संवैधानिक पद प्रदान करने सम्बन्धी प्रस्ताव विवाद का विषय रहा है। लेकिन यह स्पष्ट है कि राजनैतिक दलों मे मतैक्य [illegible] अभाव की स्थिति मे यह सम्भव नही है। यदि यह सम्भव भी हो तो इससे उद्देश्य पूरा नहीं होगा। संघीय लोकसेवा आयोग, जोकि एक संवैधानिक परिषद् है, का उदाहरण इस दिशा में संकेत देता है।

२०

केन्द्रीय लोक सेवा आयोग

[भारतीय सविधान निर्माताओं ने यह अनुभव किया कि एक कुशल प्रशासनिक व्यवस्था सफल लोकतान्त्रिक राजव्यवस्था का आधार है। अतः वे भारतीय प्रशासन को योग्यता व्यवस्था के सिद्धान्तो के आधार पर संगठित करना चाहते थे। ऐसा उन्होने केन्द्रीय व राज्य स्तरो पर लोक सेवा आयोगों का जाल बिछा कर किया। हमारी लोक सेवा ब्रिटिश प्रतिमान पर आधारित एक एकीकृत लोक सेवा है और इस कारण केन्द्रीय सेवाओ में नियुक्त व्यक्ति राज्य स्तरीय प्रशासन को भी नया रूप देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाएगा कि पूरे देश के संदर्भ में केन्द्रीय लोक सेवा आयोग को एक केन्द्रीय भूमिका का निर्वाह करना होता है।

डॉ० मुतालिब ने अपने सुविख्यात लेख "दि इण्डियन यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन' पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, लन्दन, खण्ड ४२, १९६४, पृ० ३७३ ३९०) में केन्द्रीय लोक सेवा आयोग की संरचना व कार्य-क्षमता की समीक्षा की है। आज जबकि लोक सेवा अपनी गैर-प्रतिबद्धता व विशिष्ट वर्गीय पृष्ठभूमि के कारण जन आलोचना का विषय बन गई है, और उस पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह विशेषतः क्रियान्वयन के स्तर पर योगदान देने में असमर्थ रही है, मुतालिब का प्रस्तुत मूल्यांकन और भी अधिक प्रासगिक हो गया है। प्रस्तुत संदर्भ मे आज यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण बन गया है कि क्या केन्द्रीय लोक सेवा आयोग इस आलोचना के प्रति सजग है और क्या वह इस स्थिति में परिवर्तन व सुधारों के लिए कुछ प्रभावशाली कदम उठा सकती है? सम्पादक]

भारत में लोक सेवा आयोग को लोकतन्त्र का प्राकार (Bulwark of democracy) माना जाता है।[1] यह लोक सेवाओं में योग्यता को एक मात्र मापदण्ड स्वीकार कर लोक-

---

1 भारतीय संविधान सभा के सदस्यों द्वारा व्यक्त मत उल्लिखित। इसके अतिरिक्त समय-समय पर राज्य विधानसभाओं व संसद के सदस्यों द्वारा केन्द्रीय व राज्य स्तरीय लोक सेवा आयोग की वार्षिक रिपोर्टों पर की गई टिप्पणी।

तंत्र के अर्थ व उसके व्यवहार को समर्थन देता है और उसे प्रोत्साहित करता है। यह प्रशासन को निष्पक्ष उपकरण प्रदान कर उसे लोकतांत्रिक संस्थाओं के संभावित दबावों से बचाता है। इसके द्वारा किसी भी राजनैतिक स्वरूप की सरकार अपनी नीतियाँ क्रियान्वित करती है। इसके अतिरिक्त सेवा-विषयों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार रखने के कारण यह कार्यपालिका को राजनीति व प्रशासन-तन्त्र के मध्य आवश्यक संतुलन स्थापित करने में सहायता देता है। एक राजनीति-शास्त्री की भाषा में यह समस्या लोक सेवकों के राजनैतिक बन्ध्यकरण (Pol. sterilization) में निहित है।[२]

१९१९ के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत जब स्वशासन सम्बन्धी संवैधानिक सुधार प्रारम्भ हुए, उस समय भारत में प्रथम बार लोक सेवा आयोग की स्थापना हुई। यह स्थापना सुधारों की उसी भावना के साथ प्रारम्भ हुई जैसेकि ब्रिटेन व अमेरिका में लोक सेवा आयोग की शुरूआत हुई थी। वस्तुतः लोक सेवा आयोग की स्थापना को सुधारों की क्रियान्विति के लिए एक आवश्यक उपाय माना गया और इसकी स्वीकृति इन सुधार सम्बन्धी योजनाओं की समकालीन व उसका एक भाग थी।[३] लेकिन जहाँ पूर्वोक्त दोनों पश्चिमी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में लोक सेवा आयोग की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य लोक सेवा को राजनीतिज्ञों की कार्यवाहियों से 'मुक्ति' दिलाना था, वहाँ भारत में इसका मुख्य उद्देश्य प्रशासन-तन्त्र को राजनीतिज्ञों के सन्निकट अतिक्रमण से स्वतन्त्र रखना था। भारतीय संवैधानिक सुधारों से सम्बन्धित १५ मार्च १९१९ की प्रथम भारत सरकार विज्ञप्ति के अनुच्छेद ५५ में यह स्पष्ट किया गया था कि "उन अधिकांश राष्ट्रमण्डलों (डोमीनियनों) में जहाँ उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो चुकी थी, वहाँ इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई है कि एक स्थायी संस्था के निर्माण द्वारा लोक सेवा को राजनैतिक प्रभाव से बचाया जाए। इस संस्था का कार्य सेवा सम्बन्धी विषयों का नियमन करना होना चाहिए................हमारी यह धारणा है कि वे संभावनाएँ जिनके अनुसार लोक सेवाएँ अधिकाधिक मंत्रीय नियन्त्रण में आ जाएँगी, इस आधार को बल प्रदान करती है कि ऐसी संस्था का गठन हो............"।

पद तथा रचना :

यह आश्चर्यजनक नहीं है कि भारतीय संविधान निर्माताओं ने केन्द्रीय लोक सेवा आयोग को न्यायपालिका के निकट का पद प्रदान किया। ऐसा करते समय वे १९२४ के प्रवर जन सेवाओं सम्बन्धी राजकीय आयोग (ली आयोग) के इस मत से प्रेरित हुए थे कि "इस बात की सर्वाधिक आवश्यकता है कि अत्यधिक लोक प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों को आयोग

---

२ एप्सटीन, एल. डी., पोलिटिकल स्टेरिलाइजेशन ऑफ सिविल सर्वेन्टस् दि यूनाइटेड स्टेट्स एण्ड ग्रेट ब्रिटेन, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन रिव्यू, खण्ड X १९५०, पृ. सं. २८१-२९०.

३ बार्कर, सर डब्ल्यू आर., मेमोरेन्डम टु दि इंडियन स्टेट्यूटरी कमीशन, खण्ड XV, आफिशल ओरल एविडेन्स के अंश, एच. एम. एस. ओ. लंदन, १९३०, पृ. १९६ पैरा ३. सर डब्ल्यू. आर. बार्कर १९२६ में स्थापित प्रथम लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष थे।

का सदस्य बनाया जाए ताकि वे राज्य तथा उसके कर्मचारियों के मध्य महत्वपूर्ण व आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर सकें। जहाँ तक व्यावहारिक हो, इन आयुक्तों को समस्त राजनैतिक सगठनों से दूर रहना चाहिए और कम से कम दो सदस्य तो उच्च न्यायिक अथवा कानूनी योग्यताएँ प्राप्त होने चाहिएँ। इन्हे........पूर्णकालिक अधिकारी होना चाहिए और इनका वेतन व अन्य सुविधाएँ उच्च न्यायालय के न्यायाधीश से कम नही होनी चाहिए[४]

तदनुरूप संविधान निर्माताओ ने अनेक उपायों का उल्लेख किया जिससे केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के सदस्य अपने दायित्वों का निर्वाह करते समय बाह्य प्रभाव व दबावों से बचे रहें। इसके अध्यक्ष एवं सदस्यों की राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति होती है। आयोग के अध्यक्ष सहित अन्य सदस्यो का चयन करते समय राष्ट्रपति को अपने संवैधानिक दायित्व के अनुरूप यह देखना होता है कि लगभग आधे सदस्य ऐसे हो जिन्होने अपने नियुक्ति-काल से पूर्व कम से कम दस वर्ष तक या तो किसी राज्य सरकार अथवा केन्द्रीय सरकार के आधीन कार्य किया हो।" [५] संविधान सभा में इस प्रावधान की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ० अम्बेडकर ने यह कहा कि लोक सेवाओं में उम्मीदवारो की उपयुक्तता के संदर्भ मे उस व्यक्ति से अधिक श्रेष्ठ कोई अन्य व्यक्ति हो सकता है जो स्वय लोक सेवाओं से सम्बद्ध रहा हो। [६]

संविधान में शेष आधे सदस्यों के सम्बन्ध मे किसी विशेषता अथवा योग्यता का उल्लेख नही किया गया है। मोटे तौर पर कार्यपालिका इस सम्बन्ध मे भी आयोग की इस सलाह से निर्देशित होती है कि सदस्यों का चयन "ऐसे व्यक्तियों से हो जो अत्यधिक सार्वजनिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो, जहाँ तक सम्भव हो समस्त राजनैतिक संगठनों से परे हो............... उनमें कम से कम दो सदस्य उच्च न्यायिक व अन्य कानूनी योग्यताओं से सम्पन्न हों।" इसी के अनुरूप, केन्द्रीय सरकार ने अभी तक इस बात का ध्यान रखा है कि शेष आधी नियुक्तियाँ भी, इस आधार पर नही की जाएँ कि वे 'राजनैतिक नियुक्तियाँ' प्रतीत हो (यद्यपि राजनैतिक प्राथमिकता के आधार पर उनके चयन के मार्ग में कोई बाधा नहीं है)।

१९६२ के अन्त मे नियुक्त २१ सदस्यो मे से ५ सदस्य भारतीय नागरिक सेवाओ (I. C. S.) के रहे है तथा १ सदस्य नागरिक सेवाओं का, ४ शिक्षाविद् हैं, व ३ इंजीनियर हैं। इसके अतिरिक्त १ वैज्ञानिक, ४ विभिन्न राज्य लोक सेवा आयोगों के भूतपूर्व अध्यक्ष व सदस्य, २ उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश व १ भूतपूर्व लोकसभा अध्यक्ष ने भी आयोग में सदस्यों के रूप मे स्थान पाया है। एक सदस्य एक प्रान्तीय विधान सभा का निर्वाचित सदस्य था तथा एक अन्य सदस्य १९४४ में एक देशी रियासत का मंत्री था। एक सदस्य जोकि व्यवसाय से इंजीनियर था, निजी क्षेत्र से लिया गया था। उसका एक निजी प्रतिष्ठान मे काफी प्रमुख पद था।

---

४ पैरा २५

५ भारत का संविधान, धारा ३१६ (1)

६ सी. ए. डी. खण्ड IX. 1,2 अगस्त १९४९, पृ. ५६२

आयोग की सरचना से किसी भी सेवा एजेंसी के दो प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति होती है : (अ) जिस किसी भी सेवा से यह सम्बद्ध हो उसके संदर्भ में 'प्रवीण व प्रामाणिक सत्ता' के रूप मे कार्य करना और साथ ही (ब) निष्पक्ष आधार पर परामर्श प्रदान करना। दूसरे शब्दो मे इस व्यवस्था मे 'विशेषज्ञ' व 'सामान्य' दृष्टियों का समायोजन करना होता है ताकि कर्मचारियो के विशेषज्ञ कार्यो के सम्पादन मे संकीर्ण विशेषीकरण व सतही परिचय दोनो से ही बचा जा सके। इसके अतिरिक्त आयोग मे लोक सेवाओं के सुरक्षित प्रतिनिधित्व ने आयोग व प्रशासकीय इकाइयो के पारस्परिक सम्बन्धों पर हितकारी प्रभाव डाला है। इस तथ्य के बावजूद कि आयोग इनसे वास्तविक व वैधानिक रूप से स्वतन्त्र है, इसमें वरिष्ठ लोक सेवकों के प्रवेश से एक सेवा एजेंसी के रूप मे आयोग व सेवा प्राप्त करने वाली सस्याओ के रूप मे प्रशासकीय इकाइयों की बीच की दूरी कम हुई है।

संविधान ने आयोग के आकार को निर्धारित करने का अधिकार राष्ट्रपति को सौपा है। २६ जनवरी १९५० को जब सविधान क्रियाशील हुआ और संघीय लोक सेवा आयोग केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के रूप मे परिणत हुआ, उस समय आयोग के अध्यक्ष सहित ४ सदस्य थे। [७] यह सख्या ६ और ८ सदस्यो के बीच स्थिर रही है यद्यपि १९५९ में सर्वाधिक सख्या ९ नियत की गई थी। [८]

सामान्यत. एक सदस्य या तो ६ वर्ष की अवधि और या ६५ वर्ष की आयु तक (जो भी पहले हो) सदस्य रह सकता है। अपनी अवधि की समाप्ति पर वह पुर्ननियुक्ति का अधिकारी नही होता। [९] इसके अतिरिक्त वह अवधि की समाप्ति के बाद भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के आधीन कोई अन्य कार्य नही कर सकता सिवाय इसके कि केन्द्रीय लोक सेवा आयोग का एक सदस्य (अध्यक्ष नही) केन्द्रीय लोक सेवा आयोग अथवा राज्य आयोग का अध्यक्ष बन सकता है। [१०] केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की अनुपयुक्तता की प्रकृति महत्वपूर्ण है क्योंकि वह भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के आधीन कोई नियुक्ति नही पा सकता।

इस प्रतिबन्ध का जनता पर गम्भीर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा है। और वे आयोग के सदस्यों का विशेष सम्मान इस कारण करती हैं क्योंकि जनहित के लिए वे भावी पदों का त्याग करते है। इसके अतिरिक्त, जहाँ तक प्रशासन की गतिशील व परिवर्तनशील प्रकृति थी, इसके लिए आवश्यक था कि प्रशासन में नया खून पर्याप्त प्रतिनिधित्व पाता। कार्याविधि की निश्चितता ने राष्ट्रपति को इस योग्य बनाया है कि वह सरकारी, गैर-सरकारी, तकनीकी व प्रशासनिक पृष्ठभूमि के सदस्यों के मध्य उचित अनुपात बनाए रख सके और ऐसा कालांतर से हुए रिक्त-स्थानों पर नई नियुक्तियाँ कर, संभव बनाता है।

---

७ यू. पी. एस. सी. की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट, २६ जनवरी १९५०-३१ मार्च १९५१, पैरा ६

८ यू. पी. एस. सी. की सातवीं रिपोर्ट, १९५६-५७ पैरा ४, १ जून १९७२ को इसमें अध्यक्ष सहित ८ सदस्य थे।

९ भारत का संविधान, धारा ३१६

१० वही, धारा ३१९

[illegible] होता है कि इस [illegible] के [illegible] पर [illegible]। उदाहरण के लिए, कोई [illegible] [illegible] स्वीकार करता है [illegible] देता है कि उसके लिए [illegible] पर [illegible] है [illegible] काल के [illegible] में कोई भी [illegible] आयोग की [illegible] के [illegible] है क्योंकि केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों के अधीन [illegible] करने की [illegible] वहाँ [illegible] व [illegible] भी होती हैं। इसके अतिरिक्त, एक [illegible] अपेक्षाकृत अधिक [illegible] होती है क्योंकि आयोग के सदस्य को [illegible] के [illegible] नहीं मिलती।

संविधान द्वारा आयोग के सुव्यवस्थित व्यक्तिगत अधिकार [illegible] प्रदान करने का उद्देश्य यह था कि आयोग के सदस्य स्वतंत्र हों। यह व्यवस्था न केवल कार्यपालिका के सभी [illegible] संरक्षण की अपेक्षाओं से उन्हें मुक्त रख कर प्रदान की गई थी, बल्कि सेवा की सुरक्षा की शर्तें भी उसमें निहित थीं।

संविधान (धारा ३१७) के अन्तर्गत केवल दो ही परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है जिनकी स्थिति में आयोग के सदस्य को पदमुक्त किया जा सकता है। प्रथम आयोग के किसी भी सदस्य को राष्ट्रपति के आदेश से पदमुक्त किया जा सकता है। यदि राष्ट्रपति सम्बन्धित सदस्य का मामला उच्चतम न्यायालय के पास भेजे और उच्चतम न्यायालय यह सिफारिश करे कि उक्त सदस्य को उसके दुर्व्यवहार के कारण पदमुक्त किया जाए, तो राष्ट्रपति इस आशय का आदेश जारी कर सकता है। इस पद्धति द्वारा आयोग के सदस्यों को वैसी ही सुरक्षा व संरक्षा प्रदान की गयी है जैसी कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत संघीय एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को उपलब्ध थी। द्वितीय, एक सदस्य स्वतः ही अयोग्य हो जाता है यदि वह (१) दिवालिया घोषित कर दिया जाए (२) किसी दूसरे पद अथवा कार्य से सम्बद्ध हो जाए (३) दिमाग अथवा शारीरिक दृष्टि से अपंग हो जाए।

आयोग के सदस्यों व कर्मचारियों की सेवा सम्बन्धी शर्तों का निर्धारण राष्ट्रपति द्वारा होता है। यद्यपि यह व्यवस्था हमें १९३५ के अधिनियम की एक धरोहर के रूप में प्राप्त हुई है लेकिन संविधान अपने पूर्ववर्ती कानून से इस सम्बन्ध में भिन्न है क्योंकि उसमें यह व्यवस्था है कि सदस्यों की सेवा सम्बन्धी शर्तें "नियुक्ति के उपरान्त उनके अहित में परिवर्तित नहीं की जाएंगी" (धारा ३१८)। यह निस्सन्देह एक सुधार की स्थिति है।

आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों को क्रमशः ३५०० रु० व ३००० रु० प्रतिमाह मिलते हैं।[11] इस सम्बन्ध में ली आयोग की इस सलाह का पालन नहीं किया गया कि

11 यदि कोई आई.सी.एस. कमीशन में नियुक्ति पाता है तो उसे ५०० रु. की अतिरिक्त व्यक्तिगत आय [illegible] जाय। यह उल्लेखनीय है कि उच्च न्यायालयों व उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों तथा कम्प्ट्रोलर व ऑडिटर जनरल की आय की भांति संविधान ने अपने प्रारूप में कमीशन के सदस्यों की आय नहीं प्रस्तावित की।

आयोग के सदस्यों को उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की विशेष सुविधाएँ व आय प्राप्त हो ।

कार्य :

इस प्रकार केन्द्रीय लोक सेवा आयोग को उसके स्वतन्त्र व निष्पक्ष पद के लिए कुछ सवैधानिक उपाय प्रदान किए गए हैं जो अंशतः जेम्स, वॉट्सन की 'संरक्षणवादी' (protectionist) विचारधारा[12] की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं । इस विचारधारा के अन्तर्गत राजनीतिज्ञों को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता है और उन्हें नागरिक सेवा एजेंसी से दूर रखा जाता है। केन्द्रीय लोक सेवा आयोग को राजनैतिक प्रभाव से मुक्त रखने के लिए प्रशासनिक पद सोपान से बाह्य रखा गया है और स्वतन्त्र रूप से संगठित किया गया है। लेकिन आगे के पृष्ठों मे यह सुझाया गया है कि आयोग की वर्तमान प्रतिष्ठा का कारण मुख्य कार्यपालिका के व्यवस्थापन अंग के रूप में इसकी क्षमताओं की उपेक्षा नहीं करना है ।

वास्तव मे आयोग के कार्यों व दायित्वो सम्बन्धी व्यवस्थाएँ यह संकेत देती हैं कि आयोग कार्यपालिका के आधीन है । विविध कानूनों एवं नियमो के माध्यम मे कार्यपालिका प्रामाणिक रूप से आयोग का कार्य क्षेत्र निर्धारित करती है। जब आयोग के कार्यों व शक्तियों को परिभाषित करने का अवसर उपस्थित हुआ तब संविधान निर्माताओं ने इस बात को ध्यान में रखते हुए कि लोक सेवाओं सहित समस्त सार्वजनिक विषयों के कुशल क्रियान्वयन का अंतिम दायित्व सरकार का है आयोग को मात्र सलाहकारी भूमिका प्रदान की, न कि कार्यकारी ।[13]

इस प्रकार संविधान ने सर सैमुअल होर के प्रस्तुत मत का पालन किया जो कि उन्होंने १९३५ में अभिव्यक्त किया था : संयुक्त प्रवर समिति का यह निश्चित मत था और मेरा व मेरे सलाहकारों (भारत व यहां, दोनों जगह) का भी यह मत है कि लोक सेवा आयोगों की सलाहकारी भूमिका देना अधिक उपयुक्त होगा। अनुभव द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि वे सलाहकारी भूमिका का अधिक अच्छी तरह निर्वाह करेंगे न कि अधिक आदेशात्मक भूमिका । यदि उन्हें आदेशात्मक शक्ति दे दी जाए तो खतरा यह है कि दो पृथक् सरकारों की स्थापना हो जाएगी ।[14]

केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के कार्यों के चार स्रोत हैं :

१. भारतीय संविधान;

---

१२ स्टेटमेंट कंसर्निंग टु कमेटी ऑन एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सिविल सर्विस सिस्टम की रिपोर्ट उल्लिखित, सेनेट कमेटी ऑन पोस्ट ऑफिस एण्ड सिविल सर्विस, ८२ कांग्रेस, प्रथम सत्र, गवर्नमेंट प्रिंटिंग आफिस, वाशिंगटन, १९५७, पृ. ४५ ।

१३ एस. बी. सक्सेना, 'पब्लिक सर्विस कमीशंस एन इंडियन एप्रोच', इंडियन जरनल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, खंड II, १९५६ ।

१४ एच. सी. देब, खण्ड १००, कॉलम ८२८ ।

२. विधायी अधिनियम;
३. नियम, अधिनियम व कार्यपालिका सम्बन्धी आदेश;
४. अभिसमय।

धारा ३२० की उपधारा (१) में यह व्यवस्था है कि आयोग केन्द्रीय सेवाओं में नियुक्ति के लिए विधि परीक्षाएँ आयोजित करेगा। उपधारा (२) के अनुसार यह आयोग का कर्त्तव्य होगा कि वह दो या दो से अधिक राज्यों की प्रार्थना के आधार पर उन्हें किसी भी ऐसी सेवा में संयुक्त भर्ती के कार्य में सहायता देगा और तत्सम्बन्धी उद्देश्य के लिए योजनाओं के निर्धारण एवं क्रियान्वयन में इन राज्यों को सहायता प्रदान करेगा। उपधारा (३) के अन्तर्गत आयोग राष्ट्रपति द्वारा सलाह मांगने पर उसे उल्लिखित एवं अनुल्लिखित सभी विषयों पर सलाह देगा।

धारा ३२१ के अन्तर्गत संसद् केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के कार्यों में वृद्धि सम्बन्धी प्रस्ताव पारित कर सकती है। ऐसे कानून के माध्यम से संसद् किसी भी स्थानीय सत्ता अथवा कानून द्वारा निर्मित किसी अन्य सार्वजनिक संस्थान के सम्बन्ध में आयोग के अतिरिक्त कार्यों के लिए आवश्यक व्यवस्थाएँ कर सकती है, उदाहरण के लिए टेरिटोरियल काउन्सिल्स एक्ट, १९५६ तथा देहली म्युनिसिपल कारपोरेशन एक्ट, १९५७।

कार्यपालिका सम्बन्धी आदेशों व नियमों का स्रोत धारा ३२० की उपधारा (३) तथा उसमें निहित उपबन्ध है। अधिनियम जारी कर राष्ट्रपति समय-समय पर आयोग के साथ परामर्श का क्षेत्र परिभाषित कर सकता है। ऐसे सभी अधिनियम जो यह स्पष्ट करते हैं कि उन सभी मामलों में या जिनमें सामान्यत. या किसी विशेष परिस्थिति में आयोग की सलाह आवश्यक नहीं होती संसद् द्वारा पारित किए जाते है।

अन्त में, आयोग द्वारा ऐसे अनेक कार्य किए जाते हैं जो न तो संविधान में उल्लिखित होते है और न ही संसद् के विधेयकों मे। उदाहरण के लिए, सुरक्षा सेवाओं में भर्ती करना आयोग का दायित्व नहीं है क्योंकि ये सेवाएँ लोक सेवाओं के अन्तर्गत नहीं आती। सुरक्षा सेनाओं के सभी अंगों में केडिटों की भर्ती सर्वप्रथम १९४९ मे रक्षा मन्त्रालय के अनुरोध पर की गई थी जो कि अब आयोग की गति-विधियों की नियमित विशेषता बन गई है।[१५] इसी प्रकार, उच्च योग्यता प्राप्त वैज्ञानिकों एवं तकनीकी विशेषज्ञों के निकाय मे अस्थाई अधिकारियों का चयन भी एक संविधानेत्तर कार्य है। इस निकाय मे नियुक्त व्यक्तियों को केन्द्रीय सरकार व राज्य औद्योगिक प्रतिष्ठानो, राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं, विश्वविद्यालयो, वैज्ञानिक संस्थाओं तथा निजी क्षेत्र के औद्योगिक प्रतिष्ठानों मे अधीनस्थ कर्मचारियों के रूप में भेजा जा सकता है।[१६]

सुविधा की दृष्टि से केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के दायित्वों को तीन प्रमुख श्रेणियों में रखा जा सकता है : कार्यकारी, नियामक एवं अर्द्ध-न्यायिक।

---

१५ यू. पी. एस. सी. की छठी रिपोर्ट, १९५५–५६, पैरा १३

१६ यू. पी. एस. सी. की नवीं रिपोर्ट, १९५८–५९, पैरा २० वैज्ञानिक अनुसंधान परिषद् इस पूल की नियंत्रक सत्ता है। यह परिषद् न कि आयोग विज्ञापन की घोषणा करती है और उम्मीदवारों के चयन के लिए आवेदन आमंत्रित करती है।

केन्द्रीय लोक सेवा आयोग (सलाह-मशविरे से मुक्ति) अधिनियम के अधीन आयोग मुख्यतः उन सभी लोक महत्त्व के पदों पर चयन के लिए उत्तरदायी है जिनके लिए पद रिक्त हो अथवा नए पदों की व्यवस्था की गई हो। यह योग्यता के हित में खुली प्रतियोगिता पर बल देकर और अयोग्य व्यक्तियों को अस्वीकार कर अपने लाभ की स्थिति का उपयोग कर सकता है। यह सरकार द्वारा सूचित किए गए रिक्त स्थानों व पदों को पूरे देश में विज्ञापित करता है और दिल्ली व अन्य स्थानों पर प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से उपयुक्त उम्मीदवारों का चयन करता है। अपने अधीनस्थ सचिवालय के सम्बन्ध में आयोग को कुछ कार्यकारी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। आयोग का अध्यक्ष आयोग, सचिवालय के वरिष्ठ अधिकारियों का चयन करता है व उन्हें नियुक्ति देता है। यह अपनी वित्तीय व्यवस्थाओं के अनुरूप कुछ अस्थाई नियुक्तियाँ भी करता है।

नियामक व अर्द्ध-न्यायिक कार्यों की प्रकृति सलाहकारी है। आयोग (१) भर्ती की पद्धतियों तथा (२) नियुक्ति पदोन्नति एवं विभिन्न सेवाओं में स्थानान्तरण के समय अपनाए जाने वाले सिद्धान्तों के सम्बन्ध में परामर्श प्रदान करता है तथा इस सम्बन्ध में उम्मीदवारों की उपयुक्तता स्पष्ट करता है।

आयोग को न्यायपालिका के समीपस्थ पद देने का एक कारण यह है कि कुछ निश्चित विषयों पर इसके कार्यों को न्यायिक विवेक से सम्पादित किया जाता है। इस प्रकार यह :

(१) स्मृति पत्रों व याचिकाओं सहित भारत सरकार के अधीनस्थ लोक सेवकों से सम्बन्धित अनुशासन के मामलों पर अपनी सलाह देता है।

(२) किसी अधिकारी के इस दावे पर भी सलाह देता है कि सरकार उसके द्वारा उसकी पदीय क्षमता में किये गए कार्यों के बचाव पर आई कानूनी लागत का व्यय स्वयं उठाए।

(३) किसी कर्मचारी के सरकारी सेवाकाल में आहत होने की स्थिति में पेंशन देने व उसकी राशि निर्धारित करने के प्रश्न पर भी परामर्श देता है।

यह भी इस केन्द्रीय आयोग का कर्तव्य है कि वह आयोग के वार्षिक कार्यों से सम्बन्धित एक प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करे। ऐसे प्रतिवेदन की प्राप्ति पर राष्ट्रपति उसकी एक प्रतिलिपि समस्त स्मरण-पत्र के साथ संसद पटल पर रखने के लिए भेजता है। इसमें उन मामलों पर प्रकाश डाला जाता है जिसमें आयोग की सलाह अस्वीकार कर दी गई थी।[१०]

सीमाएँ :

आयोग के कार्य क्षेत्र सम्बन्धी संवैधानिक परिभाषा जिसकी व्याख्या व कार्यपालिका सम्बन्धी आदेशों के माध्यम से न केवल उनके कार्यों का प्रसार ही सुनिश्चित करती है बल्कि उनकी सीमाएँ भी इंगित करती है। आयोग पर दो प्रकार से सीमाएँ लगाई गई हैं :

---

१० भारत का संविधान, धारा ३२३ (१)

(१) धारा १६ व धारा ३५५ में उल्लिखित नियुक्तियों की सुरक्षा तथा

(२) संसद् की स्वीकृति से राष्ट्रपति द्वारा धारा ३२०(३) के उपबन्धो के अन्तर्गत तैयार अधिनियम द्वारा आयोग की संवीक्षा से कुछ पदो व सेवाओ का बहिर्गमन।

धारा १६ की प्रथम दो उपधाराएँ सार्वजनिक रोजगार के मामलो मे अवसर की समानता के अधिकार की व्यवस्थाएँ करती है। कोई भी नागरिक धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, वंश, जन्म स्थान, निवास स्थान अथवा उनमे से किसी के भी आधार पर राज्य के अन्तर्गत किसी भी पद के लिए अयोग्य नही होगा, और उसके साथ कोई भेदभाव नही किया जाएगा। एक भर्ती करने व सलाह देने की ऐजेंसी के रूप मे आयोग अवसर की समानता के सिद्धान्त से निर्देशित होता है। लेकिन उपधारा (४) बिना आयोग को उल्लेख किए ही, सरकार को अनुमति देती है कि वह नागरिको के किसी भी पिछड़े वर्ग के लिए कुछ नियुक्तियाँ अथवा पद सुरक्षित रहने दे।

धारा ३२०(४) के साथ धारा ३५५ एक अन्य सीमा लगाती है। धारा ३५५ मे यह व्यवस्था है कि केन्द्र सम्बन्धी मामलों में आवश्यक सेवाओं व पदो के सम्बन्ध मे प्रशासन की क्षमता बनाए रखते हुए भारत सरकार को अनुसूचित जातियों व आदिम जन-जातियों के दावों पर ध्यान देना होता है। लेकिन ऐसा समव है कि सरकार इन वर्गों के दावो से निवटने के लिए कार्यविधि के सम्बन्ध मे आयोग की सलाह न ले।

धारा ३२०(३) राष्ट्रपति को यह अधिकार देती है कि वह आयोग मे सलाह योग्य मामलो के सम्बन्ध में अधिनियम बनाए। यद्यपि संविधान की यह धारा मोटे तौर पर १६३५ के भारत सरकार अधिनियम के भाग २६६ का पुनर्प्रस्तुतीकरण है लेकिन फिर भी इसमें एक महत्वपूर्ण लिखित परिवर्तन लाया गया है। १६३५ अधिनियम मे आयोग की संवीक्षा से विषयों को वाहर करना संबधित भाग का एक मूल अंग था और आयोग से विचार-विमर्श को प्रकटत: बहिष्करण अधिनियमो के अधीन रखा गया था। भारतीय संविधान में इस स्थिति को परिवर्तित कर दिया गया है और अधिनियमों को धारा ३२०(३) में उल्लिखित विचार विमर्श की व्यवस्था का अपवाद बनाया गया है। यह परिवर्तन महत्वपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त अपने पूर्ववर्ती कानून के विपरीत संविधान मे आयोग के कार्यों को सीमित करने के लिए संसदीय स्वीकृति को आवश्यक बताया गया है लेकिन इसके कार्यों मे वृद्धि से सम्बन्धित प्रस्ताव के लिए ऐसी स्वीकृति आवश्यक नही है।

१६३५ के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत १६३७ में पारित विचार-विमर्श अधिनियमों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् परिवतित कर अंगीकृत किया गया है। ये अधिनियम वास्तव में आज तक प्रभावी रहे है यद्यपि उन्हें 'केन्द्रीय लोक सेवा आयोग (विचार-विमर्श से मुक्ति) अधिनियम, १६५८' का नया नाम दे दिया गया और उसी वर्ष १ सितम्बर से लागू कर दिया गया।[१८] कुछ परिवर्तनो के साथ संसद् ने भी उन्हें उसी वर्ष पारित कर दिया।

---

[१८] यू पी. एस. सी. की नवी रिपोर्ट, १६५८–६, पैरा ५६, इसमे यू. पी. एस. सी. (विचार विमर्श से मुक्ति) अधिनियम, १६५८ की एक प्रतिलिपि है।

आयोग के कार्यों को राष्ट्रपति द्वारा कई प्रकार से सीमित किया गया है। इन आदेशों में गैर-प्रतियोगी पदों व सेवाओं का वर्गीकरण ही सम्मिलित नहीं है बल्कि उन वर्गों की परिगणना भी सम्मिलित है जिनकी भर्ती के लिए आयोग प्रतियोगी परीक्षाएँ आयोजित कर सकता है। इसी प्रकार, अनुशासन के मामलों से सम्बन्धित कुछ सहायक आदेश भी हैं जिन्हें आयोग की संवीक्षा से दूर रखा गया है।

बहिष्कृत वर्ग :

बहिष्कृत वर्ग की प्रथम श्रेणी में न्यायाधिकरणों, आयोगों व उच्च अधिकार प्राप्त समितियों की सदस्यता व अध्यक्ष ऐसे पद आते हैं जिनका निर्माण किसी जांच करने अथवा जनहित सम्बन्धी किसी मामले पर सरकार को सलाह देने के लिए किया जाता है। यद्यपि कार्यपालिका ऐसे पदों के लिए नियुक्तियां करने हेतु विवेकाधिकार प्राप्त है लेकिन लोकमत का यह निर्देश होता है कि ऐसी समस्त नियुक्तियां प्रदर्शित क्षमता के आधार पर की जानी चाहिए।

द्वितीय, 'गोपनीय' अथवा उच्च 'नीति निर्धारक' प्रकृति के पद हैं, उदाहरण के लिए बाहर के देशों में भारत के राजनयिक वाणिज्य एवं अन्य मिशनों के अध्यक्ष, तथा निजी सचिवों व निजी सहायकों के पद। इसका उद्देश्य नियुक्त करने वाले अधिकारियों को इस लिए स्वतन्त्र रखना है क्योंकि वह जिन पर आश्रित रहने वाले हैं उन्हें अपनी इच्छानुसार नियुक्त करें। इस प्रकार की राजनैतिक नियुक्तियों के लिए भी व्यक्तिगत उपयुक्तता की अधिकाधिक आवश्यकता होती है।

तृतीय, ऐसे पदों को भी बहिष्कृत किया गया है जिनके लिए व्यक्तित्व अथवा अनुभव निर्धारक तत्त्व हो सकते हैं। यह नियुक्तियां वर्ग I, केन्द्रीय सेवाओं व अखिल भारतीय सेवाओं के वरिष्ठ पदों के लिए सुरक्षित हो सकती हैं। इन पदों को बहिष्कृत करने का निहित मन्तव्य यह प्रतीत होता है कि राजनैतिक अधिकारियों को अपने सहयोगियों के चयन में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिले बशर्ते चयन का क्षेत्र इन सेवाओं (Career Services) तक ही सीमित हो। वृत्तिक सेवाओं सम्बन्धी इस सीमा ने जहां सर्वोच्च व्यवस्थापन को उन उच्च पदों को उपलब्ध कराने में सहायता पहुँचाई है जिनकी वृत्ति कर्मचारी आकांक्षा रखता है वहां कार्यक्षेत्र में निरन्तरता भी प्रदान की है। यदि राजनैतिक अधिकारी यह अनुभव करे कि वह अपने अधीनस्थ कर्मचारी के साथ भली-भांति कार्य नहीं कर पा रहा तो वह उसका स्थानांतरण कर अपनी पसन्द के किसी अन्य लोक सेवक को नियुक्त कर सकता है।

चतुर्थ, नियुक्ति के निम्न प्रकार के चयनों के सम्बन्ध में भी आयोग से सलाह-मशविरा नहीं किया जाता :

(अ) किसी भी ऐसे अधिकारी का अखिल भारतीय सेवाओं में पद जो कि स्वतः ही इन अखिल भारतीय सेवाओं का एक सदस्य हो,

(ब) किसी भी ऐसे अधिकारी की केन्द्रीय सेवा वर्ग I में नियुक्ति जो कि या तो केन्द्र की सशस्त्र सेनाओं में अधिकारी हो या स्वतः ही किसी अखिल भारतीय सेवा या केन्द्रीय सेवा वर्ग में अधिकारी हो।

(स) केन्द्रीय सेवा वर्ग II या उसमें सम्मिलित किसी भी पद पर ऐसे अधिकारी की नियुक्ति जो स्वतः ही या तो केन्द्रीय सेवा वर्ग II या केन्द्रीय सेवा वर्ग III या केन्द्रीय सशक्त सेनाओं का कोई अधिकारी हो, तथा

(द) किसी राज्य सेवा के अधिकारी की केन्द्रीय सेवा वर्ग या केन्द्रीय सेवा वर्ग II मे अविधिक पद पर नियुक्ति।[१९]

क्योंकि इन पदों के लिए चयन में पदोन्नति निहित रहती है इसलिए आयोग की किसी भूमिका की इसमें व्यवस्था नही है। जहां पदोन्नति निहित होनी है वहां सामान्यतः आयोग को तत्सम्बन्धी प्रक्रिया से सम्बद्ध किया जाता है।

पंचम, वर्ग III, वर्ग IV कर्मचारियों व कारखाने के कर्मचारियों का समूह (जो कि केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों की कुल संख्या का ९८% है) आयोग की संवीक्षा परिधि के बाहर है।[२०] यद्यपि मंत्रालयों व विभागों द्वारा अधीनस्थ वर्गों में भर्ती कर्मचारियों के कार्यों मे विकेन्द्रीकरण की नई प्रवृत्ति की परिचायक है, लेकिन इस दिशा मे आयोग की सामान्य देख-रेख के अभाव का मुख्य कारण आयोग के कार्यभार को हल्का करना प्रतीत होता है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह स्थिति आयोग के निर्माण के मूल लक्ष्यों से समझौता करती है। यह मूल लक्ष्य है सेवा मे भर्ती के प्रश्न पर स्वतन्त्र व निष्पक्ष रूप से विचार। यदि यह तर्क दिया जा सकता है कि योग्यता की व्यवस्था मे निहित सिद्धान्त यह है कि सभी विभाग कर्मचारियों के चयन मे कुछ सामान्य मानकों का पालन करें तो भर्ती करने की एक केन्द्रीय ऐजेंसी के रूप में आयोग स्वयं बिना वास्तविक भर्ती किए ही इस दिशा मे अत्यधिक योगदान दे सकता है। विभागों के विभिन्न चयन बोर्ड इस समझ के आधार पर अपने भर्ती करने व परीक्षा लेने से संबंधित प्रस्ताव आयोग को भेज सकते हैं कि इन बोर्डों द्वारा पालन किये गए सिद्धान्तो के अनुरूप ही आयोग द्वारा इनके कार्यक्रमो के वास्तविक स्वरूप का निरीक्षण किया जाएगा।

एक सुखद प्रवृत्ति यह दृष्टिगत होती है कि इनमें से कुछ चयन बोर्डों के सदस्यों की नियुक्ति केन्द्रीय लोक सेवा आयोग से विचार-विमर्श के उपरात की जाती है। उदाहरण के लिए, रेलवे सेवा आयोगो तथा डाक व तार चयन बोर्डों का तत्संबंधी विभागो द्वारा चयन अधिकांशतः आयोग से विचार-विमर्श के उपरांत ही किया जाता है। छठा, अक्सर कुछ अल्पकालिक अस्थाई व कार्यकारी पदों पर नियुक्ति को भी आयोग से विचार-विमर्श की निर्धारित परिधि से निकाल दिया जाता है। यह ऐसे पद हैं जिन पर नियुक्त व्यक्ति संभवतः एक वर्ष से अधिक काम नहीं करता। यदि व्यापक जनहित मे यह आवश्यक हो कि इन पदों पर तत्काल नियुक्तियाँ हों तो वे करदी जाती है क्योंकि आयोग की तत्संबंधी प्रक्रिया

१९ यू. पी. एस. सी. (विचार-विमर्श से मुक्ति) अधिनियम, १९५८ से उल्लिखित।

२० उदाहरण के लिए १९५१ केन्द्रीय सरकारी कर्मचारियों की कुल संख्या १८ लाख थी जिसमें से १०००० वर्ग I, के व २०००० वर्ग II के कर्मचारी थे जिनकी कुल कर्मचारियों की संख्या के सदर्भ में मात्र १.६ प्रतिशत सख्या थी। कमीशन द्वारा वर्ग ३ के एक काफी छोटे अंश की भर्ती की जाती है।

अत्यधिक समय साध्य होती है और उससे अनुचित विलम्ब होता है। ऐसी नियुक्तियों की यथासमव शीघ्र सूचना दी जाती है, विशेषतः तब जब प्रस्तावित पद ६ माह से अधिक समय के लिए हों। ऐसे पदों पर नियुक्ति के लिए आयोग से मंत्रणा की जानी चाहिए।

अंततः इस श्रेणी मे वे पद आते हैं जो सरकार के कार्यपालिका अंग न होकर शेष दोनों अगो के होते हैं (अर्थात् व्यवस्थापिका व न्यायपालिका संबंधी पद)। अतः संसद के दोनों सदनो में स्थिति सचिवालयों के सचिव आदि ऐसे पद हैं जो आयोग की संवीक्षा से दूर हैं।

अधिनियम ५ के अनुसार निम्नलिखित स्थितियों के अतिरिक्त अन्य मामलों में अनुशासनात्मक कार्यवाही के प्रश्न पर आयोग से मत्रणा आवश्यक नही है :

(अ) निन्दा

(ब) वेतन-वृद्धि अथवा पदोन्नति पर रोक

(स) आदेश की अवहेलना अथवा उपेक्षा से सरकारी पक्ष को हुई आर्थिक हानि के सम्पूर्ण भाग या अंश का वेतन से भुगतान

(द) किसी निम्नतर सेवा, वेतनमान अथवा पद पर अवनति या निम्नतर सेवा काल अथवा सेवा काल की निम्नतर अवस्था की दिशा में अवनति

(इ) अनिवार्य अवकाश

(ई) सेवा से मुक्ति

(उ) सेवा से बर्खास्तगी

(ऋ) किसी याचिका, स्मरण-पत्र अथवा अन्य किसी माध्यम से प्राप्त तथ्यों पर पुनर्विचार कर राष्ट्रपति द्वारा अपने पूर्व आदेशो के औचित्य पर पुनर्चिंतन और तदुपरात आवश्यक होने पर उसमें परिवर्तन या उसकी अवहेलना।[२१]

उपरोक्त-उल्लिखित दण्ड, जो कि केन्द्रीय लोक सेवाओं (वर्गीकरण, नियंत्रण एवं अपील) के नियमों मे निहित हैं कठोर प्रकृति के हैं और इस कारण उन्हें किसी ऐसी स्वतंत्र सविधिक ऐजेंसी जिसका अंशतः न्यायिक स्वरूप हो, से मंत्रणा के उपरांत ही लागू किया जा सकता है।

सुरक्षा सेवा (नागरिक) से संबंधित किसी व्यक्ति के विरुद्ध की गई अनुशासनात्मक कार्यवाही के प्रश्न पर आयोग से विचार-विमर्श अनावश्यक है। अंत में, केन्द्रीय लोक सेवा (राष्ट्रीय सुरक्षा) नियमों अथवा रेल सेवा (राष्ट्रीय सुरक्षा) नियमों के अन्तर्गत भी जारी किये गए किसी आदेश पर आयोग से मंत्रणा आवश्यक नहीं है। ये बहिष्करण राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से न्यायसंगत हैं।

कार्यपालिका से सम्बन्ध :

आयोग के कार्यों एवं सीमाओं से सम्बन्धित पिछली चर्चा उन दो मूल प्रश्नो की ओर इंगित करती है जो कार्यपालिका व एक सेवा एजेंसी से सम्बन्धित है। यदि आयोग वास्तव में सलाहकारी है तो इस बात की क्या गारंटी है कि इसकी विशेषज्ञ व कुशल सलाह

---

२१ यू. पा. एस. सी. (विचार-विमर्श से मुक्ति) अधिनियम, १९५८ से।

का कार्यपालिका द्वारा पालन किया जाएगा ? किसी प्रबल व्यवस्था के अभाव में आयोग द्वारा की जाने वाली योग्यता व्यवस्था के रक्षक की भूमिका पूर्णतः प्रभावशाली नहीं होगी विशेषतः जब कि रक्षक के पास कोई साधन नहीं होगा और वह रक्षा करते समय सजग भी नहीं होगा। दूसरे, यदि कार्यपालिका आयोग की संवीक्षा से स्वतन्त्रतापूर्वक विषय बहिष्कृत करती रहे तो क्या आयोग की स्थापना का उद्देश्य समाप्त नहीं हो जाएगा ?

स्वयं आयोग ने अनेक बार ये आशंकाएँ व्यक्त की हैं। प्रथम वार्षिक रिपोर्ट में इसने अभिव्यक्त किया कि "आयोग का यह मत नहीं है कि एक लोकतान्त्रिक व्यवस्था के कार्यों पर आरोपित सीमाएं न्यायसंगत हैं। आयोग के प्रस्तावों ने जनहित में अपने कार्यों को न्यूनतम आवश्यक की सीमा तक रखने का ही प्रयास किया है। अतः इसने अपनी पहली व दूसरी रिपोर्ट में यह आग्रह किया है कि उसे संसद द्वारा कुछ सविधिक उपाय प्रदान किए जाएँ जिससे सरकार द्वारा उसकी सलाह को अस्वीकार करने की सम्भावनाओं को कम किया जा सके। उदाहरण के लिए, इसने ब्रिटेन में स्वीकार किए गए सुपरएनुएशन एक्ट (१८५६) के समान ही एक कानून की सराहना की जिसके अंतर्गत कोई भी लोकसेवक तब तक पेंशन नहीं पा सकता जब तक कि वह यह प्रमाण-पत्र न प्रस्तुत करे कि उसकी नियुक्ति नागरिक सेवा आयोग की स्वीकृति से हुई है।[२२] इस स्थिति में पारस्परिक सद्भाव व दोनों पक्षों में इस चेतना में सुधार आया कि उनका अंतिम लक्ष्य समान ही है — जनहित की दिशा में कार्य।

कुछ स्थापित अभिसमयों का प्रचलन विशेष उल्लेखनीय है। जहां सविधान निर्माताओं की आकांक्षाओं के अनुरूप सविधान नहीं प्रकट हुआ वहीं कुछ स्थापित अभिसमयों ने इस रिक्त स्थान की पूर्ति की है। कई मामलों में ये अभिसमय कार्यपालिका द्वारा स्थापित किये गए। इस प्रकार कतिपय दृष्टान्तों को छोड़कर राष्ट्रपति ने अधिकांश अवसरों पर विभिन्न मामलों को आयोग की संवीक्षा से दूर करने से पूर्व आयोग से इस विषय पर मंत्रणा की है यद्यपि यह उसका सवैधानिक दायित्व नहीं था। वस्तुतः प्रचलित यू०पी०एस०सी० (विचार-विमर्श से मुक्ति) अधिनियम आयोग से मंत्रणा के पश्चात् ही लागू किये गए थे।[२३] इसी प्रकार एक सुस्थापित अभिसमय के माध्यम से आयोग की सलाह को सभी विभागों एवं मंत्रालयों द्वारा सामान्यतः स्वीकृत किया जाता है। जहाँ यह सलाह किसी मंत्रालय को अस्वीकार्य होती है उस स्थिति में दोनों पक्ष एक दूसरे को संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। यदि मंत्रालय द्वारा बताये गए कारण आयोग को पुनर्विचार करने अथवा परिवर्तन करने के लिए प्रेरित नहीं करते तो सम्बन्धित प्रशासकीय इकाई का इस संबंध में मार्ग सुगम नहीं हो जाता क्योंकि इसके निर्णयों की प्रशासन के अन्तर्गत व बाह्य दोनों ओर से संवीक्षा

---

२२ यू. पी. एस. सी. की प्रथम रिपोर्ट, पैरा १०, द्वितीय रिपोर्ट १९५१-५२ पैरा ६, इस कानून के कारण सभी वर्गों के लोक सेवकों के चयन में व्यावहारिक रूप में ब्रिटिश सिविल सर्विस कमीशन की भूमिका रही है।

२३ यू. पी. एस. सी. छठी व सातवीं रिपोर्ट के क्रमशः ३(११) व ५ (२) पैरा।

की जाती है। इस स्थिति में मंत्रालय द्वारा आयोग की सलाह को ठुकराना एक जटिल प्रश्न बन जाता है।[२४] स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आंतरिक व्यवस्थाओं के विषय मे यह निर्णय किया गया कि वह कोई भी मामला जिसमें मंत्रालय विशेष, आयोग की सलाह को न मानना चाहता हो, विचार के लिए एक केबिनेट समिति के सुपुर्द किया जाएगा। इस समिति मे प्रधानमंत्री, गृह मत्री (जो सेवा संबंधी मामलों के लिए उत्तरदायी है) तथा सम्बन्धित मन्त्रालय अथवा विभाग के मंत्री होते हैं। यदि प्रधानमंत्री अथवा गृह-मंत्री प्रशासकीय दृष्टि से मामले में सम्बद्ध हो तो वित्तमंत्री इस बैठक में भाग लेता है।[२५] अतः यदि कोई मंत्रालय आयोग की अवहेलना करना चाहे तो उसे इस उच्चस्तरीय केबिनेट समिति का समर्थन प्राप्त करना होता है।

इस आन्तरिक नियन्त्रण के ऊपर संविधान प्रदत्त उपाय भी आरोपित है। पूर्ववर्ती आयोगों के विपरीत, जिन्हें कि कोई रिपोर्ट प्रस्तुत नहीं करनी होती थी, केन्द्रीय लोक सेवा आयोग द्वारा राष्ट्रपति को प्रतिवर्ष रिपोर्ट प्रस्तुत करना उसका एक संवैधानिक दायित्व है। धारा ३२३ के अन्तर्गत राष्ट्रपति को यह रिपोर्ट दोनों सदनों को प्रस्तुत करनी होती है और इसके साथ एक ज्ञापन भी संलग्न होता है जिसमें अस्वीकृत सलाहों के संबंध में कारण स्पष्ट किए जाते है और इस अस्वीकृति को न्यायसंगत ठहराया जाता है। इस सम्बन्ध में संविधान निर्माताओं के आशय की थाह लेना कठिन नहीं है। संवैधानिक व्यवस्थाएं यह प्रकट करती है कि उन्होंने प्रतीततः जेरमी बेंथम के इस मत का समर्थन किया कि "प्रचार न्याय की मूल आत्मा है। यह प्रयास के लिए तीव्रतम् प्रेरणा है और यह बेईमानी के विरुद्ध किये गए समस्त उपायों मे सर्वाधिक कारगर है।"

आयोग की रिपोर्टें दो महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं—ये व्यवस्थापन का माध्यम हैं और लोकतांत्रिक उपाय भी है। आयोग के राष्ट्रपति से सम्बन्धों पर इसमें प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। निर्धारित, सीमाओं के अन्तर्गत आयोग राष्ट्रपति को प्रभावशाली नीति निर्धारण क्रियान्वयन व समायोजन के कार्य मे सहायता देता है। आयोग द्वारा राष्ट्रपति को वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करने का संवैधानिक दायित्व वस्तुतः यह संकेत देता है कि यह एक इकहरे प्रशासन का ही संघटक भाग है और अन्य ऐजेंसियों के कार्यों से इसकी गतिविधियां अन्तर्सम्बन्धित हैं।

आयोग की रिपोर्ट नागरिको व संसद् के प्रति उनके उत्तरदायित्व की भी व्यवस्था करती है क्योंकि उन रिपोर्टों पर अंततः संसद् मे विचार होता है और इसके परिणामस्वरूप उन्हे प्रचार मिलता है। राज्यसभा मे आयोग के तीन वर्षों (१९५०-५३) की रिपोर्टों पर विचार के समय उपाध्यक्ष द्वारा दिया गया यह मत रोचक है। उन्होंने कहा "संसद् मे होने वाली किसी भी बहस मे अभिव्यक्त शक्तियों व दायित्वों के विशेष सदर्भ मे सरकार के कार्यों अथवा गलतियों के आधार पर उसकी आलोचना हो सकती है और यह प्रासंगिक होगी

२४ प्रशासन पर आतरिक व बाह्य नियन्त्रणों के विस्तृत अध्ययन के लिए एम. ए मुतलिब का अध्ययन 'दि. बा ग्रांट ऑफ एक्टेशन टू दि इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ फोरेस्ट्स, केसेज इन इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली, १९६३, पृ स. ३६-१००

२५ यू. पी. एस. सी. की प्रथम रिपोर्ट, १९५०-५१, पूर्वोक्त, पैरा १०

लेकिन आयोग के सुझावों अथवा निर्णयों से संबंधित कोई भी आलोचना अप्रासंगिक होगी क्योंकि वह एक संवैधानिक अधिकार प्राप्त संस्था है। मैं आशा करता हूँ कि सदस्य इसे ध्यान में रखेंगे। "राज्यसभा के उपाध्यक्ष के ये विचार व्यवहार के अनुरूप नहीं है क्योंकि समय-समय पर संसद् सदस्यों द्वारा गलत या सही आधारों पर आयोग की आलोचना की जाती है।

यह सब स्थिति एक मूल प्रश्न उत्पन्न करती है : क्या यह आयोग मात्र एक सलाहकारी संस्था ही है ? डॉ० लाइमन् ब्राइसन के विचार इस सम्बन्ध मे कुछ निर्देश देते है ""हमारे मत में किसी भी प्रक्रिया में नीति-निर्माण संबंधी निर्णय अन्तिम अवस्था होनी है। अतः इस निर्णय तक पहुँचने के लिए विशेषज्ञों की सहायता लेनी होती है और इसमें यथासंभव सावधानी व दूरदर्शिता बरती जाती है लेकिन वह विशेषज्ञ इसके निर्माण के लिए उत्तरदायी नहीं होता। यदि वह ऐसा करता है तो वह प्रशासन का कार्य करता है न कि सलाह संबंधी कार्य। सलाह देने का कार्य किसी न किसी रूप में संगठन के समस्त सदस्यों द्वारा किया जाता है और यह सलाह देने का कार्य कभी भी राजनैतिक दृष्टि से अनभिज्ञ नहीं होता।'केवल बाह्य व्यक्ति जो कि विशेषज्ञ होता है, जिसे कि उसकी सलाह के लिए पारिश्रमिक मिलता है और उसे उसके विशेष तकनीकी ज्ञान के कारण चुना जाता है अपनी राय को पूर्णतः वस्तुनिष्ठ मान सकता है।[२६] ब्राइसन की परिभाषा के अनुसार आयोग आवश्यक रूप से एक बाह्य सलाहकारी परिषद् है क्योंकि यह सेवा संबंधी मामलों पर निर्णय लेने में कार्यपालिका की सहायता देती है लेकिन यह निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के दौरान प्रभावित हो जाती है। यह इसके कार्यपालिका से अन्तर्सम्बंधों की तार्किक परिणति है जो कि एक व्यक्ति के नियम[२७] और इस स्थापित अभिसमय पर आधारित है कि आयोग की सलाह सामान्यतः स्वीकार की जानी चाहिए। इस प्रकार यह स्थापित सम्बन्ध इससे कार्यवाहियों के वैकल्पिक क्रम की अपेक्षा नहीं करता बल्कि इससे भावी स्वरूप की रूपरेखा चाहता है। जहाँ इसे यह आभास होता है कि इसके विचार कार्यपालिका की व्यवस्था व्याख्या के अधीन है, इसे यह अधिकार प्राप्त है कि वह उनके स्वीकार अथवा अस्वीकार किए जाने से पूर्व व पश्चात् इस सम्बन्ध में विरोध कर सके। यह बहुत कम होता है कि वह इस अधिकार के सम्बन्ध में मौन रह जाए कि इसकी विशेषज्ञता सामान्य धारणा के लिए ही है और इसको कार्यरूप में परिणत करने के लिए एक अन्य प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है जो इसके पास नहीं है। यह ज्ञान विशेष समय व अवसर से संबंधित है और इसका व्यावसायिक स्वरूप है।[२८] एक बाह्य विशेषज्ञ के विपरीत आयोग द्वारा दी गई

---

२६ लाइमन ब्राइसन, 'नोट्स ऑन ए थ्योरी ऑफ एडवाइस', पोलिटिकल क्वार्टरली, खंड LXVI, १९५१, पृ. सं. ३२१–३३९.

२७ एक व्यक्ति के नियम के अन्तर्गत कमीशन पद के लिए, व्यक्ति चुनता है। प्रशासनिक इकाइयाँ अधिकांशतः आयोग की सिफारिश स्वीकार करती हैं।

२८ उदाहरण के लिए मुतसिब के केस स्टडी में आयोग की सिफारिश न मानने के लिए सरकारी मत को देखिए, पूर्वोक्त, पृ. ८८–८९.

सलाह राजनैतिक दृष्टि से अनभिज्ञ नहीं होती क्योंकि यह इसका संवैधानिक दायित्व है कि वह अपनी गतिविधियों की परिचायक एक रिपोर्ट संसद् को भेजे जहाँ पर प्रस्तुत रिपोर्ट की आलोचना व समीक्षा की जाती है।

यद्यपि आयोग अपनी रिपोर्ट मे किए गए कार्यों का एक सामान्य सर्वेक्षण करता है लेकिन यह विस्तार से उन मामलों का उल्लेख करता है जहाँ उसकी सलाह अस्वीकृत की गई थी। आयोग की सलाह को अस्वीकार करने के कारणों की व्याख्या करने वाला राष्ट्रपति का संसद् को ज्ञापन परिचालन ऐजेंसियों के भावी निरंकुश आवेग को नियंत्रित करने का साधन बनता है क्योंकि पूरे समाज में सरकार से सम्बन्धित जानकारी के प्रसार का सुधारवादी प्रभाव पड़ेगा।

इस उपाय ने संविधान निर्माताओं के मन्तव्य को कितना पूरा किया है, यह तो इस तथ्य से ही ज्ञात किया जा सकता है कि प्रत्येक वर्ष विभिन्न सेवा विषयों से संबंधित अनेक सौ मामले आयोग को सौंपने के पश्चात् इससे प्राप्त सलाह को काफी कम संख्या मे अस्वीकार किया गया।[२१]

वर्ष	अस्वीकृति के कुल मामलों की संख्या
१९५०-५१	६
१९५१-५२	२
१९५२-५३	२
१९५३-५४	४
१९५४-५५	१
१९५५-५६	१
१९५६-५७	१
१९५७-५८	कुछ नहीं
१९५८-५९	कुछ नहीं
१९५९-६०	१
१९६०-६१	३
१९६१-६२	१
कुल १२ वर्ष	२२

यह कहा जा सकता है कि आयोग की सलाह को बिना सार्वजनिक विवाद के टाला जा सकता है या उससे कतरा कर निकला जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई मंत्रालय किसी उम्मीदवार का चयन नहीं चाहता तो वह प्रस्तावित पद वापिस माँग सकता है और फिर उस पर १ वर्ष के लिए अपनी अस्थायी नियुक्ति कर सकता है। इस अवधि की समाप्ति पर वह आयोग से खुली प्रतियोगिता के आशय का आग्रह कर सकता है और वह

२१ यू. पी. एस. सी. की ११ वीं रिपोर्ट में (१९६०–६१) में अस्वीकृति संबंधी ४ मामलों का उल्लेख है जिसमें से १ मे दिल्ली नगर निगम ने कमीशन को सलाह नहीं माना। दिल्ली प्रशासन से संबंधित कुछ पदों के लिए कमीशन भर्ती करने की एजेंसी के रूप में काम करता है।

है जो प्रशासन के साथ भर्ती करने की इस ऐजेंसी को इस तरह एकीकृत करती है ताकि वह एक स्टाफ ऐजेंसी के लिए निर्धारित उपयुक्त कार्यों को सुचारु रूप से पूरा कर सके। इसके अतिरिक्त यह व्यवस्था आयोग को उसके स्वभाव के अनुरूप खड़ा करती है कि मोटे तौर पर इसके निष्कर्ष मात्र सलाह ही हैं और इसलिए उसकी विशेषज्ञता व व्यावहारिक मूल्य ही उसे परिचालित प्रशासकीय ऐजेंसियों की अनुवृत्ति दिला सकता है। आयोग जिन अधिकारों का उपयोग करता है वे अधिकार उसे सेवा सम्बन्धी विषयों में उसके विशेष ज्ञान के कारण प्राप्त हुए है, न कि उसके पद के कारण।

संसद् की भूमिका :

ससदीय भूमिका के सम्बन्ध मे अब तक की चर्चा यह स्पष्ट करती है कि एक अर्थ में अन्तिम शक्ति के समस्त उपाय संसद् के पास है। लेकिन यह सदेह किया जा सकता है कि विशेषज्ञता के अभाव मे वह सेवा सम्बन्धी मामलो में निर्णायक की भूमिका का निर्वाह करने में समक्ष होगी। इस सम्बन्ध में आयोग की सक्षमता का अतिरिक्त कारण यह है कि उसका अपेक्षाकृत समिति सम्प्रेषण माध्यम है।[32] लेकिन सम्भवतः यह वांछनीय नहीं होगा कि आयोग को उसका मामला पहुंचाने के लिए संसद् तक सीधी पहुंच का अधिकार दे दिया जाए। इसके बावजूद संसद् द्वारा अधिक प्रभावशाली भूमिका निभाई जा सकती है यदि अधिनियमो से पूर्व (जिनके सम्बन्ध मे कार्यपालिका व आयोग में अतर है) आयोग को राष्ट्रपति के माध्यम से संसद तक एक ज्ञापन द्वारा अपनी बात पहुंचाने का अवसर प्रदान किया जाए। इससे निर्णय देने मे पूर्व ससद् को अधिक जानकारी प्राप्त करने की सुविधा मिलेगी।

संसद् इस विषय मे अधिक न्याय तब कर सकती है जब वह वर्ष के दौरान कार्यपालिका व आयोग के मध्य उपस्थित विवादो से निवटने का दायित्व अपनी एक समिति को सौंप दे। इस सिफारिश के पक्ष मे अनेक कारण दिए जा सकते है। प्रथम, अत्यधिक कार्यभार के कारण संसद् के पास कार्यपालिका व आयोग के अन्तर्सम्बन्धो पर विचार करने का समय नही है, विशेषत. तब जब इस सवैधानिक व्यवस्था मे इच्छित परिणाम अपेक्षित हों। द्वितीय, कार्यपालिका द्वारा आयोग से असहमति से उत्पन्न प्रासंगिक कठिनाइयों के सम्बन्ध मे, एक व्यवस्था योग्य समूह मे, अधिक कुशलतापूर्वक विचार हो सकता है न कि एक बड़ी बैठक में। तृतीय, यह अपेक्षा करना अन्यथा न होगा कि तथ्यों से पर्याप्त रूप से परिचित ससद् का रचनात्मक योगदान होगा क्योंकि अक्सर अफवाह व अज्ञानतावश कई अहितकारी व अप्रासंगिक प्रश्न उठाए जाते हैं। वास्तव मे जितना अधिक आत्मविश्वास होगा उतनी अधिक समझने की इच्छा होगी।[33]

---

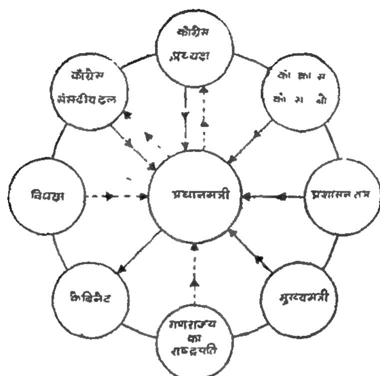
३२ अपनी परवर्ती रिपोर्ट मे ही कमीशन पूर्व रिपोर्ट मे संलग्न ज्ञापन में सरकारी मत व संसद् में हुए विचार-विमर्श पर टीका टिप्पणी कर पाता है।

३ यह सिफारिश आकलन समिति व जनलेखा समिति से प्रेरित हुई है जिन्होंने राजनीति व दलबन्दी से ऊपर उठकर निष्पक्ष रूप से कार्य करने की स्वस्थ परम्पराएँ डाली है।

का कार्य अपनी पूर्ववर्ती संस्थाओं की अपेक्षा अधिक कठिन है क्योंकि राजनीतिज्ञ अभी भी शक्ति के प्रथम उन्माद मे है इसलिए बहिष्करण सम्बन्धी सूची में निरन्तर वृद्धि हो रही है। ऐसा विशेषतः राज्यों के सदर्भ मे हो रहा है, जिसे रोकना आवश्यक है। यह सुझाव प्रस्तुत करना महत्त्वपूर्ण होगा कि यद्यपि कुछ सेवा व पद सम्बन्धी मामलों में आयोग को इस बहिष्करण के प्रति सहमत किया जा सकता है लेकिन आगे चल कर इसके खतरनाक परिणाम होंगे। इस सम्बन्ध मे आयोग की भूमिका इस बात पर अत्यधिक बल देने की है कि व्यक्तिगत अथवा दलगत हितों के लिए सार्वजनिक अथवा लोक पदों का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति से छुटकारा पाया जाए। ऐसा कर वह राजनैतिक कार्यपालिका को दलीय दबाव से बचा सकेगा और इस सशय का निवारण हो सकेगा कि सेवाओं के व्यवस्थापन में कार्यपालिका योग्यता के बदले किसी अन्य विचार से निर्देशित हुई थी।

Further Readings

1. *Bhalerao, C.N.* : Union and State Public Service Commissions, Bombay popular Prakashan, 1968.
2. *Bhambhri, C.P.* : **Bureaucracy and Politics in India.** Delhi, Vikas, 1971, pp. 56-78.
3. *Bhambhri, C.P* : **Administrators in a changing Society,** Delhi, National, 1972, pp. 1-43 and pp. 197-240.



प्रभाव की रेखाएँ

- - - - - साधारण

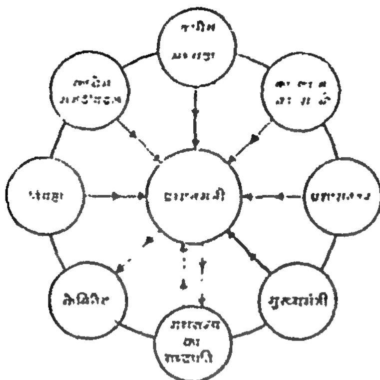
———— प्रबल

———— दुर्जेय

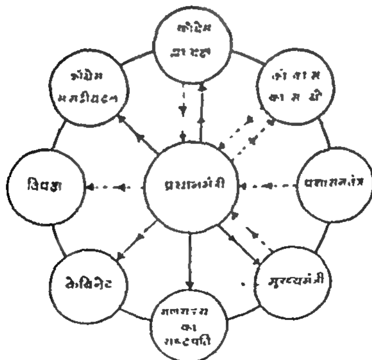
संकेत-चिन्ह

कां. का. स.—कांग्रेस कार्य समिति

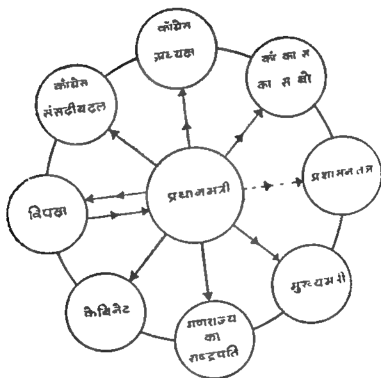
कां. सं. बो.—कांग्रेस संसदीय बोर्ड



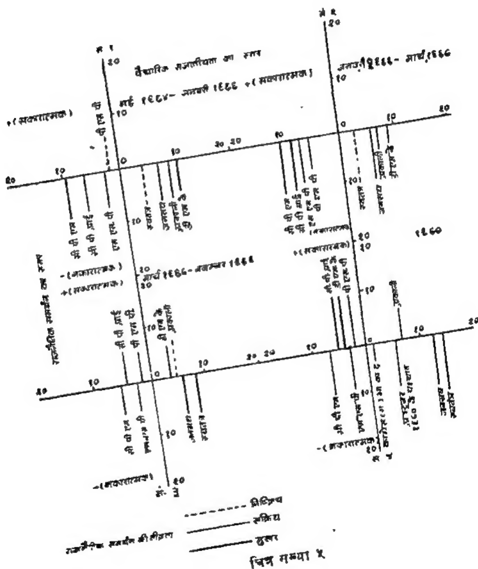
चित्र संख्या २ जनवरी १९६६—मार्च १९६७



चित्र संख्या ३ मार्च १९६७—नवम्बर १९६९



चित्र संख्या ४ १९७०



चित्र संख्या ५

राजनीतिशास्त्र विषयक हमारे अन्य प्रकाशन

1.	सत्रहवीं शताब्दी का यूरोप	ऑग. डेविड, अनु. नाथूराम खड़गावत
2.	बीसवीं शताब्दी का विश्व भाग (1)	ब्रून. ज्योफ्रे मैमते एवं विक्टर एस. अनु. शान्तिप्रसाद वर्मा एवं देवनारायण आसोपा
3.	राजस्थान में राजनैतिक जन-जागरण	के. एस. सक्सेना
4.	भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास	रणजीतसिंह दरड़ा
5.	भारतीय संविधान: स्वरूप एवं व्यवहार	रणजीतसिंह दरड़ा
6.	अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं संगठन की नवीन प्रवृत्तियाँ	नगेन्द्रसिंह अनु. (श्रीमती) शील के. आसोपा
7.	तुर्की की राजनीति एवं प्रशासन	(श्रीमती) शील के. आसोपा

आवरण मुद्रक आर० एन० प्रिन्टर्स जयपुर-3